(सीरीज : प



वरेन्द्र-अनुसन्धान-समिति-ग्रन्थमाला

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचिता
शास्त्रिश्रीश्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य्येण संस्कृता ।

THE

# KASIKA VIVARANA PANJIKA

(THE NYASA)

A COMMENTARY ON VAMANA-JAYADITYA'S KASIKA

BY

JINENDRA BUDDHI




EDITED
WITH INTRODUCTION AND OCCASIONAL NOTES
BY

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI, B. A.

READER OF SANSKRIT, DACCA UNIVERSITY.

Vol. I.

(Adhyayas 1—4).

PUBLISHED BY
THE VARENDRA RESEARCH SOCIETY,
RAJSHAHI, BENGAL.

1913—1916

मानको

ला

ा गया बादमें उसका
कर गाड़ दिया गया।
ा पता नहीं चला है। अब
है।

क्षणमें

का

त अकेलवा
रक्षणमें अवैध
लकों एवं परिजनको
माना चार्ज वसूलकी

ीक्षकको एक प्रार्थनापत्र
त्रिपाठीने उक्त वैध
दकर उनके मालिकोंके
रवाई करनेकी मांग की

-1987

हि



आज

बुधवार, ३० सितम्बर १९८७ सौर १४ आश्विनी सं० २०४४ वि०

## महात्मा गांधीकी याद

राष्ट्रपिता महात्मा गांधीका स्मरण दो अक्तूबरको सम्पूर्ण राष्ट्रमें श्रद्धापूर्वक किया जाता है। गांधीजी तो अपने जन्म दिवसको चरखा जयन्तीके रूपमें मनाते थे। उनका आदेश था कि चरखेसे देश स्वतन्त्र होगा और आत्मनिर्भरताकी भावना उत्पन्न होगी। उस समय अनेक लोग उस बातकी हंसी उड़ाते थे कि भारतमें अंगरेजी शासनका अन्त किस प्रकार चरखेसे किया जायगा। विदेशी वस्त्र बहिष्कारका राष्ट्रीय आन्दोलन चला कर गांधीजीने दिखा दिया कि राष्ट्रीय जीवनमें चरखेका महत्व क्या है? चरखा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्रामका अभिन्न अंग तथा प्रतीक बन गया था। गांधीजीकी दिव्य और दूरदृष्टिका यह परिचायक रहा है। चरखा आन्दोलनसे ही ब्रिटिश साम्राज्यपर घातक प्रहार किया गया था। देशके लोगोंको अपने कते हुए सूतका वस्त्र बनाकर पहिननेकी भावना उत्पन्न कर उन्होंने अभिनव अधिक तथा राजनीतिक क्रान्तिकी थी। इसी आन्दोलनके कारण मनचेस्टरसे भारत आकर बिकनेवाला वस्त्र बन्द हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादपर यह प्रहार गांधीजीकी अनोखी सूझ थी। सत्य और अहिंसाका देशकी आजादीके लिए प्रयोग भी महात्मा गांधीकी अलौकिक परिकल्पना रही है। आजकी नयी पीढ़ीके लिए यह आश्चर्यकी बात हो सकती है पर जिन लोगोंने गांधीजीके इस आन्दोलनको अपनी आंखों देखा तथा भाग लिया है, वे आज भी मौजूद हैं।

रंगभेदको समाप्त करनेका जो आन्दोलन आज अन्तरराष्ट्रीय स्तरपर चल रहा है, उसका सूत्रपात महात्मा गां[illegible]ने दक्षिण अफ्रीकासे किया था। चम्पारनमें गांधीजीने निलहा गोरों [illegible]रा किसानोंपर होनेवाले अत्याचारोंके विरुद्ध आन्दोलन कर स्वतन्[illegible]ता संग्रामका शंखनाद किया। भारतीय कांग्रेसके रंगमंचपर तो [illegible]सितम्बर, १९२० में कलकत्ताके विशेष अधिवेशनमें गांधीजीका पदार्पण हुआ। इसी सम्मेलनमें गांधीजीने अपने असहयोग आन्दोलनकी घोषणा की थी। आपने असहकारिताके आन्दोलनकी जब रूपरेखा प्रस्तुत की गयी तो उसका विरोध महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय और देशबन्धु चितरंजनदासने किया था। इस प्रश्नको लेकर कलकत्ता अधिवेशनमें बड़ी तनातनी उत्पन्न हो गयी थी। अन्ततः गांधीजीका असहयोगका प्रस्ताव [illegible] स्वीकार कर लिया गया। [illegible]



कम्बन अपने युगके [illegible]
जाते हैं। तमिल [illegible]
बहुप्रचलित है कल्त्रियिल[illegible]
कम्बन विद्याके सागर [illegible]
साहित्यमें कम्ब रामायणको [illegible]
मान्यता प्राप्त है, फिर भी इ[illegible]
पूर्व तमिलमें राम कथासे सं[illegible]
लोकगीत अवश्य प्रचलित [illegible]
विषयक उल्लेख मिलते हैं। इ[illegible]
कि कम्बनसे सहस्र वर्ष पूर्व [illegible]
जनताके हृदयमें महत्वपूर्ण स्थ[illegible]
थी।

तमिलके सर्व प्रचीन संघ-[illegible]
'पुरनानूरू'के गीतोंमें राम-क[illegible]
प्रकार वर्णित है।

"कडुन्दो इमरान् उडन् पुण[illegible]
वलित्त कै अरक्कन वौव्वि आ[illegible]
निलम सेर मदरणि कण्ड कुरंगि[illegible]
सेम्मुगम् पेरूप् किले

रामके साथ सीता भी वन[illegible]
रामकी अनुपस्थितिमें सीताको रा[illegible]
सीताने अपने आभूषणोंको नी[illegible]
सुग्रीव पक्षके वानर इस आभू[illegible]
देखने और आश्चर्य प्रकट करने[illegible]

यह प्रसंग वाल्मीकी रामायण[illegible]
और यह कविकी अपनी ही सूझ [illegible]
"पुरनानूरू'का एक अन्य प्रसंग [illegible]
पांड्य देशके समुद्र-तटपर एक [illegible]
रामचन्द्रजी युद्ध-विषयक मंत्रणा [illegible]
वक्त वृक्षपर पक्षीगण शोरगुल[illegible]
महत्वपूर्ण मंत्रणामें विघ्न उपस्थि[illegible]
रामने अपने हाथोंके संकेत द्वारा [illegible]
कलरवको शांति किया

"वेल पोर इरामन् अस्मवैक्कु अ[illegible]
पल वील आलम् वलिय विन्दु...

संघ-कालीन साहित्यके " लि[illegible]
ग्रन्थमें दशग्रीव रावणके कैलाश [illegible]
कथाका उल्लेख है अन्य [illegible]
"मदुरैक्कांचि"में इसी प्रकार राम[illegible]
प्राप्त है। संयोत्तर काल अर्थात् इ[illegible]
शताब्दीमें कवि इलंगो रचित [illegible]



# KASIKA VIVARANA PANJIKA
## Vol. II.

## शुद्धिपत्रम्

| पृष्ठायाम् | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| ५४ | २४ | लशूग | लशुन |
| ८४ | २५ | कश्चिन्…कश्चित् | क्वचिन्…क्वचित् |
| १९६ | २० | व्यवधानोऽपि | व्यवधानेऽपि |
| २१६ | २१ | एतश्च | ततश्च |
| " | २२ | विशेषं दर्शयति…ननु विशेषं | |
| २२६ | २७ | सम्बन्ध | सम्बन्ध |
| ३११ | १५ | कन्निति | क्वन्निति |
| ३२२ | ९,१२ | समरणौ | श्रमरणौ |
| ३५४ | ४ | व्यवन्तः | त्यवन्तः |
| ४०८ | १८ | नोपगर्गं | सोपसर्गं |
| " | २२ | संहत | संहित |
| " | २६ | एकोऽर्थौ | एकोऽभिन्नोऽर्थौ |
| ५२९ | २३ | ङ्किति | क्ङिति |
| ५३० | १८ | ङ्किति | क्ङिति |
| ५४० | १७, १८ | " | " |
| ५५६ | २६ | अवाप्युरिति | अवाप्नुरिति |

# KASIKA VIVARANA PANJIKA

## Vol. III.

### शुद्धिपत्रम्

| पृष्ठायाम् | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| ७२० | ११ | सम्मार्ग | सन्मार्ग |
| ७४८ | १६ | तथाप्यते | तथाप्यात |
| ७७३ | ८ | बाधको | बाधकौ |
| ” | २८ | यौविशिष्येत | यौ विशिष्येते |
| ७७८ | ९ | भावार्थे | भवार्थे |
| ८१९ | ११ | चिण् नलोप | चिण्णलो |
| ८२४ | २४ | पृतान | पृता |
| ८३१ | १५ | वा | वचनमाश्रित्य |
| ८७१ | ७ | विधायते | विधीयते |
| ८९५ | २५ | प्रयोक्तु | प्रयोक्तु र् |
| ९१६ | १ | करणं | कारणं |
| ९३० | ४ | लुडन्तं। | लुडन्तम्। |
| ९४५ | २५ | षां | येषां |
| ” | २६ | पुत्रभावं | पुत्रभावः |
| ” | ” | यदपेक्षः | यदपेक्षं |
| ९८५ | २१ | कुर्वीति | क्रुच्वेति |
| ९९५ | १९ | दृष्ट | दृष्टः |
| १००० | २६ | मच | सच |

and “परन्तु न्यास…गृहीतः” is to go before “भाष्ये त्वयं…”

| पृष्ठायाम् | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १००३ | २४ | रकार | वकार |
| ” | २६ | गूरौ | गुरौ |
| १००४ | २१ | इट् | ईट् |
| १०३० | १७ | दोधिक | दोधक |
| ” | २० | स्वयम् | ऽस्वयम् |
| १०९१ | ११ | क्विप्रत्ययान्तः | क्विप्रत्ययान्ताः |
| ११०६ | २२ | तदुत्तरमित्येष | तदुत्तरपदमित्येष |
| ११२१ | ७ | विधि | विधे |
| ११२२ | १० | ततेहा | ततेहा |
| ” | १६ | मचि | मचि |

# APPENDIX.

## I.

After the printing of the VI. 2, based mainly on the Kasmir MS. had been finished, the photoed facsimiles of the Baroda MS. of the same came to us. On comparison it is found that the latter contains some differently worded and some additional and some common statements in the Sutras 197 and 199 of VI. 2. though all other Sutras of the section are identical in both. As the Kasmir MS. given to us was a transcript and the Baroda one is a photoed facsimile, the original of which had been written so early as 1406 A. D. the latter seems to be the genuine thing. So the version as found in the Barada MS. regarding the Sutras 197 and 199 of VI. 2 is printed below :—

In the case of the remaining Sutras of the entire Nyasa the MSS. from the different quarters have been found throughout as precisely identical excepting a few slight and occasional variants. All these variants have been noticed in due places.

### १९७। द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ।

द्वित्रिभ्यामिति। दिग् योगलक्षणा (२।३।२९) पञ्चमी। पाददन्मूर्धस्विति। यस्य च भावेन भावलक्षणमिति (२।३।६७) भावलक्षणा सप्तमी। द्विपात् त्रिपादिति। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (५।४।१३८)। संख्यासुपूर्वस्येत्यकार-लोपः (५।४।१४०)। पादशब्दो घञन्तत्वादाद्युदात्तइति पाच्छब्दश्चाद्युदात्तएव भवति। द्विदन्निति। वयसि दन्तस्येति (५।४।१४१) दत्रादेशः। दन्तशब्द आद्युदात्त इत्युक्तम्। तेन दत्रादेशोऽपि स्थानिवद्भावेनाद्युदात्तएव भवति। द्विमूर्धेति। मूर्धशब्दः श्वन्नुक्षन्पूषन् प्लीहन्नित्यादिना रन्-(उण्, १।१५७) प्रत्ययान्तो निपात्यते। तेनाद्युदात्तः। मूर्धन्नित्यादि। द्वित्रिभ्यां षो मूर्ध्न इति (५।४।११५) षः समासान्तः प्राप्नोति। स न कृतः। तेनात्र नान्तएव मूर्धशब्दः। किं पुनः कारणमकृतसमासान्त एव मूर्धन्शब्द उपात्त इत्यत आह तस्येत्यादि। यदि कृतसमासान्त उपादीयेत तदा सत्येव समासान्तेऽन्तोदात्तत्वं स्यात्। असति न स्यात्। तस्मादसत्यपि समासान्तेऽन्तोदात्तत्वं यथा स्यादित्येतत् प्रयोजनमकृत-समासान्तनिर्देशस्य। ननु च नित्यमेव समासान्तेन भवितव्यम्। तत् कुतस्तस्या-सत्त्वमित्यत आह एतदेवेत्यादि। यदिदमस्य प्रयोजनस्य सम्पादनार्थमकृत-समासान्तस्य मूर्धन् शब्दस्योपादानम् एतदेव ज्ञापकम् अनित्यः समासान्तो भवतीति। तेन द्विमूर्धेत्यादिप्रयोग उपपन्नो भवति। यदि तर्ह्यकृतसमासान्त इह मूर्धन्शब्द उपात्त एवं सति यदा समासान्तः क्रियते तदान्तोदात्तेन न भवितव्यम्। कृतसमासान्तस्य शब्दान्तरत्वादित्यत आह यद्यपीत्यादि। इह हि बहुव्रीहिः कृतसमासान्तस्य। तदेकदेशित्वञ्च समासान्तस्य। एकदेशोऽस्यास्तीत्येकदेशी। स बहुव्रीहि कार्यौ।

रैकदेशी यस्य समासान्तस्य स तदेकदेशी। तद्भावस्तदेकदेशित्वम्। एतेन बहुव्रीह्यवयवत्वं समासान्तस्य दर्शयन् कृतसमासान्तस्य शब्दान्तरत्वं निरस्यति। तदेवं यस्मादिह बहुव्रीहिः कार्यो तदेकदेशित्वञ्च समासान्तस्य तस्माद् यदापि समासान्तः क्रियते तदापि पूर्वेणान्तोदात्तत्वं भवत्येव। कल्याणमूर्धेति। कल्याणशब्दो नब्विषयस्येत्याद्युदात्तः ( फिट्, २६ )। द्वयो मूर्धेति। अत्र नित्यमेव समासान्तोदात्तत्वं भवति।

## १९९। परादिश्छन्दसि बहुलम्।

परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यत इति। प्रत्यासत्तेः। स हि पूर्वसूत्रे सन्निहितत्वात् प्रत्यासन्नः। यद्येवं परशब्दग्रहणमनर्थकम्। सक्थशब्द एव ह्यत्रानुवर्त्तिष्यते। नैतदस्ति। बहुव्रीहिग्रहणमप्यत्रानुवर्त्तत इति तस्याप्याद्युदात्तत्वमाशङ्क्येत। अञ्जिसक्थमिति। अञ्जिशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। अथाप्यञ्जि शब्दात् मत्वर्थइनिः क्रियत एवमप्यन्तोदात्त एव। लोमशसक्थमिति। (A) लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलच इति (५।२।१००) शप्रत्ययान्तत्वाल्लोमशशब्दोऽन्तोदात्तः। ऋजुबाहुरिति। कुभ्रश्चेत्यधिकृत्य ( उण्, १।२२ ) अर्जिदृशिकम्यमिपशिबाधामृजिपशितुग्धुग्दीर्घहकारश्चेति ( उण्, १।२७ ) कुप्रत्ययान्तौ ऋजुबाहुशब्दौ। तेनान्तोदात्तौ। वाक्पतिश्चित्पतिरिति। षष्ठीसमासावेतौ। अत्रोत्तरमाद्युदात्तं भवति। बहुलग्रहणात्। विभाषाग्रहणे हि प्रकृते बहुलग्रहणेन यत् सिध्यति तद्दर्शनार्थं सुपन्यस्तः। व्यत्ययो बहुलं तत इति। यत एवं बहुलग्रहणेनानेन कार्यं सिध्यति तेन व्यत्ययो बहुलं भवति। ननु च पूर्वमेव स्वराणां व्यत्ययो विहितः। सत्यमेतत्। तस्यैव तु प्रपञ्चोऽयम्। परादि रुदाहृत इति। वाक्पतिश्चित्पतिरिति। अत्र च परग्रहणेनोत्तरपदमुक्तम्। अन्तोदात्तप्रकरण इति। अन्तः ( ६।२।१४३ )। थाथघञ्क्ताजबित्रकाणामित्यादौ ( ६।२।१४४ )। पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरण इति। अन्तः ( ६।२।९२ )। सर्वं गुणकार्त्स्न्ये इत्यादौ ( ६।२।९३ )। पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरण इति। आदिरुदात्तः (६।२।६४) सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरण इत्यादौ ( ६।२।६५ )। एवमादि सर्वं संगृहीतं भवतीति। बहुलग्रहणेन। यतस्तेन विभाषाग्रहणे प्रकृते बहुलग्रहणं कृत मित्यभिप्रायः। त्रिचक्रादीनां पूर्वमेव पूर्वोत्तरपदस्वर उक्त इति पुनरिह नोच्यते॥

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

---

(A) मुद्रितकाशिकायान्तु लाष्टौ लोमसक्थाविति पाठः। न्यासकारस्तु लोमशसक्थाविति पठति।

# II.

## A BRIEF DESCRIPTION OF THE MSS.

### USED IN PREPARING THE PRESS COPY

### of the काशिकाविवरणपञ्जिका।

(1) The first MS (घ) contains I. 4. (A) ; II. 1. 2. 3 ; III. I, VII. 2 and VIII. 1. It is owned by the Rajshahi Government College. For details see notes in P. 332 and P. 790 vol I.

(2) The second MS (ग) contain I. 2. 3. 4 and II. 1. 2. 3. 4 Details are given in note P. 332 vol I.

(3) The third MS (म) is with only I. 3 and II. 4.

(4) The 4th MS. (ज) cotainning I. 2, III. 1. 2 and VI. 1. 4., At the end of 1-2 it has श्रीशत्रुघ्नशर्मणा लिखितम्। At the end of its 3-2 is श्रीकाशीपतिशर्मणः पुस्तकमिदम्। लिखितं श्रीजगन्मोहनसेनेन। शकाब्दाः १७३० आषाढ़स्य तृतीयदिवसे। शक १७३० is 1808 A.D. Its pages were found torn in some places. But it is a correct copy. At the end of 6-4 is

इन्दुविन्दुमुनिचौणीशाके सिंहस्थिते रवौ।
व्यालेखि न्यासटीकेयं श्रीकृष्णानन्दशर्मणा ॥१॥

इन्दुविन्दुमुनिचौणीशक is १७०१ that is 1779 A.D. Elsewhere is शाक १७३९ that is 1817 A. D. See details in note P 790 vol I.

(5) The 5th MS. (त) contains VII. 1, 2, 3, 4 and VIII. 1. 2. 3. 4, For fuller account of this and of the MSS. 11, 12, 20 and 21 vide pp. 883-4 in vol. II. It is an excellent, faithful and very correct MS. got from Bengal. We have in the 5th MS. VIII. 2 though mutilated. This and the प्रत्याहार Section and 1. I are very rare in Bengal, and after much trouble we had been successful in procuring the Bengal recension of them.

(6) The Sixth MS. (झ) contains III. 1.

(7) The 7th MS (ञ) is with III. 2. See note P. 790, vol. I.

(8) The 8th MS (ठ) is with III, 4. See note P 790, vol. I.

(9) The 9th MS (ख). It was from the Deccan College Poona, kindly lent by the late lamented Professor Ghate. It has प्रत्याहार, I. 1. 2. 3. 4, IV. 1. 2. 3. 4. and V. 1. 2. 3 4. See page 331 and Page 1061. notes, vol I.

(10) The 10th MS. (प) is with V. 1. 3. Its copyist and owner was one श्रीकान्तशर्म्मा।

(11) The 11th MS. (फ) containing II. 1, 2 ; VI. 3 and VII. 1. 2. 3. 4. It has at the end लिखिता श्रीरामकान्तशर्म्मणा। A very good and correct MS.

---

(A) 1-4 indicates the fourth pada (or section) of the 1st Adhyaya and similarly 2. 1. or 2-1 is the 1st pada of the 2nd Adyaya and so on.

(12) The 12th MS. (छ) has 198 II. 1. 2. 3 ; IV. 1. VII. 1. 2. 3. 4 and VIII. 1. 4. see note P. 484.

(13) The 13th MS. (क) is with प्रत्याहार, I. 1. 2. 3. and II. 1. 2. 3. 4. see note 331 vol I. This is the Bengal MS. containing the प्रत्याहार and I. 1. or the beginning of the भाष्य। It is the property, and is now in the office, of the वरेन्द्र society.

(14) The 14th MS. (ग) with VIII. 3. is from the village भालिखा, Rajshahi. It has at the end श्रीशिवरामशर्मणः स्वाचरम्। शकाब्दाः १६४६ i.e. 1724 A.D.

(15) The 15th MS (ग) is with VI. 4.

(16) The 16th MS (घ) is with 1. 4. see note p. 332, vol I.

(17) The 17th MS (ढ) is from the Deccan College, Poona. It contains II. 1. 2. 3. 4. See note P, 484 vol I.

(18) The 18th MS (द) has VII. 2 and VIII. 4. vide note P. 884 vot II.

(19) The 19th MS (व) has VII. 3. 4. vide note P. 884 vol II.

(20) The 20th MS (ब) is with VII. 1. 2. 3 and VIII 1. 2. 3. At the end of 7-1 is शुभमस्तु शकाब्दाः १६९५ ic. 1773 A. D. At the end of VIII. 1 is तिङी गौवादीनीति। अत शेषभागस्य दर्शनाभावान्न स लिखितः। So it is incomplete. Infact the Vedic portions of the Book were mostly lost in Bengal. It was from other provinces of India that they were to be procured.

(21) The 21st MS (ण) is with II. 1, VII. 1. 4. and VIII. 1 3.

(22) The 22nd MS (ड) with III. 3 and IV. 2. It is a copy written in Devanagar, duly compared and certified, from the MS on the palm leaves in Canarese characters at the Sravan Belgolah Jain temple, Mysore. It was got in 1915. See note P. 791, vol. 1.

(23) The 23rd MS (ढ) with VI. 3. 4 and VIII. 3. 4, was got from the village वद्यवेलघरिया, Rajshahi, from the house of पण्डित शिवचन्द्रसिद्धान्त।

(24) The 24th MS is with III. 3. See note P. 791 vol I.

(25) The 25th MS (च) is also a copy in Devanagar certified as duly compared with the original from the aforesaid Sravan Belgolad MS. prepared like the copy of the MS. XXII. Its contents are VI. 1. 2 and VIII. 1. 2. But VI, 2 VIII. 2 were incomplete.

(26) The 26th MS (य) is with VI. 2. This is a portion of the Kasmir MS. and a copy in Devanagar, certified as duly compared. It has been got from the Seperintedent Research Deparment,Srinagar, Jamoo. Kasmir State, Kasmir.

(27) The 27th MS (र) contains VI. 2, and VIII. I. 2. It has been procured from the Oriental Library Barada, Gaequare's State. The MS. in this Library also is not complete and contains only V, VI, VII. and some portions of VIII. It is in the Devanagar characters and were written in 1463 संवत् i.e. 1406 A. D. I am indebted to Mr. Benoytosh Bhattacharya M. A. Superintendent of the aforesaid Library for photographed facsimiles of the portions of V. 2 & VIII. 1 & 2, while we were extremely in want of them.

In our collection, the MSS in Bengali letters were almost all collected from the districts of North Bengal. In whole Bengal the literate people of Rajshahi Division together with only a very few Tole pundits of Vishnupur in West Bengal, preserved the studies of Panini's grammar from generation to generation.

There were in North Bengal countless scholars who used to teach this grammar to their pupils in indigenous system. They kept alive specially the study of the Buddhist commentaries viz. काशिका, न्यास, तन्त्रप्रदीप, भाषावृत्ति, &c. Many of them have left commentaries of their own on those books. One of these is सृष्टिधराचार्य्य the commentator of the भाषावृत्तिं। One सनातन too had commentaries on portions of the काशिका, and the न्यास.

We may refer here to two Tole pundits of North Bengal of recent time. who by their erudition in पाणिनि Grammar, were very much reputed. One is pundit शिवचन्द्र सिद्धान्त of वेद्यबेलघरिया in Nattore, District Rajsahi. He was born in 1797 and died in 1867 AD. He went to Benares and solicited काकारामशास्त्रिन् for lessons on the महाभाष्य. This Sastrin was formerly the court pundit of the Panjab lion Ranajit Singh. शिवचन्द्र had वासुदेवशास्त्रिन् as his classmate there under काकाराम. The Bengalis being generally fish-eaters, his prayer was at first disdainfully rejected. शिवचन्द्र used however to daily go to him and sit at a distance listening to his lectures delivered to his pupils. He raised often argumentative objections and they struck and charmed the शास्त्रिन् who ultimately softened and favoured him with giving him lessons directly. He returned to his country and proved superior to other Pundits. There are some adages concerning his name :—

शिवः काशीशिवः काशीकाशी शिवः शिवः।
शिवचन्द्रोयदो यत्र तत्र नास्य पराभवः॥ १॥
शिवेन शिवचन्द्रेन सुसिद्धान्तेन धीमता।
विसर्जने क्षता यातु व्याख्यासावुत्तमोत्तमा॥ २॥

His works are अध्यात्मखण्डो, श्रीमद्भागवतविचारः, गूढ़भावार्थकाशिनी (रुद्राध्यायटीका) विधवाविवाहखण्डनम्, वासुदेवविजयमहाकाव्यम्. सिद्धान्तचन्द्रिका (वेदान्तदर्शनटीका), कुलशास्त्रदीपिका, सुधाबिन्दुः (पाणिनिव्याकरणटीका), अभावपदार्थखण्डनम्, दोलयात्राविधिः, विद्वन्मनोरञ्जनकाव्यम्, कालियदमनकाव्यम्, रसिकोल्लासकाव्यम्, रसिकप्रमोदकाव्यम्। His father's name was रामकिशोर तर्कालङ्कार, mother's Mahamayadevi, a lady who could fluently discourse in Sanskrit. The pandit's grandson resides now (1925) in his ancestral home.

The last Grammarian of the पाणिनि school of North Bengal teaching it in Tole or indigenous system, was one पण्डित पीताम्बरतर्कालङ्कार of the village दीघा in Nattore (Rajshahi). He was the court Pundit of the Maharaja of Nattore. He used to regularly lecture on the भाषावृत्ति, and the काशिका: Pupils flocked to him in large numbers, on account of his vast learning. With his death in 1916, the class of such grammarians of North Bengal has been extinct.

*Dacca, 1925.* } SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI.

## III.
## ABBREVIATIONS AND THEIR EXPLANATIONS.

(प, ) stands for परिभाषा ।
(ग, सू) " " गणसूत्र ।
(उण, ) " " उणादि सूत्र ।
(प्र, , ) " " प्रत्याहार ।
(शि, सू) " " शिक्षासूत्र ।

When a number is put after प, उण, &c....in the above, it means the particular number of the परिभाषा or the उणादि सूत्र, &c...as the case may be. For instance (प, १५) indicates the परिभाषा no. 15. Similiar is the case with the गणसूत्र and शिक्षासूत्र ।

Again (उण, २।१५३) is for the उणादि सूत्र no. 153 to be found in the second Pada of these Sutras. We have quoted such Sutras only from the पञ्चपादी of the उणादि Rules. (प्र, ८) means प्रत्याहार सूत्र ८ out of 14 such Sutras in all.

In the case of the Aphorisms or the main Sutras of the अष्टाध्यायी, we have quoted three numbers. Of these the first figure indicates the Adhyaya (chapter) and the second figure is the pada (section) and third is the number of the Sutra in this pada : viz : (३।२।४५). Here the 45th Sutra of the second pada of the third Adhyaya of the अष्टाध्यायी is meant and so on in other cases.

# The काशिकाविवरणपञ्जिका।

## INTRODUCTION.

शिवाशिवार्थविद्यो मां शिवाशिवगतीः स्फुटम्।
विशिष्याध्यापयद्वन्दे तं शिवशयनोपमम्॥ १॥

Before entering into some accounts of Jinendra Buddhi, the main facts hitherto ascertained in connection with the chief grammarians of the Panini school, who had preceded that author, may be briefly noticed here. In absence of authentic details, they are no doubt often found full of confusion and unfit for yielding any sure conclusion. Yet the importance of the subject demands a review of them and hence this digression is made regarding those authors.

### 1. पाणिनि।

This ancient and great grammarian of India is known only by his aphorisms (Sutras). They form his work called the अष्टाध्यायी or the (पाणिनीय) शब्द. He did not amplify these Sutras with any explanations or illustrations. As to the grammarians anterior to पाणिनि, the अष्टाध्यायी furnishes the names of ten sages viz: आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रिवर्मण, भारद्वाज, शाकल्य, शाकटायन, सेनक and स्फोटायन, (1). Panini's age is a debatable matter. Scholars have assigned different periods to it. Some give 2400 B. C., some 900 B. C, some 650 B. C., some 550 B. C., and others 350 B. C. as his age. The कथासरित्-सागर makes पाणिनि, कात्यायन and व्याडि all co-eval with the king Nanda of Magadha. But as a story book, it may not be true in its chronology. Raj-shekhara's statement in his काव्यमीमांसा merely asserts that these sages were examined and put on test at Pataliputra and obtained fame. But it does not imply that they lived there at one and the same time or even assembled there ever simultaneously (2). So no reliance can be put on such statements as to their synchronisation.

The word यवन occurs in his sutra 4. 1. 49; लिपि in 3. 2. 21.; मनु in 4. 1. 161. and यस्क in (2.4.63). We find also in the अष्टाध्यायी the words अत्रि, भृगु, कुत्स,

---

(1) Though in the गणपाठ, पौष्करसादि occurs in the तौल्वल्यादि (२।४।६१), काश्यप in the उपकादि (२।४।६९), दाक्षायण in the ऐषुकार्यादि (४।२।५४) and व्याडि is in the क्रौड्यादि (४।१।८०) गहादि (४।२।६६), and छात्रादिगण (६।२।८६), they cannot be taken as coming from Panini himself. The गणपाठ was not the work of a single author. It was subsequently enlarged by others.

(2) "श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥" इति काव्यमीमांसायाम्।

वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस् (2.4.65) आगस्त्य, कौण्डिन्य (2.4.70) कद्रु (4.1.71) द्रोण, अश्वत्थ, वृष्णि, कुरु, सौवीर, वासुदेव, अर्जुन, भारत (6.2.38), इक्ष्वाकु (6.8.178). मित्रयु, गान्धारि and such others and some geographical terms such as उशीनर, गौड़ (6. 2 100), वाह्लीक, त्रिगर्त, मगध, सूरमस, कलिङ्ग, कोशल, आजाद, साल्व, अश्मक, काम्बोज, अवन्ति, कुन्ति, विपाश, सुवास्तु, कापिशी, काशी, मद्र, वृजि, युगन्धर, कच्छ, विदूर, सिन्धु, तक्षशिला, तूदी, शलातुर, वर्मती, कूचवार, सरयू (6..8. 178), केकय, चर्मण्वती, चानराट, &c. as well, in addition to such aphorisms as सङ्कलादिभ्यश्च (4. 2. 75), पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ (5. 3. 117), &c. These are taken as good hints for determining his time. (3)

The aphorisms कुमार: श्रमणादिभि: (२।१७०), पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो: (४।३।११०) कर्मन्दकृशाश्वादिनि: (४।३।११), मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो: (६।१।१५४), निर्वाणोऽवाते (८.२।५०) &c...indicate that there had existed at the time when the Grammarian lived, or before him, some other religion or religions side by side with Brahminism. This is clear enough from the meanings which are assigned by the भाष्यकार, to the words श्रमण and मस्करिण्।

There is no doubt that Sanskrit was a colloquial language of the people of Northern India (आर्य्यावर्त्त) for some centuries in ancient time. It ceased to be so, probably some two hundred years after patanjali' date. Though thus dead, it remained still long enough as the exclusive property of the Brahmins. The Buddhist, always jealous of it, began at first to adopt a sort of broken Sanskrit and ultimately made Pali their chief tongue. Patanjali, in the second century B. C., testified that Sanskrit was a current language spoken even by ordinary people. He speaks of a charioteer, certainly not a Brahmin, correcting the derivation of a Sanskrit word misinterpreted by a student of Grammar (भाष्य 2. 4. 6). Again in the भाष्य of 8. 2. 83, we find a man jeering another in Sanskrit. (4) Nay, long before the भाष्यकार, Sanskrit had been also *a*

---

(3) Dr. S. K. Belvalkar, Professor, Deccan College, Poona, says "Here the *Parsus* or the Persians and the *Asuras* or the Assyrians are mentioned as an आयुधजीविसंघ or an organisation of mercenary fighters similar to the Greeks of the 4th century B. C. or the Germans of the 17th century. The Persians were blotted out as a political power in B. C. 329 and the Assyrians in 538 B. C." (Systems of Sanskrit Grammar). The city साङ्कल, Gr. Sangal, was totally destroyed by Alexander in 326 B. C.

(4) (i) एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह "कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति"। सूत आह "अहमायुष्मन्नस्य प्राजितेति"। वैयाकरण आह "अपशब्द इति।" सूत आह "प्राप्तिज्ञो देवानांप्रिय:। न त्विष्टिज्ञ:। इष्यत एतद्रूपमिति"। वैयाकरण आह "अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति"। सूत आह "न खलु वेञ: सूत:। सुवतेरेव सूत:। यदि सुवते: कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।" (भाष्य (2. 4. 56) (ii) "स्थाल्लो अहं भो:।" "आयुष्मानेधि स्थालि"न्।" "नैषा मम संज्ञा स्थालीति"। "किं तर्हि"? "दण्डिन्यायो मम विवक्षित:। स वक्तव्य:। "स्थाली अहं भो:।" "आयुष्मानेधि स्थालिन्।" "न मम दण्डिन्यायो विवक्षित:।" "किं तर्हि?" "संज्ञा ममैषा।" "असूयकस्त्वमसि जाल्म! न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसि। भिद्यस्व वृषल! स्थालिन्!"—(भाष्य, 8. 2. 83). दण्डिन्याय alludes to the etymological meaning of the word दण्डिन् i. e. अस्त्यर्थ, दण्डोऽस्यास्तीति। So

*language of conversation.* Otherwise Panini would not have taken so much care to prepare hundreds of Sutras on accents of words, with extreme nicety and sharp minuteness. Consider the Sutra उदक् च विपाशः ( 4. 2. 74 ) It regulates the derivation of such words as दात्त, गौप्त, &c. with affixes अञ् and अण्, without altering the sense, for different accents in them. They were pronounced in one way by the people living in the north bank of the river विपाशा (Beas) and in a different way by those who lived on its Southern bank. Struck with such keen knowledge and nice discrimination of the sage, जयादित्य the author of the Kasikavritti, speaks out in his praise महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य ( काशिका, 4. 2. 74 ). Such care and exertions to preserve the purity of a language must have been taken when it was in its balmy days of glory and in the full vigour of its coloquial state. It could not be at a time when Pali was slowly and gradually setting aside Sanskrit.

The Sutra भिद्योद्ध्यौ नदे (3. 1. 115) presents the names of two rivers. It is wholly obscure where and when these rivers existed. How and when they were defunct are also mysterious. They had certainly existed once. There is no reason why the grammarian should falsely ... To illustrate the us a Sutra, referring to two never-existing rivers. The terminologist cannot be supposed either crazy or sportive to issue such things merely from his imagination. So the disappearance of the rivers भिद्य and उद्ध्य at a time somehow immemorial, may stand against the view which alleges पाणिनि as flourishing so late as the fourth century B. C. Considering all these and the references cited above from his Sutras, and taking व्याडि as the author of the संग्रह and prior to कात्यायन because of his naming the former in the Vartikas, we differ from the great scholars who take the Grammarian as a man of about the time of Nanda the king of Magadha. We think him as flourishing at least half a century earlier than 500 B. C.

The Grammarian shows his marvellous acquaintance with ancient manners and customs of the people of several countries. The term कौशेय comes from the Sutra कोशाड्ढञ् (4. 3. 42) and means a sort of silk cloth. It was a production of industry which is said to have been current only in China in time sufficiently old. (5) Here पाणिनि supplies a very early information regarding cocoon. Consider again the Sutra मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् (4. 2. 134).

---

स्थालिन् means स्थालमस्यास्तीति। If स्थालिन् be a संज्ञा i. e. the name of a person, its last vowel is to be pronounced as prolated (प्लुत) in re-address (प्रत्यभिवादन); But in its derivative (यौगिक) sense, its last vowel shall not be प्लुत।

(5) कौशेयं कृमिकोशोत्थमित्यमरः। "कोशे संभूतं कौशेयं वस्त्रम्। रूढिरेषा। तेन क्रिमौ न भवति। खड्गकोशाच्चेति" काशिका। निर्नाभिकौशेयमुपात्तबाणमिति कालिदासः। As such silk used to come from China, it was often called चीनांशुक। We have in कालिदास,—"चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य"; again "चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।"

By this, such forms as काच्छक, सैन्धवक, वार्णवक, काश्मीरक, कौलूतक. &...are formed from terms कच्छ, सिन्धु, वर्णु, काश्मीर, कुलूत, &...which indicate countries and the derivative words imply the residents of those countries as well as their manners and customs; e. g. काच्छको मनुष्यः। काच्छकमस्य हसितं जल्पितम्। काच्छिका चूडा। सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम्। सैन्धविका चूडा and so on. Take another, संज्ञायां कन्थोशीनरेषु (2. 4. 20). A kind of कन्था (quilt) used in the country of उशीनर acquired a technical sense on account of some peculiarties in it. It was to be in neutre when at the end of some compound words. The sage had observed this and bearing it in mind recorded the fact in his Sutra. His acquaintance with and repeated reference to such matters of Western India leads one to think of him as a native of that part of the country. The न्यासकार and others called him शालातुरीय connected with the country शलातुर which was in the modern district of Peshwar in the N. W. Frontier province of British India. Panini's ancestors lived there. The Chinese pilgrim Hiuen Thsang even speaks of शलातुर as the birthplace, and also of a statue having been erected there, of the Grammarian. But the Indian Scholars derive शालातुरीय in connection with his अभिजन (the residence of his ancestors) and not in connection with his birth place or निवास (i.e. his own residence). शलातुरो नाम ग्रामः। सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः पाणिनिः।

The sage is called दाक्षीपुत्र and so his mother was a दाक्षी। दक्ष is therefore one of his maternal ancestors. There had been one पणिन् among his paternal forefathers. The grandson or any subsequent successor of पणिन् was पाणिन। पाणिनि was either the great-grandson or any later progeny of this पाणिन। This is found from the etymology of the word पाणिनि as it is derived with the affix इञ् applied to the term पाणिन, in the grammatical sense of युवन्।

There is a statement in the पञ्चतन्त्र—"सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः" and it may or many not be true. There are 3996 Sutras in all in the अष्टाध्यायी।

"त्रीणि सूत्रसहस्राणि तथा नव शतानि च।
पञ्चनवतिश्च सूत्राणां पाणिनिः कृतवान् स्वयम् ॥ १ ॥

By the end of the 8th century A. D. a Sanskrit Poem named the जाम्बवती-जयकाव्य or the जाम्बवतीविजयकाव्य was composed by a writer who was clever enough in palming his book off under the name of पाणिनि. It was राजशेखर the dramatist, preceptor to महेन्द्रपाल king of Kanoj (AD. 890—910 AD), who seems to have given much prominence to an assertion that Panini had been the author of this काव्य. Hence probably much value was set on and some undue regard paid to it, by a few classical authors such as शरणदेव, पुरुषोत्तम, &cc...The sage could, in fact, have no connexion with this book which was undoubtedly a later Production.

(2) व्याड़ि।

No grammarian is heard of in the interval between पाणिनि and कात्यायन, if व्याड़ि be not such a one. कात्यायन cites the authority of व्याड़ि in a वार्त्तिक of his attached to 1. 2. 64 viz : द्रव्याभिधानं व्याड़िः—which is explained by पतञ्जलि as द्रव्याभिधानं व्याड़िराचार्य्यो न्याय्यं मन्यते। To the Sutra आचार्य्योपसर्जनश्चान्तेवासी (६।२।३६), पतञ्जलि cites the illustration आपिशलपाणिनीयव्याड़ीयगौतमीयाः। कुणि and चूर्णि are named as prior to पतञ्जलि। But how they are connected with कात्यायन in *time* is not known. भर्त्तृहरि says in his वाक्यपदीय (6) that there was a grammatical work called संग्रह। When it was obsolete, पतञ्जलि prepared his Great Commentary—the महाभाष्य—which was the संग्रहप्रतिकञ्चुक, that is, the substance or essence of the संग्रह। But the महाभाष्य deals chiefly with the Vartikas by कात्यायन and the संग्रह had probably to do nothing with them. So the महाभाष्य is called the संग्रहप्रतिकञ्चुक, probably because it had adopted and incorporated the grammatical tenets and principles set down in the संग्रह। व्याड़ि is also supposed to have collected together all परिभाषा or the Sutras of the artepanini grammarians, which have been tacitly adopted as authoritative by the commentators and the followers of the अष्टाध्यायी।

पतञ्जलि names one दाक्षायण as the author of the संग्रह। To illustrate the Sutra 2. 3. 26, he says—"शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। शोभना खलु दाक्षायणेन संग्रहस्य कृतिः।" In 4. 2. 60, he puts वार्त्तिकसूत्रिकः (7) सांग्रहसूत्रिकः, सवार्त्तिकः, ससंग्रहः। In the पस्पशा ( or the commencing chapter of the महाभाष्य ) is the passage संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम् and again संग्रहे तावत् कार्य्यप्रतिद्वन्द्विभावान् मन्यामहे नित्यपर्य्यायवाचिनो ग्रहणमिति। Besides, he leads us to a fact that the author of the संग्रह was a kinsman to Panini. In the भाष्य of 1. 2. 20 and again of VII. 1. 27 standa the Stanza—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे तु नित्यत्वमुपजायते ॥ १ ॥

from which Panini's mother is found to be a दाक्षी, a relation to दक्ष। दाक्षी is derived from दाक्षि by ङीष् under इतो मनुष्यजातेः (4. 1. 95). दाक्षि again comes from दक्ष by the patronymic इञ् (4. 1. 95). So दाक्षि is a descendant of दक्ष and co-eval with दाक्षी. Now दाक्षायण is a युवा descendant of दाक्षि by यञिञोश्च (4. 1. 101). In Sanskrit grammar, a युवा descendant is either a great-grandson or any of *his*

(6) प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्। संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥ १

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ २ ॥

अलब्धगाधे गाम्भीर्य्यादुत्तान इव सौष्ठवात्। तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः ॥ ३ ॥

वैजिसौभवहर्य्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः। आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ॥ ४ ॥

यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः। काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥ ५ ॥

(वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड, श्लोक 484-488 ).

(7) Another reading here is वार्त्तिसूत्रिकः from the base वृत्तिसूत्र।

cants. So a दाचायण cannot but be at least *three* generations later than दाचि। Thus the distance in time between दाचीपुत्र (or पाणिनि) and दाचायण can not be less than at least two generations.

Now पुण्यराज (8) a commentator of the वाक्यपदीय asserts, in explaining the stanzas प्रायेण संचेपरुचीन् &c. quoted above, that "इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याडुपरचितं ग्रन्थलचपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धनमासीत्। तत्र कालवशात् सुकुमारबुद्धीन् वैयाकरणान् प्राप्याल्पमुपागतम्।" So, if व्याडि be the author of the संग्रह, he is a दाचायण।

The संग्रह is also mentioned in the काशिका in 4. 2. 60 viz :—सांग्रहसूत्रिकः and ससंग्रहः and again in VII. 3. 76 ससंग्रहं व्याकरणमधीयते। In 2. 4. 21 and in 6. 2. 14 is व्याडुपज्ञं दुष्करणम्। श्रीपतिदत्त the writer of the कातन्त्रपरिशिष्ट, who had flourished in the 13th century A.D. also refers to the संग्रह and remarks संग्रहकारोऽप्याह &c.

As to the inclusion of व्याड़ि in the छात्रादि (6. 2. 48) गहादि (4. 2. 66) and क्रौड्यादि (4. 1. 80) गण, it is to be noticed that the groups of words originally fixed, had been augmented with later additions to them by other grammarians. This probably led जिनेन्द्रबुद्धि to observe in VII. 4.3 प्रतिपादितं हि पूर्वं गणकारः पाणिनि नं भवतीति। तथा चान्यो हि गणकारः। अन्यो हि सूत्रकारः।" Says also कैयट I. 1. 34, "अभियुक्ता गणान् पठन्ति...... । त्यदादीनि पठित्वा ( सर्वादि ) गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि।"

Besides, व्याड़ि being a descendant of व्यड़ given in the खानतादिगण (7. 3. 7), may as well be any member of the family other than the author of the संग्रह. Taking व्याड़ि as the author of the संग्रह and as referred to by कात्यायन in his वार्त्तिक as stated above, he might be living in 450 B. C.

### (3) कात्यायन।

According to the कथासरित्सागर, कात्यायन was a contemporary to the king Nanda of Magadha, by ousting whom the मौर्य्य king चन्द्रगुप्त set up his own reign there in about 321 B. C. कात्यायन wrote a critique on the अष्टाध्यायी, containing short epigramatic statements called the Vartikas. He often assigned new meanings to words cited by पाणिनि in different senses and advocated such alterations by his Vartikas such as यवनाल्लिप्याम् (4. 1. 49) पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिषु (4. 2. 129), &c. So the interval between पाणिनि and कात्यायन was long enough. Otherwise such changes in a language cannot be so rapid. He lived probably in 350, B. C. That कात्यायन was not a contemporary of Panini appears to be almost certain. Our attention is arrested by his veneration for the sage. This is evident from such of his Vartikas as श्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना (1. 4. 51 वार्त्तिक); तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत (1. 4. 51 तृतीय वार्त्तिक); स्मरन्ति कर्त्तुर्वचनात् मनीषिणः (6. 4. 110, वार्त्तिक); चं भगवान् कृतवांस्तदर्थं तेन भवेदिटि णो

---

(8) पुण्यराज finishes his commentary with शशाङ्कशिष्याक्कुलैतद् वाक्यकाण्डं समासतः। पुण्यराजेन तसोक्ता सङ्गतिः कारिकाश्रिता ॥ १ ॥ गुरवे भर्त्तृहरये शब्दब्रह्मविदे नमः। सर्वसिद्धान्तसन्दोहसारामृतमयाय च ॥ २ ॥ So some चान्द्र grammarian helped him in preparing his book. If भर्त्तृहरि were really his preceptor, he lived in the 7th century A. D.

विनिवृत्तिः ( ६।४।२२, वार्त्तिक ) ; भगवतः पाणिनेः सिद्धम् ( ८।४।६८, वार्त्तिक ). In these statements कात्यायन mentions पाणिनि as कवि ( poet or of retentive memory, मेधावी ), अनल्पमति (i.e. of much intelligence, wise), कर्त्ता ( master ) भगवान् (sage]. Here the term भगवत् at least is too high and respectful. This clearly shows Panini's priority to Katyayana. Otherwise is it not unusual and strange to apply भगवान् or such an appellation of respect to a rival who is a contemporary or a neighbour ? They may be applied, if applied at all by co-eval persons, at most to a very old personage of established fame and of some extraordinary power or ability. Besides the words स्मरन्ति and स्मरत in two of those above quoted Vartikas are, I think, enough to shake out such a likelihood in the present case. Says कात्यायन, तदनल्पमते र्वचनं स्मरत Recollect the word of that wise man. Again he says स्मरन्ति कर्त्तुर्वचनान्मनीषिणः i.e. the intelligent *remember* on account of the word of the master. Remembering surely cannot but relate to something which had been once very well known and now disappeared from memory. This, I think, strongly decides the earlier existence of पाणिनि and Katyayana's posteriority.

कात्यायन names व्याडि, वाजप्यायन and पौष्करसादि in his vartikas. So they could not be posterior to him. He was a resident of the Deccan. पतञ्जलि taunted him with the remark प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, that is, the people of the Deccan are fond of the तद्धित affixes. The occasion for this taunt was that instead of stating लोके वेदे च, कात्यायन had used लौकिकवैदिकेषु in the वार्त्तिक—"अनुकरणं शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु"। Yet he honoured कात्यायन elsewhere by calling him भगवान् कात्यः—

"प्रोवाच भगवान् कात्य स्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते ।
यातः को क्विट् नेड्ः पूर्वः सिद्ध आद्गुस्तथा सति ॥ १ ॥" ( भाष्य 3. 2. 3)

Tradition gives another name to कात्यायन. It is वररुचि. The illustration वाररुचं काव्यम् in the भाष्य of 4. 3 103 also refers to a वररुचि. But it is uncertain if the grammarian कात्यायन is identical with the poet वररुचि. Nor is it acknowledged by all that the वार्त्तिककार is the same personage who is the author of either any one or more of the following viz, अनुक्रमणिका, [illegible] [illegible]ख्य, संहिता or other such works connected with the name of कात्यायन ।

Many vartikas are in poetry. Only a few of them are assigned to कात्यायन and recorded in the वार्त्तिकपाठ। जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट and नागोजिभट्ट often speak of some श्लोकवार्त्तिककार other than कात्यायन. In the भाष्यप्रदीप of 2. 4. 36, कैयट speaks of one व्याघ्रभूति to whom is ascribed the श्लोकवार्त्तिक—

जग्धिर्विधिर्ल्यपि यत् तदकस्मादसिद्धिमदस्ति किलेति विधानात् ।
हिग्रहणेषु सदा बहिरङ्गो ल्यप् भवतीति कृतं तदु विद्धि ॥ १ ॥

As this stanza is quoted in the महाभाष्य (2. 4. 36). व्याघ्रभूति is found to be prior to पतञ्जलि. The अनिट् कारिकाs, eleven in number, enumerating (9) the अनिट्

(9) These are quoted in 7. 2. 10 of the काशिका ।

roots, also belong to व्याघ्रभूति. There is another श्लोकवार्त्तिक quoted in 8. 2. 1 in the काशिका Viz.—

> युष्मिका युध्वजङ्घा च चामिमामौजढ़त् तथा ।
> मतो वेले भवतां जग्लं गुड़लिण्मान् निदर्शनम् ॥ १ ॥

which is known as composed by one व्याघ्रपात् । It is therefore called the वैयाघ्रपद्यवार्त्तिक ।

### (4) कुणि ।

We find the name of this grammarian in the भाष्यप्रदीप by कैयट and in the पदमञ्जरी by हरदत्तमिश्र । From their reference, it is found that कुणि was prior to पतञ्जलि, for कैयट observes that पतञ्जलि adopted, in the महाभाष्य, Kuni's explanation of I. 1. 75 "कुणिना प्राग्ग्रहणं माचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं चेति व्याख्यातम् । अन्येन तु प्राग्ग्रहणं देशविशेषणं व्याख्यातम् । भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमाशिश्रियत् ।"—(कैयट १।१।७५ ) । In annotating on the काशिका stanza वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु &c. says हरदत्त—"सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः । सा चेह पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभि राचार्य्यैर्विरचितं विवरणम् ।" Probability is strong enough that कुणि and चूर्णि to be spoken of presently, are identical.

### (5) चूर्णि ।

The काशिका begins with वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु. The term वृत्ति here precedes the word भाष्य, from which the existence of an earlier work of that name on पाणिनि than the महाभाष्य, is inferred The संग्रह was one such, as also was the कुणिवृत्ति । जिनेन्द्रबुद्धि in explaining the verse says—"वृत्तिः पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां विवरणं चूल्लिभट्टिनल्लुरादिविरचितम्" । This reading is from the Poona Deccan college MS. The MS. in Bengali characters, which is in the Varendra Research Society of Rajshahi, Bengal, has—वृत्तिः पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां विवरणं चुन्निभट्टिनिर्लूरादिविरचितम् ।" मैत्रेयरक्षित in his तन्त्रप्रदीप writes on 8. 3. 97—"सव्येष्ठा इति । सारथिवचनोऽयम् । अत चूल्लिभट्टिवृत्तावपि तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुग् दृश्यते ।" श्रीपतिदत्त of the कातन्त्रपरिशिष्ट speaks of the निर्लूरवृत्ति, Commenting on the चर्करीत roots, says he,—निर्लूरवृत्तौ चोक्तं भाषायामपि यङ्लुगस्तीति So the न्यासकार seems to refer to two works चूल्लिभट्टिवृत्ति and नल्लूरवृत्ति or निर्लूरवृत्ति. This may induce one to think चूर्णि and चूल्लि of चूल्लिभट्टि as the same. It will presently be stated that the work by चूर्णि was commented on by भर्तृहरि and चूल्लिभट्टिवृत्ति might be this joint work.

Regarding चूर्णि, a very powerful evidence comes from the Chinese source. Itsing, the Chinese traveller, who had been in India nineteen years from 671 A. D. to 691 A. D. refers to चूर्णि. Says he—"Next there is a commentary on the वृत्तिसूत्र (10) entitled *Churni.* It is a work of the learned पतञ्जलि. This

---

(10) What was this वृत्तिसूत्र ? Was it another commentary on the अष्टाध्यायी ? Who then was its author ? That the name वृत्तिसूत्र for a grammatical book was recognised even in ancient time, is found from the variant वार्त्तिकसूत्रिक for वार्त्तिकसूत्रिक in the महाभाष्य in 4. 2. 60.

again cites the former Sutras (Panini's) explaining the obscure points and analysing the principles contained in it and it illustrates the latter commentary (the Virti, that is, the काशिकावृत्ति) clearing up many difficulties. Advanced scholars learn it in three years.".........."Next there is the भर्तृहरिशास्त्र. This is the commentary of the foregoing चूर्णि and is the work of a great scholar भर्तृहरि।" (11)

चूर्णि is referred to by श्रीपतिदत्त. In his षत्वप्रकरण is the statement "मतमेतच् चूर्णि-रप्यनुगृह्णाति and again "संयोगावयवव्यञ्जनस्य सजातीयस्यैकस्यैवानेकस्योच्चारणाभेद इति चूर्णिः।" जगदीशभट्टाचार्य of the शब्दशक्तिप्रकाशिका and some other modern writers too speak of a grammatical scholiast चूर्णि। चूर्णि means something powdered. So the scholium is the चूर्णि. Hence its author is variously called चूर्णि, चूर्णिकृत् or चूर्णिकार. According to Itsing, पतञ्जलि himself is this चूर्णि or चूर्णिकृत्. Some Indians too hold this view. Now the work by चूर्णि and its commentary by भर्तृहरि narrated by I-tsing, might be the चूल्लिभट्टिवृत्ति instanced by the न्यासकार and the latter was composed earlier than the काशिका. On the other hand if चूर्णि had really been a scholiast other than पतञ्जलि, he might be identical with कुणि mentioned by कैयट and हरदत्त।

Now one thing is to be marked. If पतञ्जलि were the author of the चूर्णि, that is, of a scholium on पाणिनि, it was different from the महाभाष्य. For the महाभाष्य deals with the Vartikas by कात्यायन and not with Panini's aphorisms directly and generally. Hence that Scholium is no longer extant. कुणिवृत्ति ( or चूर्णि वृत्ति ) too is now defunct. There is however much confusion about चूर्णि. No satisfactory proofs are available at present to come to a decisive conclusion on the point. Further information is absolutely required to clear the obscurity.

## (6) पतञ्जलि।

The Great Commentary, that is the महाभाष्य, is a work by पतञ्जलि। He defends Panini in it from the ill-conceived and often erroneous attacks by कात्यायन, preferred in his Vartikas. To a वार्त्तिक, ( जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ) in I. 1. 68, पतञ्जलि puts two illustrations पुष्य ( ष्य ) मित्रसभा। चन्द्रगुप्तसभा। Now चन्द्रगुप्त founded the मौर्य dynasty of Magadha in about 321 B. C. Another चन्द्रगुप्त the first of the Gupta dynasty, was living in 320 A. D. It will be found presently that this second चन्द्रगुप्त could not have been intended by पतञ्जलि in supplying the name of a king in the illustration of the aforesaid वार्त्तिक। पुष्पमित्र (or पुष्यमित्र) was the founder of the Sunga dynasty in Magadha. He usurped the throne in about 183 B. C. by assassinating बृहद्रथ the last मौर्य king whose com[illegible] chief he had been. पतञ्जलि again cites the name [illegible]

III. 1. 26, पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्तीति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजका याजयन्तीति and again of III. ii. 123 "इह पुष्य (ष्य) मित्रं याजयामः।" It is known from the Drama मालविकाग्निमित्र by कालिदास that this king performed the अश्वमेध ceremony in which he appointed his grandson वसुमित्र to protect the sacred horse. Most likely पतञ्जलि witnessed this ceremony. Nay, remembering his statemant इह पुष्यमित्रं याजयामः, it may be that he officiated in it as a priest. This king died in about 148. B. C. and was succeeded by his son अग्निमित्र। The illustrations अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् given for the वार्त्तिक in the Sutra III. ii. 111, determine his age from the three conditions laid down in it, viz :—परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये। Menander, called by the Buddhists Milinda, a relation to the Bactrian king Eucratides and himself of Greek origin, was a king of the Punjab and Kabul. He beseiged साकेत (Oude) and माध्यमिका in 155 B. C. माध्यमिका here indicates a country. It is Nagari, near Chitore in Rajputana. It is also mentioned in the बृहत्संहिता,—"मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमाध्यमिकाः" (14/2). Now the प्रयोक्ता (speaker) of those two illustrations is पतञ्जलि himself. The event was notorious enough ( लोकविज्ञात ). It was out of his sight, though capable of being viewed by him (12). Hence पतञ्जलि was [illegible] 155 [illegible] living in [illegible] B. C.

The statement "मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्। तासु न स्यात्।" in the भाष्य of V. iii. 99, may also indicate, if the passage be not corrupted in transcription or transmission, the impecunious conditions of the last मौर्य kings and their kinsmen who had flourished before पतञ्जलि। The example जालूकाः श्लोकाः in the भाष्य of IV. iii. 101, refers probably to a very remote period, as we know from the राजतरङ्गिणी that one जालूक had been a king of काश्मीर in about 600 B. C. The statement एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् occurs in the भाष्य of I. I. 31. and of 5. 3. 52. The क्षुद्रक people were defeated by Alexander the Great, but he could not annihilate them.

पतञ्जलि names in the महाभाष्य other authors such as दाक्षायण, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, वार्ष्यायणि, काश्यकृत्स्न, कुणरवाडव, and सौर्यभगवान् (13). Different schools of Grammarians or Scholars, such as भारद्वाजीयाः, क्रोष्ट्रीयाः, सौनागाः and साल्वमुचिरायणीयाः are also mentioned by him. In the भाष्य of III. ii. 108, he supplies the illustration उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्। This shows that कौत्स was rather some personage of the time. Otherwise why his approach to the great Grammarian,

---

(12) In imitation, in the चान्द्रव्याकरण, चन्द्रगोमी puts the illustration अजयद् गुप्तो [illegible] Sutra based upon the वार्त्तिक परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये [illegible] to Skanda Gupta's conquest over the Huns [illegible] others assert that चन्द्र

should be so recorded? In 3. 3. 3 is वैयाकरणानाञ्च शाकटायन आह धातुजं नामेति। Again in 3. 2. 15 is वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे।

We find the statement "उभयथा गोणिकापुत्रः" in the भाष्य of I. 1. 15, नागोजिभट्ट takes गोणिका as the name of Patanjali's mother. गोनर्द्दीय occurs repeatedly. viz :— in the भाष्य of I. 12, of 1. 1. 29, of II. 1. 92 of III. 1. 92 and again of VII. 2. 101. The country गोनर्द identified with the modern Gonda in Oude, belonged to the "Eastern Province" known as such by the Grammarians of the time (14) and therefore जयादित्य forms an illustration with it as गोनर्द्दीय for I 1. 75 which he understood to concern the प्राग्देश, or the "Eastern Province."

Now in the भाष्य of 1. 1. 21, stands the passage गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति त्वन्यस्मिन्निति and कैयट paraphrases it भाष्यकारस्त्वाह सति त्वन्यस्मिन्निति। Again in the भाष्य of I. 1. 29 is गोनर्द्दीय स्त्वाह अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ। त्वकत्पितृक मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति। On this says कैयट—"गोनर्द्दीयस्त्वाहेति। सूत्रप्रत्याख्यानमेतत्। यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्।" So कैयट takes पतञ्जलि and गोनर्द्दीय as one and the same person.

But in the कामसूत्र by वात्स्यायन, गोनर्द्दीय and गोणिकापुत्र are separately named as two persons and as certain authorities holding different views on a matter. Now it is said that वात्स्यायन, कौटिल्य, चाणक्य, मल्लनाग and विष्णुगुप्त (15) are the several names of one and the same person. Hence if वात्स्यायन were the preceptor of चन्द्रगुप्त the मौर्य्य, गोनर्द्दीय or गोणिकापुत्र cannot be identical with पतञ्जलि। So, to support कैयट and नागोजि, गोनर्द्दीय and गोणिकापुत्र of the कामसूत्र are taken to be as some other authors.

The tradition is that the महाभाष्य became for some time obsolete. It was the king अभिमन्यु of काश्मीर, who brought, during the first century B. C, the scholars from other provinces and set up its study in his own kingdom.

देशान्तरादागमय्य व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्त्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥ १ ॥ (राजतरङ्गिणी 4. 487).

The study of the महाभाष्य was again forsaken by the scholars misled by the sophists बैजि, सौभव, हर्य्यक्ष &c. The causes thereof are recounted by भर्तृहरि in the stanzas beginning with प्रायेण संक्षेपरुचीन् &c. quoted before. It is said that only one single MS. of it once existed in the whole of India.—Adds भर्तृहरि—

---

(14) प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥ १ ॥

(15) In the Drama मुद्राराक्षस by विशाखदत्त, चाणक्य, कौटिल्य and विष्णुगुप्त are found to be the names of one and the same person. नवनन्दान् द्विजः कश्चित् सपुत्रानुद्धरिष्यतीति श्रीमद्भागवत पद्यव्याख्याने द्विजः कौटिल्यवात्स्यायनादिपर्य्याय चाणक्य इति श्रीधरस्वामी।

यः पतञ्जलि शिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥ २ ॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वञ्च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ॥ ३ ॥

This is also confirmed by the राजतरङ्गिणी—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात् तदागमम।
प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वञ्च व्याकरणं महत् ॥ १ ॥

if the Grammarian चन्द्र did really live during the reign of Abhimanyu, king of Kasmira. Here तस्मात् evidently means from Abhimanyu. So according to some चन्द्राचार्य and अभिमन्यु are co-eval. But others assert that चन्द्राचार्य or चन्द्रगोमिन्, the author of the चान्द्रव्याकरण, lived in 465 A.D. It is inferred from an example—अजयद् गुप्तो हूणान्—given by him in his grammar, in imitation of अरुणद् यवनः साकेतम् used by पतञ्जलि to exemplify a वार्त्तिक in 3. 2. 111. Another Grammarian वसुरात is said to have been a pupil of चन्द्रगोमिन् in 480 A. D. Some take वसुरात as the preceptor of भर्तृहरि. If so, he might have got this pupil in his very old age, as भर्तृहरि died in 651. A. D. So the study of the महाभाष्य seems to have been again current since the 5th. century A. D.

Poetical passages in large number are found in the महाभाष्य। एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि is in 3. 1. 67. It occurs also in the रामायण ( Book V. 36. ). The couplet in 6. 1. 84.

ऊर्ध्वं प्राणा व्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

Is found in the मनुसंहिता। कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः in 3. 3. 167 is in the हारीतसंहिता and the महाभारत। अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्। वैवस्वतो न तृप्यति सुरया इव दुर्मदी in 2. 2. 29 is in the महाभारत too. In 2. 3. 35 is.

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपिताद् गुरोः ॥ १ ॥

In 2. 2. 29 is

उपासातं स्थूलसिक्तं तूष्णीङ्गङ्गं महाह्रदम्।
द्रोणच्छेदमृको गन्तुं मा त्वा ताम्रां क्षताकृते ॥ १ ॥

In 1. 4. 3 is

यस्मिन् दश सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति ॥ १ ॥

In 1. 3. 25 we get

बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते ॥ १ ॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति ॥ २ ॥

In 4. 1. 93 is कुतश्चरति मायूरिः केन कापिञ्जलिः क्रमः ।
आट्टेयेन च दृष्टस्य पाञ्चिः सुतिसमो मतः ॥ १ ॥

In 4. 1. 48 is त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवे विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम् ॥ १ ॥

In 2. 3. 13 वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥ १ ॥

In 2. 3. 36 चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयो र्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥ १ ॥

In 3. 1. 48 नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः ।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ॥ १ ॥

In 5. 1. 115 तपः श्रुतञ्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ १ ॥

In 8. 1. 8 is सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषा स्ताड़नाश्रयिणो गुणाः ॥ १ ॥

Many other verses such as वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः, असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवः, महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः, सङ्कर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्द्धताम् &c...are there. This shows that Sanskrit literature was then Sufficiently developed. In the भाष्य of 3 3. 167 and elsewhere (specially in the पस्पशा) many other stanzas, current then as adages, are to be found Dramatic representations and the public recitations of ancient texts are also hinted in the भाष्य of III. 1. 26. by ये तावदेते शोभिका नाम, एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयतीति ।...ग्रन्थिकेषु कथं यत्र शब्दग्रन्थनमात्रं लक्ष्यते ? (16) &c...

## (7) भर्तृहरि।

भर्तृहरि is the name of the author or authors of three grammatical works and three didactic poems. These are a commentary on the महाभाष्य, the वाक्यपदीय, the भागवृत्ति, the वैराग्यशतक, the नीतिशतक, and the शृङ्गारशतक, Kaiyata in writing his Bhashya Prodeepa often availed of the first with the acknowledgment—

"तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्" ॥ १ ॥

Itsing in a part of his book, makes भर्तृहरि the author of a commentary on पाणिनि.—He calls it "pei-na", which is surmised by the Japanese translato

(16) शोभिका नाम कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः ।
ग्रन्थिकेष्विति कथकेष्वित्यर्थ इति कैयटः ।

(Mr. J. Takukusu) to be the "Veda-Vritti" or "वेड़ावृत्ति." (17) Says I-tsing—"A person who has studied so far as this book, is said to have mastered Grammatical Science." Now this "Pei-na" is probably the भागवृत्ति which was a commentary on the अष्टाध्यायी. The भागवृत्ति is referred to by हरदत्त, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तमदेव, शरणदेव, श्रीपतिदत्त, माधव ( सायणाचार्य्य ), भट्टोजि and others. As to its authorship, the following statement is found in the तन्त्रप्रदीप ( a commentary on the काशिका and the न्यास, perhaps also called the वृत्तिप्रदीप ) by मैत्रेय रक्षित on the Sutra VIII iii. 21-viz :—"भर्त्तृहरिणा चास्य नित्यार्थतैवोक्ता। तथाच भागवृत्तिकृता प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तं तन्त्रे उतं तन्त्रयुतमिति। वामनोऽपि लोपेनैवोदाहरणमुक्तवान्।"—शरणदेव says in his दुर्घटवृत्ति on the Sutra VIII. iii. 37.—"उपराम उदयाम इत्येव भवतीति भर्त्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम्।" सृष्टिधराचार्य्य the author of the भाषावृत्त्यर्थविवृति, a commentary on the भाषावृत्ति by पुरुषोत्तमदेव, remarks in the end of his book—"भागवृत्ति-र्भर्त्तृहरिणा विरचिता श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा।" This श्रीधरसेन might be the third king of that name of वलभी, whose reign terminated in about 629 A. D. Or it might be an error on the part of सृष्टिधर, arising from the belief entertained by some, that the poet of the भट्टिकाव्य and the Grammarian भर्त्तृहरि are identical.—I-tsing also speaks of the वाक्यपदीय by भर्त्तृहरि and gives 651 A. D. as the year of his death.

Now the author of the भट्टिकाव्य observes काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्र-पालितायाम्।" There is a variant here viz : श्रीधरसूनुनरेन्द्रपालितायाम्। In Dandin's दशकुमारचरित is the passage अस्ति सौराष्ट्रेषु वलभी नाम नगरी, It is indentified with the modern country Wala in Kath'awar. Sridharasen I, King of वलभी wa[illegible] by his brother द्रोणसिंह in 502 A. D. Another Dharasena [illegible] succeeded II reigned over वलभी in 517 A. D. Next, Sridhara-Sen[illegible] Sridharasen there till 629 A. D. The poet भट्टि had [illegible] III. reigned patron. That he [illegible] likely one of these Dharasenas as his anterior to th[illegible] in th[illegible] rent from भर्त्तृहरि, the author of the भागवृत्ति and is in the [illegible] the latter, is clear enough, as the grammarian finds fault with the poet sometimes and sometimes justifies him. On आहध्वं मा रघूत्तमम् in the भट्टि-काव्य, the भागवृत्ति asserts प्रमाद एवायम् ( (18)। Again on प्राक् कैकयीतो भरतस्ततोऽभूत् says भागवृत्ति—"शार्ङ्गरवाद यञो ङीनिति ङीन् (19)।

Regarding the author of the three Satakas named above, there is a tradition that, mortified at his wife's infidelity, he renounced the world and became a mendicant. I-tsing alludes to and admires a similar event in the life of the Grammarian भर्त्तृहरि who had exchanged his riches for the life of a devotee. This cannot, of course, be sufficient for asserting that the writer of

---

(17) May not the "Veda-Vritti" as well be a corruption of the word भैजवृत्ति वा भेदवृत्ति ie. भागवृत्ति ?

(18) Quoted by भट्टोजि in the सिद्धान्तकौमुदी on the Sutra धि च (?) वाक्ये यमहन: (१।२।२८)।

(19) Quoted by पुरुषोत्तमदेव in the भाषावृत्ति on the Sutra न प्राच्यभर्गादियौधेया-दिभ्यः (४।१।१७८)।

the नीतिशतक and वैराग्यशतक is the same personage as the author of the वाक्यपदीय or the भागवृत्ति. Besides, the Satakas are more or less eclectic in which stanzas of later writers even, are found incorporated.

According to the न्यासकार, there was a चूल्लिभट्टिवृत्ति on the अष्टाध्यायी and it had been composed earlier than the काशिका. On the other hand, I-tsing's assertion that भर्तृहरि had written a commentary on the चूर्णि; is well-known. चूर्णि might have been changed to चूल्लि, चुल्लि or चूल्लि through provincialism or manipulations of the scribes.—In the काशिका, a वृत्ति is referred to in VIII iii. 48. yiz :—"भाष्ये वृत्तौ च नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्येत्यत्र ( 8.3.45 ) परमसर्पिः कुण्डिकेत्येतदेव प्रत्युदाहरणम्।" Most likely this वृत्ति is the भागवृत्ति. The order in which it is stated seems to make it a later work than the महाभाष्य. According to I-tsing, Bhatrihari's death took place ten years earlier than Jayaditya's. So the latter might easily consult the former's work. The term वृत्ति in the opening line वृत्तौ भाष्य तथा धातुनामपारायणादिषु of the काशिका, may be a work prior in time to the महाभाष्य and different from the वृत्ति mentioned in VIII. iii. 48. The one might be the भागवृत्ति by भर्तृहरि and the other चूर्णिवृत्ति or कुणिवृत्ति ।

The word वाक्यपदीय occurs as an example to IV. iii. 88 in the काशिका, viz :— "शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणं वाक्यपदीयम्।" कैयट also names it, as already stated, and repeatedly quotes from it. The observation that भर्तृहरि lived in about 800 A. D. goes againt I-tsing's asserton. This may be true in the case of the poet of the three *satakas*, but not of the grammarian. Though the pseudo-vœrtika मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः in I. i. 11 is rejected by भर्तृहरि and adopted by जयादित्य, there is no inconsistency as to their synchronism. As this वार्त्तिक was not given by कात्यायन and पतञ्जलि, भर्तृहरि did not take it in. But the Buddhist author either composed it himself or transferred it to his book from some older scholium, thinking इव, and not व, following such words as मणी, दम्पती, &c. Other pseudo-vartikas, such as यमाचेति वक्तव्यम् in iv. i. 85, (20) are also found in the काशिका ।

(8) मल्लूरवृत्ति or निर्लूरवृत्ति ।

Nothing more is known of this treatise than that it is mentioned by the न्यासकार and once quoted by श्रीपतिदत्त in his कातन्त्रपरिशिष्ट । So its author too is now unknown.

(9) जयादित्य and वामन ।

These two are the authors of the काशिका । जयादित्य died in 661 A.D. I-tsing describes him as the author of the Sutra-Vrittii identified with the काशिका । But the Indian scholars take the Kasika as the joint work of tw[illegible]

---

(20) This वार्त्तिक is found exem[illegible]
For instan[illegible]
प्रतश्री शम्याः[illegible]

जयादित्य and वामन। जिनेन्द्रबुद्धि discourses in III. i, 33 on a contradiction arising from two opposite statements in III. i, 33 and vii. i. 58 in the काशिका and he attemps to remove it thus :—

"नास्ति विरोधः। भिन्नकर्तृकत्वात्। इदं हि जयादित्यस्य वचनम्। तत् पुनर्वामनस्य। वामनवृत्तौ तु तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः पठ्यते। तेन विरोधो नाशङ्कनीयः। केन पुनरभिसन्धिना जयादित्यस्तासेरिकारस्यानुनासिकलोपप्रतिबन्धार्थतां कृतवान् ? वामनस्तूच्चारणार्थताम् ? श्रूयताम्। &......"

He again notices a difference of views between the two authors in I. i. 5,—

"ग्लाजिस्थश्चेत्यत्र (3, 2. 13) जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः.........श्युकः कितीत्यत्रापि (7. 2. 11) जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः......। वामनस्य त्वेतत् सर्वमनभिमतम्। तथाहि तस्यैव सूत्रस्य (7. 2. 11) तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्तीति।"

हरदत्त too echoes the statement by the न्यासकार in III i. 33 in his पदमञ्जरी— "एवं तावत् जयादित्येनासिद्धत्वमाश्रित्य तासेरित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थमित्युक्तम्। वामनस्तु टिलोपस्य सिद्धत्वादेव नलोपो न भविष्यतीति मन्यमान इदितोरित्यत्र (7 1.58) वक्ष्यति तासिसिचोरिदित्कार्यं नास्तीत्युच्चारणार्थो निरनुनासिक इकारः पठ्यत इति।"

Again in II. ii. 17 हरदत्त takes तृच् क्रीड़ाजीविकयोर्नास्तीति as the opinion of जयादित्य and then says वामनस्त्वके जीविकार्थे (6. 2. 73) इत्यत्राक इति किम् ? रमणीयकर्त्तेति जीविकायां तृच प्रत्युदाहरिष्यति।

भट्टोजि also maintains this joint authorship in his प्रौढ़मनोरमा in V. iv. 42. viz :—एतच्च सर्व्वं जयादित्यमतेनोक्तम्। वामनस्तु मन्यते जातिशब्देभ्योऽपि भवत्येव. Again in the शब्दकौस्तुभ, on 1. i, 5 he says जयादित्योऽप्येवम्। वामनस्तु···न क्वापि गकारप्रश्लेषः कार्य्य इत्याह।

So the काशिका is the joint work of जयादित्य and वामन. It is desirable to find out their individual shares in it. हरिदीक्षित asserts in his शब्दरत्न on V. iv. 42 "प्रथमद्वितीयपञ्चमषष्ठा जयादित्यकृतवृत्तयः। इतरे वामनकृतवृत्तय इत्यभियुक्ताः।" In Pundit Balshastrin's printed edition of the काशिका, the first four Adhyayas are assigned to जयादित्य and the rest to वामन. This view is now generally accepted. But the observation by जिनेन्द्रबुद्धि quoted above :—श्युकः कितीत्यत्रापि (7. 2. 19) जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः &c—throws some doubt on it. Did जयादित्य write a complete commentary on the काशिका ? Besides, it is strange that I-tsing is totally silent about वामन. Says he of जयादित्य—

"He was a man of great ability. His literary power was very striking. He understood things which he had heard once, not requiring to be taught twice. It is now nearly thirty years since his death."

I-tsing composed his book in 691 A. D. So Jayaditya's death occurred in 661 A. D. Now why within so short a time is Jayaditya's colleague entirely ignored by I-tsing ? In the काशिका, the Indian scholars found contradictory allegations and they reconciled them by ascribing them to the two authors [...]त्य and वामन. This shows that वामन could neither be a different name nor [...] the other.—Was it because वामन held then a subordinate [...]il of the other or a very new writer who had not [...]med as an author ? Or were [...] recast by [...] either an

intimate friend or a pupil of the other, he might undertake this task of retouching the work left by जयादित्य, if he thought it requiring further improvement. That जयादित्य might have left his own comments on the last four Adhyayas appear not altogether improbable from the assertion of the न्यासकार on I. i. 5—"शुरुकः कितीत्यत्रापि (7. 2. 11) जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः।" Probably वामन wrote down his share of the काशिका shortly after I-tsing had left India and so he is not at all mentioned by the former. Unless there be some such reasons, it cannot be likely that I-tsing could avoid or forget वामन within so short a time as between the composition of the काशिका (that is Jayaditya's सूत्रवृत्ति) and his own book, the Record of the Buddhist Religion.

In the काशिका are found references to पदशेषकार, माध्यन्दिनि and भट्टाचार्य (1.2. 36) and quotations from the रामायण, महाभारत, मनुसंहिता, भारवि and नामार्थकोष ; besides, stray lines such as सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी, केनेदं लिखितं चित्रं मनोनेत्रविकाशि यत्, घटदिति गम्भीरमम्बुदैर्नदितम् &c. The verse सा हि तस्य धनक्रीता &c. is assigned to भट्टि by माधव in his धातुवृत्ति (on the root डुक्रीञ्) and भट्टोजि in his शब्दकौस्तुभ in II. ii. 19. But it is not met with in the भट्टिकाव्य. To II. i. 55 in the काशिका, the examples हंसगद्गदा and न्यग्रोधपरिमण्डला and again to VI. 2. 2. those two and दूर्वाकाण्डश्यामा are supplied. This reminds one of the stanza in the भट्टिका[...]

योषिद्वृन्दारिका तस्य दयिता हंसगादिनी ।
दूर्वाकाण्डमिव श्यामा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥ (V. 18)

If there be any borrowing here, the grammarian is the borrower, supposing that the भागवृत्ति is prior to the काशिका। As however जयादित्य quotes भारवि and refers to the वाक्यपदीय, I-tsing's chronology is sufficiently borne out. Nothing is known of the life, parentage &c...of जयादित्य and वामन. It is said that they were Buddhists ; for they commenced their work without any statement of salutation to a god ; supplied such un-Brahminic illustration as नयते चार्वी लोकायते &c. ; mutilated the aphorisms of the sage or often augmented them by interpolations. No Brahmin classical author would do it, as it would lead to a wrong पारायण and be a sacrilege.

This famous work the काशिकावृत्ति, sometimes called the सद्वृत्ति or the महावृत्ति, is now the only extant independent complete commentary on the अष्टाध्यायी written in accordance with the order of the Sutras as laid down by पाणिनि himself. The शब्दकौस्तुभ would have been another such work independently composed, if भट्टोजि could finish it. If is said that he died before its completion. The व्याकरणमिताक्षरा by अन्नम्भट्ट, (21) the वैयाकरणसर्वस्व by धरणीधरकाशीनाथ composed in 1809 A.D.

(21) The beginning o[...] [...]णमिताक्षरा is

शिवं साम्बं नमस्कृत[...]

पाणिनीयमते[...]

and the coloph[...]

ग्रन्थविम[...]

on the request by Henry Colebrook (22) and the Scholium prepared in 1839-42 A. D. by two unknown pundits appointed by Dr. Boethlinck, were all, more or less, based on the materials supplied by the काशिका. They are not enough to make one understand पाणिनि fully and clearly. In fact, had the काशिका been not written at all or defunct, the need for a systematic Sanskrit Grammar treating both the holy and profane parts of the language, would have been awfully great. The study of the अष्टाध्यायी then would have disappeared altogether or lingered only with a very few scholars. Its importance and necessity cannot therefore be overstated. The term काशिका is thus explained—काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका। काश्यां भवा वा। हरदत्त favours the second etymology,—"काशिकेति देशतोऽभिधानम्। काशिषु भवा।"—So they prepared it at Benares,—that eternal city and centre of Sanskrit learning in India.

(10) जिनेन्द्रबुद्धि।

जिनेन्द्रबुद्धि is the author of the काशिकाविवरणपञ्जिका. It is variously called the काशिकाविवरणपञ्चिका, काशिकाविवरणपञ्जिका, काशिकान्यास, जिनेन्द्रन्यास or the न्यास. The name न्यास is because of its methodical justification of the statements of the text comm[ent]ed upon (23). The न्यास was most likely the first of the commentaries written on the Kasika. Another of its commentaries is the पदमञ्जरी by हरदत्तमिश्र. Says he in the Introduction of his book

तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बा [illegible]।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यमाचार्यमपराजितम् ॥ १ ॥
यथिराय हरदत्तसंज्ञया विश्रुती दश्रसु दिक्षु दक्षिणः।
उज्जहार पदमञ्जरीमसौ शब्दशास्त्रसहकारपादपात् ॥ २ ॥

The variants in (1) are रुद्रकुमाराख्यम्, पद्मकुमारार्यम् and चाग्निकुमारार्यम्। if these [va]riants are the real readings and contain आर्य, हरदत्त was clearly a Madras Iyer. [Fro]m a varnacular word कूचिमञ्चि used by him in his book, this assertion is [furt]her confirmed. He often speaks of his own merit thus :—

(22) The colophan of the वैयाकरणसर्वस्व runs thus—

देशे श्रीमति वङ्गनाम्नि नगरे श्रीकाञ्चकत्ताभिधे
श्रीमत्धामसदेवकः कुलवुकत्साहेवदत्ताज्ञया।
प्रारब्धं धरणीधरेण विदुषा व्याख्यानकं पाणिनेः
सूत्राणां समनुक्रमेण च महाभाष्येण तट्टीकया ॥ १ ॥
कौमुद्यापि च काशिकामञ्जितया संयुक्तकं वार्त्तिकै
सहत् सर्वगणैः सहैव च परीभाषेष्टिभि र्मिश्रितम्।
मूढानां द्रुतबोधदं च सुमहत् सर्वोपकारावहं
[illegible]राय तत् ॥ २
[illegible]) वैक्रमे
[illegible] सिते।

एवं प्रकटितोऽस्याभिमाच्ये परिचयः परः।
तस्य निःश्रेयतो मन्ये प्रतिपत्तिरपि दुर्लभः ॥१॥
Again प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः।
हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्य्यते ॥१॥

Though he boasts of the superiority of his work (24) to all other commontaries on the काशिका, said to be existing by hundreds, yet it is doubtful if he has been able to dislodge the न्यास from its pedestal of the first and best of its kind. जिनेन्द्रबुद्धि was a grammarian of extraordinary acumen. His grammatical knowledge and insight were intensely keen ; his studies and acquirements vast, deep and varied. His memory, as evidenced from his book, was wonderful. His book is a veritable repositary of minute, cogent and incisive reasonings. Its sterling merits deservedly acquired for it, a worldwide fame. The scholars sang its praises :—

यत् पञ्जिकानावमिमामासाद्य सुधियः सुखम्।
तरन्ति काशिकाम्भोधिं स जिनेन्द्रो जयत्ययम् ॥ १ ॥

and again.

उच्चारितं शिवमुखैरशेषैर्व्याख्यामृतं शब्दमहार्णवस्य।
न्यासीकृतं येन जिनेन्द्रकेन तस्मै नमः शाब्दिकवन्दिताय ॥१॥

सृष्टिधराचार्य्य of the भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति based his work on it and he says :—

न्यासग्रन्थार्थतात्पर्यपर्यालोचनशालिभिः।
बोध्योऽयं करुणादक्षैः कृतिभिर्मे परिश्रमः ॥ १ ॥

The न्यास has a commentary of its own in common with the काशिका by मैत्रेयरचित. It is called the तन्त्रप्रदीप. Says मैत्रेय in his धातुप्रदीप—

मञ्जुघोषप्रसादेन धातूनां वृत्तिमारभे।
बहुशोऽसृजन् यथा भीमः प्रोक्तवांस्तदागमात् ॥ १ ॥

Again in the colophon वृत्तिन्यासौ (सं)समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम्।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः ॥ २ ॥
आकृष्य भाष्यजलधे रथ धातुनामपारायणक्षपणपाणिनिशास्त्रवेदी।
कालापचान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय ॥ ३ ॥
He composed his books in about 1100 A. D.

Some say that this तन्त्रप्रदीप is probably identical with the अनुन्यास, or the न्यासोद्योत। माधवाचार्य्य often refers to it by the name of वृत्तिप्रदीप after the भाष्यप्रदीप by कैयट।

Nothing is known regarding the birth place, parentage and life of the न्यासकार। बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्य being a title of his, it is plain that he was a Buddhist. Some take him as a जैन। भट्टोजि called him वेदवाह्य (25), because, he was not a

---

(24) अविचारितरमणीयं कामं व्याख्यान्तरं भवतु सुधेः।
हृदयङ्गमा भविष्यति गुणग्राहकाणामियं व्याख्या ॥ १ ॥"

(25) "यत्तु न्यासकृतोक्तं सुद्धसानीशब्दे द्वितीय उदात्त इति तद्वेदवाह्यत्वप्रयुक्तमेव। क्षितीति (६।१।९२) प्रत्ययात् पूर्वस्य विधीयमानं सन्निहितमातृकं विहाय क्षितौ प्रवर्तत इत्यत्र बीजाभावात्। सकलवैदिकपाठरोधाच्च।" ( प्रौढमनोरमा, वैदिकप्रक्रिया on 4. 1. 49).

Brahmin. बोधिसत्त्वदेशीय is by the तद्धित affix देशीयर् (५।३।६७)। Another view asserts देशीय with the affix छ under गहादि (४।२।३८) or with छ to बोधिसत्त्वदेश by एङ् प्राचां देशे (1.1.75). As to his age the internal evidences are very few and far between. जिनेन्द्रबुद्धि names a poem सीताहरण in II. i. 15. There is nothing to show that the न्यासकार means by it the जानकीहरण by the Buddhist poet कुमारदास. In VI. i. 74, he quotes मा चाक्षिपथमन्वगाः which is from the रामायण (Book IV. 30. 81 and 34. 18). In II. ii. 16 is भीष्मः कुरूणां भयशोकहर्त्ता (न्ता) likely from the महाभारत. In IV. i. 20 is the stanza.

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ १॥

Which occurs in the मनुसंहिता. In III. ii. 87 he discourses on वृत्रस्य हन्तुः which may remind one of the line वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते in the कुमारसम्भव; in viii. 2.80 is अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् which is from the महाभारत, In III. ii. 21 is नातिरियं किङ्करी in III. ii. 174. कान्तो हरिचन्द्र इव प्रजानाम; in VI. 2. 187 is तत्रोपासितलोकभर्त्तरि; in VI. iii. 67 शिरो मे श्रीर्यशो मे श्रीः and in VIII. iv. 16, अपि शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः। But their sources have not been traced.

In I. ii. 17 stands a quotation प्राप्ते कल्याननामानावेतौ तिष्यपुनर्वसू which is also found, slightly changed, in the साहित्यदर्पण. To illustrate the drammatic लक्षण अनुक्तसिद्धि in chapter VI. the author sets down "विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीर्य्यते यथा गृहवृक्षवाटिकायां—

इश्यते तन्वि यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू॥ १॥

One रामचरणतर्कवागीश who wrote a commentary on the साहित्यदर्पण, by name the साहित्यदर्पणविवृति, in 1702 A. D., glossed over it thus:—

"ऊहविस्तारस्तर्कातिशयः। इश्यते इति। गृहोपवने विश्वामित्रसमीपे श्रीरामलक्ष्मणौ दृष्ट्वा सीतां सम्बोध्य ततसखीनां वितर्कवर्णनमिदम्। अत्र चन्द्रादीनां पृथिव्यामसम्भवे वितर्कातिशयः।"

Is this गृहवृक्षवाटिकायाम् the name of a book? Or a portion of the text quoted from a book, indicating the spot from which the maidens addressed सीता?

There is a passage (26) in the MS of the न्यास belonging to the Deccan college, Poona, in which a quotation is found from the अमरकोष viz:—"अथवा तन्त्रं सिद्धान्तः। तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्त इत्यमरः।" But it does not occur in the Bengal MS. in Bengali characters, ferreted out from Bengal, and now deposited in the Varendra Research Society of Rajshahi, nor in the MS in Malayalam characters, which is in the Library of Trivancore Government (27). So it cannot be safely asserted that जिनेन्द्रबुद्धि had quoted अमरसिंह।

(26) P. 2 in the Text.

(27) M. M. Pundit T. Gonapati Sastrin assured the editor of this. Vide his letter printed in the note of p. 1062. Vol I.

As for the external evidence, it is known from I-tsing that जयादित्य died in 661 A. D. Now जिनेन्द्रबुद्धि did not write his न्यास within a very short time after Jayaditya's demise. It is clear from the following passages of it :—

(a) In 1. i. 5 writes the न्यासकार—"अन्ये तूत्तरसूत्रे कथिता श्री रचिता श्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्। इह तु दुर्विन्यस्तकाकुपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर् लिखितमिति वर्णयन्ति।

(b) In IV. i. 2—"औटष्टकारः सुडिति प्रत्याहारग्रहणार्थः। वृत्तौ त्वेष ग्रन्थो नास्ति। भवितव्यं त्वनेन। लेखकप्रमाददोषादिदानीमन्तर्हितः।"

(c) In VI. iii. 79—"ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमादादिदानीन्तनैः कुलेखकैर्लिखितम्।"

This shows that the use and study of the काशिका had spread vastly and ranged for a sufficient time before the न्यास was composed. Otherwise it is hardly possible for the scribes to so soon forget the order of words in transcription of any recently composed book. The complaint of the commentator consists of the words इदानीम् and इदानीन्तनैः This clearly bespeaks a certain period of time sufficiently long and previously elapsed after which the copyists were likely to be careless in their work.

Now मैत्रेयरक्षित the commentator on the न्यास is quoted by शरणदेव in his दुर्घटवृत्ति written in 1172 A. D. मैत्रेयरक्षित refers to कैयट and quotes ... his तन्त्रप्रदीप। It will be presently shown that माघ names the न्यास। पुरुषोत्तमदेव mentioned in the दुर्घटवृत्ति, quotes न्यासकार and कैयट in his भाषावृत्ति composed in about 1150 A. D. कैयट often refers to भर्तृहरि (of the वाक्यपदीय) and वृत्तिकार (जयादित्य) directly and speaks of the न्यासकार in the भाष्यप्रदीप indirectly thus :—

(a) In III. i. 111, on the Sutra ई च खनः ( ३।१।१११ ) says न्यासकार—"द्वयोरिकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः। तत्र यो द्वितीय इवर्णः स ये (6.4.43) चेत्यात्त्वबाधा यथा स्यादित्येवमर्थः।" Now कैयट remarks "दीर्घोच्चारणे भाष्यकारेण प्रत्याख्याते केचित् प्रश्लेषनिर्देशेन द्वितीय इकारो ये विभाषेत्यात्त्वस्य (6.4.43) पक्षे परत्वात् प्राप्तस्य बाधनार्थं इत्याहुः। तदयुक्तम्। क्यप्सन्नियोगेन विधीयमानस्येत्त्वस्यान्तरङ्गत्वात्।"

(b) Again in VII. iii 70 (घोर्लोपो लेटि वा) कैयट observes—"केचित्त्वनित्यमागमशासनमित्यस्य ज्ञापकं वाग्रहणं वर्णयन्ति। अनित्यत्वात् तस्य घसति ददादिति न स्यादिति। तन्निवृत्तये वाग्रहणं क्रियमाणमेनां परिभाषां ज्ञापयति।

This assertion that the term वा in. VII. iii, 70 is the indicatory of the परिभाषा quoted above, stands in the न्यास in VII. i. 1 viz :—

अनित्यता पुनरागमशासनस्य घो र्लोपो लेटि वेत्यत्र (7. 3. 70) वाग्रहणाल्लिङ्गाद् विज्ञायते। नहि ददद् ददादित्यत्र नित्यं घो र्लोपो मा भूदित्येवमर्थं क्रियते। यदि च नित्यमागमशासनं स्याद् वाग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवतु नित्यो लोपः। सत्यपि तस्मिं ल्लेटोऽडाटा (3. 4. 94) इत्यटि कृते ददद् ददादिति सिद्धत्येवं। अनित्यत्वे त्वागमशासनस्याड़ागमाभावान्न सिध्यति। ततो वावचनमर्थवद् भवति।"

From this elaborate explanation in which no previous writer is alluded to, it is clear that जिनेन्द्रबुद्धि is the first prapagator of this view. If so, कैयट refers to the न्यासकार and he must have flourished some time between 661 A. D. and 1100 A. D. This limit for कैयट is set down in consideration of the reference to him, by पुरुषोत्तमदेव who was most likely a Bengali. He composed his भाषावृत्ति in about 1150 A. D., and we may take 50 years as the minimum period for the circulation of the भाष्यप्रदीप in Bengal. Again हरदत्त

often indirectly speaks of कैयट (28) and appears to have lived in 1100 A. D. हरदत्त, मैत्रेयरक्षित and पुरुषोत्तम appear to have been all co-eval as no one of them refers to the others. शरणदेव too does not speak of हरदत्त, but he quotes कैयट। Kaiyota introduces himself thus :—

"पदवाक्यप्रमाणानां पारं यातस्य धीमतः।
गुरौ महेश्वरस्यापि कृत्वा चरणवन्दनम्॥ १॥
महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम्।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः॥ २॥

So his preceptor was one महेश्वर and father जैयट. One भीमसेन in his commentary सुधासागर on the काव्यप्रकाश, written in about 1723 A. D. asserts that कैयट was a brother to मम्मटभट्ट and उव्वट and flourished in काश्मीर. They say मम्मट lived in 1050 A. D. and so did उव्वट as they both referred to the king भोज in their works. मम्मट names भोज in his काव्यप्रकाश—"यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेः तत्त्यागलीलायितम्।" भोज was reigning in 1042 A.D. उव्वट in his ऋक्प्रातिशाख्यभाष्य says इति श्रीपार्षद्व्याख्यायामानन्दपुरवास्तव्यवज्रटपुत्रोव्वटकृते प्रातिशाख्यभाष्ये... and in his वाजसनेयसंहिताभाष्य says :—

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुव्वटो वसन्।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राष्ट्रं प्रशासति॥ १॥

Elsewhere is the statement : —

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं कृतं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥ १॥

Which makes वज्रट as his father and not जैयट, which jars with the assertion by भीमसेन in his सुधासागर in asmuch as कैयट himself says that जैयट was his father, It can however be defended by taking पितृव्यपुत्र (cousin) as the meaning of the term भ्राता (brother) here,—the term भ्राता may even indicate मातुलपुत्र, मातृष्वसीय and पितृष्वसीय। But from consideration of the age of हरदत्त, शरणदेव and पुरुषोत्तमदेव, कैयट may be taken to have lived in 1050 A. D. if not earlier.

Now the stanza in the शिशुपालवध—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ १॥

really alludes to the न्यास. Going through the pages of the latter, the hit in the epithet अनुत्सूत्रपदन्यासा will be found very thoroughly appropriate. The reader will be amazed to find that जिनेन्द्रबुद्धि invariably and studiously rejects the vartikas and shows that whatever had been supplied by कात्यायन with Vartikas, safe.

(28) E. G. says कैयट in 3. 2. 115 in forming the word परोक्ष—"प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः इति टच् समासान्तः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्दस्याविशब्देनाव्ययीभावासम्भवात् समासान्तरे विज्ञायते।" Now हरदत्त remarks there "अन्ये तु प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः इति शरत्प्रभृतिषु पाठाट्टच् समासान्त इत्याहुः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्देनाव्ययीभावासम्भवात् समासान्तरे विज्ञायते।" from such cases हरदत्त is clearly posterior to कैयट।

could be independently formed and justified by the sutras of the अष्टाध्यायी. The vartikas were therefore absolutely needless, as things established by them, could be deduced from the very sutras.—"सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्"। So the न्यास is really अनुत्सूत्रपद and Magha's allusion to it in the stanza, is quite sure and certain. माघ is quoted by आनन्दवर्द्धन in his ध्वन्यालोक and धनिक धनञ्जय in the दशरूप. The दशरूप was composed in about 977 A. D. and आनन्दवर्द्धन lived in the reign (from 855 A D to 883 A. D.) of अवन्तिवर्मन् son to सुखवर्मन् and a king, of काश्मीर. Hence माघ might be living in about 800 A. D. Taking the two limits of 661 A. D. (the year of Jayaditya's death) and 800 A. D. the न्यास appears to have been composed in about 725 A. D.

Kielhorn's statement that अनुत्सूत्रपदन्यासा does not refer to the न्यास, is not tenable and need not be relied on. The term अनुत्सूत्र might be used in the महाभाष्य as many times as one may please, but marking the systematic way in which जिनेन्द्रबुद्धि having rejected every वार्त्तिक, maintains and props up the authority of the sutras only, माघ could not mean anything but the न्यास in the aforesaid passage, when putting an epithet to the word शब्दविद्या. It is also worth consideration how many renowned and important books there had been available on the शब्दविद्या when माघ composed his poem. It was सन्निबन्धना because it had in it the महाभाष्य which is a सन्निबन्धन. Bhatrihari's description,

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धनम् ॥

leeds to the idea that it was the content of all न्यायबीज and a सन्निबन्धन। सद्वृत्ति is the other qualification, because it had then in it भागवृत्ति by भर्तृहरि and the काशिका वृत्ति by वामनजयादित्य. The next important treatise in it is the न्यास. So माघ described the शब्दविद्या as enriched with all those works.

Kielhorn's other assertion that the पदमञ्जरी was the source of the न्यास is equally wrong. हरदत्त names the न्यासकार directly in 4. 1. 22. of the पदमञ्जरी (29) and indirectly often as अपर आह, कश्चिदाह, केचित् &c....and then quotes the passages of the न्यास. For instances the reader is referred to the Sutras 3. 3. 67. 3. 3. 99 and 4. 1. 4 in the पदमञ्जरी and the न्यास in which he will find the quotations word for word from the latter in the former.

Vana's हर्षचरित has a passage viz.—तत्र गुरुणा वाणस्य चत्वारः.........पितृव्यपुत्रा भ्रातरः प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्याः कृतगुरुपदन्यासा न्यायवादिनः सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि,......परस्परस्य सुखानि व्यलोकयन् ।" (Chapter III.) This reading is from the Bombay निर्णयसागर Press edition. The edition of A. A. Fuhren is identical, as far as this passage is concerned, with it.

Some say that owing to the *double entendres* in the simile लोकइव व्याकरणेऽपि, the word न्यास here refers to the जिनेन्द्रन्यास or the commentary on the Kasika. The words वृत्ति, वाक्य, न्यास and संग्रह are there. The first may imply

---

(29) "न्यासकारस्तु द्वौ विस्तौ परिमाणमस्येति विगृह्य द्विगुं विस्तं परिपरिमाणं मन्यते ।" इति पदमञ्जरी ।

the भागवृत्ति by भर्तृहरि or the काशिका by जयादित्य or any other earlier work such as कुणिवृत्ति or चूर्णिवृत्ति। वाक्य may indicate the वार्त्तिक by कात्यायन and संग्रह the work by व्याड़ि. Similarly न्यास may stand for the commentery on the Kasika.

But the Calcutta edition of the हर्षचरित of 1876 reads "......भास्वर: प्रसन्नप्रवृत्तयो गृहीतवाक्या: कृतगुरुन्यासा: न्यायवादिन: सुकृतसंगृहीताभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोकइव व्याकरणे...... The translation of the passage by S. B. Cowell and F. W. Thomas runs thus :— "Men of mild manners and cultures, holding the status of preceptors, expounders of Nyaya, deep in the study of able works, receiving only good words (i. e they are called good and as Grammarians they receive only good words) both in the world and in grammar......" An old commentary printed in the निर्णयसागर press and Fuhren's edition takes न्यास as meaning "वृत्तिविवरणम्", and does not say it is जिनेन्द्रबुद्धि's work.

So to take the word न्यास here, meaning the काशिकाविवरणपञ्जिका is probably a far-stretched idea. It is capable of getting several other interpretation perfectly connected with Grammar, though not indicating any particular Book. Besides, there is the direct and positive statement of Itsing who had almost been a contemparary to the authors of the भागवृत्ति and काशिका, against the foresaid assertion. Vana lived in the reign of Harshavardana (606-648) of Kanoj. His हर्षचरित was composed to glorify this monarch whereas Itsing's statement made in 691 A. D. is that भर्तृहरि died in 651 A. D. and जयादित्य died in 661 A. D. If Itsing be right, Vana cannot even dream of the काशिकान्यास by जिनेन्द्रबुद्धि। Neither is there any ground to hold the Chines traveller's statement as false and incredible.

Another view is sugested to preserve the assertion that the term न्यास here really refers to a book. The words वाक्य and संग्रह present no difficulty. वृत्ति too may be some earlier work than the भागवृत्ति or the काशिका. Similarly न्यास is some other न्यास which had appeared before Vana. One न्यास is said to have been composed in the fifth century A. D. by देवनन्द or देवनन्दिन्। We shall presently speak of it. If there had realy existed any such न्यास before the seventh century A. D. the word in the passage may be taken as indicating a book. Of course it is not the काशिकाविवरणपञ्जिका।

There is another important reference to the न्यासकार in the Rhetorical work by भामह, Says he :—

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत् ॥ १ ॥

सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदित: ।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा ॥ २ ॥

In 2. 2. 16, न्यासकार asserts that a word ending with षष्ठी cannot be compounded with another derived with तृच्। This opinion he repeats in IV. 1. 33. in which he observes :—

"अथ फलग्रहीतृत्वादिति। कथमत्र षष्ठीसमासः ? कथञ्च न स्यात् ? कर्तरि चेति (२।२।१६) तृचा सह षष्ठीसमासप्रतिषेधात्। नैवायं तृजन्तेन षष्ठीसमासः। किं तर्हि ? द्वितीयेति (२।१।२४) योग-विभागात् तृजन्तेन द्वितीयासमासः। अथवा याजकादिषु ग्रहीतृशब्दो द्रष्टव्यः। तेन षष्ठीसमासो भविष्यति।" In III. ii. 87, in opposing the affix तृच् he says "एवमपीह वृत्रस्य हन्तुरिति तृच् न प्राप्नोति। प्रायिकत्वान्नियमस्य न दोषः।" So भामह perhaps means that शिष्टप्रयोगमात्रेण हेतुना अथवा न्यासकारमतेन हेतुना तृचा समस्तषष्ठीकं कथञ्चिन्नोदाहरेत्, that is, in accordance with the uses of the learned who never compound a तृजन्त word with a षष्ठ्यन्त one or as the opinion of the न्यासकार is against such a compound, such words should never be used. सूत्रज्ञापकमात्रेण likely refers to जनिकर्तुः प्रकृतिः ( १।४।३० ) and तत्प्रयोजको हेतुश्च ( १।४।५५ )।

Now it is said that as there were many Nyasakaras, जिनेन्द्रबुद्धि might not be here intended by भामह. But the अष्टाध्यायी is the chief of all other works on Sanskrit grammar. जिनेन्द्रबुद्धि being the commentator on it, cannot but be the chief न्यासकार। For the same reason, he is likely the first of all other न्यासकारs. It might be that other works were called न्यास in imitation of the [illegible] name of his book. In some MSS. such as those in the Madras Government Library or in the Research Department of Kasmir State, he is mentioned as स्थविरजिनेन्द्र. It is either because he was ancient or old as he had likely been prior to the authors of the other Nyasas or because he was a revered personage with the Buddhists. Bramin authors too similarly show their reverence to the sages, often calling them as वृद्ध or वृहत् such as वृद्धमनु, वृद्धशातातप, वृद्धनारद, बृहन्मनु, बृहन्नारद &c..., implying either their great antiquity or revered position. भामह therefore very likely alludes to him. Had he referred to any other न्यासकार, he would have most likely qualified him, as the author of such as बोधिन्यास, शाकटायनन्यास, चैनेन्द्रन्यास, &c,...Again Panini's grammar is the most authoritative one ; therefore the न्यासकार belonging to it, was perhaps given preference to by भामह in his allusion. No other न्यासकार belonging to the pure Paninian school is so familiarly known now. अनुन्यास and न्यासोद्योत are, as their very names indicate, probably treatises on the न्यास itself. A recent assertion is that there was another न्यासकार who lived in the 5th. century A. D. His name was देवनन्द or देवनन्दिन् and he had the title पूज्यपाद. Though माधवाचार्य refers to the works of other न्यासकारs such as the बोधिन्यास, शाकटायनन्यास, चैनेन्द्रन्यास &c. yet in his repeated statements such as वृत्तिन्यासपदमञ्जर्य्यादिविरोधात् &c, न्यासादौ तु &ce, he invariably refers to the काशिकाविवरणपञ्जिका। Quotations from the न्यास given by हरदत्त, श्रीपति, शरणदेव, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तम, माधवाचार्य्य, भट्टोजि &c, all taily with the passages of this treatise and quotations from देवनन्द are nonexitent in these writers or if found elsewhere, they are very rare. So inspite of the existence of many न्यासकार, these authors all seem to take जिनेन्द्रबुद्धि as the chief न्यासकार। भामह too similarly and most likely in his book, referred to and meant जिनेन्द्रबुद्धि and not देवनन्द. Now one भट्टोद्भट wrote a commentary named the भामहविवरण, on the Rhetorical work by भामह. He was one of the court pundits of जयापीड king of Kasmir, who reigned from 779 A. D. to 813 A. D. भट्टोद्भट, (also named

 

उद्भटाचार्य), composed another Rhetorical treatise named the काव्यालङ्कारसंग्रह. In the commentary of this उद्भटालङ्कार by प्रतीहारेन्दुराज, it is asserted that भट्टोद्भट had written the भामहविवरण। This makes भामह either a contemporary to उद्भट or one preceding him. We may therefore take भामह living in 775 A. D. But भामह as stated above speaks of the न्यासकार। जिनेन्द्रबुद्धि was therefore prior to him and he might have prepared his न्यास by about 725—750 A. D. Again कुमारिलभट्ट appears postirior by a few years only to the न्यासकार। They were the inhabitants of distant regions and were mutually unknown. कुमारिलभट्ट attacks the काशिका on its way in which it defends the compound in जनिकर्त्तुः and तत्प्रयोजकः। जिनेन्द्रबुद्धि is silent here. He appears to be ignorant of this attack or to have written his commentary earlier। अमोघवृत्ति supports the काशिका regarding those compounds. The chronology of these works therefore starts up likely thus :—The date of the भागवृत्ति is about 625 A. D.; of the काशिका is about 650 A. D.; and of the न्यास is 725—750 A.D. of the works of कुमारिलभट्ट 750 A. D.; of भामह 775 A. D.; भट्टोद्भट 785 A. D.; of माघ 800 A. D.; of the अमोघवृत्ति 867 A. D.; of कैयट 1050 A. D.; of हरदत्त and मैत्रेयरचित 1100 A. D.; of पुरुषोत्तमदेव 1150 A. D.; of the दुर्घटवृत्ति by शरणदेव 1172 A. D. (30)

DACCA UNIVERSITY
DACCA, 1923. } SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI.

---

(30) The beginning of the दुर्घटवृत्ति is :—

"नत्वा शरणदेवेन सर्व्वज्ञं ज्ञानहेतवे।
वृहद्भट्टजनाम्भोज-कोश-वीकाश-भास्वते ॥ १ ॥
शाकमहीपतिवत्सरमान
एकनभोनवपञ्चविताने।
दुर्घटवृत्तिरकारि मुदे वः
कण्ठविभूषणहारलतेव ॥ २ ॥

एकनभोनवपञ्चानां वितानो विस्तारो विन्यास इति यावदस्ति यस्मिन्निति विग्रहः। तस्मिन्शाकमहीपतिवत्सरमान इत्यन्वयः। That is the शक year 1095 which corresponds with 1172 A. D.

# THE DESCRIPTION OF THE MSS.

## USED IN PREPARING THE PRESS COPY

## of the काशिकाविवरणपञ्जिका।

(1) The first MS (च) contains. I. 4 (A) ; II. 1. 2. 3 ; III. I, VII. 2 and VII. 1. It is owned by the Rajshahi Government College. For details, see notes in P. 332 and P. 790 vol I.

(2) The Second MS (ग) contains I. 2. 3. 4 and II. 1. 2. 3. 4. Details are given in note P. 332 vol I.

(3) The third MS (भ) is with only I. 3 and II. 4.

(4) The 4th MS. (ज) containing I. 2, III. 1. 2 and VI. 1. 4., at the end of 1/2 has श्रीप्रद्युम्नशर्मणा लिखितम्। At the end of its 3/2 is श्रीकाशीपतिशर्मणः पुस्तकमिदम्। लिखितं श्रीजगन्मोहनसेनेन। शकाब्दाः १७३० आषाढ़स्य तृतीयदिवसे। शक १७३० is 1808 A.D. Its pages were found torn in some places. At the end of 6/4 is

इन्दुविन्दुमुनिक्षौणीशाके सिंहगते रवा।
व्यालेखि न्यासटीकेयं श्रीकृष्णानन्दशर्मणा ॥१॥

इन्दुविन्दुमुनिक्षौणीशक is १७०१ that is 1779 A.D. Elsewhere is शाक १७३९ that is 1817 A. D. See details in note P 790 vol I.

(5) The 5th MS. (त) contains VII. 1, 2, 3, 4 and VII. 1. 3. 4. At the end of 7/3 is श्रीरस्तु कृष्णनाथशर्मणः and at the end of 8/4, it has

तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष रक्ष मां श्लथबन्धनात्।
आखुभ्यः परहस्तेभ्य एवं वदति पुस्तिका ॥ १ ॥

नत्वा काशीपदाब्जं निखिलभयहरं शोकसन्तापनाशं
यस्याः संमुक्तिमिच्छन् सुरपुरि वसतां सव्य ईशः समास्ते।
यस्य क्रोधाद्विनष्टस्त्रिभुवनविजयी तेन सोऽभूदनङ्गः
शाके न्यासं खशून्याश्विशशिपरिमिते कृष्णनाथो व्यलेखीत् ॥ २ ॥

खशून्याश्विशशिपरिमितशाक is १७००, i.e. 1778 A. D.

(6) The Sixth MS. (झ) contains III. 1.

(7) The 7th MS (ञ) is with III. 2. See note P. 709, vol. I.

(8) The 8th MS (ट) is with III. 4. See note P 791, vol. I.

(9) The 9th MS (ख). It was from the Deccan College Poona, kindly lent by the late lamented Professor Ghate. It has प्रत्याहार, I. 1. 2. 3. 4, IV. 1. 2. 3. 4. and V. 1. 2. 3. 4. See page 331 and Page 1061. notes, vol I.

---

(A) I. I. 4 or 1/4 indicates the fourth pada (or section) of the 1st Adhyaya and similarly 2.1. or 2/1 is the 1st pada of the 2nd Adyaya and so on.

(10) The 10th Ms. (प) is with V. 1. 3. Its copyist and owner was one श्रीकान्तशर्म्मा।

(11) The 11th MS. (फ) containing II. 1,2; VI. 3 and VII. 1. 2. 3. 4. has at the end लिखिता श्रीरामकान्तशर्म्मणा। A very good and correct MS.

(12) The 12th MS, (छ) has 1. 3, II. 1. 2. 3; IV. 1. VII. 1. 2. 3. 4 and VIII. 1. 4. see note P. 484.

(13) The 13th MS. (क) is with प्रत्याहार, I. 1. 2. 3 and II. 1. 2. 3. 4. see note 331 vol I. This is the Bengal MS. containig the प्रत्याहार and I. 1. or the beginning of the न्यास। It is the property and is now in the office, of the वरेन्द्र society.

(14) The 14th MS. (न) with VIII. 3. is from the village शाल्गिखा, Rajshahi. It has at the end श्रीशिवरामशर्म्मण: स्वाक्षरम्। शकाब्दा: १६४६ i.e. 1724 A.D.

(15) The 15th MS (घ) is with VI. 4.

(16) The 16th MS (ङ) is with 1. 4. see note p. 332, vol I.

(17) The 17th MS (ढ) is from the Deccan College, Poona. It contains II. 1. 2. 3. 4. See note P 484, vol I.

(18) The 18th MS (ट) is from the Asiatic Society Bengal Calcutta and has VII. 2 and VIII. 4. The label is no. 8029 काशिकाविवरणपञ्जिका जिनेन्द्रबुद्धिकृता सप्तमाध्यायस्य द्वितीय: पाद: किञ्चिदून:। अष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादश्च व्याकरणम्।" At the end of 8.4, it has

प्रणम्य पार्व्वतीं देवीं श्रीरमापतिशर्म्मणा।
पुस्तकं लिखितञ्चेदं देवानन्यान् प्रयत्नत:॥ १॥

(19) The 19th MS (ध) is also from the aforesaid Society and has VII. 3. 4. The label is "ग—8/24 Seal AS.NS. Goverment Sanskrit MS. At the end of 7/3 is श्रीशिवकृष्णदेवशर्म्मण: स्वार्थे। At the end of 7/4 is श्रीशिवकृष्णशर्म्मण इयं पुस्तिका।

(20) The 20th MS (र) is with VII. 1.2. 3 and VIII 1. 1. 2. 3. At the end of 7/1 is शुभमस्तु शकाब्दा: १६९५ ie. 1773 A D. At the end of VIII. 1 is तिङ्ङो गोत्रादीनीति। अत्र शेषभागस्य दर्शनाभावान्न लिखित:। So it is incomplete. Infact the vedic portions of the Book were completely lost in Bengal and from other provinces those have to be procured.

(21) The 21st MS (ण) is with II. 1, VII. 1. 4 and VII 1. 3.

(22) The 22nd MS. (ड) with III. 3 and IV. 2. It is a copy written in Devanagar from the MS on the palm leaves in Canarese characters at the Sravan Belgolah Jain Matha in Mysore. It was got on 1. 7. 1915. See note p. 791, vol 1.

(23) The 23rd MS (ढ ) with VI. 3. 4 and VIII. 3 4, was got from the village वेद्यवेलघरिया, Rajshahi, from the house of पण्डित शिवचन्द्रसिद्धान्त।

(24) The 24th MS (ठ) is with III. 3. See note P. 791 vol I.

(25) The 25th MS (न) is also a copy in Devanagar certified as duly compared with the original from the aforesaid Sravan Belgolah MS. prepared like the copy of the MS. XXII. Its contents are VI. 1. 2 and VIII. 1. 2.

(26) The 28th. MS (व) is with VI. 2. This is a portion of the Kasmir MS. a copy in Devanagar duly compared. It has been got from the Superintendent Research Department Srinagar, Jamoo. Kasmir State, Kasmir.

In our collection, the MSS in Bengali letters were almost all collected from almost all districts of North Bengal. In whole Bengal the literate people of Rajshahi Division together with only a very few Tole pundits of Vishnupur in West Bengal, preserved the studies of Panini's grammar from generation to generation.

There were in North Bengal countless scholars who used to teach this grammar to their pupils in indegenous system. They kept alive specially the study of the Buddhist commentaries viz. काशिका, न्यास, तन्त्रप्रदीप, भाषावृत्ति, &c. Many of them have left commentaries of their own on those books. One of these is सृष्टिधराचार्य्य the commentator of the भाषावृत्ति। One सनातन too had commentaries on portions of the काशिका, न्यास &c.

We may refer here to two TOLE pundits of Bengal of recent time who by their erudition in पाणिनि Grammar, were very much reputed. One is pundit शिवचन्द्र सद्धान्त of वैद्यबेलघरिया in Nattore, District Rajsahi. He was born in 1797 and died in 1867 AD. He went to Benares and solicited काकारामशास्त्रिन् for lessons on the महाभाष्य. This Sastrin was formerly the court pundit of the Panjab Lion Ranajit Singha. शिवचन्द्र had वासुदेवशास्त्रिन् as his classmate there under काकाराम. The Bengalis being generally fish-eaters, his prayer was at first rejected. शिवचन्द्र used however to daily go to him and sit at a distance listening to his lectures. He raised often argumentative objections and they struck and charmed the शास्त्रिन् who ultimately softened and favoured him with giving him lessons directly. He returned to his country and proved superior to other Pundits. There are some adages concerning his name :—

शिवः काशी शिवः काशीकाशी शिवः शिवः।
शिवचन्द्रोदयो यत्र तत्र नाश्च पराभवः ॥ १ ॥
शिवेन शिवचन्द्रेण सुसिद्धान्तेन धीमता।
विसर्जने कृता यातु व्याख्यासाद्भुतमोत्तमा ॥ २ ॥

His works are अध्यात्मवल्ली, श्रीमद्भागवतविचारः, गूढभावार्थकाशिनी ( रुद्राध्यायटीका ) विधवाविवाहखण्डनम्, वासुदेवविजयमहाकाव्यम्, सिद्धान्तचन्द्रिका (वेदान्तदर्शनटीका), कुलशास्त्रदीपिका, सुधाबिन्दुः ( पाणिनिव्याकरणटीका ), अभावपदार्थखण्डनम्, दोलयात्राविधिः, विद्वन्मनोरञ्जनकाव्यम्, कालियदमनकाव्यम्, रसिकोल्लासकाव्यम्, रसिकप्रमोदकाव्यम्। His father's name was रामकिशोरतर्कालङ्कार।

The Last Grammarian of the पाणिनि School of North Bengal teaching it in Tole or indegenous system, was one पण्डित पीताम्बरतर्कालङ्कार of the village दीघा in Nattore (Rajshahi). He was the court Pundit of the Maharaja of Nattore. He used to regularly lecture on the भाषावृत्ति, and काशिका. Pupils flocked to him in large numbers, on account of his vaste erudition. With his death in 1916, the class of such grammarians of North Bengal was alas extinct.

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI.
Dacca University, Dacca, 1923.

## ABBREVIATIONS AND THEIR EXPLANATIONS.

(प, ) Stands for परिभाषा ।

(ग, सू.) „ „ गणसूत्र ।

(उण् ) „ „ उणादि सूत्र ।

When a number is put after प, उण्, &c....in the above, it means the particular number of the परिभाषा or the उणादि सूत्र, &c...as the case may be. For instance (प, 15) indicates the परिभाषा no. 15 ।

Again (उण् २।१५३) is for the उणादि सूत्र no. 153 to be found in the second Pada of these Sutras. We have quoted such Sutras only from the पञ्चपादी of the उणादि Rules.

In the case of the Aphorisms or the main Sutras of the अष्टाध्यायी, we have quoted three numbers. Of these first figure indicates the Adhyaya (chapter) and the second figure is pada (section) and third is the number of the Sutra in this pada : viz : (३।२।४५). Here the 45th Sutra of the second pada of the third Adhyaya of the अष्टाध्यायी is meant and so on in other cases.

गौड़ग्रन्थमाला ।

श्रीमत्कुमारशरत्कुमाररायेण प्रवर्त्तिता

श्रीमदक्षयकुमारमैत्रेयेण पर्य्यवेक्षिता च ।

---

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचिता ।

शास्त्रिश्रीश्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य्येण संस्कृता ।

---

THE

# KASIKA VIVARANA PANJIKA

(THE NYASA.)

A COMMENTARY ON VAMANA-JAYADITYA'S KASIKA.

BY

JINENDRA BUDDHI.

---

EDITED

WITH OCCASIONAL NOTES.

BY

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI B. A.

PROFESSOR OF SANSKRIT, RAJSHAHI COLLEGE,

RAJSHAHI, BENGAL.

Vol. I.—Part II.

---

PUBLISHED BY THE VARENDRA RESEARCH SOCIETY OF RAJSHAHI

1914.

Rs. 2. Foreign 3s.

# VARENDRA RESEARCH SOCIETY.

## RAJSHAHI.

### PATRON.

HIS EXCELLENCY THE GOVERNOR OF BENGAL.

### VICE-PATRONS.

F. J. MONAHAN ESQ. I. C. S.
F. C. FRENCH ESQ. I. C. S.
MAHARAJA GIRIJANATH RAY BAHADUR OF DINAJPUR.
RAJA PRAMADANATH RAY OF DIGHAPATIYA.

### HONORARY VICE-PRESIDENT.

MR. JUSTICE J. G. WOODROFFE.

——:o:——

*Council of Management.*

**President**

KUMAR SARATKUMAR RAY OF DIGHAPATIYA. M. A., M. R. A.

**Director.**

BABU AKSHAY KUMAR MAITRA. B. L.

**Honorary officers.**

BABU RAMAPRASAD CHANDA. B. A. ( *Secretary.* )
„ RADHAGOVINDA BASAK. M. A. ( *Librarian.* )
„ MAHENDRA KUMAR SHAHA. CHAUDHURY. B. L. ( *Treasurer.* )
„ KALI PRASANNA ACHARYA. B. L. ( *Keeper.* )

**Superintendent of Sanskrit MSS.**

SASTRI SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI. B. A.

# NOTICE.

The Varendra Research Society is pr
to buy, borrow or have transcripts, at rea
nable price or cost, of the following works

I. The Nyasa or Kasikavivaranapanjika
Jinendra Buddhi.

II. Tantra-Pradipa, Dhatu-pradipa or an
other works by Maitreya Rakshita.

III. Anunyasa or Nyasoddyota.

The owners of the aforesaid works are invited to communicate, stating terms, with Pandit Srish Chandra Chakravarti B. A. Professor of Sanskrit, Rajshahi College, Rajshahi Bengal.

# [VA]RENDRA RESEARCH SOCIETY'S PUBLICATIONS.

[Gau]da-Rajamala, a dynastic History of Bengal from the [earliest ti]mes to Mussalman conquest, (in Bengali), by Ramaprasad [Chanda] B. A., Rs. 2/- or 2s. 8d.

[G]auda-Lekha-mala, inscriptions of the Pala Kings of Bengal [and Bi]har, text in Nagari character with Bengali translation and [notes b]y Akshay Kumar Maitra B. L., Rs. 3, or 4s.

Tara-tantram, text in Nagari character, edited by Girish [Chandr]a Vedantatirtha, with an Introduction in English by Akshay [Kumar M]aitra B. L., 8 as. or 8d.

[The] Nyasa or Kasika-Vivarana-Panjika by Jinendra Buddhi, [edite]d by Srish Chandra Chakravarti B. A. Vol I, Part I (Adhyaya I, [Pada ?] of Panini) Re 1. or 1s, 6d.

---

# [TAN]TRIK TEXTS AND WORKS ON TANTRA BY ARTHUR AVALON.

1. Tantrabhidhana with Vija-Nighantu and Mudra-Nighantu ([text]). 2 s or Re 1-8.
2. Shatchakra-nirupana and Paduka-panchaka (text). 3 s or Rs 2.
3. Prapanchasara (text) (will be ready soon).
4. Tantra of the Great Liberation (Mahanirvana Tantra) [E]nglish translation from Sanskrit with Introduction and commentary [12]s or Rs. 8.
5. Hymns to the Goddess, English translation with Introduction [an]d commentary, [4]s or Rs. 3.
6. Principles of Tantra (Tantratattva) [In the Press].
7. The Six Centres (Shatchakra-nirupana) [In the Press].
8. Ocean of Kula Tantra (Kularnava-tantra) [In preparation].

London :—Luzac & Co, 46, Great Russel Street, W. C.
Calcutta,—Thacker, Spink & Co.
Rajshahi,—Varendra Research Society.

PRINTED BY M. BHATTACHARYYA, AT THE BHARAT MIHIR PRESS,
25, ROY BAGAN STREET, CALCUTTA.

गौड़ग्रन्थमाला ।
श्रीमत्कुमारशरत्कुमाररायेण प्रवर्त्तिता
श्रीमदक्षयकुमारमैत्रेयेण पर्य्यवेक्षिता च ।

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचिता ।
शास्त्रिश्रीश्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य्येण संस्कृता ।

# THE KASIKA VIVARANA PANJIKA

## (THE NYASA.)

## A COMMENTARY ON VAMANA-JAYADITYA'S KASIK

BY

JINENDRA BUDDHI.

EDITED
WITH OCCASIONAL NOTES.
BY

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI B. A.
PROFESSOR OF SANSKRIT, RAJSHAHI COLLEGE,
RAJSHAHI, BENGAL.

Vol. I.——Part II.

PUBLISHED BY THE VARENDRA RESEARCH SOCIETY OF

1914.

Rs. 2. F

अथ

न्यासापरनाम्नी

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

---:o:---

## प्रत्याहारसूत्राणि।

जयन्ति ते सदा सन्तः सर्व्वथा यैरुपार्जितम्।
गुणानां सुमहद् वृन्दं दोषाणां च विमार्जनम् ॥१॥ (A)

अन्यतः (B) सारमादाय कृतैषा काशिका यथा।
वृत्तिस्तस्या यथाशक्ति क्रियते पञ्जिका तथा ॥२॥

वृत्तावित्यादि। अथ किमर्थः काशिकारम्भे ऽस्य श्लोकस्योपन्यासः? तस्यामगौरवपरिहारार्थो गौरवप्रतिपादनार्थश्च। अत्र ह्यसति प्रागन्यासु वृत्तिषु रचितासु पश्चादियं रचितेति पुनरुक्ततादोषं सम्भावयतां तस्यामगौरवं स्यात्। नतु गौरवम्। अस्मिंस्तु सति न भवत्येष दोषः। यस्मादनेन स विशेष स्तस्या आख्यायते सम्यगशेषशब्दव्युत्पत्तिहेतुर्यस्मिन् सति पुनरुक्तता-दोषसम्भावना ऽगौरवहेतु र्न भवति। गौरवं चोत्पद्यते। स पुनर्विशेषो वृत्त्या-दिषु विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य यः सारसंग्रहस्तद्युक्तता। नचासौ प्राच्यासु वृत्तिषु सम्भवतीति कुतः पुनरुक्ततादोषसम्भावना। तस्यां चासत्यां नागौरवं भवति। किं तर्हि? पूर्वोक्ताद् विशेषाद् गौरवमेव। तत्र च वृत्तिः पाणिनिप्रणीतानां

---

(A) The Bengal MS. gives the stanza as:—

जयन्ति ते सदा सन्तः सर्व्वीया यैरुपार्जितम्।
गुणानां सुमहद्वृन्दं दोषाणान्तु विवर्ज्जितम् ॥

In which सर्व्वस्मै हिताः सर्व्वीयाः is by the वार्त्तिक—"सर्व्वाणस्य वा वचनम्"—under the rule सर्व्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5. 1. 10). पण्डित बालशास्त्री quotes it, in the preface to his edition of the काशिका, as :—

जयन्ति ते सदा सन्तः सर्वोपायै रुपार्जितम्।
गुणानां सुमहद् वृन्दं दोषाणां परिमार्जनम् ॥

(B) अन्यतः सारमादायेत्यत्र सर्वतः सारमाकृष्येति पाठान्तरम्।

सूत्राणां विवरणं चूल्लिभट्टिनल्लूरादिविरचितम् (C)। भाष्यं कात्यायनप्रणीतानां वाक्यानां विवरणं पतञ्जलिप्रणीतम्। तथेति समुच्चये। धातुनामपारायणादिषु चेत्यर्थः। अथवा सादृश्ये। यथा वृत्त्यादौ विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य सारसंग्रहः क्रि। ते तथा धातुनामपारायणादिष्विति यावत्। धातवो भूवादयः। नामानि प्रातिपदिकानि। तेषाम् पारं पर्यन्तं निष्ठामयन्ते गच्छन्ति याभ्यां शास्त्राभ्यां ते धातुनामपारायणे। पारायणशब्दः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। धातुपारायणं नामपारायणञ्चेति। ते आदी येषामिति बहुव्रीहिः। आदिशब्देन गिच्चादीनां ग्रहणम्। विप्रकीर्णस्येति। विक्षिप्तस्य विस्तारितस्येत्यर्थः। तन्त्रस्य व्याकरणशास्त्रस्येत्यर्थः। तद्धि तन्त्रमिव तन्त्रम्। दैर्घ्येण प्रसारितास्तन्तवस्तन्त्रमित्युच्यन्ते। यथा तदनेकस्य तिरश्चीनस्य तन्तोरनुग्राहकं तथेदमप्यनेकस्य लक्ष्यस्येति। एतदस्य तन्त्रेण साधर्म्यम्। अथवा तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति तन्त्रं व्याकरणम्। अनेकार्थत्वाद्धातूनां तन्त्रि कुटुम्बधारण इत्येष धातुरत्र व्युत्पादने वर्त्तते। अथवा तन्त्रं सिद्धान्तः। तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्त इत्यमरः (D)। सारसंग्रह इति। सारशब्दोऽयं नपुंसकलिङ्गो न्यायादनपेते वर्त्तते। तथा चार्द्धर्चादिषु (२।४।३१) वक्ष्यति सारशब्द उत्कर्षे पुंलिङ्गो न्यायादनपेते नपुंसक इति। समक् समन्ताद्वा गृह्यते लक्ष्यं लक्षणञ्चानेनेति संग्रहः। ग्रहवृदृनिश्चिगमश्चेति (३।३।५८) करणे ऽप्। सारश्चासौ संग्रहश्चेति सारसंग्रहः। स पुनरयमेव काशिकाख्यो वृत्तिविशेषः। अत्र सारशब्देन निर्दोषतोद्भाविता। नहि सदोषस्य शास्त्रस्य न्यायादनपेतत्वमुपपद्यते। न्यायेन

(C) चूल्लिभट्टिनिर्लूरादिविरचितम्। भाष्यं वररुचिप्रणीतानां वाक्यानां विवरणमिति वङ्गीयपुस्तके पाठः। But who are these commentators? श्रीपति, in his कातन्त्रपरिशिष्ट, often speaks of a grammarian of the name of चूर्णि। हरदत्तमिश्र in his पदमञ्जरी explains सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः। सा चेह पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्य्यैर्विरचितं विवरणम्।" कैयट, in his commentary on the aphorism एङ् प्राचां देशे (१।१।७५), also says भाष्यकारस्तु कुणिदर्शन मशिश्रियत्। Is चूल्लि of the Poona MS, चूल्लि of the Bengal one, कुणि of हरदत्त and कैयट and चूर्णि of श्रीपति and others, the same? Is भट्टि the poet भर्तृ who is renowned for his काव्य?

(D) [अथवा to इत्यमरः is found only in the Deccan MS, obtained from Poona and not in the Bengal one.—So it cannot safely be asserted that जिनेन्द्र quoted अमर,

तस्य बोध्यमानत्वात्। संग्रहशब्देनापि गुणवत्ता ख्याप्यते। नह्यन्यथा सम्यक् सर्वं लक्षणं लक्ष्यञ्चानेन शक्यते संग्रहीतुम्। के पुनरत्र गुणाः। इष्ट्युपसंख्यानवत्त्वम्। शुद्धगणत्वम्। विवृतगूढसूत्रार्थत्वम्। व्युत्पन्नरूपसिद्धित्वञ्च। तथाच वक्ष्यति शास्त्रान्ते—

इष्ट्युपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥१॥ (E) इति।

अथवा संग्रहशब्दोऽयं भावसाधनः। संग्रहणं संग्रहः संक्षेपः शास्त्रभेदेन विप्रकीर्णस्य तत्त्वस्य पिण्डीकृत्यैकत्रावस्थापनमिति यावत्। सारशब्दस्तु प्रधानवचनः। यावता ग्रन्थसन्दर्भेण परिपूर्णता शब्दव्युत्पत्तेर्भवति स सारः। सारस्य संग्रहः सारसंग्रहः। तस्य करणं सुखोद्ग्रहणार्थम्। एकत्र हि व्यवस्थितस्य सुकरमुद्ग्रहणं भवति। दुष्करन्तु विप्रकीर्णस्य। सारग्रहणं परिकरबन्धनिरासार्थम्। स हि तस्योपकारकत्वादङ्गमप्रधानम्। इतरस्तु तेनैवोपकार्य्यत्वादङ्गि प्रधानम्।

अथेत्यादि। अथ शब्दोऽधिकारार्थः। अधिकारः प्रस्तावः। शब्दानुशासनशास्त्रं प्रस्तूयत इत्यमुमर्थमथशब्दो द्योतयति। शब्दानुशासनमित्येतावति ह्यभिहिते संदेहः स्यात् किं शब्दानुशासनमारभ्यते पठ्यते श्रूयते वेति। अथशब्दप्रयोगे त्वर्थान्तरव्यवच्छेदेन प्रस्तूयत इत्येषोऽर्थो निश्चीयते। अनुशिष्यन्ते संस्क्रियन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽनेन शब्दा इत्यनुशासनम्। शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनम्। अत्र केचिच्चोदयन्ति। उभयप्राप्तौ कर्मणीत्यनेनात्र (२।३।६६) षष्ठी। ततश्च कर्मणि चेत्यनेन (२।२।१४) समासप्रतिषेधेन भवितव्यमिति। एतच्चायुक्तम्। यत्र ह्युभयोः प्राप्तिस्तत्रानेन कर्मणि षष्ठी विधीयते। क्व चोभयोः प्राप्तिः। यत्र सामर्थ्यप्राप्तमुभयोः कर्तृकर्मणो रुपादानम्। यथाऽऽश्चर्य्यो गवां दोहोऽशिक्षितेनागोपालकेनेति। एवं नाम दुर्दोहानां गवामशिक्षितेनागोपालकेन दोह इत्याश्चर्य्यभूतोऽत्र गवां दोहः प्रतिपादयितुमिष्टः। स च यदि

(E) In the printed काशिका, three stanzas वृत्तौ &c. इष्ट्युपसंख्यान &c...and व्याकरणस्य शरीरम् &c...occur in the beginning. But the न्यासकार appears to reject the third and to place the second at the end of the Book.

दुर्दोह्यानां गवामुपादानं क्रियतेऽशिच्चितस्यागोपालकस्य च कर्त्तुरेवं शक्यः प्रतिपादयितुमाश्चर्य्यशब्दः । नान्यथेति तत्सामर्थ्यप्राप्तमुभयोरुपादानम् । शब्दानुशासनमित्यत्र तु शब्दानामिदमनुशासनं नार्थानामित्येतावतोऽर्थस्य विवच्चितत्वात् तस्याचार्य्यस्य कर्त्तुरुपादानमन्तरेणापि प्रतिपादयितुं शक्यत्वादाचार्य्योपादानमकिञ्चित्करम् । तस्मान्नात्रास्ति द्वयोरपि कर्तृकर्मणोः सामर्थ्यप्राप्त मुपादानम् । ततश्चोभयप्राप्तिरपि नास्त्येव । असत्याञ्च तस्यां नोभयप्राप्तौ कर्मणीत्यनेन षष्ठी । केन तर्हि ? कर्तृकर्मणोः कृतीत्यनेन (२।३।६५)। ततश्चेध्मप्रव्रश्चनवत् समासो भविष्यति । अथवा शेषलच्चणैवेयं षष्ठीत्यचोद्यमेतत् । व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम शब्दानुशासन मिति । अत स्तेनैव सूचितत्वात् प्रयोजनस्यानभिधानम् । येन हि शब्दा अनुशिष्यन्ते तस्य तदुद्देशे प्रवृत्तिः । यस्य च यदुद्दिश्य प्रवृत्ति स्तत् तस्य प्रयोजनं भवति । तदेतदुक्तं भवति । शब्दानुशिष्टिरस्य प्रयोजनमिति । एतच्च साचात् प्रयोजनम् । पारम्पर्य्येण तु वेदरच्चणादीनि पयोजनानि भाष्यादवधार्य्याणि । सम्बन्धस्तु साध्यसाधनभावलच्चणः । शब्दानुशिष्टेः साध्याया व्याकरणस्य साधनस्य च यः सम्बन्धः स प्रयोजन एवान्तर्भूतः । केषां शब्दानामिति । कथं पुनरनुशासने गुणीभूतानां शब्दानां किंशब्देन प्रत्यवमर्शो भवति ? नैष दोषः । प्रधाने ह्यन्तर्भूतस्याप्युपसर्जनस्य बुद्ध्या प्रविभज्य किंशब्देन प्रत्यवमर्शो दृष्टः । यथा राजपुरुषोऽयम् । कस्य राज्ञ इति । कः पुनरत्र प्रष्टुरभिप्रायः ? एवं मन्यते शब्दानुशासनमित्यत्र शब्दशब्दः सामान्यवचनः । नच सामान्यशब्दः प्रकरणादिरहितो विशेषे वर्त्तितुमुत्सहते । सन्ति च समुद्रघोषादयोऽपि बहवः शब्दाः । अतस्तेषामपि व्युत्पादनं प्राप्नोतीति । इह तु व्याकरणं प्रस्तुतम् । तच्च वेदाङ्गम् । अङ्गञ्चोपकारकं भवति । एवञ्च तद् वेदस्योपकारकं भवति । यदि तेनैव वैदिकाः शब्दाः संस्क्रियन्ते लौकिकाश्च तदुपकारिणः । वैदिकोपकारित्वं तु लौकिकानाम् । तैस्तदर्थस्याख्यानात् । तस्माच्छब्दानुशासनाधिकाराद् विशिष्टा एवात्र शब्दा व्युत्पादयितुमभीष्टाः । नतु समुद्रघोषादयोऽपि । तथाविधशब्दव्युत्पादने हि व्याकरणस्यावेदाङ्गतापि स्यादिति मन्यमान आह लौकिकानामित्यादि । लोके विदिता लौकिकाः । तत्र विदित इत्यनुवर्तमाने लोकसर्व-

लोकात् (५।१।४४) ठञिति ठञ् । अथवा लोके भवा लौकिकाः । अध्यात्मादित्वात् ठञ् (४।३।६०, वा) । एवं वैदिकाः । वैदिकानां लौकिकेभ्यः पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम् । यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति । अत्र ब्राह्मणत्वादेव वशिष्ठस्याप्यागमने सिद्धे प्राधान्यख्यापनार्थं तस्य पृथगुपादानम् । प्राधान्यख्यापनन्तु वैदिकानां यत्नेनापभ्रंशनिरासार्थम् । तेषां ह्यपभ्रंशे याज्ञे कर्मणि महान् प्रत्यवायो दृष्टो हेलयो हेलय इति । अथवा ये लोकयात्राहेतवो भाषाशब्दा स्तैरेव लौकिकत्वं प्रसिद्ध मिति वैदिकानां पृथगुपादानम् । तत्र लौकिका अनियतवर्णानुपूर्वीका गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्येवमादयः । वैदिकास्तु नियतानुपूर्वीकाः शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादयः । इह ह्यन्वाख्याने प्रतिपदपाठोऽभ्युपेयः । तस्यापि त्रयः प्रकाराः । शब्दापशब्दोभयोपदेशभेदेन । आनन्त्याच्च शब्दानां स सर्वथाप्यसम्भवः । एवं हि श्रूयते बृहस्पतिः किलेन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदविहितानां शब्दानां पारायणं प्रोवाच नचान्तं जगामेति । तदीदृशे वक्तर्य्यध्येतर्य्यध्ययनकाले च नान्तगमनमभूद् यस्य तस्य कुतोऽद्यत्वे भविष्यति स्वल्पायुषि प्रजायाम् । न चान्योऽभ्युपायोऽस्तीति मन्यमान आह कथमित्यादि । कथमनुशासनम् । न केनचित् प्रकारेण शब्दानां व्याकरणमनुशासनमित्यर्थः । अथवा भावसाधनोऽत्रानुशासनशब्दः । अनुशिष्टिरनुशासनं संस्कारः । न कथञ्चिच्छब्दानां संस्कारः सम्भवतीति यावद् येनाल्पेनैव प्रयत्नेन महतः शब्दौघान् प्रतिपद्यते । तदुपायान्तरं दर्शयितु माह प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनयेत्यादि । प्रत्ययात् प्रथमं क्रियत इति प्रकृतिः । प्रकृतिरादिर्येषां ते प्रकृत्यादयः । आदिशब्दः प्रत्ययादीनां परिग्रहाय । तेषां विभागो ऽसंकीर्णरूपता । तस्य कल्पना परिकल्पिकया बुद्ध्या परिकल्पनम् । तथा परिकल्पनया शब्दानामनुशासनं व्याकरण मनुशिष्टिर्वा । हेताविय़ं तृतीया । नहि तया विना व्याकरणमनुशासनं भवति । नापि तेन विनानुशिष्टिः शब्दानां शक्यते कर्त्तुम् । परिकल्पनयेत्यनेनैतत् प्रतिपादयति । कल्पनामात्रं प्रकृत्यादिविभागपरमार्थवस्तुप्रत्यस्तमिते (?) प्रकृत्यादिविभागः समुदाय एव कस्यचिदर्थस्य वाचक इति । सामान्यविशेषवता लक्षणेनेति । करण एषा तृतीया । सामान्यञ्च विशेषश्च सामान्यविशेषौ तौ

यस्मिलँ ल्लक्षणे स्त्र स्वत् सामान्यविशेषवल्लक्षणम्। तत्रोत्सर्गलक्षणं सामान्यवत्। यथा कर्मण्यणिति (३।२।१)। तत्र हि धातोरित्येतत् कर्मणीत्येतच्च सामान्यम्। अपवादलक्षणं विशेषवत्। यथाऽतोऽनुपसर्गे क (३।२।३) इति। अत्रात इत्येतदनुपसर्ग इति च विशेषः। तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनया कुम्भकारः काण्डलावः शरलाव इत्येवमादिकं महान्तं शब्दौघं प्रतिपद्यते। विशेषवता तु पार्ष्णित्रो गोदः कम्बलद इत्येवमादिकम्। एवमन्यत्रापि वेदितव्यम्। अथेत्यादि। एवं मन्यते। शब्दानुशासनमधिकृतम्। तत्र येन शब्दा अनुशिष्यन्ते तस्यैवोपदेशो युक्तः। न चैषामुपदेशेन कस्यचिच्छब्दस्य संस्कारः क्रियते। ततश्चाप्रस्तुताभिधानमिति प्रश्नस्याभिप्रायः। वर्णानामिति। वर्णा अकारादयः। तेषामाद्युच्चारणमुपदेशः। प्रत्याहारार्थ इति। प्रत्याहारः अइउणित्येवमादिको विशिष्टानुपूर्वीको विशिष्टानुबन्धकश्चाक्षरसमाम्नायः प्रत्याक्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अस्मिन्निति कृत्वा। स यथास्यादित्येवमर्थो वर्णानामुपदेशः। स्यादेतत्। तस्यापि प्रकृतानुपयोगित्वात् तदवस्थ एवैष दोष इत्यत आह प्रत्याहारो लाघवेनेत्यादि। लघोर्भावो लाघवम्। तत् पुनरल्पप्रयासः। अल्पप्रयाससाध्यं हि वस्त्वल्पप्रयत्नयोगाल्लघूच्यते। तेन लाघवेन शास्त्रस्य ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१११) इत्येवमादेः प्रवृत्त्यर्थोऽभिनिर्वृत्त्यर्थ इत्यर्थः। सति हि प्रत्याहार आदिरन्त्येन (१।१।७१) सहेतेत्येतत् प्रवर्त्तते। तत्प्रवृत्तौ चाकारादीनामणित्येवमादिकाः संज्ञाः सिध्यन्ति। ततश्च यत्राकारादीनां ग्रहणमिष्टं तत्राणित्येवमादिकयैव संज्ञया बहवोऽपि ते निर्दिश्यन्त इति लाघवेन शास्त्रस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। तस्मिंश्चासत्यादिरन्त्येन (१।१।७१) सहेतेत्येवमादेः शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्। आद्यन्तयोरभावात्। नह्यसति सन्निवेशविशेषे तावुपपद्येते। असत्याश्च तत्प्रवृत्तौ पूर्वोक्ताः संज्ञा न स्युः। ततश्च यत्र यत्र सूत्रे ऽकारादीनां यावतां ग्रहणमिष्टं तत्र ते तावन्तः स्वरूपेणैव निर्दिश्येरन्निति लाघवेन शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्। तदेवं प्रकृतस्यैवाल्पप्रयासेन निष्पादनार्थत्वान्न भवति पूर्वदोषावसरः।

### १। अइउण्।

अथ कस्मादिहादगुणादिक (६।१।८७) मच्कार्य्यं न भवति? प्लुतप्रगृह्या

अचीति (६।१।१२५) प्रकृतिभावात्। प्रगृह्यत्वं तु तेषां निपात एकाजनाङिति (१।१।१४) प्रगृह्यसंज्ञाविधानात्। निपातत्वन्तु चादिषु पाठात्। अतएव निपातत्वादर्थवत्त्वेऽनर्थवत्त्वे चोत्पन्नाया विभक्तेः श्रवणं न भवति। इहानर्थवत्त्वे विभक्त्युत्पत्तिरनर्थकस्यापि निपातस्य प्रातिपदिकसंज्ञोपसंख्यानाद् वेदितव्या। अनेन क्रमेणेति। अनयाऽनुपूर्व्या। किं पुनः कारणमयमेव क्रम आश्रीयते। न क्रमान्तरम्। तदुच्यते। इहाण्ग्रहणेन त्रयाणामप्येषामकारादीनां ग्रहणमिष्यते। इण्ग्रहणे लकारस्य ग्रहणं नेष्यते। उण्ग्रहणे पुनरकारेकारयोर्द्वयोरपि। एतच्च क्रमान्तराश्रयणे न सम्पद्यत इत्येवं क्रम आश्रीयते। वर्णान् कार (३।३।१०८, वा) इति कारप्रत्ययस्योपसंख्यानादिह च तदकरणान्नैते वर्णा अपितु तच्छायानुकारिणोऽन्यएव सन्ध्यक्षरादिवर्णैकदेशा इति कस्यचिदाशङ्का स्यात्। अतस्तन्निराकरणायाह वर्णानिति। कारप्रत्ययस्तु रोगाख्यायां ण्वुल् (३।३।१०८) बहुलमित्यत्रोपसंख्यायते। तेन बहुलवचनात् सत्यपि वर्णत्वे न भवतीति भावः। णकारस्य पूर्वोत्तरवर्णान्तःपातित्वान् मध्यभावः। नान्त्यत्वम्। अत इत्संज्ञया न भवितव्यम्। अथापि कथञ्चिदन्त्यत्वं स्यात्? एवमपि वक्ष्यमाणेन न्यायेनाप्रधानत्वाद् यथा तत्राच्कार्य्यमस्य न भवति तथेत्संज्ञापि न भवेदिति यस्य भ्रान्तिः स्यात् तं प्रत्यन्त इत्युक्त मितमिति च। यद्यपि पूर्वोत्तरवर्णापेक्षयास्य मध्यमभावस्तथापि पूर्ववर्णापेक्षयान्त्यत्वमस्त्येव। सति च तस्मिन्नप्रधानस्यापीत्संज्ञया भवितव्यम्। उपदेशसामर्थ्यात्। अन्यथा हि तदुपदेशवैयर्थ्यं स्यात्। आदिरन्त्येन (१।१।७१) सहेतेत्यनेनाणित्येवमादिकाः संज्ञा यथा स्युरित्येवमर्थो णकारादीनामनुबन्धानामुपदेशः। स च तदर्थोऽसत्यामित्संज्ञायां न स्यादित्यभिप्रायः। तस्येत्यादि। एकेनेति सहार्थयोगे तृतीया। तस्येति कर्मणि षष्ठी। तस्य णकारस्य प्रदेशवाक्येषु संज्ञिप्रत्यायनार्थमेकेनैवाकारेण सहोपादानम् भवति। स ह्यकारादीनां वर्णानामकारसहित एव संज्ञा न केवलः। नापि वर्णान्तरसहितः। तस्मात् प्रत्यायनार्थं तेनैव सहोपादीयते। न केवलो नापि वर्णान्तरसहितः। अन्ये त्वाहुः। तस्येति कर्त्तरि षष्ठी। एकेनेति च सहयोगे तृतीया। तेनायमर्थः। आदिवर्णसहितो णकारोऽन्येषां मध्यपातिनां वर्णानां ग्राहको भवत्यादिवर्णस्य चेति। अपर

आहुः। अनेकार्थत्वाद्धातूनां ग्रहातिरत्रोच्चारणे वर्त्तते ग्रहणवता प्रातिपदिकेनेति यथा। तेनायमर्थः। तस्यैकेन सहोच्चारणं भवतीति। अथैणः (८।३।७८) षीध्वमित्यत्रेकारेणास्य ग्रहणं न भवतीति कुतोऽवसितम्? अचि श्नुधातुभ्रुवां (६।४।७७) य्वोरितीकारोकारयोः संसृज्य निर्देशात्। यदीकारेणास्य ग्रहणं स्यात् ततो लाघवार्थमिणित्येव निर्दिशेत्। य्वोरिति संसृज्य निर्देशेऽर्धचतस्रो मात्रा भवन्ति। इणिति निर्देशे तिस्रः। तत्र लघीयसा न्यासेन सिद्धे यद् गरीयांसं प्रयत्नमारभते ततो ज्ञायते नास्य णकारस्येकारेण ग्रहणम् भवतीति। इह तर्हि कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणादि, १।१) णित्युकारेण ग्रहणं कस्मान्न भवति। उकारादन्यस्य ग्राह्यस्याभावात्। तस्य च स्वरूपेणैव निर्देशात्। ह्रस्वमवर्णमित्यादि। प्रयुज्यत इति प्रयोगो धात्वादिः। तत्र ह्रस्वमवर्णं प्रयोगे संवृतम्। संवृतगुणयोगात् संवृतम्। यथा शुक्लगुणयोगाच् शुक्लः पट इति। दीर्घप्लुतयोस्तु विवृतत्वमिति। विवृतगुणयोगित्वमित्यर्थः। तथाचाहुः शिक्षाकारा विवृतकरणाः स्वरा स्तेभ्य ए ओ विवृततरौ। ताभ्यामपि ऐ औ। एताभ्या मप्याकारः संवृतो ऽकार इति। तेषामित्यादि। तेषां ह्रस्वादीनां तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमिति (१।१।९) सवर्णसंज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थमिह शास्त्रे ह्रस्वोऽकारो विवृतगुणोऽभ्युपगम्यते। अन्यथा हि भिन्नत्वात् प्रयत्नस्यासति सावर्ण्ये दण्डाढकमित्यादावकः सवर्णे दीर्घ इति (६।१।१०१) दीर्घत्वं न स्यात्। ननु च सत्यपि विवृतत्वप्रतिज्ञानेनैव ह्रस्वप्लुतयोरकः सवर्णे दीर्घत्वं प्राप्नोति तस्मिन् कर्त्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वात्। नैष दोषः। सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिष्विति (F) स्वरसन्धिषु प्लुतस्य सिद्धत्वात्। इतरथा हि प्लुतप्रगृह्या (६।१।१२५) अचीति प्रकृतिभावविधान मनर्थकं स्यात्। अत्र च यद्यपि विवृतः प्रतिज्ञायत इत्युक्तं तथापि तेषां सावर्ण्यप्रसिद्ध्यर्थमिति वचनाद् विवृततर इति गम्यते। नहि विवृतस्य विवृततरेण सावर्ण्यमुपपद्यते। प्रयत्नभेदात्। विवृतत्वप्रतिज्ञानसामर्थ्याद्वा। अविवृततरस्यापि विवृततरेण सावर्ण्यं भविष्यति। यदीहैत्येतावदेवोच्येत तदा प्रत्यापत्तेः प्रकृतत्वाच्चाक्षरसमाम्नायिक एव विवृतः प्रतिज्ञायत इति विज्ञायेत। न धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थः। ततः

(F) ६।१।११२ सूत्रस्थभाष्यम्।

प्रयत्नभेदादसति सावर्ण्ये अक्षरसमाम्नायिकेन तस्याग्रहणादण्त्वं न स्यात् । तस्मिंश्चासति शाम्यतीत्यत्राच्परिभाषानुपस्थानात् स्थानिनोऽकारस्याच्त्वा-भावाच् (७।३।७४) ष्ठिवुक्लमुचमां शितीति दीर्घत्वं न स्यात् । दृषदिति अत्र प्रातिपदिकस्यान्त उदात्तो भवतीति अन्तोदात्तत्वं न स्यात् तस्याज्धर्म-त्वात् । नायक इति । अत्र प्रत्ययस्याकारस्यानच्त्वात् तत्रायादेशो न स्यात् । अवनमतीत्यत्र निपाता आद्युदात्ता उपसर्गाश्चाभिवर्ज्जमित्याद्युदात्तत्वं न स्यात् । किञ्च अनुवृत्तिनिर्देशस्थेनाकारेणासति सावर्ण्ये दीर्घस्य ग्रहणं न स्यात् । तत्र को दोषः ? अस्य (७।४।३२) च्वाविति इहैव स्यादीत्त्वं शुक्लीभवतीति । मालीभवतीत्यत्र तु न स्यात् । यस्येति (६।४।१४८) चेति इहैव स्यादकारलोपः दाक्षिः प्लाक्षिरिति । वालाकिरित्यत्र तु न स्यात् । तस्माद् यावत् किञ्चिद-वर्णमात्रमिह शास्त्रे तस्य सर्वस्य विवृतत्वं प्रतिज्ञायत इति प्रदर्शनार्थं शास्त्रग्रहणं कृतम् । ननु च सत्यपि सावर्ण्ये नैवानुवृत्तिनिर्देशस्थेनाकारेण सवर्णानां ग्रहणं सिध्यति । अनण्त्वात् । नह्यनुवृत्तिनिर्देशे येऽकारादयस्तेऽणः । किं तर्हि ? ये अक्षरसमाम्नाये । जातिपक्षाश्रयाददोष इति चेत् ? न । जाति-पक्षे ग्रहणकशास्त्रस्य प्रत्याख्यानात् नैष दोषः । इह हि व्यक्तिषु द्वय-मस्ति । सादृश्यं भेदश्च । तत्र कदाचित् किञ्चित् प्राधान्येन विवक्ष्यते । यदा सादृश्यं विवक्ष्यते तदा तस्य भागस्य सदृशस्य सर्वासु व्यक्तिषु समानत्वात् अशेषव्यक्त्याक्षेपो भवति । भेदस्यापरामृष्टत्वात् । सोयं प्रत्याहारे सदृशभागः प्रधान उपदेश इति सर्वासामवर्णव्यक्तीना मनुवृत्तिनिर्देशस्थाना मण्त्व-मुपपद्यते । कः पुनरस्य सादृश्यस्यावर्णजातेश्च विशेषः ? अयमस्ति विशेषः । एतच्च सादृश्यं ह्रस्वास्वेवावर्णव्यक्तिषु वर्त्तते । न दीर्घप्लुतासु । अवर्णजाति-स्तु दीर्घप्लुतास्वपि वर्त्तते । इति गतमेतत् । अथ कथमेतदवगम्यते अकार इह शास्त्रे विवृतः प्रतिज्ञायत इत्यत आह तस्येत्यादि । यदि पूर्वं विवृतो-ऽकारो न प्रतिज्ञायेत तत स्तस्याप्रयोगार्थम् अ अ इत्यनेन (८।४।६८) प्रत्यापत्तिं न कुर्यात् । स्वरूपाद्धि प्रच्युतस्य पुनस्तत्प्राप्तिः प्रत्यापत्तिः । सा कथमवि-चलितस्वरूपस्यैवोपपद्यते ? अथवा यदि विवृतः प्रतिज्ञायते तदा तस्य शास्त्रस्य परिसमाप्तावपि तथाभूतस्यैव प्रयोगः स्यादिति पूर्वपक्ष माशङ्क्याह तस्येत्यादि ।

अर्थशब्दो निवृत्तिवचनः । यथा मशकार्थो धूम इति । तस्य विवृतस्य प्रयोगनिवृत्तिर्यथा स्यादित्यर्थः । अथवार्थशब्दः प्रयोजनवचनः । तस्येतरनेन संवृतः प्रतत्रवक्ष्यते । प्रयोगोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथोक्तम् । क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम् । तदेतदुक्तं भवति । तस्य संवृतस्य स्वरूपात् प्रच्युतस्य प्रयोगनिमित्तं प्रतत्रापत्तिः करिष्यते यतः शास्त्रपरिसमाप्तौ ततो न भवति तथाभूतस्यैवायं प्रयोग इति ।

## २ । ऋलृक् ।

तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिरिति । कथं त्रिभिर्ग्रहणं लभ्यते । यदि समुदायानुबन्धः अवयवानुबन्धो न । अथचाऽवयवानुबन्धो न तदा समुदायानुबन्ध इत्येकेनैव ग्रहणं स्यात् । नैष दोषः । प्रतिज्ञया त्वनुबन्धानां व्यवहारः । प्रतिज्ञा तु पौरुषेयी । पुरुषश्चोभयत्र प्रतिज्ञानं कुर्व्वन्न विरमति । विरोधाभावात् । नहि समुदायानुबन्धता अवयवानुबन्धप्रतिज्ञया विरुध्यते । इतरया न चेतरेति । तस्माद् युक्तमुक्तं त्रिभिर्ग्रहणं भवतीति । एवं सर्व्वत्र योजनीयम् । इह शास्त्रे वर्णानामुपदेशः प्रयोजनवशात् । लृकारोपदेशस्य न किञ्चित् प्रयोजनं सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह अकारादयो वर्णा इति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो धात्वादिः । अनन्यत्रभावो विषयार्थः । प्रचुरः प्रभूतः प्रयोगो विषयो येषा मिति बहुव्रीहिः । अथवा प्रयुक्तिः प्रयोग उच्चारणम् । तस्य विषय इति षष्ठीसमासः । तस्य प्रचुरशब्देन बहुव्रीहिः । तेषां सुज्ञानमुपदेशे प्रयोजनमिति । सुखेन ज्ञायत इति सुज्ञानम् । एतच्च प्रयोजनं किमर्थम् ? लृकारस्यैवोपदेशे प्रयोजनं पृच्छ्यत इति अस्य वचनस्यावकाशनिरासार्थमुक्तम् । यदि ह्येतन्नोच्येत लृकारस्यैव तु केवलं प्रयोजनं पृच्छ्येत इति तदा स्यादस्य वचनस्यावकाशः । लृकारस्तु क्लृपिस्थ एव प्रयुज्यत इति । तुशब्दोऽकारादिभ्यो विशेषार्थः । स्यादेतत् । क्लृपिसम्बन्धिन स्तस्य यान्यच्कार्य्याणि तदर्थमुपदेशः कर्त्तव्य इत्यत आह क्लृपेश्चेत्यादि । यद्यसिद्धत्वं ततः किमित्याह तत्र ऋकार एवेत्यादि । लत्वविधानाद् यानीत्यादि । लत्वं विधीयते येन शास्त्रेण तल्लत्वविधानम् । करणे ल्युट् । अथवा

भावे विधि र्विधानम्। लत्वस्य विधान मिति षष्ठीसमासः। ततः पराणी-त्यादि। एतेन लत्वस्य तेषु सिद्धत्वं दर्शयति। पूर्वत्र हि परमसिद्धम्। नतु परस्मिन् पूर्वम्। क्लृप्तशिखइति। क्लृप्ता शि खा यस्येति बहुव्रीहिः। अत्र गुरोरनृत इत्यादिना (८।२।८६) प्लुतो विधीयते। स चाचश्चे (१।२ २८) त्येवं स्थानिन मुपस्थापयति। लृकारस्याच्त्वनुपदेशादसत्यच्त्वे स न स्यात्। प्रक्लृप्त इति। अत्र निपाता आद्युदात्ता उपसर्गाश्चाभिवर्जं मिति प्रशब्दाकार उदात्तो भवति। लृकारोऽपि धातुस्वरेण उदात्त एव। निष्ठाप्रत्ययस्वरे कृते अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति (६।१।१५८) पश्चात् सोनुदात्तो भवति। कुगतिप्रादय इति (२।२।१०) समासे कृते समासान्तोदात्तत्वे प्रसक्ते गतिरनन्तरं इति (६।२।४९) पूर्वपदप्रकृतिभावेन प्रशब्द एवोदात्तः। तस्मात् परस्य लृकारस्य उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित इति (८।४।६६) स्वरितत्वं विधीयते। तदसत्यच्त्वे न स्यात्। तस्याज्धर्मत्वात्। क्लृप्तः क्लृप्तवानिति। अनचि चेति (८।४।४७) अच उत्तरस्य यरो द्विर्वचनं विधीयते। तदप्यनच्त्वे न स्यात्। यदुक्तं क्लृपिस्थ एव प्रयुज्यत इति तद् विघटयन् प्रयोजनान्तरं दर्शयितुमाह यच्चेत्यादि। साधुशब्दोच्चारणशक्तेरन्या शक्तिः अशक्तिः। ततो जात मशक्तिजम्। तदनुकरणस्यापि साधुत्वमिष्यत इति। अर्थभेदेन शब्दान्तरत्वात्। शिष्टप्रयुक्तत्वाच्च। तदन्यसाधुशब्दवत्। ननु चानु-कार्य्यस्यासाधुत्वादनुकरणस्यासाधुत्वेन भाव्यम्। प्रकृतिवदनुकरणं भव-तीति वचनात्। नैतदस्ति। शास्त्रीया हि तत्र प्रकृति राश्रीयते। प्रकृति-वदिति च शास्त्रनिबन्धनमेव कार्य्य मतिदिश्यते। नचाशक्तिजमसाधु-शब्दरूपं शास्त्रीया प्रकृतिः। नाप्यपशब्दत्वं शास्त्रनिबन्धनं कार्य्यम्। नहि शक्यं व्याकरणेनाप्यपशब्दत्वमाख्यातुम्। तस्य साधुशब्दसंस्कारायैव प्रवृत्तत्वात्। तस्मादपशब्दस्याप्यनुकरणं साध्वेव। तत्र तत्स्थस्यापि लृकारस्याच्कार्य्याणि न स्युः यच्चनु तस्योपदेशो न स्यात्। कुमार्य्लृतक इति। अत्राच्त्वे सति लृकारस्य तत्र परतो यणादेशो भवति। ननुच इको यणचीत्यत्र (६।१।७७) संख्यातानुदेशोऽपि लृकारोपदेशस्य प्रयोजन मुपपद्यत एव। असति लृकारोपदेशे त्रयः स्थानिन श्चत्वारश्च आदेशाः स्युरिति वैषम्यात्

संख्यातानुदेशो न स्यात्। तस्मात् संख्यातानुदेशोऽपि तस्य युक्तं प्रयोजनम्। नचैतदस्ति। माभूत् संख्यातानुदेशः। असत्यपि तस्मिन् स्थानेन्तरतम इति (१।१।५०) परिभाषया व्यवस्था भविष्यति। इत्संज्ञा तर्ह्यपरं प्रयोजनम्। उपदेशे ह्यसति गम्लृ सृप्लृ गतावित्यादिषु उपदेशेऽजनुनासिकइतीत्संज्ञा (१।३।२) न स्यात्। तस्यां चासत्यां पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेष्विति (३।१।५५) अङ् न स्यात्। नैतदस्ति। असत्यप्युपदेशे अस्मादेव ॡदितो धातोरङ्विधानादित्संज्ञा विधास्यते इति नास्ति प्रयोजन मुपदेशस्य। तस्मात् पूर्वोक्तान्येव प्रयोजनानि। तानि च ऋकारॡकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्येत्येतदनाश्रित्योक्तानि। अत्र ह्याश्रिते सत्यसत्यपि ॡकारोपदेशे अणुदित् सवर्णस्य चेति ऋकारेण गृह्यमाणेन लृकारस्य ग्रहणादेव सिध्यन्ति।

## ३। ए ओ ङ्।

अत्र पूर्वाश्रेति नोक्तम्। पूर्वैरस्य ग्रहणासम्भवात्। अथ षिद्भिदादिभ्योऽङित्यत्राकारेणास्य कस्माद् ग्रहणं न भवति? तत्र केचिदाहुः। आदिरन्त्येन सहेतेत्यत्र (१।१।७१) अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय (१।१।६७) इत्यतोऽप्रत्ययग्रहणमनुवर्त्तते। तेनायमर्थः सम्पद्यते। आदिरन्त्येन ग्राहको भवति नचेत् प्रत्ययो भवतीति। प्रत्ययश्चायम्। तेन ग्राहको न भवति। एवञ्च सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमित्यादावपि प्रत्ययो ग्राहको न स्यात्। तस्मादनभिधानादिह प्रत्याहारग्रहणं न भवतीति वेदितव्यम्। अभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्ति। नच षिद्भिदादिभ्योऽङिति (३।३।१०४) अकारादिप्रत्ययोत्पत्तौ विवक्षितार्थाभिधानं भवति। इह तर्हि शास इदङ्हलोः (६।४।३४)। ऋदृशो ऽङि गुण इति (७।४।१६) चाकारेण प्रत्याहारग्रहणं कस्मान्न भवति? चिण्सदृशस्य चङ्सदृशस्य चाङो ग्रहणात्। शास इदङ्हलोरित्यत्र हि भञ्जेश्च (६।४।३३) चिणीत्यनुवर्त्तते। ऋदृशोऽङीत्यत्रापि णौ चङ्युपधाया ह्रस्व इति (७।४।१)। अतो मण्डूकप्लुतिन्यायेन चङ्ग्रहणमनुवर्त्तते। तेन चङ्ग्रहणेन समानाधिकरणेनाङ् विशेष्यते। चञ्चङीतीति नचाङ् चङ् भवति। अतिविलक्षणत्वात्। तत्र

सामर्थ्यादिवार्थो गम्यते। परपदार्थेषु हि प्रयुज्यमानाः शब्दा अन्तरेणापि इवशब्दप्रयोगमिवार्थं गमयन्ति। यथा ऽग्निर्माणवको गौर्वाहीक इति। तेनायमर्थो भवति। चङीवाङीति चङ्सदृशोऽङित्यर्थः। कश्च चङ्सदृशोऽङ्? यश्च्लेः स्थाने विहितः। तथाच च्लिस्थानिकस्यैवाङो ग्रहणं सम्पद्यते। नतु प्रत्याहारस्य। एवं शासइदङ्हलोरित्यत्रापि चिण्ग्रहणेनाङि विशेष्यमाणे च्लिस्थानिकस्यैवाङो ग्रहणं वेदितव्यम्। इह तर्हि सनिच इङश्चेति। (२।४।४८) परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य (३।३।२१) इङश्चेति च कस्मादिकारेण प्रत्याहारग्रहणं न भवति? पूर्वत्र तावन्न भवति। इको झलिति (१।२।९) कित्त्वविधानात्। प्रत्याहारे हेतस्मिन् सनि गम्यादेशविधानादिगन्तत्वाभावे गुणस्याप्राप्तया कित्त्वविधान मनर्थकं स्यात्। पूर्वत्र तावन्न भवति। यदि हि स्यादिक इति ककारेणैव प्रत्याहारं कुर्य्यात्। नह्यङन्तादधातोः परस्य सनःसम्भवोऽस्ति यतः प्रत्याहारग्रहणं ङकारेणार्थवद् भवति। परत्रापि न भवति। वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तथाहि इकारान्तेभ्यः एरजित्यचा भवितव्यम्। उकारान्तेभ्योऽपि ऋदोरबित्यपा। ऌकारान्ता न सन्त्येव। एजन्तानां प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरादेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५) इत्यात्त्वेन भवितव्यम्। अतस्तेऽपि प्रत्ययविधानकाले न सन्त्येवेति। ऋकार एक एवावशिष्यते। ततो यदि घञ् विधित्सितः अपार्थकं प्रत्याहारग्रहणं स्यात्। उरित्येव ब्रूयात्। क्रीङ्जीनां (६।१।४८) णावित्यत्रापि क्रीणातिजयत्योः पृथगुपादानाद् इकारेण ग्रहणं न भवति। इकारान्तानां मध्ये तयोरेव यथा स्यादिति नियमार्थं पृथगुपादान मिति चेत्? न। एवमपि ककारेणैव प्रत्याहारं कुर्य्यात्। एजन्ताना-मात्त्वस्य सामान्यलक्षणेनैव सिद्धत्वात्। इङ्धार्य्योः शत्रकृच्छ्रिणीत्यत्रापि (३।२।१३०) धारयतिना धातुना साहचर्य्याद् इङिति धातोर्ग्रहणम्। न प्रत्याहारस्येति वेदितव्यम्।

## ४। ऐ औ च्।

इहादिरन्त्येन सहेतेत्यनेन सूत्रेणाकारादीनामजित्येषा संज्ञा विधीयते। सा च यथा इकारादीनां भवति तथा णकारादीनामप्यनुबन्धानां

स्यात् । तेषामपि तत्रोपदेशात् । ततश्च तया प्रदेशान्तरे इको यणचीत्येवमादौ तेषु प्रातिपदिकेषु यथा दध्यत्रेत्यादौ यणादेशो भवति तथा दधिणकारीयतीत्यादावपि स्यादित्यभिप्रायेणाह प्रत्याहारेत्यादि । कथमज्ग्रहणेषु नेति कार्य्यमिति शेषः । अजित्यस्याः संज्ञायाः प्रदेशवाक्येषु ग्रहणानि उच्चारणानि अज्ग्रहणानि । तेषु सत्सु णकारादीनां कथमच्कार्य्यं न भवेत् । भवेदेवेत्यर्थः । आचारादिति । आचरणमाचारः आचार्य्यप्रवृत्तिः । ततो ज्ञापकान्न भवति । यदयमुणादयो बहुलम् । ऋषिमृषिक्रशिः काश्यपस्य । ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् । ङसिङसोश्चेति णकारादिषु परतो यणादेशं न करोति ततो ज्ञापयति । सत्यामप्यच्संज्ञायामच्कार्य्याणि न भवन्तीति । अथवा अजित्येषैव संज्ञैषां न भवति इत्येषः अर्थोऽनया आचार्य्यप्रवृत्त्या ज्ञाप्यते । यदि हि संज्ञा स्यात् आचार्य्यस्तेष्वच्कार्य्याणि कुर्य्यात् । एवं ज्ञापकेन संज्ञाऽभावं प्रतिपाद्य इदानीं न्यायेन प्रतिपादयितुमाह अप्रधानत्वादिति । अणित्येवमादिकाः संज्ञाः प्रणेतुं तद्रूपप्रतिपादनाय अनुबन्धा उच्चार्य्यन्ते । ततश्च परार्थमुपादीयमानत्वादप्राधान्य मनुभवन्ति । इतरे तु स्वार्थमुपादीयन्त इति तेषां प्राधान्यम् । तेन तेषामेवाजिति एषा संज्ञा भवति । नानुबन्धानाम् । प्रधानाप्रधानसन्निधौ हि प्रधानमेव कार्य्येण सम्बन्ध मनुभवति । नेतरत् । तथाचाह भाष्यकारः । प्रधाने कार्य्यसंप्रत्ययात् सिद्धमिति । यद्येवमकारस्याप्येषा संज्ञा न स्यात् । संज्ञाप्रतिपादने तस्याप्यङ्गभावोऽस्त्येव । स्वस्य च रूपस्येत्यनुवृत्तिसामर्थ्यात् तस्य भवतीत्यदोषः । एतेनानन्तरोक्तेन कारणद्वयेन संज्ञाविधानकाले ऽनुबन्धानां सन्निधानमभ्युपेत्य संज्ञाया अभावः प्रतिपादितः । इदानीं तत्रासन्निहितत्वादेव सा न भविष्यतीति प्रतिपादयितुमाह लोपश्चेत्यादि । बलवानेव बलवत्तरः । स्वार्थे एव तरप् । अल्पाच्तरमिति यथा । अनुबन्धा हि इत्संज्ञकाः । तेन तेषामच्संज्ञायाः प्रागेव तस्य लोप इति लोपेन भवितव्यम् । तस्य बलवत्त्वात् । तदसतां तेषां कुतः संज्ञा ? तस्याश्चासत्यां कुतोऽज्ग्रहणेष्वच्कार्य्यस्य सम्भवः ? बलवत्त्वं तु लोपस्य परत्वान्नित्यत्वाच्च । संज्ञाशास्त्राद्धि लोपशास्त्रं परम् । अतस्तस्यापि परत्वम् ।

कृताकृतप्रसङ्गित्वान्नितरलम्। कृतायामपि संज्ञायां लोपेन भवितव्यम्। अकृतायामपि। नतु लोपे कृते संज्ञा भवति। संज्ञिनामसत्त्वात्। यद्येवं यथा अजन्तःपातिनां णकारादीनामनुबन्धानाम् प्रथमं लोपो भवति तथा चकारस्यापि स्यात्। ततश्चाजिति संज्ञा न निष्पद्यते। वचनसामर्थ्यात् तस्य प्राग्लोपो न भविष्यति। लुप्तेऽपि वा तस्मिन् भूतपूर्वेण तेन सहितः अकारः संज्ञा भविष्यति। अजन्तःपातिनां तु लुप्तानां णकारादीनां नार्हति संज्ञा भवितुम्। इकारादिषु सावकाशत्वात्। इहैते अकारादयो वर्णा अनेकावयवा इष्यन्ते। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (१।२।३२) एचोऽ प्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ इति वचनात् (८।२।१०७)। सन्ति च केषाञ्चित् केचिदवयवा वर्णान्तरसरूपाः। तद्यथा ऋकारे रेफः। ऌकारे लकारः। एकारे च ऐकारेचाकारेकारौ। ओकारे च औकारे च अकारोकारौ। दीर्घेष्वाकारादिषु ह्रस्वा अकारादयः। तत्र य एते ऋकारादिवर्णानामवयवा स्ते किं वर्णग्रहणेन गृह्येरन् नवा? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे अग्ने इह वायो उदकमित्यकः सवर्णे दीर्घत्वं प्राप्नोति। प्रणीय आलूयेति ह्रस्वाश्रयस्तुक्। एवमादयोन्येप्यस्मिन् पक्षे दोषाः प्रसजन्ति। ते च भाष्यादवधार्य्याः। इतरत्र तु नुड्विधिलादेशविनामेषु-ऋकारग्रहणं कर्त्तव्यम्। नुड्विधौ तावत्। ऋधु वृद्धौ लिट्। आनृधतुः। आनृधुरित्यत्र ऋकारे रेफस्य हल्ग्रहणेनाग्रहणात् द्विहल्त्वाभावे तस्मानुड् द्विहल (७।४।७१) इति नुड् न प्राप्नोति। लादेशविधौ क्लृप्तः क्लृप्तवानिति रेफस्य कृपो रोल इति (८।२।१८) लत्वं न सिध्यति। विनामविधौ मातॄणां पितॄणामिति णत्वं न स्यादित्यत आह वर्णेष्वित्यादि। वर्णेषु ऋकारादिषु। वर्णैकदेशा इति रेफादय इति। वर्णात्मभूतत्वज्ञापनार्थमेकदेशा इत्युक्तम्। एतदुक्तं भवति। वर्णानामात्मभूता एकदेशा वर्णैकदेशा इति। यदि ह्येकदेशा-इत्येतावदुच्येत ततः कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अर्थान्तरभूता एवैते एकदेशा इति। वर्णैकदेशा स्तूर्य्यादयोपि सन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह। वर्णान्तरसमाना कृतय इति। वर्णान्तरवत् समानाकृतिर्येषां ते वर्णान्तरसमानाकृतयः अवयवाः। ततोऽन्यैर्वर्णैरनवयवभूतै स्तुल्याकृतय इत्यर्थः। तेष्विति। वर्णैकदेशेषु। तत्कार्य्यमिति। वर्णान्तरकार्य्यमकः सवर्णे दीर्घत्वादि।

किं पुनः कारणं न भवतीत्याह। तच्छायानुकारिणो हीत्यादि। तच्छाया तदाकारः। वर्णान्तराणामकारादीनामाकारमात्रम्। तेऽनु कुर्वन्ति। तत्तुल्यरूपत्वात्। नतु त एव। नहि तदाकारानुकारित्वमात्रेणैव तत्त्वं भवति। तथाहि गवि गवयावयवानुकारिणोऽवयवाः सन्ति। नच तेषां तत्स्वभावता। किं पुनः कारणं ते तएव न भवन्तीत्याह पृथगित्यादि। प्रयत्नः प्रयतनं स्थानकरणव्यापारः। वर्णान्तरहेतोः प्रयत्नात् पृथगन्येन प्रकारेण यं निर्वर्त्त्यं निष्पाद्यं वर्णमाचार्य्या इच्छन्ति। तदेते वर्णा अवयवाः। यदि वर्णाः स्युः प्रयत्नान्तरनिर्वर्त्त्याः स्युः। नचैवम्। तथाहि समुदायार्थो यः प्रयत्नः तेनैव ते निष्पाद्यन्ते। तदेवम् अग्रहणकपक्षमाश्रयतैव ग्रहणकपक्ष-भाविनो ये दोषा स्तेषां प्रसङ्गः प्रतिक्षिप्तः। ननुच ग्रहणकपक्षोपि भाष्ये व्यवस्थापितः। तदनुषङ्गिणां दोषाणां परिहारात्। तत् कस्मात् स परित्यक्तः। बहुप्रतिविधेयत्वात् अग्रहणकपक्षे त्वल्पं प्रतिविधेयम्। अतः स एव वृत्तिकारेणाश्रितः। यदि तर्हि न गृह्यन्ते नुडादिविधिषु ऋकारग्रहणं कर्त्तव्यतया स्थितमेवेत्यत आह नुड्विधिलादेशविनामिष्वित्यादि। नुडादि विधिषु यच्चोद्यमापतति ऋकारविषये तस्य प्रतिविधानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्र नुड्विधौ तावत् ऋकारस्थो रेफः हल्ग्रहणेन गृह्यते। तेनात्रापि द्विहलोऽङ्गस्य नुड् भवति। आनृधतुः। आनृधुरिति। एतत् स्वयमेव वृत्तिकारेण प्रतिपादनं कृतम्। अथ किमयमृकारस्थो रेफो वर्णात्मकः? नेत्याह। इदानीमेव ह्युक्तम्। तच्छायानुकारिणो हि ते न पुनस्त एवेति। ये तर्हि हकारादयो वर्णा अक्षरसमाम्नाये उपदिष्टा स्ते किं वर्णात्मकाः? नेत्याह। तथाहि हयवरडित्यादौ वक्ष्यति इत्येतान् वर्णानु-पदिश्येति। अथ कथमिदानीं वर्णात्मनां हलां ग्रहणेन ऋकारस्थस्यापि अवर्णात्मनो रेफस्य ग्रहणं भवति? द्विहल्ग्रहण सामर्थ्यादित्यभिप्रायः। तत्र हि तस्मान्नुडित्येतावदेव वक्तव्यम्। नचैव मुच्यमाने आटतुराटुरित्यादावपि प्रसङ्गो भवति। अश्नोते श्चेत्यस्य (७।४।७२) नियमार्थत्वात्। अद्विहलो यदि भवति तदाश्नोतेरेव। नान्यस्येति। अश्नातिनिवृत्त्यर्थं तदिति चेत्? वार्त्तमेतत्। यदि ह्येतावत् प्रयोजनं स्यात् नाश्न इत्येवं प्रतिषेधं कुर्य्यात्। तदेवमन्तरेणापि

द्विहल्ग्रहणम्। सिद्धे यद् द्विहल्ग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनम्। द्विहल्-च्छायानुकारिणो हि यथा स्यादिति। यस्याप्येको मुख्यो हल् अपरो ऽवयवस्तत् समानाकृतित्वादुपचारेण हल् व्यपदेशार्हः। तस्यापि यथा स्यादित्येवमर्थः। एतच्च कथं लभ्यते? यदि हलित्येषा श्रुति स्तत्र हल्च्छायानुकारिण्यामपि ऋकारस्थायां रेफव्यक्तौ वर्त्तते। नान्यथा। तस्माद् द्विहल्ग्रहणेन ऋकारस्थो रेफोऽपि गृह्यते। अन्यथा द्विहल्ग्रहण मनर्थकं स्यात्। रेफ इति पर-प्रसिद्ध्या तत्रोक्तम्। वर्णग्रहणवादिनां हि ऋकारभागोऽपि रेफ इति प्रसिद्धः। साहश्यादेवमुक्तम्। भवति हि साहश्यादतस्मिन्नपि तद्व्यपदेशः। यथाग्निः माणवक इति। अथवा रादिफ इत्यत्र (३।३।१०८ वा) वर्णात् कार (३।३।१०८ वा) इत्यतो वर्णादिति नानुवर्त्तते। तेनावर्णात्मकादपि रादिफो भवति। बहुलवचनाद्वा। अतएव ऌकारस्याऌकारसरूपादवयवाद् अवर्णात्म-नोपि कारप्रत्ययो भवतीति वेदितव्यम्। लादेशविधावपि र इति सामान्य मुपादीयते। तेन यः केवलो रेफः यश्च ऋकारस्थः तयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्। ल इत्यपि सामान्यमेव। ततोऽयं केवलस्य रेफस्य स्थाने केवल एव लकार आदेशो विधीयते। ऋकारस्याप्येकदेशविकारद्वारेण ऌकारः। तथाच लुटि चं क्लृप (१।३।९३) इत्येवमादयो निर्देशा उपपद्यन्ते इति। एतत् कृपो रो ल (८।२।१८) इत्यत्र स्वयमेव वृत्तिकृता प्रतिपादितम्। र इति सामान्यमुपादीयत इति। वर्णत्वावर्णत्वकृतं भेदमुत्सृज्य यत् सामान्य-मवर्णात्मिकायां वर्णात्मिकायाञ्च रेफव्यक्तौ वर्त्तते। यतस्तयोः वर्णत्वावर्णत्व भेदभिन्नयोरपि र इति शब्दप्रत्ययौ अभिन्नौ भवतः। तावुपादीयेते। ननु वर्णा-त्मिकैव रेफव्यक्तिः। तेनेति। सामान्योपादानेन द्वयोरपि ग्रहणं भवतीति। तस्य सामान्यस्य द्वयोरपि सद्भावात्। ल इत्यपि सामान्यमेवेति। उपादी-यते इत्यपेक्षते। अत्रापि यश्च केवलो लकारः यश्च लृकारस्थः तयोर्द्वयोरपि ग्रहण मित्येतद्वक्तव्यं स्यात्। पूर्वानुसारेण गम्यमानत्वान्नोक्तम्। ततोऽय मित्यादि। यत एवं द्वयोरपि रेफलकारयो र्ग्रहणं तस्मात् केवलस्य रेफस्य स्थाने लकारोऽयमादेशः विधीयते। अन्तरतमत्वादृकारस्यापि लृकारः। ननु च सत्यपि द्वयोरपि ग्रहणे ऋकारस्य स्थाने ऌकारो भवतीत्येतत् कुतो

लभ्यते ? नहि ऋकारस्थो रेफ ऋकारो भवति। किं तर्हि ? तदवयवः। नापि लृकारस्थो लकारः लृकारो भवति ? किं तर्हि ? तदवयवः। तत्र द्वयोरपि ग्रहणे सति ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लृकारस्थो लकारः वर्णैकदेश-तयान्तरतमो भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यते। ननु ऋकारस्य हि स्थाने लृकारो भवतीत्येतस्य चोद्यस्यापाकरणार्थ मेकदेशविकारद्वारेणेत्युक्तम्। तदेकदेश ऋकारस्यावयवो रेफस्तस्य विकार लृकारावयवो लकारः। अथवा एकदेशः। अथवा एकदेशलृकारस्थो लकारः। स एव विकारः। ऋकारस्थस्य रेफस्य स एव एकदेशविकारः। द्वारं मुख मुपाय इतियावत्। तेन समस्तस्यैव ऋकारस्य स्थाने समस्त एव लृकार आदेशो विधीयते। यदि हि ऋकारलृ-काराभ्यां तत्स्थयोश्च रेफलकारयोः पृथग्भावः सम्भवेत् तदा ऋकारैक-देशस्य रेफस्य केवलस्य लृकारैकदेशो लकारः केवलः शक्यते विधातुम्। नच तयो स्ततः पृथग्भावः सम्भवति। तस्माद् यथोक्तेन प्रकारेण ऋकारस्य लृकारादेशो विधीयते। अनन्तरोक्तस्यार्थस्य दृढीकरणाय तथाचेत्यादेरुप-न्यासः। यत एवमेकदेशद्वारेण ऋकारस्य स्थाने लृकार आदेशो विधी-यते। एवञ्च सति लुटि च क्लृप इत्येवमादयो (१।३ ९३) निर्देशा उपपद्यन्ते। नान्यथा। आदिशब्देन ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (३ १।११०)। तासि च क्लृप (७।२।६०) इत्येतयो निर्देशयो र्ग्रहणं। विनामविधावपि ऋवर्णाच्चेति वक्तव्य मित्युक्त्वा रश्रुतिसामान्यनिर्देशाद्वा सिद्धम्। अवर्णभक्त्या च व्यवधाने णत्वं भवतीति क्षुभादिषु नृनमनतृप्नोतिग्रहणं णत्वप्रतिषेधार्थं द्रष्टव्यम्। अथवा ऋवर्णादपि णत्वं भवतीत्येतदेव तेन ज्ञाप्यत इति वृत्तिकृता स्वयमेव प्रतिविहितम्। रश्रुतिसामान्यनिर्देशात् सिद्धम् इति। र इति श्रुतिः रुपलब्धिर्यस्य स रश्रुतिः रेफः। तस्य केवलस्य ऋकारस्थस्य च वर्णत्वावर्ण-त्वकृतभेदं परित्यज्य यत् सामान्यं रेफमात्रं तदिह निर्दिश्यते। ननु वर्णात्मि-कैव रेफव्यक्तिः। तेन सिद्धं तिसृणाम्। चतसृणाम्। मातॄणाम्। पितॄणाम् इत्यादावपि णत्वम्। ऋकारेऽपि तस्य रश्रुतिसामान्यस्य विद्यमानत्वात्। स्यादेतत् ऋकारे त्रयो वर्णावयवाः। तन्मध्ये रेफोऽर्द्धमात्रात्मा। तत्र रश्रुतिसामान्यस्य निर्देशेनैव सिध्यति। यासौ रेफात् पराऽवर्णभक्ति

स्तया व्यवधानादित्यस्य चोद्यस्य परिहाराय उत्तरो ज्ञापकग्रन्थः। यदयं क्षुभ्नादिषु णत्वप्रतिषेधाय नृनमनशब्दं तृप्नोतिशब्दञ्च पठति तेनैतज्-ज्ञाप्यते ऽवर्णभागव्यवधानेऽपि णत्वं भवतीति। अन्यथा हि तत्र तयोः पाठो ऽनर्थकः स्यात्। प्राप्त्यभावात्। प्राप्तिपूर्वकत्वाच्च प्रतिषेधानां। यद्यपि वर्णात्मिकैव रेफव्यक्ति र्निर्दिश्यते तथापि सिद्धमिति दर्शयितुमाह अथवेत्यादि। पूर्वसूत्रोपात्ताद्र्श्रुतिसामान्यनिर्देशात् परयाऽवर्णभक्त्या व्यवहितादपि णत्वं भवतीति ज्ञापितम्। इदानीं तु सूत्रानुपात्ताद्दकारा-दव्यवहितादेवेत्येष विशेषः। अपरे तु सर्वाण्येतानि प्रतिविधानानि वर्णैक-देशग्रहणकपक्षमाश्रित्य विहितानीत्याचक्षते। एतच्चासम्यक्। यं हि पक्षमाश्रित्य लुङ्विधिलादेशविनामेषु ऋकारे प्रतिविधातव्यम् इत्युक्तं तत्रैव प्रतिविधातुं युक्तम्। अन्यथा ह्यग्रहणकपक्ष मभ्युपेत्य ग्रहणकपक्षेऽपि प्रतिविधानं कुर्वता वृत्तिकारेणाकौशलमेव केवलमात्मनः प्रकटितं स्यात्।

## ५। ह य व र ट्।

तस्य ग्रहणं भवत्येकेन शश्छोटी (८।४।६३) त्यकारेणेति। अत्र शश्छोटी-त्येतत् प्रदेशवाक्योपलक्षणं द्रष्टव्यम्। एवंजातीयकेषु निर्देशेष्वकारेण ग्रहणं भवति। नतु वर्णान्तरेणेत्यत्रायमर्थोऽभिप्रेतः। नत्वत्रैव सूत्रे अकारेण ग्रहणं भवतीति। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपीति (८।४।२) दीर्घादटी (८।३।९) त्यत्राप्यकारेण ग्रहणस्येष्टत्वात्। अथ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त (६।४।७१) इत्यत्राप्यकारेण ग्रहणं कस्मान्न भवति। प्राक्सितादड्-व्यवायेऽपीति (८।३।६३) वचनात्। प्रत्याहारे ह्येतस्मिन्नकारादीनां योऽन्यतमस्तेनालोन्त्यपरिभाषयाङ्गान्तरस्य भवितव्यम्। प्रत्येकमट्संज्ञकत्वात्। प्रत्येकमेवाकारादीनामादेशत्वात्। तथा चान्यग्रहणेन ग्रहणादड्व्यवधानं नोपपद्यते। अथ प्रत्येकमप्यसंज्ञकत्वे समस्तानामप्यादेशभावः प्रकल्प्येत। एवमनेकाल्त्वात् सर्वादेशः स्यात्। तथाच स्थान्यपि सकारो न स्यादिति कस्य केन व्यवधानान् मूर्धन्यो भवेद्दु अभ्यषुणोदित्यत्र? अथार्द्धधातुकस्येड्-वलादे (७।२।३५) रित्यत्रेकारेणास्य ग्रहणं कस्मान्न भवति? तन्न विदित

इति चेति ( ५।१।४२ ) निर्देशात् । प्रत्याहारे ह्येतस्मिन् नादेः परस्येति ( १।१ ५४ ) इकारादीनामन्यतमस्त्वकारस्यादेशः स्यात् । तथाच विदितमिति रूपं नोपपद्यते । अथ दीधीवेवीटामि ( १।१।६ ) त्यत्रापीकारेण ग्रहणं कस्मान्न भवति ? जयति सम्भवत्यवहरतीत्येवमादि ( ४ ४।२, ५।१।५२ ) निर्देशात् । प्रत्याहारे ह्येतस्मिन् गुणप्रतिषेधादेवमादयो निर्देशा न सम्भवेयुः । यकारात् परस्य रेफस्योपदेशे सति यो दोषस्तमुद्भावयितुकाम आह अयमित्यादि । परोपदेशस्तु वत्व्यन्तर्भावाज्जीवेरदानुक् जीरदानुः । गोधाया ढ्रक् ( ४।१।१२९ ) गौधेर इत्यत्र लोपो व्योर्वलीति व्योर्लोपो यथा स्यात् । रल्ग्रहणे च वकारस्य ग्रहणं माभूदित्येवमर्थश्च । यदि हि वकारात् पूर्वो रेफ उपदिश्येत रलो व्युपधाद्धलादेः संश्चेति ( १।२।२६ ) देवित्वा दिदेविषतीत्यत्र कित्त्वं वा स्यात् । ननु च क्रियमाणेऽपि रस्य यकारात् परोपदेशे प्राप्नोत्येव वकारस्य रल्ग्रहणेन ग्रहणम् । जश्रामपि मध्ये तस्योपदेशात् । नैतदस्ति । उभयोर्भिन्नगुणनिष्पाद्यत्वाद् भेदस्य सिद्धत्वात् । यथोक्तम् । पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं वर्णमिच्छन्तीति । अन्तःस्थात्वेनेषत्पृष्टकरणत्वादितरस्य च स्पर्शत्वेन स्पृष्टकरणत्वात् । अयञ्च दन्त्योष्ठ्यो वकारः । यस्तु जबगडदशिष्यते स ओष्ठ्यो वेदितव्यः । ननु च वकारेण व्यवधानान्नायं यकारात् परः । किं तर्हि ? वकारात् पर इति तत् किमुच्यते यकारात् पर इति ? व्यवधानेऽपि परशब्दो वर्त्तते । यथा बाल्यात् परं वृद्धत्वमित्यदोषः । अत्र यौवनेन व्यवहितेऽपि वृद्धभावे परशब्दस्य वृत्तिः । यदि यकारात् पर उपदिश्यते ततः किमित्याह तस्य यर्ग्रहणेनेत्यादि । यरित्यस्याः संज्ञाया ग्रहणेनोच्चारणेन । तथा ययित्यस्याः संज्ञाया ग्रहणेनोच्चारणेनेत्यर्थः । अथवा यरां संज्ञिनां ग्रहणेनोपादानेन । ययां संज्ञिनां ग्रहणेनोपादानेनेत्यर्थः । ग्रहणे सतीति उपादाने सति । तद्ग्रहणेन तु तद्ग्रहणम् । तस्यापि तत्संज्ञकत्वात् । तदन्तर्भावात् च । स्वर्णयतीत्यत्र ऋटुरषा मूर्धन्या इति तुल्यस्थानत्वाद् रेफस्य नकारे परे परसवर्णो णकारादेशो भवति । विशेषानभिधानात् । ननुचैवं सति स्थानेन्तरतमपरिभाषा बाध्येत । न हि रेफस्यान्तरतमो णकारः । प्रयत्नभेदात् । नैतदस्ति । व्यक्तिः पदार्थ इत्येतद्धि

दर्शनमाश्रित्य चोद्यते। तेन स्थानेन्तरतमपरिभाषया बाधा नाशङ्कनीया। यत्र ह्यन्तरतमोऽनन्तरतमश्च विद्यते तत्र तस्या व्यापारः। नचेहान्तरतमोऽस्ति यस्माद् व्यक्तौ पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणं प्रवर्त्तते। आनन्त्यात् तु सर्वाणि लक्षणानि नोच्चार्य्यन्ते। तत्र यदेतद्विषयं लक्षणं तत् प्रयत्नभेदादनन्तरतमेऽपि णकारे यदि न प्रवर्त्तेत तदा तस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्। तस्माज् जातौ पदार्थे इयं परिभाषा वेदितव्या। न तु द्रव्ये। मद्रङ्कदभद्रङ्कद इति। अचो हकारादुत्तरोऽयं रेफः यर् भवतीति द्विर्वचनं प्राप्नोति। अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४६) इत्यत्र यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको (८।४।४५) वेत्यतो यरित्यनुवर्त्तते। तत्र द्विर्वचने सति द्वयोः रेफयोः श्रवणं स्यात्। रो रीत्येकस्य (८।३।१४) लोपो भविष्यतीति चेत्? न। लोपे कर्त्तव्ये द्विर्वचनस्यासिद्धत्वात्। हलो यमां यमि लोप (८।४।६४) इत्यनेन तर्ह्येकस्य लोपो भविष्यति। सिद्धं ह्यस्मिंल्लोपे द्विर्वचनम्। एवमपि पक्षे द्वयोः रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत। तत्र हि झयो होऽन्यतरस्यामित्यतो (८।४।६२) ऽन्यतरस्याङ्ग्रहणमनुवर्त्तते। अथापि तत्रानुवर्त्तेत एवमपि द्विर्वचनविधानसामर्थ्याल्लोपो न भविष्यति। अन्यथा हि द्विर्वचनविधानमनर्थकं स्यात्। कुरण्ड रथेनेति। अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण (८।४।५८) इति तदन्यस्य परसवर्णस्यासम्भवाद् रेफस्य रेफएव परसवर्णः स्यात्। रेफोष्मणां सवर्णा न सन्तीति रेफोऽपि रेफस्य सवर्णो न भवतीत्येतच्च नाशङ्कनीयम् वर्णान्तरापेक्षया तदुक्तम्। वर्णान्तराणां यथायोगमतुल्यस्थानप्रयत्नत्वात्। रेफव्यक्तीनां तु परस्परापेक्षया सावर्ण्यमस्त्येव। तुल्यस्थानप्रयत्नत्वात्। अन्ये तु ययि रेफे अनुस्वारस्य परसवर्णो णकारः स्यात्। तुल्यस्थानत्वादिति वर्णयन्ति। एतच्चायुक्तम्। न हि स्थानमात्रतुल्यतया सवर्णो भवति। किं तर्हि? तुल्यस्थानतया तुल्यप्रयत्नतया च। नच रेफस्य णकार स्तुल्यप्रयत्नः। रेफस्येषत्पृष्टत्वात्। णकारस्य च स्पृष्टत्वात्। एवं व्यक्तिपदार्थमाश्रित्य परेण चोदिते जातिपदार्थमाश्रित्य परिहारं वक्तुकाम आह। नैष दोष इत्यादि। आकृताविति जातावित्यर्थः। केषाञ्चिज्जातिः पदार्थः। केषाञ्चिद्द्रव्यम्। पाणिनेस्तूभयम्। लक्ष्यानुरोधात्। तत् क्वचित्

किञ्चिदाश्रीयते । तत्र जातौ पदार्थ आश्रीयमाणे जातिरेव शब्देनाभिधीयते । नान्तरीयकत्वात् तु तदाधारा व्यक्तयः प्रतीयन्ते । जातेराधारमन्तरेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् । एतस्मिन् दर्शने तस्यास्तु जातेः स्थानित्वमादेशत्वं परत्वमव्यवहितत्वमित्यादयो धर्माः शब्दसंस्कारोपयोगिनो व्यक्तिद्वारकाः । तेन यरोनुनासिकेऽनुनासिको ( ८।४।४५ ) वेत्येवमादिलक्षणं प्रवर्त्तमानं जातिमतीषु व्यक्तिषु एव प्रवर्त्तते । तत्र प्रवृत्तेर्जातौ प्रवृत्तं भवति । नच तासु व्यक्तिषु जातिं प्रति कासाञ्चिदासक्तिर्विप्रकर्षो वा यतः क्वचिदेव प्रवर्त्तेत । न सर्वत्र । सम्बन्धस्याविशिष्टत्वात् । तस्मात् तच्च प्रवर्त्तमानं यत्र वचनान्तरेण न्यायेन वा न बाध्येत तत्र सर्व्वत्रैव प्रवर्त्तते । एवञ्च प्रवृत्तं समुदाये प्रवृत्तं भवति । सकृदिति एकवारम् । न पुनः पुनः । सकृत्प्रवृत्त्यैव लक्षणस्य च चरितार्थत्वात् । एतस्मिन् दर्शने यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वेत्येतल्लक्षणं कथं प्रवर्त्तेत ? किमविशेषेण सर्वेष्वेव जातिमत्सु पदार्थेषु प्रवर्त्तते ? उत विशेषेण केषुचिदेव ? यद्यविशेषेण स्यात् स दोषस्तदवस्थ एव । अथ विशेषेण वाच्यस्तर्हि सविशेष इत्यत आह यरोऽनुनासिक इत्यादि । एतेन स्थानेन्तरतमपरिभाषाया उपस्थानात् तद्वशेनान्तरतमेष्वेव प्रवर्त्तते । नान्येष्विति दर्शयति तदनेनेत्यादि । यत एवान्तरतमेष्वेव प्रवर्त्तते तस्मादनेन लक्षणेन गकारादीनां येऽन्तरतमाः स्थानगुणाभ्यामुभाभ्यामपि ते ङकारादयोऽनुनासिका विहिताः । यथास्वमिति । यथात्मीयमिति । ये येषामन्तरतमास्ते तेषां विहिता इत्यर्थः । गकारादीनामिति । आदिशब्देन जकारादीनां ग्रहणम् । ङकारादय इत्यत्रापि आदिशब्देन ञकारादयोऽनुनासिका गृह्यन्ते । तत्र स्थानतो गुणतश्चान्तरतमाः । तद्यथा गजडदबानां यथाक्रमं ङञणनमाः । तथाहि अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या इति गकारङकारयोस्तुल्यं कण्ठः स्थानम् । इचुयशास्तालव्या इति जकारञकारयोस्तालु । ऋटुरषा मूर्धन्या इति डकारणकारयो मूर्धा । लृतुलसा दन्त्या इति दकारनकारयोर्दन्तः । उपूपध्मानीया ओष्ठ्या इति बकारमकारयोरोष्ठः । गुणस्तु सर्वेषामेवैषां तुल्यः । स्पृष्टं करणं स्पर्शानामिति वचनात् । कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।

ये तु न स्थानतो नापि गुणत इति। अन्तरतमा इत्यपेक्षते। ते सर्वे निवर्त्तिता इत्यनेन वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। अविधानमेवैषां निवर्त्तनम्। स्थानमात्रेण गुणमात्रेण वेति। तत्राप्यन्तरतमा इत्यपेक्षते। पूर्ववच्च सम्बन्धः। तत्र नापि स्थानतो नापि गुणतोऽन्तरतमा अनुनासिकाः। ते यथा गजडानाम्। यवलाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्चापि। ते तेषां स्थानगुणाभ्यामनन्तरतमा एव। सानुनासिकग्रहणं तु यरोनुनासिके इत्यादौ (८।४।४५) सूत्रेऽनुनासिकस्यादेश-त्वेनोपादानात्। तत्र गकारयकारयोर्यथाक्रमं कण्ठतालुस्थानत्वात् स्थानत आन्तरतम्यं नास्ति। जकारलकारयोस्तालुदन्तस्थानत्वात्। डकारवकारयो-र्यथाक्रमं मूर्धदन्तोष्ठस्थानत्वात्। गुणतोऽपि तेषां नास्त्यान्तरतम्यम्। गकारादीनां स्पृष्टकरणत्वात्। यकारादीनामीषत्स्पृष्टकरणत्वात्। ईषत्स्पृष्टं करणमन्तःस्थानामिति वचनात्। अन्तस्था यरलवाः। स्थानमात्रे-णान्तरतमा अनुनासिकाः। तद् यथा जदबानां यँलँवँः सानुना सिकाः। अत्र जकारस्य यकारस्तुल्यस्थानम्। तयो स्तालुस्थानत्वात्। दकारस्य लकारः। तयो र्दन्तस्थानत्वात्। बकारस्य वकारः। उभयो रोष्ठ-स्थानत्वात्। यद्यप्यन्तःस्थस्य वकारस्य दन्ताः स्थानमधिकं तथापि यत्र तयो स्तुल्यस्थानमोष्ठः तत्कृतमान्तरतम्यमस्त्येव। उकारौकारवत्। उकारस्य ओष्ठस्थानम्। ओकारस्य तु कण्ठोऽपि। ओ औ कण्ठोष्ठाविति वचनात्। तथापि यत् तयो स्तुल्यं स्थानं ओष्ठस्तत्कृत मान्तरतम्यं भवत्येव। यथा च तयोरेकस्य स्थानाधिक्येऽपि आन्तरतम्यं तथा बकार वकारयोरपि। गुणमात्रेणान्तरतमाः यथा जबडानां ञणनाः। सर्वेषां स्पृष्टतागुणत्वात्। स्थानत स्तेषामान्तरतम्यं नास्ति। जबडानां यथाक्रमं ताल्वोष्ठमूर्द्धस्थानत्वात्। ञणनानान्तु कण्ठमूर्धदन्तस्थानत्वात्। इतीत्यादि। इतिकरणो हेतौ। यत एवं स्थानगुणाभ्यां येऽन्तरतमास्त एवानेन विहिता अन्ये तु सर्वे निवर्त्तिताः तस्मात् स्थानमात्रेणान्तरतमो रेफस्य णकारो न भवति। स्थानमात्रेणान्तरतमत्वं चोभयो र्मूर्धस्थानत्वात्। गुणत स्त्वान्तरतम्यं नास्ति। स्पृष्टतादिगुणभेदाच्च। रेफस्य यरन्तर्भावे सतीति। यर्कार्य्यप्राप्तेरयं हेतुः। यर्कार्य्यं प्राप्तमिति द्विर्वचनमित्यर्थः। तद्धि यरन्त

भावाद् रेफस्य प्राप्नोति यथान्येषां यराम्। तदित्यादि। रेफस्य द्विर्वचनं प्रति निमित्तभावः साक्षाच्छिष्टः प्रत्यक्षविहितः। अचो रहाभ्यामिति (८।४।४६) साक्षाद् रेफं निमित्तत्वेनोपादाय द्विर्वचनविधानात्। यर्कार्यन्तु यरन्तर् भावादनुमितम्। प्रत्यक्षानुमितयोश्च प्रत्यक्षं बलीय इति साक्षाद् विहितेन निमित्तभावेन रेफस्य द्विर्वचनं बाध्यते। तद् यथा ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्। माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टामिति। अत्र हि साक्षाद्विहितेन परिवेषणम् प्रति साधनभावेन माठरकौण्डिन्ययो र्ब्राह्मणत्वाद् योऽनुमितो भोजनं प्रति साधनभावः स बाध्यते। यद्येवं दध्युदकादिषु दोषः। इको यणचीत्यत्र ह्यजन्तभावादिको यणादेशं प्रति निमित्तभावोऽनुमीयमानः। यणादेशस्तु साक्षाच्छिष्टः। इक इति साक्षादिकं कार्यिणमुपादाय विधानात्। ततश्च साक्षाच्छिष्टेन तेन निमित्तभाव इको बाध्यते। तत्र व्यक्तिः पदार्थस्याश्रित-त्वाददोषः। व्यक्तौ पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणं प्रवर्त्तत इत्युक्तम्। तत्र यदि यणादेशेन निमित्तभाव इको बाध्येत यद् दध्युदकादिविषयं लक्षणं तस्य वैयर्थ्यं स्यात्। तस्मान्मा भूदेष दोष इति लक्षणसामर्थ्यान्निमित्तभावो न बाध्यते। इह पुन र्जातिः पदार्थ आश्रितः। तत्र जातेरेकत्वादचो रहा भ्यामिति लक्षण मप्येकमेव। तच्चार्कः मर्क्कइत्यादौ चरितार्थम्। अतो यद्यपि मद्रह्रदादौ द्विर्वचनं न विदधाति तथापि न भवति वैयर्थ्यप्रसङ्ग इति न द्विरुच्यते। रेफ इति। इतिकरणेनानन्तरोक्तस्यार्थस्य द्विर्वचनाभावं प्रति हेतुभावो द्योत्यते। अनुस्वारस्येत्यादि। न केवलं यरोनुनासिकेऽ (८।४।४५) नुनासिको वेत्येतदन्तरतमं सकृदेव प्रवर्त्तमानं विदधाति अपित्वनुस्वारस्य ययि परसवर्ण (८।४।५८) इत्येतदपि इतरपि शब्दस्यार्थः। स्यादेतत्। यद्यप्यन्तरतमं विदधाति तथापि भवितव्यमेवात्र रेफेण परसवर्णेन। तस्याप्यन्तरतमत्वादित्यत आह नचेत्यादि। नच रेफस्य सवर्णोऽस्तीति सम्बन्धः। किंविशिष्टो नास्ति ? अनुस्वारान्तरतमः। अनुस्वारस्य सदृशतम इत्यर्थः। इति हेतोर्न भवति कुण्डं रथेनेत्यत्र परसवर्णः। कथं पुनरनुस्वारान्तरतमः। सवर्णो रेफस्य नास्ति ? उच्यते। रेफस्य रेफ एव सवर्णः। नान्यो वर्णः। स चानुस्वारस्यान्तरतमो न भवति। स्थानभेदाद् गुणभेदाच्च। रेफस्य हि मूर्धा स्थानम्। अनुस्वारस्य

पुनरनुस्वारयमा नासिक्या इति वचनाद् नासिका। गुणोऽपि रेफस्येषत्-स्पृष्टता। अनुस्वारस्य तु स नास्ति। अन्तःस्थानामेव ह्ययमसाधारणो गुण इष्यते। नान्येषाम्। यद्यपि वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तःस्था हकारानुस्वारौ च यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्चेति वाह्यप्रयत्नाख्येन गुणेन संवृतकण्ठत्वादिना अनुस्वारान्तरतमो रेफः सवर्णः सम्भवति तथापि न गुणमात्रेणान्तरतममेतल्लक्षणम् परसवर्णं विधातु मुत्सहते। यत्र स्थानतो गुणतश्चान्तरतमास्तत्रानुस्वारस्य परसवर्णाः सन्ति। शङ्कितः कुण्ठित इत्यत्र चरितार्थत्वात्। अत्र स्थानतोऽप्यनुस्वारस्य नासिकास्थानस्य ङणावन्तरतमौ। तयोरपि नासिकास्थानत्वात्। जमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्चेति वचनात्। गुणतोऽपि। तेषाम् पूर्वोक्तैरनुस्वारगुणैरनुगतत्वात्। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा इति वचनात्। अनेन हि वर्गाणां तृतीयचतुर्था इत्यादिना ग्रन्थेन येऽनुस्वारसाधारणा वर्गतृतीयानां गकारादीनां गुणा उक्ता स्ते ङकारादीनां निर्दिश्यन्ते। गुणमात्रेणाप्यन्तरतमं विदध्याद् रेफं यद्यसकृत् प्रवर्त्तेत तत्। माभूत् पुनः पुनः प्रवृत्ति रपार्थिकेति कृत्वा। न चासकृत् प्रवर्त्तेत इत्युक्तम्। उरः केणेत्यादि। उरः कायति। उरः पाति। कै गै शब्दे। पा रक्षणे। इत्याभ्यामातोऽनुपसर्गे कः (३।२।३)। आतो लोप इटि चेत्याकार (६।४।६४) लोपः। उपपदसमासः। सुब्लुक्। ससजुषो (८।२।६६) रुः। तस्य खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)। कुप्वोः ≍क≍पौ चेति (८।३।३७) यथायोगं विसर्जनीया वुपध्मानीयजिह्वामूलीयौ।

## ६। लण्।

अयं णकारो द्विर्बध्यते। पूर्वतश्चैवं परतश्चैवम्। तत्र णग्रहणेष्वण्-ग्रहणेषु च संदेहो भवति। किं पूर्वेण स्युः परेण वेति। अतस्तदपनयनार्थ-माह। इण्ग्रहणानीत्यादि। तत्र यथा सर्व्वाणीण्ग्रहणानि परेण णकारेण गृह्यन्ते तथा अइउण् इत्यत्र प्रतिपादितम्। अण्ग्रहणानि तु यानि परेणापि सम्भाव्यन्ते तानि पूर्वेण प्रतिपाद्यानि। कानि पुनस्तानि? ढ्लोपे

पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१११)। केऽणः (७।४।१३)। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५७)। उरण् रपरः (१।१।५१)। इत्येतेषु सूत्रेषु यान्यण्ग्रहणानि। तत्र पूर्वस्मिं स्तावत् सूत्रे इढादिषु वृढशब्द पाठो ज्ञापको न परेणाण्ग्रहण मिति। यदि हि परेण स्याद् वृढ इति रूपं न स्यात्। ततश्च इढादिषु वृढ इति पाठो नोपपद्यते। वृह उद्यम इत्यस्य निष्ठायां ढत्वधत्वढलोपेषु कृतेषु वृढ इति रूपं भवति। किञ्च दीर्घश्रुत्या तत्राचश्चेति (१।२।२८) सन्निधापिते सत्यच एव दीर्घत्वेन भवितव्यम्। तथाच यदि परेणान्तःपातिनामप्यचां दीर्घत्वमभिमतं स्याद् असन्देहार्थं मज्ग्रहणमेव कुर्य्यात्। अथवा तदपि न कुर्य्यात्। अचश्चेत्यस्मादेव (१।२।२८) सर्वाचां दीर्घत्वसिद्धेः। तस्मादण्ग्रहणसामर्थ्यात् पूर्वेणाण्ग्रहणं विज्ञायते। केऽण (७।४।१३) इत्यनेनापि के परतो हलामणामसम्भवादचामेव ह्रस्वो विधीयते। तत्र यदि सर्वेषामचां ह्रस्वत्वमभीष्टं स्याद् असन्देहार्थं मज्ग्रहण मेव कुर्य्यात्। अथवा तदपि न कुर्य्यात्। ह्रस्वग्रहणेनोपस्थापितादचश्चेत्यस्मादेवाभिलषितार्थसिद्धेः। तृतीयेनापि सूत्रेण पदान्तस्याणोऽनुनासिको विधीयते। नच पदान्ता हलोऽणः सन्तीत्यचामेवानुनासिको विधेयः। तत्र यदि सर्वेषामचामनुनासिको विधित्सितः स्याद् असन्देहार्थं मज्ग्रहणमेव कुर्य्यात्। अथवा तदपि न कुर्य्यात्। अचएव हि प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति। न हलः। तत्र नञिव युक्तन्यायेन प्रगृह्यप्रतिषेधात् तत्सदृशस्याच एव कार्य्यं विज्ञास्यते। तस्मात् तत्राप्यण्ग्रहणसामर्थ्यात् पूर्वेणैवाण्ग्रहणं प्रतीयते। उरण्रपर (१।१।५१) इत्यत्रापि होतृप्रशास्तॄणामिति (६।४।११) निर्देशो ज्ञापयति नेह परेणाण्ग्रहणमिति। परेणाण्ग्रहणे सति नामीति रपरो दीर्घः स्यात्। तथाच प्रशास्तॄणामिति निर्देशो न स्यात्। किञ्च नच रेफादन्य ऋकारस्य स्थाने हलोऽणः क्वचिच्छास्त्रे विधीयन्ते। तथाहीको यणचीति रेफः स्यात्। नच ऋकारस्य स्थाने कर्त्रर्थमित्यादौ रेफे रेफपरे अरेफपरे वा विहिते कश्चिद्विशेषः। कृते हि रपरे तत्रैकस्य रेफस्य रो रीति (८।३।१४) लोपेन भवितव्यम्। तस्मादेतदप्यण्ग्रहणं परेण णकारेण भवदजर्थमेव स्यात्। तत्र

यदि सर्वेषामचां स्थाने विधीयमानानां रपरत्व मिष्टं स्याद् असन्देहार्थमज्-ग्रहणमेव कुर्य्यात्। तदेवमेतदण्ग्रहणं पूर्वेणैव णकारेण भवतीति निश्ची-यते। अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय (१।१।६९) इत्येकमनेनेति। अत्र च उर्ऋदिति (७।४।७) ऋकारस्य तपरकरणं लिङ्गम्। तद्धि ऋकारेण सवर्णानां ग्रहणे सति अचीकृतदित्यत्र दीर्घस्य स्थानिन आन्तरतम्याद् दीर्घो मा भूदित्येवमर्थं क्रियते। यदि चाणुदिदित्यादौ पूर्वेण णकारेणाण्ग्रहणं स्यात् तदा ऋकारोऽनण्त्वात् सवर्णानां ग्राहको न स्यात्। ततश्च दीर्घस्यापि स्थानिनो यथाश्रुतेन ह्रस्वेनैव भवितव्यमिति तपरकरणं न कुर्य्यात्। व्यावर्त्त्या-भावात्। कृतञ्च। ततो गम्यते परेण णकारेणाण्ग्रहणमिति। ननु च सत्यपि परेण णकारेणाण्ग्रहणे उर् ऋदित्यत्र (७।४।७) नैव सवर्णानामृकारो ग्राहक उपपद्यते। भाव्यमानत्वात्। भाव्यमानेनाणा सवर्णानां ग्रहणं नेति प्रतिषेधात्। नैतदस्ति। वक्ष्यति हि तत्र नचायं भाव्यमानोऽण्। किं तर्हि? आदेशान्तरनिवृत्त्यर्थं स्वरूपमेवाभ्यनुज्ञायत इति। अचीकृतदित्यत्र कृत संशब्दने। चुरादिणिच्। लुङ्। च्लेः णिश्रीत्यादिना चङ् (३।१।४८)। उर्ऋदिति (७।४।७) ऋकारस्य ऋकारः। णिलोपः (६।४।५१)। चङीति (६।१।११) द्विर्वचनम्। उरदित्यत्त्वम् (७।४।६६)। हलादिः (७।४।६०) शेषः। सन्वल्लघुनी (७।४।९३) तीत्त्वम्। दीर्घो लघो (७।४।९४) रिति दीर्घत्वम्। अथ किमर्थमज्ग्रहणमेवैतन् न क्रियत इति? यत्र कृते सन्देह एव न भवतीति भावः। किं कारणम्? नैवं शक्यमित्यत आह अन्तःस्थानामपि ह्वीत्यादि। अन्तःस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः। सानु-नासिका निरनुनासिकाश्चेति वचनात्। यवलाः सानुनासिकनिरनुनासिक-भेदेन द्विप्रकाराः। ते प्रत्याहारेऽपि निरनुनासिका वा उपदिश्येरन् सानु-नासिका वा? यदि निरनुनासिकाः सयँय्यन्तेत्यादावनुस्वारस्य ययि पर सवर्णे (८।४।५८) इत्यान्तरतम्यात् सानुनासिकेषु यकारादिषु परसवर्णेषु कृतेषु तेषां प्रत्याहारे ऽनुपदेशाद् यलं नास्तीत्यनचि चेति (८।४।४७) यरो द्विर्वचनं विधीयमानं न स्यात्। अण्ग्रहणे तु सत्यण् सवर्णान् गृह्णातीत्येतेषामपि द्विर्वचनं सिध्यति। ननु च कृतेऽपि द्विर्वचने हलो

यमां यमि लोप (८।४।६४) इत्येकस्य लोपविधानात् त्रयाणां यकाराणां श्रवणं न सम्भवत्येव। तत् किं द्विर्वचनार्थेन प्रयत्नेन? नैतदस्ति। पाक्षिको हि स लोपः। झयो (८।४।६२) होऽन्यतरस्यामित्यन्यतरस्यां-ग्रहणानुवृत्तेः। तत्र यस्मिन् पक्षे लोपो नास्ति तत्र त्रयाणां श्रवणं भवत्येव। अथ सानुनासिका उपदिश्येरन् प्रत्याहारेऽनुस्वारस्य परसवर्णत्वं निरनुनासिके परतो न स्यात्। ययां मध्ये तेषामसन्निवेशात्। हकारा-दिष्वित्यादि। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। यत्रेच्छन्ति तत्रानुनासिक्यं प्रतिजानते। नान्यत्र। लकारे च तैरकारस्य तत् प्रतिज्ञायते। न हकारा-दिषु। इत्संज्ञक इति। उपदेशेऽजनासिक (१।३।२) इदितीत्संज्ञा विधानात् तेनेत्यादिना अनुनासिकप्रतिज्ञायाः फलं दर्शयति। ऋकार-लृकारयोः सवर्णसंज्ञोपसंख्यानादृकारो गृह्यमाणो लृकारमपि गृह्णाति। तत उरण् रपर इति। यथा ऋकारस्याण् शिष्यमाणो रपरो भवति एवं लृकारस्यापि भवल्ँ लपरश्चेष्यते। तस्मादनुनासिकः प्रतिज्ञायते। तेनादि-रन्त्येन (१।१।७१) सहेतेति उरण् रपर इत्यत्र (१।१।५१) र इति प्रत्याहारग्रहणं भवति। रेफात् प्रभृत्या लणो ऽकारात्। तस्मिंश्च सति ऋकारस्याण् रपरः भवति। लृकारस्य तु लपर इति। तत स्तवल्कार इत्याद्युपपन्नं भवति।

## ७। अमङणनम्।

तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिरिति। अथ सृजिदृशोर्झल्यमकिती (६।१।५८) त्यत्राप्यस्याकारेण ग्रहणं कस्मान्न भवति? साक्षाद्द्रष्टरीति (५ २।९१) निर्देशात्। प्रत्याहारे ह्येतस्मिन्नकाराद्यादेशविधानाद् द्रष्टृशब्दो न सिध्येत्। इह तर्हि भ्रस्जो (६।४ ४७) रोपधयो रमन्यतरस्यामिति रेफेण कस्मान्न भवति? अथ रमयमुपात्तो न त्वम् इत्येष कुतो निश्चयः? तुल्या हि संहिता। तत्र भवितव्यं सन्देहेन। किमयं रम्? आहो-स्विदमिति। व्याख्यानान्निश्चय इति चेत्? यदि तर्हि व्याख्यानस्य निश्चयहेतुत्वमभ्युपेयते तत एवात्र चान्यत्र च सर्वत्रैवंजातीयके संदेहविषये

निश्चयो भविष्यतीति किमन्यैरतिविस्तरग्रन्थकारिभिर्हेतुभिरुपन्यस्तैः प्रयोजनम्? यस्तु मन्यते ञमुञो रोपधयो रमिलत्र व्यवस्थितविभाषया प्रत्याहारस्य ग्रहणं न भविष्यतीति स इदं स्याद्वचनीयः। किमनेनान्यतरस्यां ग्रहणेन रम्ग्रहणं विकल्प्यते? अन्यतरस्यां रम् गृह्यत इति। अथ विधानमन्यतरस्यां रम् विधीयत इति? यदि रम्ग्रहणं ततो रेफस्यैवेदं स्वरूपेण मकारानुबन्धवतो ग्रहणम्। न प्रत्याहारस्येति लभ्यते। एतद्व्यवस्थितविभाषया रमागमस्तु विकल्पेन न स्यात्। अन्यतरस्यांग्रहणस्य रम्ग्रहणविकल्पे चरितार्थत्वात्। नहि द्वितीयमन्यतरस्यां ग्रहणमस्ति। येन विधानं विकल्प्येत। इतरत्र तु पक्षे सिध्यति प्राक्षिकं विधानम्। किं तु यत् तदभिमतं व्यवस्थितविभाषया रेफस्यैवेदं मकारानुबन्धवतः स्वरूपेण ग्रहणं न प्रत्याहारस्येति तन्नोपपद्यते। एकत्वादन्यतरस्यांग्रहणस्य। तस्य विधानविकल्पे नैवोपयुक्तत्वात्। किञ्च कुतश्चायमध्यवसायो व्यवस्थितविभाषेयमिति? व्याख्यानादिति चेत्? किमिदानीं पारम्पर्य्याश्रयणेन? व्याख्यानादेव नैवं प्रत्याहारग्रहणं भविष्यतीति यत् किञ्चिदेतत्। अकारेणापि प्रत्याहारग्रहणमस्य दृश्यत इति। यद्येवं किमर्थं त्रिभिरित्युक्तम्? अमन्ताड्ड (१) इत्यत्र प्रत्याहारस्य नावश्यं ग्रहणमिति दर्शयितुम्। अत्र हि अकारमकारस्वरूपोपादानेऽपि विना प्रत्याहारग्रहणेनान्यतोपि मकाराद्यन्ताड्डप्रत्ययः सिध्यत्येव। बहुलाधिकारविधानात्। (२) नन्वेवमपि चतुर्भिरित्येवं वक्तव्यम्। यमिर्ञमन्तेष्वित्यत्र (३) अकारेणाप्यस्य ग्रहणदर्शनात्। सत्यमेतद् यदि ग्रहणमात्रमभिप्रेत्यैतदुच्येत। नचेदं ग्रहणमात्रमभिसन्धायोक्तम्। किं तर्हि ग्रहणविशेषम्। सौत्रम्। न चेदं सौत्रं ग्रहणम्? किं तर्हि? आनिट्कारिकम्।

---

१। It is an औणादिक Rule. उणादि (१।११४)।

२। बहुलाधिकारविधानादिति। उणादयो बहुल (३।३।१) मित्यनेन।

३। This is quoted from one of the अनिट्कारिकाs composed by the Grammarian व्याघ्रभूति, viz :—

"यमि ञमन्तेष्वनिड्एक इष्यते रमिश्च यश्च श्यनि पठ्यते मनिः।
नमि चतुर्थो हनिरेव पञ्चमो गमिश्च षष्ठः प्रतिषेधवाचिनाम्"॥ १॥ इति।

केचिदित्यादि । यान्येतान्यनन्तरं प्रत्याहारग्रहणान्युक्तानि तानि झभञित्यत्र यो ञकारस्तेनैव भवन्त्वित्येवं विचिन्त्य केचिदाचार्या मकारस्य प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति । तत्र तु प्रत्याख्याने पुमः खय्यम्परे (८।३।६) इत्यादिषु सूत्रेषु मकारस्य स्थाने ञकारः कर्त्तव्य इति तेषामभिप्रायः । तथाच सतीत्यादिना मकारानुबन्धप्रत्याख्याने दोषं दर्शयति । ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यमिति (८।३।३२) हि पाठे झभोरपि प्रत्याहारेऽन्तर्भावाज् झभावप्यागमिनौ स्याताम् इत्येतच्चोद्यम् आपतति । तयोः झभोः पदान्तयोरभावान्न भविष्यत इति परिहारो वाच्यः । तस्मिन्नुक्ते ननु च लभेरुब्जेश्च क्विपि विहित आगमिनावुभौ स्त एव पदान्ताविति पुनश्चोद्यम् । तस्मिञ् झलाञ्जशोन्ते (८।२।३९) इति बकारजकारयोः कृतयोः कुतस्ताविति पुनः परिहारः । ननु चागमिनोर्झभोरभावाद् वैषम्यं स्यात् । तथाहि ङणनास्त्रय आगमिनः । आगमास्तु ङणनझभाः पञ्च । ततश्च संख्यावैषम्यान्नैषां यथासंख्यमिति (१।३।१०) संख्यातानुदेशः स्यादिति पुनश्चोद्यम् । नैष दोषः । सूत्रे यावन्त आगमा आगमिनोऽपि तावन्त एव पठ्यन्ते । तत्र लक्ष्यमनपेक्ष्य ङकारादीनामिव यथासंख्यमागमा भवन्तीति सूत्रार्थे विहित उत्तरकालं यथासम्भवं कार्य्यप्रतिपत्तिर्भविष्यतीति । येषां तावद् आगमानामागमिनः सन्ति तेषां यथासंख्यं भविष्यन्ति । झकारभकारौ तु पदान्तावागमिनौ न स्त इति कृत्वा आगमावपि न भविष्यत इति पुनः परिहारो वाच्यः । एवमनेकचोद्यपरिहारेणागमिनो झभोरभावाद् हेतोरागमाभावप्रतिपत्तौ साध्यायां महाप्रतिपत्तिगौरवं भवेत् । तस्मादयुक्तं मकार प्रत्याख्यानमिति भावः ।

८ । झभञ् ।

९ । घढधष् ।

१० । जबगडदश् ।

११ । खफछठथचटतव् ।

ननु च च्छकारेणैवास्य ग्रहणम् । नच खफौ तदन्तर्भूतौ । तत् किमर्थं

तयोरिह ग्रहणम्? इत्याह खफग्रहणमित्यादि। उत्तरेषु प्रत्याहारेष्व-नयोरप्यन्तर्भावो यथा स्यादित्येवमर्थं तयोर्ग्रहणमित्यर्थः।

१२। कपय्।

१३। शषसर्।

१४। हल्।

इहान्येषां वर्णानां सकृदुपदेशः। हकारस्तु द्विरुपदिश्यते। तस्य द्विरुपदेशे प्रयोजनं जिज्ञासुराह अथ किमर्थमित्यादि। स्निह्लिवेति। ष्णिह प्रीतौ। आदेः ष्णः स्नः (६।१।६४)। समानकर्त्तृकयोः पूर्व्वकाल इति (३.४.२१) क्त्वा। इट्। अलिक्षदिति। लिह आस्वादने। लुङ्। हो ढः (८।२।३१)। षढोः कः सीति (८।२।४१) कत्वं। आदेशप्रत्यययोरिति (८.३ ५९) षत्वम्। रुदिहि स्वपिहीति। रुदिस्वपिभ्यां विध्यादिलोट्। सेर्ह्यपिच्च (३ ४.८७)। अदादित्वाच्छपो लुक्। रुदादिभ्यः सार्वधातुक (७।२।७६) इतीट्। अदाग्धामिति। दह भस्मीकरणे। लुङ्। तस्य च्लिः। तस्थस्थमिपामि-त्यादिना (३।४.१०१) तसस्ताम्। चेः (३।१ ४४) सिच्। वदव्रजेति वृद्धिः (७।२।३)। दादेर्धातोर्घः (८।२।३२)। झलो झलीति सिचो लोपः (८।२।२६)। झषस्तथोर्धोऽध इति (८।२ ४०) तकारस्य धत्वम्। झलाञ्जश् झशीति (८.४।५३) घकारस्य गकारः। तत्र यदि रल्ग्रहणे शल्ग्रहणे वल्ग्रहणे च हकारस्य ग्रहणं न स्यात् किक्क्वेड्विधयो न स्युः। यदि झल्ग्रहणेन हकारस्य ग्रहणं न स्यात् ततो घत्वस्याप्यसिद्ध-त्वाद् घकाराद् अझलः परः सिजिति तस्य झलो झलीति (८।२।२६) लोपो न स्यात्। तस्माच् शल्झल्ग्रहणेषु चास्य ग्रहणं यथा स्यादित्युप-दिष्टस्यापि पुनरुपदेशः। यद्येतानि प्रयोजनानि परोपदेश एवास्तु। तेनैव ह्येतानि सिध्यन्ति। पूर्वोपदेशस्तु न कर्त्तव्य इत्यभिप्रायेणाह हयवरडित्यत्र तर्हीत्यादि। अड्ग्रहणेष्वित्यादि। यदि पूर्वत्र नोपदिश्येत अड्ग्रहणेन चाश्ग्रहणेन चाग्रहणान् महाँ हि स इत्यत्र रुत्वानुनासिकत्वयत्व यलोपा न स्युः। महच्छब्दात् सुः। उगिदचामिति नुम् (७।१.७०)।

सान्तमहतः ( ६।४।१० ) संयोगस्येति दीर्घः । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ( ६।१।६८ ) संयोगान्तस्य लोपः ( ८।२।२३ ) । महान् हि इति स्थिते हकारे परत स्तस्याश्ग्रहणेन ग्रहणाद् दीर्घादटि समानपादे ( ८।३।९ ) इति रुत्वम् । आतोऽटि ( ८।३।३ ) नित्यमिति पूर्वस्यानुनासिकः । अश्ग्रहणेन ग्रहणाद् भो भगो अघो इत्यादिना ( ८।३।१७ ) रेफस्य यत्वम् । अशीति वर्त्तमाने हलि सर्वेषामिति ( ८।३।२२ ) यलोपः । हशि चेत्यादि । इदमपरं पूर्वोपदेशस्य प्रयोजनम् । असति हि तस्मिन् ब्राह्मणो हसतीत्यत्र हकारस्य हश्ग्रहणेनाग्रहणात् तस्मिंस्त्वसति परतो रो रुत्वं न स्यात् । ब्राह्मणशब्दात् सुः । तस्य ससजुषो रुः ( ८।२।६६ ) । हशि चेत्युत्त्वम् ( ६।१।११४ ) आद्गुणः ( ६।१।८७ ) । एकस्मादित्यादि । परे ग्राह्या इति शेषः । स्युरिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । एकस्मादिति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । एकस्माद्वर्णात् परे ङकारादयो ग्राह्या भवेयुरित्यर्थः । अथवा एकस्मादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । प्रासादमारुह्य प्रेक्षते प्रासादात् प्रेक्षत इति यथा तथा प्रदेशवाक्येष्वेकं वर्णमुच्चार्य परिगृह्य वा ङकारादयो ग्राह्या भवेयुरित्यर्थः । स पुनरेको वर्णः । एओङ् । झभञ् । अइउण् । खफछठथचटतव् । ह य व रङित्यत्र येन सह ङकारादीनां ग्रहणमुक्तं स एव वेदितव्यः । द्वाभ्यां ष इत्यत्र परे ग्राह्या इति यदध्याहृतं यच्च स्युरिति क्रियापदं तदर्थादेकवचनतया विपरिणमति । द्वाभ्यां परौ द्वौ वा उच्चार्य षकारो ग्राह्यो भवेदित्यर्थः । एवमुत्तरत्राप्यर्थो वेदितव्यः । कौ पुनर्द्वौ ? झभञ् । घढधषित्यत्र याभ्यां षकारस्य ग्रहणमुक्तं तावेव । त्रिभ्य एव कणमाः स्युरिति । ते पुन स्त्रयः । ऋऌक् । लण् । अमङणनमित्यत्र यैः ककारादीनां ग्रहणमाख्यातं तएव । ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्य इति । ते पुनश्चत्वारः । ऐऔच् । कपयित्यत्र चयोर्यैश्चकारयकारयो र्ग्रहणमभिमतं त एव । रः पञ्चभ्य इति । ते पुनः पञ्च । शषसरित्यत्र यै रेफस्य ग्रहणं प्रतिपादितम् तएव । शलौ षड्भ्य इति । ते पुनः षट् । जबगडदश् । हलित्यत्र यैः शकारलकारयोर्ग्रहणमुक्तं ते वेदितव्या इति ।

इति प्रत्याहारसूत्राणि ।

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

## प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १।१ ॥

### १ । वृद्धिरादैच् ।

वृद्धिः आत् ऐजिति केचित् त्रिपदमिदं सूत्रं वर्णयन्ति । अन्ये त्वाच ऐचेति आदैजिति समाहारे द्वन्द्वोऽयमिति मत्वा वृद्धिः आदैजिति द्विपदम् । इतरेतरयोगे हि बहुत्वाद् द्वन्द्वे बहुवचनं स्यात् । ननु च समाहारेऽपि द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहार (५।४।१०६) इति टच् समासान्तः स्यात् । समासान्तविधेरनित्यत्वान्न भविष्यति । अनित्यत्वं षष्ठे ज्ञापयिष्यते । अथ चोः (८।२।३०) कुरिति कुत्वं कस्मान्न भवति ? अयस्मयादीनि च्छन्दसीति (१।४।२०) भसंज्ञकत्वात् । आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वादैच्छब्दोऽयमयस्मयादिषु द्रष्टव्यः । ननु तत्र च्छन्दसीत्युच्यते । नचेद च्छन्दः । तत् कुतो भसंज्ञा ? छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीत्यदोषः । इहेदं सूत्र मनर्थकं वा स्याद् यथाकथञ्चिदुदात्तादिवचनवत् ? साध्वनुशासनार्थं वा ? वृद्धिशब्दस्यादैचाञ्चानेन साधुत्वमाख्यायत इति । प्रयोगनियमार्थं वा ? आदैच्पर एव वृद्धिशब्दः प्रयोक्तव्य इति । आदेशार्थं वा ? आदैचां वृद्धिशब्द आदेशो भवति । ते वा तस्येति । आगमागमिसम्बन्धार्थं वा ? आदैचां वृद्धिशब्द आदेशो भवति । ते वा तस्येति । विशेषणविशेष्यभावप्रसिद्ध्यर्थं वा ? आदैचां वृद्धिशब्दो विशेषणम् । ते वा तस्येति । एकविभक्तिकत्वं ह्यत्र दृष्टम् । दृष्टश्चैकविभक्तिकयो विशेषणविशेष्यभावः । तद्यथा नीलमुत्पलमिति । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थं वा ? दृश्यते हि । सोऽप्येकविभक्तिकयोः । तद्यथा अयं पनस इति । तत्र तावदाद्यः पक्षो नोपपद्यते । समधिगतज्ञानातिशयो ह्याचार्यः परहितप्रतिपन्नः समाहितचेताः शिष्याणां कृतरक्षासंविधानो मङ्गलपूर्वकं महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणीतवान् । तत्राशक्यमेकेन वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् । किं पुनरियता सूत्रप्रबन्धेन ? नापि शक्यं वृद्धिशब्दस्यादैचाञ्च साधुत्वमनेन विधीयत इति विज्ञातुम् ।

लक्षणान्तरेण विहितत्वात् तेषां साधुत्वस्य । तथाहि वृद्धिशब्दोऽयमविशेषेण चोपदिष्टः । वृधु वृद्धावित्यतः क्तिन्प्रत्ययः । स्त्रियां क्तिन्निति (३।३।९४)। झषस्तथोर्धोऽध (८।२।४०) इति धत्वम् । झलां जश् झशीति (८।४।५३) धकारस्य दकारः । आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपदेशात् । ऐचोऽक्षरसमाम्नाय उपदेशः । नाकारस्येति चेत् ? अवर्णजातेरुपदेशात् सोपि गृह्यत इत्यदोषः । अथाप्यकारव्यक्तेरुपदेशः ? एवमप्यदोषः । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय (१।१।६९) इत्यकारेण गृह्यमाणेनाकारस्यापि ग्रहणात् । प्रयोगनियमार्थमप्येतन्नार्हति भवितुम् । प्रयोगनियमार्थे ह्येतस्मिन् सिचि वृद्धिर्मृजेर्वृद्धिरित्यादा वनादैच्परस्य वृद्धिशब्दस्य प्रयोगो नोपपद्यते । कथं हि नाम स्वयमेव नियमं कृत्वा तमनादैच्परं प्रयुञ्जीत ? अन्यस्तु प्रयोगनियमार्थमितन्न भवतीति प्रतिपादयितुमाह नेह च प्रयोगनियमार्थमारभ्यत इति । ननु चाय म्प्रयोगनियमार्थ मेवारभ्यते ते प्राग् धातोरिति ( १।४।८० ) । ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्या इति परेण चोदिते परिहारमाह प्रत्याख्यायते स योगो न वा । तथानिष्टादर्शनादिति । नहि प्रपचतीति प्रयोक्तव्ये कश्चित् पचति प्रेति प्रयुङ्क्ते । अथापि न प्रत्याख्यायेत ? एवमपि न दोषः । यतः संज्ञानियमोऽयं न प्रयोगनियमः । ते प्रादयो धातोः प्राक् प्रयुज्यमाना एव गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्तीति । अथापि प्रयोगनियमार्थं स्यादेवमपि न दोषः । लौकिकानां शब्दानामर्थे प्रयुक्तानां प्रयोगनियम आरभ्यते । आदैच्छब्दश्च लौकिकः । तस्य किं प्रयोगनियमार्थेन वचनेनेति ? तत्र यदुक्तं प्रत्याख्यायते स योग इति तदयुक्तम् । नहि सार्थकस्य प्रत्याख्यानं युक्तम् । निरर्थकः स इति चेद् ? अत्राप्यनर्थकत्वाशङ्काप्रसङ्गः । यदि ह्यनर्थकान्यपि कानिचित् सूत्राणि प्रणीतवान् सूत्रकार इतीत्रषो ऽध्यवसायः स्याद् भवितव्यमत्राप्यनर्थकत्वाशङ्कया । ततश्च संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थ मेतन्नतु निरर्थकमित्येव नियमो न स्यात् । तस्मात् तस्य प्रामाण्य मभ्युपगच्छता सर्वं तत्प्रणीतं येन केनचित् प्रकारेण सार्थक मभ्युपेयम् । योऽपि संज्ञानियमपक्ष माश्रित्य परिहार उक्तः सोऽपि वृत्त्या विरुध्यते । ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्राक् प्रयोक्तव्या इत्यनेन हि वृत्ति-

ग्रन्थेन प्रयोगनियम एवाश्रित इति स्पष्ट मेवाख्यातम् । नच वृत्तिं व्याख्यातुमुद्यतस्य तद्विरुद्धं व्याख्यानं युज्यते कर्त्तुम् । यदप्युक्तं लौकिकानां शब्दानामितत्रादि तदपि न प्रयोगनियमार्थताशङ्कापनोदायालम् । तथाहि विभाषा सुपो बहुच् ( ५।३।६१ ) पुरस्तात् तु । अव्ययसर्वनाम्नामकच् ( ५।३।७१ ) प्राक् टेः । कृञ्चानुप्रयुज्यते ( ३।१।४० ) लिटीतत्रलौकिकानामपि बहुजादीनां शास्त्रे प्रयोगनियमो दृश्यते । तेन भवितव्यमेवाशङ्कया किमेतत् प्रयोगनियमार्थं मथान्यार्थं मित्यलमतिप्रसङ्गेन । तस्मात् पूर्व्वोक्त एव परीहारो युक्तः । आदेशार्थमप्येतच् शक्यते न विज्ञातुम् । यदि ह्यादैचामनेन वृद्धिशब्द आदेशो विधीयेत य एते निर्देशा याति वाति द्राति प्सातीति (८।४।१७) यश्च रायो ( ७।२।८५ ) हलीति यश्च नावो ( ५।४।९९ ) द्विगोरिति ते नोपपद्येरन् । अथ वृद्धिशब्दस्यादेज् आदिश्येरन्नेवमपीद्वृद्धौ ( ३।३ २८ ) वृद्धिनिमित्तस्य ( ६।३।३९ ) च तद्धितस्येत्येवमादयो निर्देशा न सम्भवेयुः । अतएवागमार्थं मप्येतन्नोपपद्यते । नह्यादैचां वृद्धिशब्द आगमे विहिते तस्य वा तेषु पूर्व्वोक्ता निर्देशा उपपद्यन्ते । अन्यस्त्वाह आदेशविधाने स्थान्यादेशसम्बन्धे षष्ठ्या भवितव्यम् । आगमविधाने ऽप्यवयवावयविसम्बन्धे । न चेह षष्ठी विद्यते । तस्मात् षष्ठ्या अभावान्नेदमादेशार्थं नाप्यागमार्थमिति । एतच्चासम्यक् । विनापि षष्ठ्या हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् ( ६।१।६८ ) सुतिस्यपृक्तं हल् । अनितेः ( ८।४।१९ ) । अन्तः ( ८।४।२० ) । उभौ साभ्यासे ( ८।४।२१ ) त्यादेशविधानदर्शनात् । आगमविधानस्यापि न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ( ७।३।३) ताभ्यामैजिति षष्ठीमन्तरेणापि दर्शनात् । विशेषणविशेष्यभावप्रसिद्ध्यर्थमप्येतन्न सम्भाव्यते । तथाहि सम्भवव्यभिचारे च सति विशेषणविशेष्यभावो भवति । नीलोत्पलवत् । न चेहादैचां वृद्धिशब्दे तस्य वा तेषु सम्भवः । ननु च यथोत्पलशब्दः सर्वत्रोत्पलार्थे वर्त्तमानो नीलशब्देनार्थान्तराद्व्यवच्छिद्यत इति व्यवच्छिद्यमानो विशेष्यो भवति नीलशब्दस्तु व्यवच्छिन्दन् विशेषणं तथानयोरपि यो व्यवच्छेद्यः स विशेष्यो भवति यस्तु व्यवच्छेदकः स विशेषणमिति । नैतदस्ति । उभयोर्हि सार्थकत्वे सत्येतदुपपद्यते । नीलोत्पलशब्दवत् । नचादैचोऽर्थवन्तः । भवतु नामानयो

विशेषणविशेष्यभावः। तथापि नैतत्सिद्ध्यर्थमिदं युक्तम्। निष्प्रयोजनत्वात्। तत् पुनः प्रकृतानुपयोगित्वात्। शब्दानुशासने हि शास्त्रे प्रकृते यन्नाम शब्दसंस्कारानुपयोगिवचनं तत्सर्वमप्रयोजनम्। शब्दसंस्कारानुपयोगित्वं त्वेतत्प्रतिपादितेन विशेषणविशेष्यभावेन वृद्धिशब्दस्यादैचां वा रूपविशेषस्य वा स्वरविशेषस्य वा संस्कारस्यासिद्धेः। विशेषणविशेष्यभाव एव तेषां संस्कार इति चेद् यद्येवं मत्वर्थमिद मुच्यते वृद्धिरादैजिति। नीलोत्पल मित्याद्यपि हि वक्तव्यं नीलोत्पलादिशब्दानां विशेषणविशेष्यभावप्रसिद्धये। नचोक्तम्। अतो नैष संस्कारोऽभिमत इति नास्य तादर्थ्यं सम्भाव्यते। ननु तुल्यविभक्तिकानां तद्गुणसमाध्यारोपोऽपि दृष्टः। तद्यथा सिंहो माणवक इति। तस्मात् तदर्थमेतद् भविष्यतीति यत्पक्षान्तरमेके परिकल्पयाम्बभूवुस्तदर्थमप्येतन्न भवति। तद्गुणसमाध्यारोपस्य सतोऽप्यत्र प्रकृतानुपयोगित्वे नानर्थकत्वात्। तस्मात् पारिशेष्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थमेवैतदित्यालोच्याह वृद्धिशब्दः संज्ञात्वेनेत्यादि। भवतु नाम पारिशेष्यात् तदर्थम्। एतत् कुतो लभ्यते ? वृद्धिशब्दः संज्ञा। आदैचः संज्ञिन इति। विपर्य्ययः कस्मान्न भवति ? आदैचः संज्ञा वृद्धिशब्दः संज्ञीति। नार्हति विपर्य्ययो भवितुम्। तथाहि लघ्वर्थत्वात् संज्ञाकरणस्य यस्मिन्नुच्चार्य्यमाणे प्रदेशेषु लाघवं भवति तस्य संज्ञार्थत्वेन भाव्यम्। वृद्धिशब्दे च सविभक्तिकेऽप्युच्चार्य्यमाणे लाघवं भवति। नादैच्षु। यस्माद् वृद्धिशब्द उच्चार्य्यमाणे चतस्रो मात्रा भवन्ति। आदैच्षु तु पञ्च। नचादैचां प्रत्येकं संज्ञाभावाल्लाघवं भवतीति शक्यं परिकल्पयितुम्। प्रयोजनविशेष मन्तरेणैकस्यानेकसंज्ञाविधानस्य निष्फलत्वात्। 'क्रियावर्त्तिन्यः संज्ञा भवन्ति। वृद्धिशब्दस्यावर्त्तते। नादैच्छब्दः। तस्मान्न भवति विपर्य्ययः। वृद्धिशब्द इति शब्दग्रहणमर्थव्यवच्छेदार्थम्। असति हि तस्मिन्, शब्दादर्थावगते रर्थस्यैव संज्ञात्वं विज्ञायेत। यद्यपि प्रागेव संज्ञा विहिता तथापि शिष्यप्रशिष्यप्रबन्धाव्युपरमाद् विधीयत इति वर्त्तमानप्रत्ययेन निर्देशः। यत्र समुदायस्य कार्य्यमिच्छति तत्रोभेपदग्रहणं करोति। यथा उभे अभ्यस्तमिति। अन्वर्थां वा महतीं संज्ञां हलोनन्तराः संयोग इति। तत्र हि महती संज्ञैव-

मर्था क्रियते समुदायस्यैषा संज्ञा यथा स्यादिति। एतच्चोत्तरत्र व्यक्तीकरिष्यामः। इह तु न किञ्चित् तथाविधं वचनमस्ति यतः समुदायस्यैषा संज्ञा स्यात्। तस्मादेकैकस्यैषा संज्ञेति मनसि कृत्वाह प्रत्येकमिति। ननु चेहापि लाघवार्थ मेकाचरायां संज्ञायां कर्त्तव्यायां वृद्धिरिति महत्याः संज्ञायाः करणं समुदायस्य संज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थम्। नैतदस्ति। मङ्गलार्थत्वादस्याः संज्ञायाः। अतएवास्याः प्रागुच्चारणम्। अन्यथा संज्ञायाः सतः कार्य्यिणः कार्य्येण भवितव्यमिति यथादेङ्गुण इत्यादौ पूर्वं संज्ञी निर्दिष्ट स्तथेहापि निर्दिशेत्। आकारस्य गुणान्तरयुक्तयो रैचोः प्रत्याहारे ऽसन्निवेशान्नामी वर्णा इति कस्यचिन् मन्दधियो भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तन्निराकरणायाह वर्णानामित्यादि। प्रत्यासत्ते स्तद्भावितानामेवैषां संज्ञा स्यादिति कस्यचिद् विपर्य्ययः स्यादतस्तमपाकर्त्तुमाह सामान्येनेति। व्याप्तेन्र्यायादित्यभिप्रायः। सामान्येनेत्यस्यार्थं विस्पष्टीकर्त्तुं माह तद्भावितानामित्यादि। ते तद्भाविता ये वृद्धिशब्देनोत्पादिताः। ततोऽन्येऽतद्भाविताः। आदिति तपरकरणम्। तपरस्तत्कालस्येति गुणान्तरभिन्नानामपि तुल्यकालानां ग्रहणार्थं वा स्याद् भिन्नकालानां ग्रहणनिवृत्त्यर्थं वा? तत्र पूर्वः पक्ष स्तावन्नोपपद्यते। अभेदकत्वादिहोदात्तादीनां शास्त्रे गुणानाम्। कुत एतत्? लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व (६।४।७१) ङुदात्त इत्युदात्तग्रहणात्। अन्यथा ह्युदात्तगुणयुक्त मेवाटमुच्चारयेत्। द्वितीयोपि नोपपद्यते। यदि ह्याकारः सवर्णानां ग्राहकः स्यात् ततस्तेन भिन्नकालस्याप्यवर्णस्य ग्रहणे सति तस्यापि संज्ञा मा भूदिति भिन्नकालानां ग्रहणनिवृत्त्यर्थं तपरकरणमुपपद्यते। नचासौ सवर्णानां ग्राहकः। अनण्त्वात्। तत् पुनरक्षरसमाम्नाये ऽसन्निवेशात्। तस्मादनर्थकं तपरकरणम्। ततो न कर्त्तव्यमेवेत्यत आह तपरकरण मित्यादि। एचोरर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथोक्तम्। ननु च जातौ पदार्थे प्लुतस्यापि ग्रहणं भवति। तत्राप्यवर्णजातेः समवायात्। तत्रासति तपरकरणे तस्यापि संज्ञा स्यात्। तस्मात् तन्निवृत्तये तपरकरणं भवदाकारार्थ मप्युपपद्यत एव। तत् किमुच्यत एजर्थमिति? एवं मन्यते। जातिपक्षसमाश्रयणेऽपि हि दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् द्विमात्रा

एवावर्णव्यञ्जनयः समाश्रिता इति गम्यते । इतरथा हि लाघवार्थं मदित्ये-वाभिदध्यात् । नच ह्रस्वनिवृत्त्यर्थं दीर्घोच्चारणमिति शक्यते परिकल्पयितुम् । दीर्घोच्चारणेऽपि ह्रस्वग्रहणं प्राप्नोत्येव । तत्राप्यवर्णजातेः सम्भवादिति । न चासन्देहार्थं मादित्युक्तम् । वर्णान्तरासाधारणत्वात् । असंहितया वा सन्देहाभावादिति । ननु च तपरस्तत्कालस्येत्यत्र तः परो यस्मादिति बहुव्रीहि राश्रितः । नचात्रैच् तपरः । तत् कथं तपरकरण मैजर्थं भवती-त्यत आह । तादपि पर स्तपर इति । न केवलं तः परो यस्मात् स तपर इत्यपितु तादपि यः परः सोऽपि तपर इत्यपिशब्देन दर्शयति । एतदुक्तं भवति । न केवलं बहुव्रीहिरेव तत्राश्रीयते । किं तर्हि ? पञ्चमी-तत्पुरुषोऽपि । यथा चैतदुभय माश्रीयते तथा तत्रैवोपपादयिष्यामः । इति करणो हेतौ । यत एवं तादपि परस्तपर स्तेन तपरकरण मैजर्थमित्यर्थः । खट्वैडकादिष्वित्यादिना तदेवैजर्थत्वं तपरकरणस्य स्पष्टीकरोति । वृद्ध एलका वृद्धैलका । अक्रियमाणे ह्यत्र तपरकरणे त्रिमात्रिकस्याप्याकारैकारसमुदायस्य स्थाने वृद्धिरेचीति (६।१।८८) वृद्धिरान्तरतम्यात् त्रिमात्रिक एवैकारः स्याद् यदि तस्यापि वृद्धिसंज्ञा स्यात् । खट्वा ओदनं खट्वौदनम् । खट्वा एलका खट्वै-लकेत्यत्रापि पूर्वोत्तरसमुदाययोश्चतुर्मात्रयो श्चतुर्मात्रावेकारैकारौ स्याताम् । तन्माभूदेष दोष इति त्रिमात्रचतुर्मात्राणामैचां वृद्धिसंज्ञानिवृत्तये तपरकरणं क्रियते । आश्वलायनः । ऐतिकायन इति । अश्वलेतिकशब्दाभ्यां नड़ादिभ्यः फक् ( ४।१।९९ ) । यस्येति चेति लोपः ( ६।४।१४८ ) । किति (७।२।११८) चेत्यादि वृद्धिः । औपगव इति । उपगुशब्दात् प्राग्दीव्यतोऽण् ( ४।१।८३ ) । औपमन्यव इति । उपमन्युशब्दादनृष्यानन्तर्ये ( ४।१।१०४ ) विदादिभ्यो ञिलन् । ओर्गुणः ( ६।४।१४६ ) । अवदिशः (६।१।७८) । तद्धितेष्वचा ( ७।२।११७ ) मादेरिति वृद्धिः । एतानि चत्वार्यपि तद्भावितोदाहरणानि । ननु येऽत्र त्रयः संज्ञिन स्तेषा माद्यैस्त्रिभिर्विषयो दर्शितः । किमर्थश्चतुर्थो-पन्यासः ? केचिदाहुः वृद्धिनिमित्तभेदात् । आद्ययोरुदाहरणयोः कित् तद्धितो वृद्धे र्निमित्तम् । तृतीयेऽपि णित् । चतुर्थेऽपि ञिदिति । एतच्चा-युक्तम् । तथाह्यीको गुणवृद्धी (१।१।३) इत्यत्राकार्षीदित्यदाह्त्याहार्षीदित्य-

दाहृतम्। नच तत्र वृद्धिनिमित्तभेदोऽस्ति। तथा न धातुलोप (१।१।४) आर्धधातुक इत्यत्र लोलुव इत्युदाहृत्य पोपुवः मरीमृज इत्यधिकोदाहरणोपन्यासः कृतः। नच तत्र लोपनिमित्तभेदः प्रतिषेधनिमित्तभेदो वाधिकोदाहरणोपन्यासस्य हेतुर्विद्यते। प्रायेणान्येष्वपि च सामान्यलक्षणेषु विनापि निमित्तभेदेनाधिकोदाहरणोपन्यास उपलभ्यते। योऽप्याह औपगव इत्यनेनैव औकारस्य विषये दर्शितेऽपि स्वरभेदादौपमन्यव इत्येतदधिक मुदाहरण मुपन्यस्त मिति तस्यापि तदयुक्त मतएवानन्तरोक्ताद्धेतोर्वेदितव्यम्। यदि निमित्तभेदः स्वरभेदो वाधिकोदाहरणस्योपन्यासस्य हेतुः स्यादाकारैकारयो रधिक मुपन्यस्तं स्यात्। प्रचुरविषयसूचनार्थस्तु लक्षणस्य सर्वत्राधिकोदाहरणोपन्यासो वेदितव्यः। शालीयो मालीय इति। अतद्भावितस्योदाहरणे। अत्र हि वृद्धिसंज्ञायां वृद्धिर्यस्याचामादि (१।१।७६) स्तद्वृद्धमिति वृद्धसंज्ञा फलं छप्रत्ययोपन्यासस्तस्या एव फलभूताया अभिव्यक्त्यर्थः। वृद्धसंज्ञायां हि सत्यां वृद्धाच्छ (४।२।११४) इति जातादावर्थे च्छो विधीयते। ऐकारौकारयोस्त्वतद्भावितयोरुदाहरणं नात्र दर्शितम्। एतदनुसारेणैव गम्यमानत्वात्। आकारस्यातद्भावितस्य वृद्धिसंज्ञायाः कार्य्ये दर्शिते तयोरपि तदेव कार्य्यमिति तन्मुखेनैव गम्यत एव। किं पुनस्तयोरुदाहरणे? रैमयम्। नौमयमिति। अत्रैकारौकारयोर्वृद्धिसंज्ञायां सत्यां पूर्ववद्वृद्धसंज्ञा। तस्याञ्च सत्यां रायो विकारः। नावो विकार इति नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति (४।३।१४४) मयड् भवति।

## २। अदेङ्गुणः।

तपरकरणं त्विह सर्वार्थमिति। सर्वस्मिन्नर्थः प्रयोजनं यस्य तत्,तथोक्तम्। तुशब्दः पूर्वस्माद् विशेषं दर्शयति। तत्र ह्यैजर्थमेव। इह तु सर्वार्थम्। अकारार्थमेङर्थमपि। असति हि तपरकरणे अदेङामण्त्वात् सवर्णानां ग्रहणे सति भिन्नकालानामप्येषा संज्ञा स्यात्। ततश्च तरितेत्यत्रान्तरतम्याद्दीर्घस्य दीर्घ एव गुणः स्यात्। ननु च वृद्धिसंज्ञा गुणसंज्ञाया बाधिका भविष्यति। तत्

कुतोऽयं प्रसङ्गः ? नैतदस्ति । एकसंज्ञाधिकारेहि संज्ञया संज्ञान्तरं बाध्यते । नचात्रैकसंज्ञाधिकारः । स्यादेतत् । असत्यप्येकसंज्ञाधिकारे यथा जीवति तु वंश्ये ( ४।१।१६२ ) युवेति गोत्रसंज्ञा युवसंज्ञया बाध्यते । यथा च लिट् च । ( ३।४ ११५ ) लिङाशिषीति ( ३।४।११६ ) चार्धधातुकसंज्ञया सार्वधातुकसंज्ञा बाध्यते तथा गुणसंज्ञा वृद्धिसंज्ञया बाधिष्यते इति ? अयुक्त मेतत् । युवसंज्ञाविधौ तुग्रहणं नियमार्थं क्रियते । ततो युक्तं यद् युवसंज्ञया गोत्रसंज्ञा बाध्यत इति । आर्धधातुकसंज्ञयापि यत् सार्व्वधातुक-संज्ञा बाध्यते तदपि युक्तमेव । छन्दस्युभयथेति ( ३।४।११७ ) वचनात् । यदि सार्वधातुकार्धधातुकसंज्ञयोः समावेशः स्यान् न बाध्यबाधकभावस्तदा छन्दस्युभयथेति वचन मपार्थकं स्यात् । इह तु न किञ्चित् तथाविधं निबन्धन मस्ति यतो वृद्धसंज्ञया गुणसंज्ञा बाध्यते । अथापि कथञ्चिद् बाध्येत एवमपि त्रिमात्रिकस्यापि गुणसंज्ञा स्यादेव । नहि सा तया शक्या बाधितुम् । तस्या अतद्विषयत्वात् । त्रिमात्रस्यापि गुणसंज्ञायां सत्यां त्रिमात्रोऽपि गुणः प्रसज्येत । ऋकारस्य हि कालतो यथैकमात्रिको ऽकारो ऽन्तरतमो न संभवति तथा त्रिमात्रोऽपि । तत् कुतः एतल्लभ्यते ? ह्रस्वेनैवास्य गुणेन भवितव्यम् । न हि त्रिमात्रेणाकारेणेति ? किञ्च यदि भिन्नकालानामपि गुणत्वं संज्ञा स्यात् खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः खट्वा उर्वी खट्वोर्वीत्यत्र त्रिमात्रत्वात् पूर्वोत्तरसमुदायात्मनः स्थानिन आद् गुण (६।१।८७) इति त्रिमात्रो गुणः स्यात् । खट्वा ईषा खट्वेषा खट्वा ऊढ़ा खट्वोढ़ेत्यत्र चतुर्मात्रत्वाच् चतुर्मात्रः । तस्मात् सर्व्वार्थं तपरकरणं कर्त्तव्यम् । तरितेत्यादि । तॄ प्लवनतरणयोः । चिञ् चयने । ष्टुञ् स्तुतौ । एभ्यो ण्वुल् ( ३।१।१३३ ) तृचाविति तृच् । आर्धधातुकस्येड् ( ७।२।३५ ) वलादेरितीट् । सार्वधातुकार्धधातुकयो ( ७।३।८४ ) रिति गुणः । सुः । ( ४।१।२ ) ऋदुशने-त्यादिना ( ७।१।९४ ) अनङ् । सर्वनाम स्थाने ( ६ ४।८ ) चेति दीर्घः । एतानि त्रीणि यथाक्रममदेङां तद्भाविताना मुदाहरणानि । पठन्ति । पठन्तित्यकारस्यातद्भावितस्योदाहरणं । अत्रान्त्याकारस्य गुणसंज्ञाया मतो गुणे ( ६।१।९७ ) पररूपत्वं भवति । पठन्तीति । अवन्तमेतत् ।

एकारस्यातद्भावितस्य कार्य्योदाहरणम् अहं पच इत्यादि। ओकारस्यातद्भावितस्य तत्र सम्भवतीति न प्रदर्श्यते।

## ३। इको गुणवृद्धी।

परिभाषेयमिति। नाधिकारः। अस्वरितत्वात्। नापि गुणवृद्ध्योर्विधायकं लक्षणम्। लक्षणान्तरेण तयोर्विधास्यमानत्वात्। स्थानिनियमार्थेति। स्थानिनि नियमः स्थानिनियमः स्थान्यन्तरव्यवच्छेदेनैकत्र प्रवर्त्तनम्। सोऽर्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथोक्ता। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयत इति। यत्र साक्षात् स्थानी न निर्दिष्टः सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) सिचि (७।२।१) वृद्धिरित्यादौ तत्रानियमे प्रसक्ते नियममेषां करोति। इक एव नान्यस्येति। अतः स एवास्या विषयो वेदितव्यः। नतु यत्र साक्षात् स्थानी निर्दिश्यते सोऽपि। यथा ओर्गुणः (६।४।१४६)। अत (७।२।११६) उपधाया इत्यादिः। तत्र ह्यनियमस्य प्राप्तिरेव नास्ति। लिङ्गवती चेयं परिभाषा। लिङ्गं चास्या गुणवृद्धिग्रहणम्। तत्रोपतिष्ठते। तथाच द्वे षष्ठ्यौ प्रादुर्भवतः। इक इत्येका षष्ठी। मिदेर्गुण (७।३।८२) इत्येवमादिका द्वितीया। तत्र कामचाराद् यथेष्टं सिध्यति। तयोर्विशेषणविशेष्यभावः क्रियते। मिदेरित्यत्रान्त इग् न सम्भवतीति तस्याङ्गविशेषणत्वं नोपपद्यते। तस्मादत्राङ्गेनेगेव विशिष्यते मिदेरङ्गस्य य इगिति। तेन स्थानषष्ठ्यभावादलोऽन्त्यस्यानुपस्थाने सति यत्र तत्रस्थस्यैको गुणः सिद्धो भवति। सार्वधातुकार्धधातुकयोरित्यादौ त्वङ्गस्य इगन्तत्वं सम्भवति। तेन चाङ्गे विशिष्यमाणे तदन्तविधौ सतीष्टं सिध्यति। तस्मादिकैवाङ्गं विशिष्यते। इगन्तस्याङ्गस्येति। एवञ्च सत्यस्याः स्थानषष्ठीत्वादलोऽन्त्यस्येत्ये (१।१।५२) तदुपतिष्ठते। तेनेगन्तस्यैवाङ्गस्य गुणवृद्धी भवतो नेतरस्य। स्वसंज्ञयेति। अत्र वक्ष्यमाणोऽभिप्रायः। इक एव स्थाने इति। यदर्थेयं परिभाषा तस्य नियमस्य स्वरूपं दर्शयति। अकार्षीदिति। डुकृञ् करणे। लुङ्। च्लेः (३।१।४४) सिच्। सिचि (७।२।१) वृद्धिः। अस्तिसिचोऽपृक्त इतीट् (७।३।९६)। एवमहार्षीदिति। अत्र हृञ् हरण इत्ययं विशेषः। इक इति किमिति? एकदेशद्वारेण समुदायस्य पर्य्यनु-

योगो वेदितव्यः । नहि गुणवृद्धी इत्येतावता विनिग्रहणार्थः कश्चित् संगृह्यते । यानमिति । मार्तेर्ल्युटि गुणे विधीयमान आन्तरतम्यादकारः स्यात् । ततश्च द्वयोरकारयोरतो गुणे (६।१।९७) पररूपत्वे कृते यनमित्यनिष्टं रूपं स्यात् । ग्लायतीति । ग्लै म्लै हर्षक्षये । अत्र सन्ध्यक्षरस्य ऐकारस्य एकारो गुणः स्यात् । ततश्चायादेशे कृते ग्लयतीत्यनिष्टं रूपं स्यात् । उम्भितेति । उभ उम्भ पूरणे । तृच् । इट् । अत्र व्यञ्जनस्य भकारस्यौष्ठ्यस्य ओकारो गुणः स्यात् । ततश्चावादेशे कृते उमवितेत्यनिष्टं रूपं स्यात् । अथ कथं स्वसंज्ञया शिष्यमाणावित्येष विशेषो लभ्यते ? नहि सूत्रे स्वसंज्ञाग्रहणमस्तीत्यत आह पुनर्गुणवृद्धिग्रहणमित्यादि । इह पूर्वसूत्राभ्यां गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्त्तते । तस्मिन्ननुवर्त्तमाने यत् पुनरिह गुणवृद्धिग्रहणं क्रियते तस्यैतत् प्रयोजनम् । यत्र स्वसंज्ञया गुणवृद्धी विधीयेते तत्रायं नियमो यथा स्यात् । अन्यत्र मा भूदिति । पुनर्गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यादन्यतरस्य गुणवृद्धिग्रहणस्य संज्ञाप्रधानत्वं सम्पाद्यते । तेन स्वसंज्ञया विधाने नियमो भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यते । अन्यथा हि यद्येवं पूर्वो नियमो नात्राभिमतः स्यात् ततो नियतस्य नियमस्य प्रकृतगुणवृद्धिग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धत्वात् पुनरिह गुणवृद्धिग्रहणमनर्थकं स्यादित्येवमभिप्रायः । इह मा भूदित्यादिनास्यैवंप्रकारस्य नियमस्य व्यवच्छेद्यत्वं दर्शयति । द्यौरिति । दिव औदित्यौकारः (७।१।८४) । स्वरूपेण विधीयमानो ऽलो ऽन्त्यस्यैव भवति । नेकः । पन्था इति । पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५) आकारो ऽन्त्यस्यैव भवति । नेकः । इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७।१।८६) इतीकारस्य अकारः । थोन्थ इति थकारस्य न्थादेशः (७।१।८७) । इममिति । त्यदादीनामः (७।२।१०२) इत्यत्वमन्त्यस्यैव भवति । नेकः । दश्चेति (७।२।१०९) दकारस्य मकारः । स इत्यत्र त्वसत्र: परिभाषाया उपस्थाने सति त्यदाद्यत्वं न स्यादेव । तदोः सः (७।२।१०६) सावनन्त्ययोरिति सत्वम् । ननु चाचश्च (१।२।२८) त्ययमपि स्थानिनियमः स्वसंज्ञाविधान एवेष्यते । तत्रापि च नियमस्य द्यौरित्यादिकं व्यवच्छेद्यम् । तथाहि वृत्तिकार स्तत्र वक्ष्यति स्वसंज्ञया विधाने नियमः । अजिति वर्त्तते । इह मा भूत् ।

द्यौः । पन्थाः । सः । द्युभ्यां द्युभिरिति । ततश्च यदनेन नियमेनैवंविधेन कर्त्तव्यं तत् तेनैव सिध्यति । नार्थ एवंविधनियमार्थेन पुनरिह गुणवृद्धि-ग्रहणेन । सत्यमेतत् । किन्त्वेवमर्थप्रतिपत्तौ य एते मन्दधियः प्राथम-कल्पिकाः श्रोतारस्तेषां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । तस्मात् ताननुग्रहीतुं विस्पष्टार्थ मिह संज्ञाविधाने नियमं प्रतिपादयितुं पुन र्गुणवृद्धिग्रहणं कृतम् । यद्येवं यत् तेन विधातव्यं तदनेनैव विहित मिति तत्र संज्ञा-विधाने नियमो न कर्त्तव्यः । नैतदस्ति । यदि ह्यसावित्थम्भूतो नियमो न स्यात् ततो द्युभ्यां द्युभि रित्यत्र दिव (६।१।१३१) उदित्युकारः स्वरूपेणैव विधीयमानोऽच एव स्थाने स्यात् । नालोऽन्त्यस्य । नह्यनेन नियमे-नाचः शक्यते व्यावर्त्तयितुम् । तस्य गुणवृद्धिसंज्ञकत्वात् ।

## ४ । न धातुलोप आर्धधातुके ।

उक्तपरिमाणस्य शब्दस्य धातुसंज्ञा कृता । तस्य सर्व्वस्य लोपे कृते यत्र गुणवृद्धी प्राप्नुत स्तदार्धधातुके न सम्भवत्येव । तत् किं प्रतिषेधेन? तस्मात् प्रतिषेधविधानसामर्थ्याद् धात्वेकदेशे धातुशब्दो वर्त्तत इति मत्वाह धात्वेकदेशो धातुरिति । धातुलोप इति । यद्ययं धातोर्लोपो धातुलोप इति तत्पुरुष स्तत आर्धधातुकग्रहणं गुणवृद्धिविशेषणं वा स्यात्? धातु-लोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुत स्ते न भवत इति । लोप-विशेषणं वा स्यात्? आर्धधातुकनिमित्ते धातुलोपे सति गुणवृद्धी न भवत इति । पूर्वस्मिन् पक्षे क्नोपयतीत्यत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति । तत्र प्रतिविधानं कर्त्तव्यम् । द्वितीये तु न भवत्येष दोषः । नहि क्नोपयतीत्यत्रार्धधातुक-निमित्तलोपः । किं तर्हि? वत्नुनिमित्तकः । किन्तु द्वितीये पक्षे प्रेद्ध-मित्यत्र प्राप्नोति । अस्ति ह्यत्रार्धधातुकनिमित्तो लोपः । ननु चेग्लक्ष-णयो र्गुणवृद्ध्योरयं प्रतिषेधः । नचात्रेग्लक्षणो गुणः । नैतदस्ति । अत्रा-पीग्लक्षण एव गुणो यो ह्युभयोः स्थाने भवति । लभते सोऽन्यतरव्यपदेशम् । तथाहि मातुः पितुरित्यत्रोभयोः स्थाने भवन् रपरोऽण् भवति । तस्माल्लोप-विशेषणपक्षेऽपि तत्पुरुषे प्रतिविधानं कर्त्तव्यमेव । बहुव्रीहौ तु न किञ्चित्

प्रतिविधेयमिति मन्यमानो बहुव्रीहिरय मिति दर्शयन्नाह तस्येत्यादि। एतेन लोपविशेषण मार्धधातुकमित्येतद् दर्शितं भवति। एवञ्चार्धधातुके सम्भवति यदि तत् तस्य निमित्तं भवति। ततश्च क्नोपयतीत्यत्नातिप्रसङ्गो नावतरति। तत्रेत्यादि। नापि गुणवृद्ध्योरार्धधातुकं निमित्तत्वेन विशेषणमित्याख्यातम्। ततश्च प्रेद्धमित्यत्नाप्यतिप्रसङ्गो न भवति। नह्याहुण आर्धधातुकनिमित्तः। ये ते इति। स्त्रीलिङ्गनिर्देशो गुणवृद्धी इत्यनेन स्त्रीलिङ्गेन सामानाधिकरण्यात्। अस्य तु स्त्रीलिङ्गता परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयो रित्यतिदेशात्। अर्थस्य च सोऽतिदेश इति। यत्तदोरपि तत्रार्थे वर्त्तमानयोः स्त्रीलिङ्गता भवति। ननु च नियमस्य प्रकृतत्वात् तस्यैवायं प्रतिषेधो युक्तः। तत् किमित्येवमाह तत्र ये गुणवृद्धी प्राप्नुत स्ते न भवत इति। तयोः प्राधान्यात्। तत् पुनर्नियमेनोपक्रियमाणत्वात्। नियमस्य तु तादर्थ्याद्प्राधान्यम्। तस्माद् गुणवृद्ध्यो रेवायं प्रतिषेधो न्याय्यः। लोलुवः पोपुव इति। लूञ् छेदने। पूञ् पवने। इत्येताभ्यां धातो रेकाच इत्यादिना यङ् (३।१।२२)। सन् (६।१।९) यङोरिति द्विर्व्वचनम्। गुणो (७।४।८२) यङ्लुकोरित्यभ्यासस्य गुणः। यङन्तात् पचाद्यचि यङोऽचि (२।४।७४) चेति लुकि तन्निमित्तगुणप्रतिषेधः। तस्मिन् सत्यचिश्नुधात्वित्यादिनोवङ्। मरीमृज इति। मृजू शुद्धौ। पूर्ववद् यङ्। द्विर्वचनम्। उरत्त्वम् (७।४।६६)। हलादिः (७।४।६०) शेषः। रीगृदुपधस्य चेति (७।४।९०) रीगागमः। लोलूयादिभ्य इत्यादिशब्देन पोपूयमरीमृज्येत्येतयो र्ग्रहणम्। लूञ् लवितेति। यावदेव धातुसंज्ञा न भवति तावदेव सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयानिति ञकारस्य लोपो भवति। पश्चाल्लू इत्येतस्य धातुसंज्ञा। तेन ञकारलोपो धातुलोपो न भवतीति भवति प्रत्युदाहरणम्। रेड़िति। रिष रुष हिंसायाम्। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त (३।२।७५) इति विच्। इकारचकारौ वेरपृक्तस्येत्यत्र (६।१।६७) सामान्यग्रहणाविघातार्थौ। वकारस्य चानेनैव लोपः। पुगन्तलघूपधस्येति (७।३।८६) गुणः। झलाञ्जशोऽन्त (८।२।३९) इति षकारस्य डकारः। ननु च द्व्यङ्गविकले द्वे अपि एते प्रत्युदाहरणे। यथैव ह्यत

धातुलोपो न भवति एवमार्धधातुकनिमित्तोऽपि न भवति। नैतदस्ति। सति हि धातुग्रहणे पदद्वयसान्निध्याद् बहुव्रीहिर्लभ्यते। तस्मिंश्च सत्यार्धधातुकनिमित्तत्वं लोपस्य। असति हि धातुग्रहणे न लोप आर्धधातुक इत्युच्यमान आर्धधातुकाश्रये ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते लोपे सति न भवत इत्येष वाक्यार्थः स्यात्। ततश्च लोपस्याविशेषितत्वादविशेषेण यत्र क्वापि लोपे प्रतिषेधः स्यात्। रोरवीति। रु शब्दे इत्यस्माद् यङ्। बहुलं (२।४।७३) छन्दसीति यङो लुक्। लट्। तिप्। शप्। अदादित्वाच्छपो लुक्। यङो (७-३-९४) वेतीट्। अत्र सार्वधातुकनिमित्तो गुणो न प्रतिषिध्यते। ननु च द्व्यङ्गविकलमेवेदम्। यथैव ह्यार्धधातुकनिमित्तो गुणो न भवत्येवं लोपोऽपि। नैतदस्ति। सति ह्यार्धधातुकग्रहणेऽन्यपदार्थत्वे न तस्याश्रयणात् तन्निमित्तो लोपो लभ्यते। तस्मिंश्च सति न धातुलोप इतीयत्युच्यमाने ये केचन गुणवृद्धी ते च लोपे सति न भवत इत्येष वाक्यार्थः स्यात्। ततश्चाविशेषितत्वाल्लोपस्य लोपमात्रे प्रतिषेधो विज्ञायते। अभाजीति। भञ्ज आमर्दने। लुङ्। च्लिः। चिण् (३।१।६६) भावकर्मणोरिति चिण्। चिणो (६।४।१०४) लुगिति तशब्दस्य लुक्। भञ्जेश्च (६।४।३३) चिणीत्यनुनासिकलोपः। राग इति। अत्रापि घञि (६।४।२७) च भावकरणयोरिति नलोपः। रञ्ज रागे। भावे घञ्। यद्यप्यत्र सर्वमस्ति तथापीक इत्यत्रानुवृत्ते रिह चेकोऽसम्भवादत (७।२।११६) उपधाया इति वृद्धेः प्राप्तायाः प्रतिषेधो न भवति। क्नोपयतीति। क्नूयी शब्दे। हेतुमति (३।१।२६) चेति णिच्। अर्त्तिह्रीत्यादिना (७।२।३६) पुक्। लोपो (६।१।७६) व्योर्वलीति यलोपः। पुगन्तेत्यादिना (७।३।८६) गुणः। प्रेद्धमिति। ञिइन्धी दीप्तौ। क्तः। अनिदितामित्यादिनानुनासिकलोपः (६।४।२४)। झषस्तथोर्धोऽध (८।२।४०) इति तकारस्य धत्वम्। झलाञ्जश् (८।४।५३) झशीति धातुधकारस्य दकारः। प्रगतमिद्धमिति कुगतिप्रादय (२।२।१८) इति समासः।

## ५। क्ङिति च।

क्ङितीति। यदीयं परसप्तमी स्यादनन्तरस्यैवेकः प्रतिषेधः स्याच्

चितः चितवानित्यादौ । व्यवहितस्य भिन्नो भिन्नवानित्यादौ न स्यात् । तस्मिन्निति निर्दिष्टे (१।१।६६) पूर्वस्येत्यत्र निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्य्यार्थत्वात् । निमित्तसप्तम्यां त्वस्यां सर्वत्र भवितव्यम् । व्यवहितयोरपि । निमित्त-निमित्तिभावसद्भावादिति मन्यमान आह निमित्तसप्तम्येवेति । निमित्तात् सप्तमी निमित्तसप्तमी । पञ्चमी (२।१।३७) भयेनेति पञ्चमीति योग-विभागात् समासः । सा पुनः सप्तमी यस्य च (२।३।३७) भावेन भावलक्षण मित्यनेन वेदितव्या । क्ङितो हि निमित्तभावेन गुणवृद्ध्योः प्राप्तिलक्षणो भावो लक्ष्यते । अथ निमित्तसप्तम्यामप्यस्यां कस्मादेव व्यवहितस्य प्रतिषेधो लभ्यते ? तत्र तस्मिन्नित्यादिकायाः परिभाषाया अनुपस्थानात् । क्ङिति चेत्यत्र क्ङिद्ग्रहणं गुणवृद्ध्योर्विशेषणम् । अतो नासौ परिभाषा तत्रोप-तिष्ठते । विध्यङ्गशेषभूता ह्येषा परिभाषा यत्र विधीयते किञ्चित् तत्रोप-तिष्ठते । इक्परिभाषावत् । यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रैवेक्परिभाषोप-तिष्ठते । नच यत्र सिद्धे गुणवृद्धी कार्य्यार्थं मुपादीयेते तत्रापि । अन्यथा हि वृद्धिर्यस्याचामादि (१।१।७३) स्तद्वृद्ध मित्यादावप्यस्या इक्परिभाषाया उपस्थानाच् शालीयो मालीय इत्यत्र वृद्धसंज्ञा न स्यात् । यथा चेयमिक्-परिभाषा विध्यङ्गशेषभूतत्वाद् विधावेवोपतिष्ठते तथासावप्यानन्तर्य्यपरिभाषा । नचेह गुणवृद्धी विधीयेते । किं तर्हि ? विहिते अप्यन्यत्र क्ङितीत्यनेन विशिष्येते । तस्मान्नात्र तस्याः परिभाषाया उपस्थान मित्यनन्तरस्यापि प्रतिषेधः सिध्यति । क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी इति । क्ङिन्निमित्तं ययो स्ते तथोक्ते । ते पुनर्य्ये क्ङिन्निमित्ते सति प्राप्नुत स्ते विज्ञेये । एतेन गुणवृद्धिविशेषणं क्ङिद्ग्रहणमिति दर्शयति । ननु च विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रतिषेधस्यैवैतद् विशेषणं युक्तम् । नैतदस्ति । यत्र हि गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानोपकाराय महते प्रभवति तत्र प्रधानस्यैव भूयांस मुपकारं कर्त्तुमात्मनः संस्कार मनुभूय प्रधानेन सम्बन्ध मनुभवति । यथोक्तम्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्त्तते ॥ १ ॥ इति ।

इह तु गुणवृद्ध्योः क्ङिद्ग्रहणेन विशेषितयो र्महान् प्रधानस्य प्रतिषेधस्योपकारो भवति। व्यवहितस्यापि तत्सिद्धेः। भिन्न इति। भिदिर् विदारणे। क्तः। रदाभ्यां (८।२।४२) निष्ठातो न इति नत्वम्। सृष्ट इति। सृजे व्रश्चेत्यादिना (८।२।३६) जकारस्य षत्वम्। ष्टुना (८।४।४१) ष्टुरिति ष्टुत्वम्। चिनुत इत्यादौ तु (८।४।४१) सार्वधातुक (१।२।४) मपिदिति क्ङित्त्वम्। चिन्वन्तीति। हुश्नुवोः (३।४।८७) सार्वधातुक इति यणादेशः। अत्र चितः। चितवान्। स्तुतः। स्तुतवान्। चिनुतः। चिन्वन्तीत्येषूदाहरणेषु यथायोगं सार्वधातुकार्धधातुकलक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेधः। भिन्नः। भिन्नवानिति लघूपधलक्षणस्य। परिमृष्टेषु मृजेर्वृद्धि (७।२।११४) रिति वृद्धेः। ग्लाजि (३।२।१३९) स्थश्च क्स्नुरिति। क्स्नुप्रत्ययोऽयं यदि कित् स्यात् स्थास्नुरित्यत्र घुमास्थादिसूत्रेण (६।४।६४) तिष्ठतेरीत्त्वं स्यात्। अतस्तत्परिहाराय क्स्नो र्गित्त्वं प्रतिज्ञायते। तथाहि तत्र वक्ष्यति गिच्चायं प्रत्ययो न कित्। तेन स्थ ईकारो न भवतीति। गित्वे च सति भूष्णुर्जिष्णु रित्यत्र क्ङिति चेति प्रतिषेध उच्यमानो न प्राप्नोति। अत एतद्दोषपरिहारायाह गकारोऽप्यत्रेत्यादि। चर्त्वभूतश्चर्त्वं प्राप्त इत्यर्थः। चर्त्वं तु खरि चेति (८।४।५५)। यदि हि क्स्नोर्गित्त्वमिष्यते भूष्णुरित्यत्र श्र्युकः (७।२।११) कितीति किति प्रतिषेध उच्यमानो न स्यात्। नैष दोषः। तत्रापि चर्त्वभूतो गकारो निर्दिश्यते। तथाहि ग्लाजिस्थश्च क्स्नुरित्यत्र जयादित्यवृत्तौ (१) ग्रन्थः। क्ङिति चेत्यत्र गकारश्चर्त्वभूतो निर्दिश्यते। तेन गुणो न भवति। श्र्युकः कितीत्यत्रापि गकारो निर्दिश्यते। तेन भुव इड् न भवतीति। श्र्युकः (७।२।११) कितीत्यत्रापि जयादित्यवृत्तौ

(१) वामन and जयादित्य are the joint authors of the काशिका। But their shares as assigned by हरिदीक्षित, Bhottoji's grandson, (viz:—प्रथमद्वितीयपञ्चमषष्ठा जयादित्यकृतवृत्तयः। इतरे वामनकृतवृत्तय इत्यभियुक्ताः—vide शब्दरत्न under 5. 4. 42) are disproved here by Jinendra's assertion. Bhottoji also supports the न्यासकार (vide शब्दकौस्तुभ 1.1.5). हरदत्त too takes वामन as the annotator of the Rule 6.2.73 अके जीविकार्थे। (vide पदमञ्जरी 2.2.17).

ग्रन्थः (२) गकारोऽप्यत्र चर्त्त्वभूतो निर्दिश्यते भूष्णु रित्यत्र यथा स्यादिति। वामनस्य त्वेतत् सर्वमनभिमतम्। तथाहि तस्यैव सूत्रस्य तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति भूष्णुरित्येवं यथा स्यात्। सौत्रत्वाच्च निर्देशस्य श्रुग्रकः क्कितीत्यत्र चर्त्वस्यासिद्धत्वमनाश्रित्य रोरुत्वं न कृतम्। विसर्जनीयश्च कृत इति। ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु रित्यत्र स्था श्रा इत्याकार प्रश्लेषेण स्थास्नोः सिद्धत्वान्न किञ्चिदेतदिति। स एवं मन्यते। यदि क्स्नुप्रत्ययस्य कित्त्वे सति तिष्ठतेरीत्त्वं प्राप्नुयात् तथा तत्परिहारार्थं गित्त्वं युज्यते प्रतिज्ञातुम्। गित्त्वे च सति जिष्णु भूष्णु रित्यत्र यथायोगमिड्गुणयोर्निरासाय क्ङिति चेत्यत्र श्रुग्रकः क्कितीत्यत्र च गकारस्वत्वंभूतो निर्दिश्यमानः शोभेत। नच क्स्नुप्रत्ययो गित्। किं तर्हि किदेव। तत् किमिड्गुणप्रतिषेधार्थेन चर्त्त्वभूतगकारस्य निर्देशेन? नच क्स्नोः कित्वे सति तिष्ठते रात्वं प्राप्नोति। तस्माद् ग्लाजिस्थश्च क्स्नु रित्याकारप्रश्लेषः कृतः क्स्नुप्रत्ययान्तस्य तिष्ठते राकार एव यथा स्याद् यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदित्येवमर्थः। ततश्च तेनैव सिद्धत्वात् स्थास्नुशब्दस्याकिञ्चित्करमिह गकारप्रश्लेषवर्णनमिति। कामयत इति। कमेर्णिङ् (३।१।३०)। अत्र अत उपधाया (७।२।११६) इति वृद्धेः प्रतिषेधो न भवति। लैगवायन इति। लिगुशब्दान्नड़ादिभ्यः (४।१।९९) फगिति फकि कृते ओर्गुण (६।४।१४५) इति गुणस्य प्रतिषेधो न भवति। ननु चोकार इगेव। तदयुक्तमिदं प्रत्युदाहरणम्। नैतदस्ति। अत्र हि चकारः क्रियत इक इत्यनुकर्षणार्थः। तत्र चकारेणानुकर्षणसामर्थ्यादिक इत्येतदर्थ पदार्थतामुत्सृज्य स्वरूपपदार्थतामनुभवति। अन्यथा हि यदि चकारेणाप्यनुकृष्यमाणमर्थपदार्थकमेव स्यात् तदनुकर्षणार्थं चकारकरण मनर्थकं स्यात्। अर्थपदार्थस्य स्वरितत्वादेवानुवृत्तिसिद्धेः। स्वरूपपदार्थके च तस्मिन्निह

---

(2) What does this statement—श्रुग्रकः क्कितीत्यत्रापि जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थः—indicate? Has जयादित्य in addition to his work with वामन, separately written a complete commentary on the अष्टाध्यायी? I could not verify the quotation गकारोप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते भूष्णु रित्यत्र यथा स्यात्। It is not found in the printed काशिका।

सन्निहिते सत्ययमर्थो भवति। इक इत्येवं ये गुणवृद्धी विधीयेते इक इतीमं शब्द मुच्चार्य्य ये गुणवृद्धी विधीयेते ते क्ङिन्निमित्तेन भवत इति। नच लैगवायन इत्यत्र इक इतीमं शब्द मुच्चार्य्य गुणो विधीयते। इक्परिभाषाया स्तत्रानुपस्थानात्। अनुपस्थानं तु साक्षादुकारस्य स्थानिनो निर्देशात्। यत्र हि साक्षात् स्थानी न निर्दिश्यते तत्रासावुपतिष्ठते। ननु यदि स्वरूपपदार्थस्येक इत्यस्येह सन्निधानं स्थानी न निर्दिष्टः स्यात्। ततश्च न ज्ञायते कस्य गुणवृद्धी प्रतिषिध्येते इति। नैष दोषः। सामर्थ्यादिक एव गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधोऽयं गम्यते। नह्यन्यस्येक इतीमं शब्द मुच्चार्य्य गुणवृद्धी विधीयेते। अथवा यद्यपीक्परिभाषा विध्यङ्गशेषभूता तथापीहासत्यपि गुणवृद्ध्यो र्विधाने चकारेणानुकृष्य सन्निधाप्यते। एतदेव हि चकारकरणस्य प्रयोजनं यदिदमिक्परिभाषायाः सन्निधापनम्। ततश्च तस्या उपस्थाने सति यत्रासौ व्याप्रियते तत्रैवायं प्रतिषेधो विज्ञायते। क्व चासौ व्याप्रियते? यत्र स्थानी साक्षान् न निर्दिश्यते। इह तु निर्दिश्यते स्थानी। तस्मादिक् परिभाषाया व्यापाराभावाद् भवति प्रत्युदाहरणम्। मृजेरित्यादि। कथं पुनरिष्यमाणापि सा लभ्यते? यथा लभ्यते तथा श्रूयताम्। अचो (७।२।११५) ञ्णितीत्यत्र मृजेर्वृद्धिरिति (७।२।११४) वर्त्तते। जराया (७।२।१०) जरसन्यतरस्यामित्यतोऽन्यतरस्यांग्रहणञ्च मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते। सा च व्यवस्थितविभाषा। अच इति योगविभागः क्रियते। मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिर्भवति। अन्यत्र न भवत्येव। लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेध इति। एतेन संक्रमत्वं दर्शयति। अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिता श्वो रणिता श्व इत्यनन्तर मनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्। इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकै र्लिखित मिति वर्णयन्ति। अथवा निमित्तसप्तम्या एवेदं फलं दर्शित मिति मन्तव्यम्। अचिनवम्। असुनवमिति। अत्र लङो ङित्वात् तदादेशस्यापि मिपो ङित्त्वम्। स्थानिवद्भावेन मिपो ङित्त्वात् तदादेशस्याप्यमो ङित्त्वं पूर्व्ववत्। ततश्च तदाश्रयो विकरणस्य गुणप्रतिषेधः प्राप्नोति। कस्मान्न भवतीत्याह अचिनवमित्यादि। आदिशब्देनाकरवमित्यादीनां परिग्रहः। लकारस्येति। लकारादेशोऽपि पारम्पर्य्येण

लकारपूर्वकत्वादुपचारेण लकार इत्युक्तः। सत्यपीत्यभ्युपगमे हलः श्नः (३।१।८३) शानज् भाविति शानजादेशस्य शित्करणाल्लिङ्गान्नावश्यमनुबन्धकार्य्येषु स्थानिवद्भावो भवतीत्यध्यवसितोऽयमर्थः। अतो ङित्त्वमिवात्र न भवतीति शक्यते वक्तुम्। अभ्युपगम्य तु ङित्त्वमेव परिहार उच्यत इत्येतदनेन सूचयति। यासुटो ङित्त्ववचनमित्यादि। यदि ङिति यत् कार्य्यं विधीयते तल्लकारे ङिति स्यात् ततो लिङएव ङित्त्वेन चिनुयादित्यादौ गुणप्रतिषेधस्य सिद्धत्वाद् यासुट् (३।४।१०३) परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चेति यत् तस्य यासुटो ङिद्वचनं तन् न कुर्य्यात्। कृतञ्च। ततोऽवसीयते ङिति यत् कार्य्यं तल्लकारे ङिति न भवतीति।

६। दीधीवेवीटाम्।

दीधीवेव्योरिति। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः। वेवीङ् वेतिना तुल्य इत्येतयो र्ग्रहणम्। ननु च दीङ् क्षये। धीङ् अनादरे। वेञ् तन्तुसन्ताने। वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेष्वित्येतेषां ग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते? यद्येषां ग्रहण मभिमतं स्यादसन्देहार्थं वीवेधीदीटामीत्येवं न्यासं कुर्य्यात्। अन्यथा तु कृतम्। तस्मात् पूर्व्वोक्तयोरेव धात्वोरिह ग्रहणम्। इटश्चेति आर्धधातुकस्येड्वलादेरित्यादिना (७।२।३६) विहितस्य। अथ इट किट कट गतावित्यस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति। युक्तञ्चैतत्। धातुसाहचर्य्यात्। नैतदस्ति। इहाल्पाच्तरमिति इटः पूर्वनिपाते कर्त्तव्ये तद्विपर्य्यासं कुर्वतैतत् सूचितम्। अन्योऽप्यत्र कश्चिद् विपर्य्यासो विज्ञेय इति। तेन धातुसाहचर्य्याद्धातुग्रहणे प्राप्ते तद्विपरीतस्यैवागमस्य ग्रहणं विज्ञायते। आदीध्यन मिति। ल्युट्। आदीध्यक इति। ण्वुल्। कणिता श्वो रणिता श्व इति। अण रण कण इत्यादौ शब्दार्थे धातुवर्गे कणिरणी पठ्येते। ताभ्यां लुटि स्यतासी (३।१।३३) लृलुटोरिति तासिः। लुटः प्रथमस्येत्यादिना (२।४।८५) तिपो डादेशः। टिलोपः। आर्धधातुकस्येड्वलादेरित्यादिनेट् (७।२।३६)। अथेटो वृद्धे रुदाहरणं कस्मान्न प्रदर्शित मित्याह वृद्धि रिटो न सम्भवतीति। अङ्गस्य वृद्धिर्ञ्णिदादौ प्रत्यये विधीयते। इट् चायमार्धधातुकभक्तः। नचार्धधातुकस्याङ्गसंज्ञास्ति ञ्णिदादौ प्रत्यये। तस्मादिटो वृद्धि र्न भवति।

## ७। हलो ऽनन्तराः संयोगः।

अन्तरं छिद्रं विवरं वर्णशून्यः काल इत्यर्थः। न विद्यतेऽन्तरं येषां ते तथोक्ताः। भिन्नजातीयैरित्यादि। भिन्नजातीयैरिति वचनं भिन्नजातीयानामेव लोके व्यवधायकत्वदर्शनात्। तथाहि कश्चित् केनचित् किमनन्तरे परे ब्राह्मणकुले इति पृष्टः सन्नाह नानन्तरे। वृषलकुल मनयोर्मध्ये प्रतिवसतीति। श्लिष्टोच्चारिता इत्यनन्तरस्यैव विवरणम्। निरन्तरोच्चारिता इत्यर्थः। संयोग इति। यद्येकैकस्यैषा श्लिष्टोच्चारितस्य हलः संज्ञा स्यादिह निर्वायाद् निर्यायादिति वान्यस्य (६।४।६८) संयोगादेरित्येत्वं स्यात्। इह च संस्कृषीष्टेति ऋतश्च (१।२।४३) संयोगादेरितीट्। इह च संस्क्रियत इति गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्यो (७।४।२९) रिति गुण इत्येवमादयोऽन्येऽपि बहवो दोषाः प्रत्येकं हलां संज्ञित्वे भाष्य उद्भाविताः। यद्यपि तत्रैव ते कथञ्चित् प्रयासेन परिहृता स्तथापि यस्तु तत्परिहारेण प्रतिपत्तौ साध्यायां प्रतिपत्तिगौरवदोष आपद्यते सोऽपरिहार्य्य एव। समुदाये तु संज्ञिनि दोषाशङ्कापि नास्ति। तस्मात् स एव संज्ञी युक्त इत्यालोच्याह समुदायः संज्ञीति। ननु च यत्र सहभूतानां कार्य्यमिच्छति तत्र यत्न आरभ्यते। यथा उभे (६।१।५) अभ्यस्त मिति उभेग्रहणं करोति। नचेह कश्चिद् यत्नः कृतः। तत् कथं समुदायस्य संज्ञा लभ्यते? इहापि कृत एव यत्न इत्यदोषः। कः पुनरसौ? महत्याः संज्ञायाः करणम्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणमिति महत्याः संज्ञायाः करणं प्रयोजनमन्तरेण न सम्भाव्यते। तस्मान्महानत्र संज्ञीत्येतत् सूचयितुं महती संज्ञा कृतेति गम्यते। तथाचोक्तम्—इङ्गितेनोन्मिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्य्याणामभिप्रायो लक्ष्यत इति। एवञ्च महान् संज्ञी भवति यदि समुदायः संज्ञी भवति। नैकैको हल्। तस्मादुपपन्न मेतत् समुदायः संज्ञीति। हल इति बहुवचननिर्देशाद् द्वयोः संज्ञा न सिध्यतीति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह जातौ चेत्यादि। चशब्दो यस्मादर्थे। यस्माज्जातौ बहुवचनं तेन द्वयोर्बहूनां च संयोगसंज्ञा सिद्धा भवति। अग्निरित्यादिकं रूपोदाहरणं द्रष्टव्यम्। तिलान्त्स्त्रावपतीत्यादि। हे मपरे

(८।३।२६) वेत्यतो वेति वर्त्तमाने ङः (८।३।२९) सि धुड़ित्यतो धुड़िति च नश्चेति (८।३।३०) पचे धुट्। खरि चेति (८.४।५५) च तकारः। तत्र यदा धुण् नास्ति तदा नसतरया इति। यदा त्वस्ति तदा नतसतरयाः। तितउच्छत्र मिति। तनोतेर् डउःसनवच्चेति डउप्रत्यये टिलोपे द्विर्वचने च कृते रूपम्। संयोगान्तस्य लोपः स्यादिति। यद्यत्राकारस्योकारेण संज्ञा स्यादित्यभिप्रायः। नच लोपे सत्युकारोपदेशस्य वैयर्थ्य माशङ्कनीयम्। यत्र पदसंज्ञा नास्ति तितउनीत्यादौ तत्र श्रूयमाणत्वात्। पचतीति। रूप-प्रत्युदाहरणम्। पनसमिति कार्य्यप्रत्युदाहरणम्। स्कोः (८।२।२९) संयोगाद्योरिति लोपः स्यादिति। यदि सकारनकारयोः सान्तरयोरपि संयोगसंज्ञा स्यादिति भावः।

## ८। मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।

मुखसहिता नासिका मुखनासिकेत्यनेन मुखनासिकाशब्दोऽयं तत्पुरुषः। न द्वन्द्व इति दर्शयति। तत्पुरुषस्तु मयूरव्यंसकादित्वाद् (२।१।७२) वेदितव्यः। यदि च मुखञ्च नासिका चेति द्वन्द्वः स्यात् प्राणितूर्य्यादिसूत्रेण (२।४।२) कवद्भावः स्यात्। ततश्च स नपुंसकमिति (२।४।१७) नपुंसकत्वं स्यात्। तस्मिंश्च सति ह्रस्वो (१।२।४७) नपुंसके प्रातिपदिकस्येति ह्रस्वत्वं प्रसज्येतेति भावः। ननु चोच्यतेऽनयेति करणे ल्युटि कृते तदन्ताट्टिड्-ढाणञित्यादिना (४।१।१५) ङीपा भवितव्यम्। ततश्च तदन्तेन बहुव्रीहौ मुखनासिकावचन इति निर्देशो नोपपद्यते। नैतदस्ति। वचनशब्दोऽयं कृत्यल्युटो (३।३ ११३) बहुलमिति बहुलवचनात् कर्मसाधनः। उच्यत इति वचनो वर्णे वर्त्तते। न नासिकायाम्। अतएवाह तया य उच्चार्य्यत इति। उच्चार्य्यंत इति कर्मणि लकारः। एवं कृत्वा मुखनासिकावचन इति षष्ठी-समासोऽयं वेदितव्यो न बहुव्रीहिः। अनुस्वारस्यैवेति। अनुस्वारे ह्युच्चमाने नासिकायाश्च व्यापारो न मुखस्य। तेन तस्यैव स्यात्। ननु स्याद् ञमङणना नाम्। नापि अभ्र अँ अप इत्यत्रार्द्धचन्द्राकृतेर्वर्णस्य। तदुच्चारणे मुखस्यापि व्यापारात्। ततश्च यरोऽनुनासिक (८.४।४५) इत्येतस्मिन् कार्य्यं कर्त्तव्ये

ऽनुस्वारस्यैव ग्रहणं स्यात् । नतु ङकारादीनामित्यभिप्रायः । ननु च प्रासाद-वासिन्यायेन तेषामपि भविष्यति । यथा प्रासादवासिन आनीयन्तामित्युक्ते ये प्रासाद एव निवसन्ति तेषामपि ग्रहणं भवति । येऽपि प्रासादे भूमौ च उभयत्र वसन्ति तेषामपि । यथा तूभय आनीयन्ते तथेहापि, नासिकावचन इत्येतावत्युच्यमाने नासिकावचनस्यानुस्वारस्य मुखनासिकावचनानाञ्च ङकारादीनां ग्रहणं भविष्यति । ततश्चानुस्वारस्थे हि स्यादित्ययुक्तमुक्तम् । एवन्तु वक्तव्यम् । अनुस्वारस्यापि हि स्यादिति । नैतदस्ति । इह हि त्रीणि दर्शनानि सम्भवन्ति । समस्त एवानुनासिको वर्णो नासिकावचनो मुखवचनश्चेत्येकं दर्शनम् । पूर्वभागस्त्वस्य मुखवचन उत्तरो नासिकावचन इति द्वितीयम् । उत्तरो भागो मुखवचनः पूर्वो भागो नासिकावचन इति तृतीयम् । उभयोरप्यनन्तरयोर्दर्शनयोर्नासिकामुखवचने भागे तथानुरागं करोति यथासावपि नासिकावचनभाग इव लक्ष्यते । तत्र यदेतदनन्तरदर्शनद्वयं तस्यान्यतरत् पाणिनेरभिमतम् । नचास्मिन् प्रासादवासिन्याय एकत्राप्यवतरति । यदि हि ङकारादयो नासिकयापि साकल्येनोच्चार्य्येरन् मुखेनापि ततः प्रासाद-वासिन्यायेन नासिकावचन इत्येतावत्युक्ते तेषामपि ग्रहणं स्यात् । नचैवं भागस्यैव । तेषां नासिकया मुखेन चोच्चारणात् । तदसति मुखग्रहणे तेषां ग्रहणं न स्यात् । तदभावे च संज्ञा न स्यादिति युक्तमुक्तमनुस्वारस्यैव हि स्यादिति । क च ट त पानां मा भूदिति । एते हि ककारादयो मुखेनैवोच्चार्य्यन्ते । न नासिकया । ततश्चासति नासिकाग्रहणे तेषामिव स्यात् । एवञ्च शक्तः सुप्तमित्यत्रानुदात्तोपदेशवनतीत्यादिना लोपः ( ६।४।३७ ) प्रसज्येत । ओदनपगित्यत्रानुनासिकस्य (६।४।१५) क्विझलोः क्ङितीति दीर्घत्वम् । अथ किमर्थं महती संज्ञा क्रियते? अनु पश्चान्नासिका व्याप्रियते यस्मिन्नथवा अनु पश्चान्नासिकाया व्याप्रियते यस्मिन्नसावनुनासिक इत्यन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेतेत्येवमर्थम् । किं पुनस्तद् यतः पश्चान्नासिका व्याप्रियते यस्मिन् यद्वा नासिकायाः पश्चाद् व्याप्रियते ? मुखस्य तु प्रकृतत्वात् तदेव गम्यते । तत्र ये ते द्वे दर्शने ययोः पाणिनेरन्यतरदभीष्टं तयोः पूर्वस्मिन् नासिका मुखात् पश्चाद् व्याप्रियते । उत्तरत्र मुखं नासिकायाः । अन्वर्थसंज्ञाकरणं

तु पूर्वोक्तयो दर्शनयोरन्यतराभ्युपगमसूचनार्थम् । तदभ्युपगमसूचनं तु प्रासादवासिन्यायमाश्रित्य सुखग्रहणं ये प्रत्याचक्षीरंस्तेषां निराकरणार्थम् ।

## ९ । तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।

तुलया सम्मितं तुल्यमिति नौवयोधर्मेत्यादिना ( ४।४।९१ ) यतमुत्पाद्य तुल्यशब्दो व्युत्पाद्यते । नच प्रयत्नस्य तुलया सम्मितत्वं सम्भवति । ततश्चासम्भवद्विशेषणमिति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह तुल्यशब्द इत्यादि । एवं मन्यते । व्युत्पत्त्यर्थं तु केवलं तुलोपादीयते नत्वत्र तुलार्थो विद्यते । नवा सम्मितार्थः । सदृशपर्य्यायो ह्ययं तुल्यशब्दः । तथाहि तुल्य इत्युक्ते सदृश इति पर्य्यायो भवति । नतु तुलया संमित इति । आस्यशब्दोऽयं ण्यदन्तोऽप्यस्ति । अस्यते क्षिप्यतेऽन्नमनेनेति कृत्यल्युटो ( ३।३।११३ ) बहुलमिति करणे ण्यत् । आस्यं सुखम् । तत् पुनरोष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात् । काकलकं नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशो लोके यः कण्ठमणिरित्युच्यते । तद्धितान्तोऽप्यास्यशब्दोऽस्ति । आस्ये भवमिति शरीरावयवाद्य ( ५।१।६ ) यदिति यति कृते यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपे हलो यमां यमि ( ८।४।६४ ) लोप इति यलोपे च कृते आस्यमिति । एतच्च मुखान्तर्वर्त्तिनां ताल्वादीनां वाचकम् । तत्र यदि पूर्वस्यास्यशब्दस्येदं ग्रहणं स्यात् क च ट त पानामपि सवर्णसंज्ञा स्यात् । ण्यदन्तस्यास्यशब्दस्य वाच्येऽर्थे तेषां तुल्यत्वात् प्रयत्नविषयस्य । इममतद्धितान्तस्यास्यशब्दस्य ग्रहणे दोषं दृष्ट्वा तद्धितान्तस्येदं ग्रहणमिति दर्शयन्नाह आस्ये भवमास्यमिति । किं पुनस्तदित्याह ताल्वादिस्थानमिति । यस्मिन् वर्णा निष्पाद्यन्ते तत् स्थानम् । आदिशब्देन नासिकादीनां ग्रहणम् । ननु च नासिका मुखाद्बहिर्वर्त्तेरास्यं न भवति । नैतदस्ति । नहि मुखाद् वहिर्वर्त्तिनी नासिकेयं विवक्षिता । तस्यां वर्णानामनिष्पत्तेः । का तर्हि ? अन्तरास्ये चर्म्म विततमस्ति पणवचर्मवत् । तत्सम्बद्धा रेखा यस्यां वायुनाभिहन्यमानायां वर्णा निष्पद्यन्ते सेह नासिका विवक्षिता । कथं पुनर्विज्ञायते तद्धितान्तस्यास्यशब्दस्येदं ग्रहणमिति ? आस्यग्रहणसामर्थ्यात् । यदि ह्यतद्धितान्तस्य ग्रहणं स्यादास्य-

ग्रहणमनर्थकं स्यात्। सर्वेषामेव हि तद्वाच्य एवार्थे प्रयत्नस्तुल्यः। नास्त्येव हि स यस्य व्यवच्छेदार्थमास्यग्रहणं स्यात्। नन्वु च विसर्जनीयस्य व्यवच्छेदनार्थं मास्यग्रहणं स्यात्। तस्य हि मुखाद् बहिर्वर्त्युरः स्थानम्। नैतदस्ति। नहि विसर्जनीयस्य सत्यसति वा सवर्णत्वे प्रयोजनमस्ति। नापि दोषः। स्पृष्टतादिरिति। आदिशब्देन ईषत्स्पृष्टतादीनां ग्रहणम्। वर्णगुण इति। अकारादीनां वर्णानां धर्म इत्यर्थः। तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्येति। एतेन तुल्यास्यप्रयत्नशब्दस्त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिरिति दर्शयति। व्यधिकरणानामपि गमकत्वाद् बहुव्रीहिर्भवत्येव। यथा कण्ठेकाल उरसिलोमा इति। अथ द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः कस्मान्नाश्रीयते? आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ तौ तुल्यौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नमिति। एवं मन्यते। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहावाश्रीयमाणे ताल्वादिना स्थानेन प्रयत्नो न विशेषितः स्यात्। ततश्च ककारङकारयोर्मिथः सवर्णसंज्ञा न स्यात्। बाह्यस्य प्रयत्नस्य भिन्नत्वात्। ककारस्य विवृतकण्ठत्वादिर्बाह्यः प्रयत्नः। ङकारस्य संवृतकण्ठत्वादिः। असत्याञ्च सवर्णसंज्ञायां शङ्कितेत्यत्रानुस्वारस्य (८।४।५८) ययि परसवर्ण इति ङकारो न स्यात्। अथ सत्यपि बाह्यस्य प्रयत्नस्य भेद आभ्यन्तरः स्पृष्टताख्योऽनयोस्तुल्यः प्रयत्नः। तं समाश्रित्य सवर्णसंज्ञा भविष्यति। यद्येवं शकारचकारयोरपि सत्यप्याभ्यन्तरयोर्विवृततास्पृष्टतयोः प्रयत्नयोर्भेदे योऽनयोर्बाह्यः प्रयत्नस्तुल्यो विवृतकण्ठत्वादिस्तदाश्रया सवर्णसंज्ञा स्यात्। ततश्च अश्चश्चोततीति वक्ष्यमाणं प्रत्युदाहरणं नोपपद्यते। त्रिपदे तु बहुव्रीहौ ताल्वादिस्थानेन प्रयत्नो विशिष्यते। तेन बाह्यं प्रयत्नमुत्सृज्याभ्यन्तर एव स्पृष्टतादिर्गृह्यते। स एव हि ताल्वादावास्ये सम्भवति। नेतरः। आभ्यन्तरस्य प्रयत्नस्य ग्रहणे सति सत्यपि बाह्यप्रयत्नभेदे भवत्येव ककारङकारयोः सवर्णसंज्ञा। आभ्यन्तरप्रयत्नस्य तुल्यत्वात्। तस्यैव चेह ग्रहणात्। नच चकारशकारयोः सत्यपि बाह्यस्य प्रयत्नस्य तुल्यत्वे सवर्णसंज्ञा प्रसजति। तस्येहाग्रहणात्। यस्य च ग्रहणं तस्य चासमानत्वात्। तस्मात् त्रिपद एव बहुव्रीहिराश्रयितुं युक्तः। न द्वन्द्वगर्भ इति। यदि तर्हि त्रिपदो बहुव्रीहिराश्रीयते भिन्नविभक्तिकत्वादप्राधान्याच्चास्यं तुल्यत्वेनाविशेषितं भवति। ततश्च भिन्नस्थानानामपि सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। नैष दोषः।

यदाधेयं प्रति यदधिकरणमुपादीयते तदाधेयतुल्यतयैव तत् तुल्यमिति विज्ञायते। तथाहि देवदत्तयज्ञदत्तयोस्तुल्यं कांस्यपात्र्यां भोजनमित्युक्ते कांस्यपात्र्यपि तयो स्तुल्येति गम्यते। यं प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नः स तमेव प्रति सवर्णसंज्ञो भवतीत्येषोऽर्थो यतो वचनाल्लभ्यत इह तन्नास्ति। ततश्च यो यं प्रति तुल्यास्यप्रयत्नः स ततोऽन्यमपि प्रति सवर्णसंज्ञः स्यादिति चोद्यमाशङ्क्याह समानजातीयं प्रतीति। समानजातीयो यं प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नस्तं प्रति स सवर्णसंज्ञो भवति। न ततोऽन्यम्। एतच्च तुल्यास्यप्रयत्नशब्दस्य सवर्णशब्दस्य च सम्बन्धिशब्दत्वाल्लभ्यते। सम्बन्धिशब्दो ह्यन्तरेणापि शब्दान्तरसन्निधिं नियतमेव सम्बन्धिनमुपस्थापयति। यथा पितरि शुश्रूषितव्यमिति। नोच्यते स्वस्मिन्निति। सम्बन्धाच्चैतदवगम्यते यो यस्य पितेति। तथेहापि। यद्यपि यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः स तं प्रति सवर्णसंज्ञो भवतीति न चोच्यते तथापि सम्बन्धात् तुल्यास्यप्रयत्नः समानजातीयमेव प्रति सवर्णसंज्ञो भवतीति गम्यते। अथवा समानो वर्णः सवर्ण इत्यन्वर्थसंज्ञेयम्। तेन तुल्यजातीयमेव प्रति सवर्णसंज्ञो भवति। एवं हि समानो ऽस्य वर्णो भवति यदि तमेव प्रति सवर्णसंज्ञो भवति। न विजातीयं प्रति। चत्वार इत्यादि। द्विविधाः प्रयत्नाः। आभ्यन्तरा बाह्याश्च। तत्राभ्यन्तरा श्चत्वारो वृत्तौ दर्शिताः। बाह्या स्त्वेकादश। के पुन स्ते? विवारः। संवारः। श्वासः। नादः। घोषः। अघोषः। अल्पप्राणः। महाप्राणः। उदात्तः। अनुदात्तः। स्वरितश्चेति। तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुः प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्य्यते। स विधार्य्यमाणः स्थानमभिहन्ति। ततः स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते। आकाशे सावर्ण्यश्रुतिः सवर्णस्यात्मलाभः। तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति तदा सा स्पृष्टता। ईषद् यदा स्पृशन्ति तदा सेषत्स्पृष्टता। सामीप्येन यदा स्पृशन्ति सा संवृतता। दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता। एते चत्वार आभ्यन्तराः प्रयत्नाः। आभ्यन्तरत्वं पुनरेषां स्थानकरणप्रयत्नव्यापारेणोत्पत्तिकाल एव सम्भवात्। तत्र स्पृष्टकरणाः

स्पर्शाः। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। स्पृष्टता गुणः। करणं क्रृति-रुच्चारणप्रकारः। स्पृष्टतानुगतं करणं येषां ते स्पृष्टकरणाः। एवमन्यत्रापि वेदितव्यम्। ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः। अन्तःस्था य र ल वाः। विवृतं करण मूष्मणाम्। स्वराणाञ्च। स्वराः सर्वं एवाचः। ऊष्माणः श ष स हाः। अथ वाह्याः प्रयत्नाः किंलक्षणाः ? स एव प्राणो नाम वायुरूर्द्ध-माक्रामन् मूर्द्धि प्रतिहतो निवृत्तो यदा कोष्ठ मभिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्म्म उपजायते। विवृतत्वाद् विवारः। संवृते गलविलेऽव्यक्तः शब्दो नादः। विवृते श्वासः। उपरि वर्त्तिनौ तौ श्वासनादावनुप्रदान मिति केचिदाचक्षते। वर्णनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रदीयत इत्यनुप्रदानम्। अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदान मनुस्वानो घण्टा-निर्ह्रादवत्। यथा घण्टानिर्ह्रादोऽनुस्वान मनुभवति तथेति। तत्र यदा स्थानाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसङ्गाद् घोषो जायते। यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसङ्गादघोषः। महति वायौ महाप्राणः। अल्पवायावल्पप्राणः। यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्न स्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठविवरस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायो स्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्त माचक्षते। यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठविलस्य महत्त्वं स्वरस्य वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति। तमनुदात्त माचक्षते। उदात्तानुदात्तस्वरसन्निकर्षात् स्वरित इत्येवंलक्षणा वाह्याः प्रयत्नाः। वाह्यत्वं पुनरेषां वर्णनिष्पत्तिकालादूर्द्ध्वं वायुवशेनोत्पत्तेः। तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। वर्ग्ययमानां प्रथमे ऽल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणाः। वर्गाणाञ्च तृतीय चतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ संवृतकण्ठा नादानु-प्रदाना घोषवन्तः। वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तःस्थाश्च अल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणाः। यथा तृतीया स्तथा पञ्चमाः। आनुनासिक्य-मेषामधिको गुणः। य एवैते द्विप्रकाराः प्रयत्ना वाह्या आभ्यन्तराश्चाख्याता स्तेषामिह सवर्णसंज्ञायां पूर्व्वोक्ता आभ्यन्तराश्चत्वारः स्पृष्टतादय आश्रीयन्ते।

न बाह्या, विवारादयः । आस्यग्रहणेन विशेषणेन तेषां व्यावर्त्तितत्वात् । स्पृष्टतादय एव ह्यास्ये भवन्ति । न विवारादयः । यद्येवं किमर्थं प्रयत्नग्रहणम् ? एतावदस्तु तुल्यास्यमिति । आस्यग्रहणेनैव हि स्पृष्टतादयोऽपि प्रयत्नाः सवर्णसंज्ञायां निमित्तभूता स्ताल्वादिस्थानवदभ्यन्त एव । तेषामप्यास्ये भवनात् । सत्यमेतत् । तथापि प्रत्येकं व्यापारनिरासार्थमुभयोरुपादानम् । इतरथा हि यथैव स्थानं तुल्यं स्थानान्तरनिरपेक्षं सवर्णसंज्ञायां व्याप्रियत एवं प्रयत्नोऽपि स्थाननिरपेक्षः स्थानञ्च प्रयत्ननिरपेक्षं व्याप्रियेत । ततश्च भिन्नप्रयत्नानामपि तुल्यस्थानानां भिन्नस्थानानामपि तुल्यप्रयत्नानां सवर्णसंज्ञा स्यात् । अ अ अ इत्यादिना येषां यावताञ्च यादृशाञ्च मिथो नित्या सवर्णसंज्ञा तान् दर्शयति । अकाराणां हि सर्वेषाम् अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या इति तुल्यं कण्ठः स्थानम् । इकाराणामपि इचुयशा स्तालव्या इति तालु । उकाराणामपि उपूपध्मानीया ओष्ठ्या इत्योष्ठः । ऋकाराणामपि ऋटुरषा मूर्धन्या इति मूर्धा । ऌकाराणामपि ऌतुलसा दन्त्या इति दन्तः । एकाराणा मैकाराणाञ्च ए ऐ कण्ठतालव्या इति कण्ठतालु । ओकाराणामौकाराणाञ्च ओऔ कण्ठौष्ठ्याविति कण्ठोष्ठम् । प्रयत्नस्तु सर्वेषामेवैषां विवृतं करण मूष्मणां स्वराणाञ्चेति विवृतत्वम् । तस्मात् तुल्यस्थानप्रयत्नत्वात् सर्वेऽकारादयो मिथः सवर्णसंज्ञा । एवं यावदौकारः । अन्तःस्था द्विप्रभेदाः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च रेफवर्जिताः । तेऽपि समानजातीयानन्तःस्थान् प्रति सवर्णसंज्ञा भवन्ति । रेफोष्मणां सवर्णा न सन्तीति । तेभ्योऽन्येऽकारादयो वर्णा विजातीया इत्येषोऽभिप्रायः । तुल्यजातीयास्तु रेफोष्माण स्तुल्यस्थानप्रयत्नाः सवर्णाः सन्त्येव । तत्र रेफस्य तावद् ऋटुरषेभ्यो यवलेभ्यश्चान्ये वर्णा भिन्नस्थानत्वाच्च भिन्नप्रयत्नत्वाच्च सवर्णा न भवन्ति । तथाहि अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । इचुयशास्तालव्याः । ऌतुलसा दन्त्याः । उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः । ए ऐ कण्ठ्यतालव्यौ । ओ औ कण्ठ्योष्ठ्याविति वचनादकारादीनां यथायोगं कण्ठादि स्थानम् । रेफस्य ऋटुरषा मूर्धन्या इति मूर्धा । प्रयत्नोऽप्यनन्तरनिर्दिष्टेष्वकारादिषु ये स्वरास्तेषां विवृतं करण मूष्मणां स्वराणाञ्चेति विवृतत्वम् । ये तु वर्गान्तःपातिनः कका-

रादयस्तेषां स्पृष्टकरणा स्पर्शा इति स्पृष्टता। रेफस्येषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्था इतीषत्स्पृष्टता। शकारसकारावपि स्थानप्रयत्नभेदाद् रेफस्य सवर्णौ न भवतः। तौ हि यथाक्रमं तालव्यदन्त्यौ। रेफस्तु मूर्धन्यः। प्रयत्नोऽपि तयो र्विवृतत्वम्। रेफस्य तु पूर्वोक्त एव। ऋटुषाः प्रयत्नभेदाच्चैव रेफस्य सवर्णा न भवन्ति। नतु स्थानभेदेन। तेषामपि मूर्धन्यत्वात्। प्रयत्नभेदस्तु विद्यते। ऋकारषकारयोः पूर्ववद् विवृतत्वम्। रेफस्य तु स एव पूर्वोक्तः। टवर्गस्य स्पृष्टता। यवलास्तु पुनः स्थानभेदादेव सवर्णा न भवन्ति। नतु प्रयत्नभेदात्। तेषामपीषत्स्पृष्टगुणत्वात्। स्थानभेदस्तु विद्यते। यवलानां यथायोगं तालव्यदन्त्यौष्ठ्यत्वात्। एवं विसर्जनीय जिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वाराः। कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येते च यमाश्चातुल्यस्थानप्रयत्नत्वादेव रेफस्य सवर्णा न भवन्ति। विसर्जनीयो हि कण्ठ्यः। जिह्वामूलीयो हि जिह्व्यः। उपध्मानीय ओष्ठ्यः। अनुस्वारयमा नासिक्याः। रेफस्तु मूर्धन्यः। प्रयत्नस्तु य स्तस्य पूर्वोक्तः स विसर्जनीयादीनां नास्त्येव। तदेवं रेफस्य रेफादन्यो नास्ति कश्चित् सवर्णो वर्णः। अनया दिशोष्मणामपि शकारादीनां सावर्ण्याभावो वेदितव्यः। वर्ग्य इत्यादि। वर्गे भवो वर्ग्यः। दिगादित्वाद् यत् (४।३।५४)। यस्येति (६।४।१४८) चेत्याकारलोपः। वर्ग्यो यो वर्णः सोऽन्येन वर्ग्येण स्ववर्गान्तःपातिना तुल्यास्यप्रयत्नेन सह सवर्णो भवति। यथा ककारः खकारेण। एवमन्यत्रापि वेदितव्यम्। भिन्नस्थानानामित्यादि। एते हि ककारादयः सर्वे स्पृष्टगुणत्वात् तुल्यप्रयत्ना यथाक्रमं कण्ठतालुमूर्धदन्तोष्ठस्थानत्वाद्भिन्नस्थानाः। तप्तां तप्तुमिति। तृप तृन्फ तृप्तावित्यस्य तृचि तुमुनि च रूपम्। भिन्नप्रयत्नानामित्यादि। इकारादयो हि तालव्यत्वात् सर्वे तुल्यस्थाना विवृतत्वस्पृष्टत्वेषत्स्पृष्टत्वप्रयत्नाद् यथायोगं भिन्नप्रयत्नाः। इकारशकारयो र्यद्यपि प्रयत्नोऽप्यभिन्न स्तथापि तयोः प्रतिषेधं वक्ष्यतीति न भवति सवर्णत्वम्। अरुश्चोततीति। श्चुतिर् क्षरण इत्यस्य लटि रूपम्। तत्र परत्रावस्थिते ऽरुस्शब्दस्य सकारस्य रुत्वम्। तस्य विसर्जनीयः। तस्यापि वा (८।३।३६) शरीति सकारः। तस्यापि श्चुत्वं शकारः। होतृकार इति। कथं पुनरत्र ऋकार आदेशो भवति। नहि ऋकार-

ऌकारयोः समुदायस्य स्थानिनः सोऽन्तरतम इत्याह उभयोरित्यादि। ऋकारो मूर्धन्यः। ऌकारस्तु दन्त्यः। तत्र तयोर्यद्येको मूर्धन्यो दन्त्यश्च दीर्घो वर्णोऽन्तरतमः सम्भवेत् तदा सोऽन्तरतम आदेशो भवेत्। स च न सम्भवतीत्यवयवस्य योऽन्तरतम स्तेन भाव्यम्। तत्रापि यदि ऌकारो दीर्घः स्यात् सोऽपि पर्य्यायेण स्यात्। स च नास्ति। तस्मात् पारिशेष्यात् समुदायस्यैकादेशस्य योऽन्तरतमः स एव ऋकारो भवति।

## १०। नाज्झलौ।

तुल्यास्यप्रयत्नावपीति प्रसङ्गे हेतुमाह। प्रसङ्गपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य। दण्डहस्त इत्यत्राकारहकारयोर्द्वयोरपि कण्ठस्थानत्वात् तुल्यस्थानत्वम्। उभयोर्विवृतकरणत्वात् तुल्यप्रयत्नत्वम्। दधि शीतमित्यत्राप्यतएव तुल्यप्रयत्नत्वम्। उभयोस्तालव्यत्वात् तुल्यस्थानत्वम्। सवर्णदीर्घत्वं न भवतीति प्रतिषेधस्य फलं दर्शयति। ननु चाकः (६।१।१०१) सवर्णे दीर्घविधावचीति वर्त्तते। तत्रासत्यपि प्रतिषेधे दीर्घत्वं न भविष्यति। यथा कुमारी शेत इत्यत्र। तदयुक्तमिवोदाहरणद्वयम्। स्यादेतत्। अनुदित् सवर्णस्य (१।१।६९) चाप्रत्यय इत्यकारेकाराभ्यां हकारशकारयोर्ग्रहणे तयोरप्यच्त्वमस्त्येव। ततश्चानुवर्त्तमाने ऽप्यज्ग्रहणे यद्येवं प्रतिषेधो न क्रियते तत् स्यादेव दीर्घत्वमिति। एतच्चासम्यक्। यदि ह्यत्रानुवर्त्तमानेऽप्यज्ग्रहणे दीर्घत्वं स्यात् तदनुवृत्तिरपार्थिकैव स्यात्। तस्मादज्ग्रहणानुवृत्तिसामर्थ्यादजेव योऽज् न कथञ्चन हल् तत्रैव दीर्घत्वं विज्ञास्यते। न हकारशकारयोः। तयोर्हि यद्यप्यकारेकाराभ्यां सावर्ण्येन ग्रहणादच्त्वमस्ति तथापि हल्षूपदेशाद् हल्त्वमप्यस्तीति न तावद्धकारशकारावचावेवापितु हलावपीति। सत्यमेतत्। अयं पुनरत्र वृत्तिकारस्याभिप्रायः। अवश्यं तावदन्यार्थं नाज्झलावित्येतत् कर्त्तव्यम्। यस्येति लोपाभावार्थम्। तदन्यार्थं कृतमेतदर्थमपि स्यात्। एवं तर्ह्यजनुवृत्तिद्वारेण दीर्घत्वाभावप्रतिपत्तौ साध्यायां यत् प्रतिपत्तिगौरवमापद्यते तदपास्तं भवतीति। वैपाश इति। विपाशि भव इत्यण्। यस्येति (६।४।१४८) चेत्यत्रेवर्णं उपादीयमानः सावर्ण्येन शकारमप्युपादत्ते।

एवञ्च तस्य लोपः प्रसज्येत। आनडुहमिति। अनडुहो विकार इति। प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ( ४।३।१५४ )। तत्र यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यत्राकारो गृह्यमाणो हकारमपि गृह्णीयात्। ततश्च पूर्ववत् तस्य लोपः स्यात्।

## ११। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्।

अत्रेदादि यद्द्विवचनं तत् प्रगृह्यमित्येवं वा विज्ञायते? ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तत् प्रगृह्य मिति वा? तत्राद्ये पक्षे पचेते इत्यादौ प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति। नह्येकारमात्रमत्र द्विवचनम्। अपितु आतेशब्द इति। इममाद्ये पक्षे दोषं दृष्ट्वा द्वितीयं पक्षमाश्रित्याह ईदूदेदित्येवमन्तमित्यादि। नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे अग्नी इत्येवमादि न सिध्यति। ईदाद्येव ह्यत्र द्विवचनं न तदन्तम्। आद्यन्तवदेक ( १।१।२१ ) स्मिन्नित्यनेनान्तवद्भावो भवतीत्यदोषः। अग्नी इति। प्रथमयोः ( ६।१।१०२ ) पूर्वसवर्ण इति दीर्घत्वम्। अत्र प्रगृह्यसंज्ञायां सत्यां प्लुतप्रगृह्या ( ६।१।१२५ ) अचीति प्रकृतिभावादिति शब्दे परतोऽकः सवर्णे ( ६।१।१०१ ) दीर्घत्वं न भवति। वायू इत्यत्रापीको ( ६।१।७७ ) यणचीति यणादेशः। शेषेष्वप्युदाहरणेष्वयादेशः। खट्वे इति। औङ (७।१।१८) आप इति शीभावः। आद्गुणः (६।१।८७)। पचेते इति। यजेते इति। स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। आताम्। टेरेत्त्वम्। आतो ङित (७।२।८१) इतीयादेशः। लोपो (६।१।६६) व्योर्वलीति यलोपः। ह्वचावत्र। प्लक्षावत्रेति। भवत्येतद् द्विवचनम्। नत्वीदूदेदन्तम्। तेन प्रकृतिभावाभावादादेशो भवत्येव। कुमार्य्यत्रेति। वयसि ( ४।१।२० ) प्रथम इति ङीपि कृते कुमारीत्येतदीकारान्तम्। नतु द्विवचनान्तम्। तेनासति प्रकृतिभावे भवत्येव यणादेशः। अथ तपरकरणं किमर्थम्? प्लुतनिवृत्त्यर्थमिति चेत्? न। इष्टत्वात् प्लुतस्य। यथा च तपरत्वे क्रियमाणेऽपि प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञा सिध्यति तथा भाष्ये असिद्धः प्लुत स्तस्यासिद्धत्वात् तत्काल एवेत्यादिना प्रतिपादितम्। गुणान्तरभिन्नानां तत्कालानां ग्रहणार्थमिति चेत्? न। अभेदकत्वाच्छास्त्रे गुणानामित्यत आह तपरकरणमसन्देहार्थमिति। असति

ह्रि तपरकरणे ईकारस्योकारस्य च यणादेशः स्यात् । ततश्च सन्देह एव स्यात् किमिदं यकारवकारयोर्ग्रहणमाहोस्विदिकारोकारयोरिति । वक्तव्य इति । व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । वक्ष्यमाणं शाकल्यग्रहणमिहोपतिष्ठते सिंहावलोकितन्यायेन । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन मणीवादीनां प्रतिषेधो भविष्यति । मणीव । दम्पतीव । रोदसीवेति । मणीवेत्यादयः शब्दा द्विवचनान्ताः । तत्रासति प्रगृह्यत्वेऽकः सवर्णे ( ६।१।१०१ ) दीर्घ एकादेशो भवत्येव ।

## १२ । अदसो मात् ।

अदः सम्बन्धी यो मकार इति । अवयवावयविभावलक्षणेन सम्बन्धेन षष्ठी । अमी अत्रेति । अदस् शब्दात् परस्य जसः ( ७.१।१७ ) शी । त्यदाद्यत्वम् ( ७।२।१०२ ) । अतो गुणे ( ६।१।९७ ) पररूपत्वम् । ईकारेण सहाद् (६।१।८७) गुणः । एत (८.२।८१) ईद्बहुवचन इतीत्त्वम् । दस्य (८।२ ८०) च मत्वम् । अयमद्विवचनार्थ आरम्भः । अमू आसाते इति । अदसो द्विवचनमौ । त्यदाद्यत्वम् । वृद्धि ( ६।१।८८ ) रेचीति वृद्धिः । अदसो सेर्दादुदो (८।२।८०) म इत्यौकारस्य दीर्घस्य स्थाने तादृश एवान्तरतम्यादूकारः । अत्राप्यूकारादिकार्य मसिद्धमिति पूर्वेणाप्राप्तिः । अतः पूर्वत्रासिद्धमित्यस्य ( ८.२।१ ) बाधनार्थ आरम्भः । कथं पुनः पूर्वत्रासिद्धमित्येतच्छक्यं बाधितुम् । वचनसामर्थ्यात् । नैतदस्ति । यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यम् अणोऽप्रगृह्यानुनासिक ( ८।४।५७ ) इति तदर्थं वचनं स्यात् । नैतदेवम् । नह्येकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति । यदि ह्येतावत् प्रयोजनं स्यात् तत्रैवेदम् ब्रूयात् । अणो प्रगृह्यस्यानुनासिकः । अदसो नेति । शम्यत्र । दाड़िम्यत्रेति । षिद् (४।१।४१) गौरादिभ्यश्चेति ङीष् । यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपः । भवत्ययं मकारात् पर ईकारः । नत्वदः सम्बन्धीति । अमुकेऽत्रेति । अव्यय (५।३।७१) सर्वनाम्नामित्यकच् । जसः ( ७।१।१७ ) शी । आद् ( ६।१।८७ ) गुणः । पूर्ववदत्वमत्वे । अमुके इति स्थिते परत्र चात्रशब्दे एङः ( ६।१।१०९ ) पदान्तादतीति पूर्वरूपत्वम् ।

## १३। शे।

शे इति। शेश्रुतेरविशिष्टत्वात् काशे कुशे इत्यत्र यः शेशब्द स्तस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति। अतो विशेषो वक्तव्य इत्यभिप्रायेणाह किमिदं शे इति। सुपामित्यादि। यस्तु काशकुशशब्दाभ्यां सप्तम्येकवचने च कृत आद् (६।१।८७) गुणे च शेशब्दः सम्पद्यते तस्येह ग्रहणं न भवति। लाक्षणिकत्वादिति भावः। युष्मे अस्मे इति। षष्ठीबहुवचनस्य सुपां (७।१।३९) सुलुगित्यादिना शे शब्दादेशः। शेषे (७।२।९०) लोपः। अथवा प्रथमाबहुवचनस्यैव शेभावः। छान्दसत्वाद् यूयवयौ (७.२।९३) जसीत्येतन्न प्रवर्त्तते। त्वे इति मे इति। सप्तम्येकवचनस्य पञ्चम्येकवचनस्य च शेभावः। त्वमावेकवचन (७।२।९७) इति युष्मदस्मदोस्त्वमावादेशौ। इतरत् तु लौकिकमनुकरणमिति। यदा युष्मे इति अस्मे इत्येवमादिकं तदा लौकिक मनुकरण मिति भावः।. यदा युष्मे अस्मे इत्यादीनां वेदवाक्यस्थानामर्थादवच्छिद्य स्वरूपेऽवस्थानार्थं पदकारैरितिकरणोऽध्याक्रियते तदा युष्मे इति अस्मे इत्येवमादिक मुदाहरण मिति भवति। इतरत् तु लौकिक मनुकरण मित्युक्ते न युष्मे वाजबन्धवः। त्वे रायः। मे राय इत्येतेष्वपि वेदवाक्येषु यद् युष्मे इत्यादि शेशब्दान्तं शब्दरूपं तदपि लौकिक मनुकरण मिति कस्यचित् मन्दधियः भ्रान्तिः स्यात्। अत स्तान्निराकर्त्तुमितरशब्देन यदिह विवक्षितं तत् स्वरूपेण दर्शयितु माह युष्मे इति। अस्मे इति। त्वे इति। मे इति। यद्येवं किमर्थं न युष्मे वाजबन्धव इत्यादीनामुपन्यासः? एषु वेदवाक्येषु ये युष्मे इत्यादयः शब्दास्तेषामेतान्यनुकरणानीति प्रदर्शनार्थः। अन्यथा हि न ज्ञायते कस्यैतान्यनुकरणानीति।

## १४। निपात एकाजनाङ्।

एकाजिति बहुव्रीहि र्वायं स्यात् कर्म्मधारयो वा? यदि बहुव्रीहिः प्रशब्दस्यापि प्रगृह्यसंज्ञा स्यात्। ततश्च प्रोपाभ्यामिति (१।३ ४२) निर्देशो नोपपद्येत। प्राग्नय इति च प्रत्युदाहरणम्। तस्मात् कर्मधारयोऽय मिति मनसि कृत्वाह एकश्चासावचेत्येकाजिति। अ अपेहीत्यादीनि त्रीणि

च्छान्दसान्युदाहरणानि । इतरत् तु लौकिकम् । तत्र आ एवं नु मन्यस इत्यत्राकारो वाक्यपरिपूरणार्थः । आ एवं किल तदित्यत्र तु स्मरणार्थः । चकारात्रेति । करोतेर्लिट् । परस्मैपदानामित्यादिना ( ३ ४।८२ ) तिपो णल् । वृद्धिः । रपरत्वम् । द्विर्वचनेऽचीति ( १।१ ५९ ) स्थानिवद्भावेन द्विर्वचनम् । उरत्त्वम् ( ७।४·६६ ) । कुहोश्चुरिति ( ७।४।६२ ) चुत्वम् । भवत्ययं णलकार एकाच् । नतु निपातः । प्राग्नय इति । प्रशब्दो भवति निपातः । नत्वेकाच् । तेन प्लुतप्रगृह्या अचीति ( ६।१।१२५ ) प्रकृतिभावो न भवति । अकः सवर्णे ( ६।१।१०१ ) इति दीर्घत्वं तु भवत्येव । आकारोऽत्र हि ङिद्विशिष्ट उपात्तः । तस्य न ज्ञायते क्व च ङित्त्वं क्व च नेति । अतो ङित्त्वाङित्त्वयोर्विषयविभागप्रदर्शनार्थ माह ईषदर्थ इत्यादि । तत्रेषदर्थे आ उष्णम् ओष्णमिति । ईषदुष्ण मित्यर्थः । क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञायां ङिद्विशिष्ट एव पठ्यते ।

प्रपराप समन्वव निर्दु
र्व्याङ्न्यधयोप्यतिसूदभयश्च ।
प्रतिना सह लक्षयितव्याः
पर्य्युपयोरपि लक्षण मत्र (A) ॥ १ ॥ इति

आ इहि एहि । आ अस्ति आस्ति । मर्य्यादाभिविध्योरपि ङिद्विशिष्ट एव पठ्यते । आङ् मर्य्यादाभिविध्योरिति । मर्य्यादा सीमा । अवधिः । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् प्रियं प्रोथमनुव्रजेत् । अभिविधिरभिव्याप्तिः । आ अहिच्छत्रात् । आहिच्छत्रं वृष्टो देवः । अहिच्छत्रं गृहीत्वा वृष्टो देव इत्यर्थः । ङिद्विशिष्टस्यानाङिति प्रगृह्यसंज्ञाप्रतिषेधात् स्वरसन्धि र्भवति । अथैत मातमितरत्रैतदो द्वितीयाटौस्स्वेन ( २।४ ३४ ) इत्येनादेशः कस्मान्न भवति ? अन्वादेश इति तत्रानुवर्त्तते । अस्ति चेहान्वादेश इत्यस्ति प्राप्तिः । यथा न भवति तथा तत्रैव प्रकरणे वृत्तिकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति पुनरिह नोच्यते । आतमित्याकारे तकारो मुखसुखार्थः । ये तु पुनरेतमाङ-

---

(A) श्लोकेऽस्मिन् वेगवतीनामच्छन्दः । विषमे प्रथमाक्षरहीनं दोधकमेव हि वेगवती स्यादिति । सयुगात् सगुरु विषमे चेद् भाविह वेगवती युजि भाद् गाविति वा लक्षणात् ।

मिति ङकारसहित माकारं पठन्ति तेषां ङितं विद्यादिति वचन मनर्थकं स्यात्। ङकारसहितस्य पाठादेव ङित्त्वविज्ञानात्। तस्मात् तकारपर एवाय माकारः पठितव्यः। वाक्यस्मरणयो रिति। वाक्यशब्देन वाक्यार्थ उक्तः। अभिधेये ऽभिधानोपचारात्। प्रक्रान्तं हि वाक्यार्थं किञ्चिदपेक्ष्येदं प्रयुज्यते। आ एवं नु मन्यस इति। एवमयं वाक्यार्थो विज्ञायत इत्यर्थः। पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थप्रदर्शनपरोऽय माकारः प्रयुक्तः। अथवा पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थस्यान्यथाकरणमिदं प्रयुज्यते। आ एवं नु मन्यस इति। नैवं पूर्वममंस्थाः। सम्प्रति त्वेवं मन्यस इति। अथवा वाक्यशब्देन वाक्यमेवोच्यते। वाक्यावयवो निरर्थक एवाकारः प्रयुज्यत इति। स्मरणं स्मृतिः। तत्र य आकारो वर्त्तते स्मृतिसूचकः स ङिन्न भवति। आ एवं किल तत्। एवमिदं विज्ञातमित्यर्थः। ज्ञातं स्मृतमेव। अथवा स्मर्त्तव्यार्थविषयः पूर्वमाकारः प्रयुज्यते। आ इति स्मृतेरुत्तरकालमर्थं आख्यायते। आ इत्येतस्यैवं किल तदिति भवत्ययमर्थ इत्यर्थः। वाक्यस्मरणयो राकारस्य प्रगृह्यसंज्ञास्त्येवेति प्लुतप्रगृह्या (६।१।१२५) अचीति प्रकृतिभावः। तेन वृद्धिरेचीति (६।१।८८) वृद्धिर्न भवति।

१५। ओत्।

१६। सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।

सम्बुद्धिनिमित्त इति। सम्बुद्धि र्निमित्तं यस्य स तथोक्तः। एतेन सम्बुद्धावित्यस्य निमित्तसप्तमीत्वं दर्शयति। परसप्तम्यां त्वस्यां हे त्रपो इत्यत्र न स्यात्। स्वमोर्नपुंसकादिति (७।१।२३) सम्बुद्धे र्लुप्तत्वादिति भावः। सम्बुद्धौ चेति (७।३।१०६) वर्त्तमाने ह्रस्वस्य गुण (७।३।१०८) इत्यनेन यो गुणो विधीयते स सम्बुद्धिनिमित्तः। तस्य सम्बुद्धिनिमित्तत्व मुपादाय विहितत्वात्। गवित्ययमाहेति। केनचिद् गौरिति वक्तव्ये शक्तिवैकल्याद् गो इत्युक्तम्। तमन्यो यदानुकरोति तत्रैतत् प्रत्युदाहरणम्। ननु चानुकार्य्येणार्थेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वे सति विभक्त्यात्र भवितव्यमित्यत आह अत्रेत्यादि। अत्रानुक्रियमाणस्यानुकरणस्य यदि भेदो विवक्ष्यते ततोऽर्थवत्तायां

सत्यां स्यादिभक्तिः । स तु न विवक्ष्यत इति कुत स्तस्याः प्रसङ्गः ? नहीह शब्दशास्त्रे वस्तुनः सत्तैव शब्दसंस्कारस्य प्रधानं कारणम् । किं तर्हि विवक्षा च । सा चेह नास्ति । शाकल्यग्रहणं विभाषार्थमिति । एतेन पूजार्थताशङ्कां निरस्यति । यदि हि पूजार्थ मेव तत् स्याद् विकल्पो न भवेदिति भावः ।

१७ । उञः ।

१८ । ऊँ ।

तेन त्रीणि रूपाणि भवन्तीति शाकल्यग्रहणानुवृत्तेः फलं दर्शयति । यदि ह्यत्र शाकल्यग्रहणं नानुवर्त्तेत तदा पूर्वसूत्रेण यस्मिन् पक्ष उञः प्रगृह्य-संज्ञा न विहिता तस्मिन्ननेन नित्यमूँ आदेशः स्यात् । तत उ इति ऊँ इति च द्वे रूपे स्याताम् । न वितीति तृतीयम् । शाकल्यग्रहणानुवृत्तौ तु सत्यां यस्मिन् पक्षे पूर्वसूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञा उञो न कृता तस्मिन्ननेन ऊँ आदेशे विभाषा विहिते वितीति तृतीयं रूपं सिध्यति ।

१९ । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ।

अध्यस्यां मामकी तनू इति । एतद् वेदवाक्यं वेदितव्यम् । अत्र मामकी तनू इति शब्दौ सुपां सुलुगिति (७।१।३९) लुप्तसप्तमीकौ । तत्र यदा अर्थाद्यवच्छिद्य स्वरूपे व्यवस्थापनायेतिशब्दः प्रयुज्यते तदैते उदाहरणे । मामकी इति । तनू इति च । तथा सोमो गौरी इत्येतदपि । मामक्यामि-त्यादेरुपन्यासः सप्तम्यर्थप्रदर्शनार्थः । डादेश इति । सुपां सुलुगित्यादिना (७।१।३९) । तत्रेति शब्दे परतोऽकः (६।१।१०१) सवर्णे दीर्घत्वं भवत्येव । धीती इत्यादि । धीतिमतिसुष्टुतिशब्देभ्यः परस्य तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । लुग् वा । इतिशब्दे परतोऽकोऽत्रापि सवर्णदीर्घत्वं भवत्येव । धीत्येत्यादिना तृतीयार्थवृत्तितां दर्शयति । वाप्यामश्वो नद्या मातिरिति संज्ञायामिति (२।१।४४) सप्तमीसमासः । अथार्थग्रहणे क्रियमाणेऽपि कस्मादेवात्र न भवति ? अस्ति ह्यत्रापि सप्तम्यर्थः । नैतदस्ति । अर्थग्रहणसामर्थ्यात् । अर्थग्रहणे सति केवलो योऽसंसृष्टः

सप्तम्यर्थः स इह गृह्यते। नैवंविधे समासे सप्तम्यर्थः सम्भवति। संविभिन्नोभयरूपत्वाद्वृत्तौ वर्त्तिपदार्थानाम्। एषो ऽजहत्स्वार्थायां वृत्तौ परिहार उक्तः। जहत्स्वार्थायान्तु तस्यां वाक्यावस्थायामुपसर्जनीभूतो योऽर्थं स्वं शब्दो जहातीति सप्तम्यर्थो नास्त्येव। तेनार्थग्रहणे सति समासे प्रगृह्यसंज्ञा न भवति। अथ तपरकरणं किमर्थम्? प्लुतनिवृत्त्यर्थ मिति चेत्? न। असम्भवात्। न प्लुते हीकारोकारान्तं सप्तम्यर्थवृत्तिरूपं किञ्चिदस्ति यद्व्यावृत्तये तपरकरणं क्रियते। गुणान्तरभिन्नानां तुल्यकालानां ग्रहणार्थमिति चेत्? न। अभेदकत्वाच्छास्त्रे गुणानाम् इत्यत आह तपरकरणमित्यादि। तपरत्वे ह्यसति यणादेशः स्यात्। ततश्च किमयं दीर्घ उत ह्रस्व इति सन्देहः स्यात्। स मा भूदिति तपरत्वं क्रियते। ईदूतौ सप्तमीत्यादि। ईदूतौ सप्तमीत्येतावदेव सूत्रमस्तु। किमर्थग्रहणेन? लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेदिति। इह सोमो गौरी अधिश्रित इति लुप्तायामपि सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थमर्थग्रहणम्। अत्र हि सप्तम्या अभावात् प्रगृह्यसंज्ञा न स्यात्। अर्थग्रहणात् तु भवति। सप्तम्यर्थस्य विद्यमानत्वात्। पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसाविति। स्यादेतत्। नैवात्र सप्तम्या लुक् क्रियते। किं तर्हि? सुपां सुलुगित्यादिना ( ७।१।३९ ) पूर्वसवर्ण ईकारः। तत्राकः सवर्णे दीर्घत्वे कृते तस्यान्तवद्भावे सति सप्तमीग्रहणेन ग्रहणादस्त्येव सप्तमी। ततो नार्थोऽर्थग्रहणेनेति। एतच्चायुक्तम्। एवं हि सत्याड़ाम्भावः प्रसज्यते। यद्यत्र पूर्वसवर्णः स्यात् तदा परत्वादकः ( ६।१।१०१ ) सवर्णदीर्घत्वं बाधित्वा ऽण् ( ७।३।११२ ) नद्याडित्याटो भाव आपद्यते। ङे राम् ( ७।३।११६ ) नद्याम्नीभ्यश्चेत्यामश्च। भावः प्रादुर्भावः सत्ता वा। तस्मात् पूर्ववल् लुगेव कर्त्तव्यः। ततश्चासत्यां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न स्यात्। तस्मादर्थग्रहणं कर्त्तव्यम्। न कर्त्तव्यम्। यस्मात् सर्वत्रैव सप्तम्या लुका भवितव्य मिति न क्वचित् सप्तम्यस्ति। उच्यते चेदं वचनम्। तत्र वचनसामर्थ्याल्लुप्तायामपि तस्यां भविष्यति। नैतदस्ति। यतो वचनाद् यत्र दीर्घत्वं तत्र भविष्यति। यथा दृतिं न शुष्कं सरसी शयान मिति। अत्र सरःशब्दात् परस्याः सप्तम्या इयाड़ियाजीकाराणामित्यस्मादुपसंख्यानाद्

(७।१।३९ वार्त्तिक) व्यत्ययो बहुल (३।१।८५) मित्यतो वा दीर्घ ईकारे कृते सप्तमी श्रूयते । ततश्चात्र वचनस्य सावकाशत्वात् सोमो गौरी अधिश्रित इत्यत्र न स्यात् । तत्रापि सरसी यदीति । यदि सरसीशब्दोऽस्ति तदात्रापि नैवावकाशः । अस्ति च सरसीशब्दः । तथाहि गौरादिषु (४।१।४१) पिप्पल्यादयश्चेति पाठात् पिप्पल्याद्यन्तःपातिनः सरःशब्दादीकारे कृते सरसीति रूपं सम्पद्यते । तथाच दक्षिणापथे महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते । सरसीशब्दस्य प्रगृह्यसंज्ञायां प्रयोजनं तत उत्पन्नायाः सप्तम्या लुकि कृत इतिशब्दे चाध्याहृते सरसी इत्यत्र स्वरसन्ध्यभावः । तदेवं सरसीशब्दो विद्यत एवेति । दृतिं न शुष्कं सरसी शयान मित्यत्रापि सरसीशब्दो लुप्तसप्तमीक एव प्रयुक्तः । तथाच तदेवावस्थितम् । वचनाद् भविष्यतीति प्रत्याख्यात मर्थग्रहणम् । एवं तर्हि ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे । ईदूदेद्द्विवचन मित्यत्र चत्वारः पक्षा आश्रीयन्ते । ईदादयो हि द्विवचनेन विशिष्यन्ते । ईदादि यद् द्विवचनमिति । ईदादिभिर्वा द्विवचनम् इति । ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति । द्विवचनप्रकृति र्वाभ्यां द्विवचनान्तमीदाद्यन्तं यच् शब्दरूप-मिति । इदादिभिर्वा द्विवचनं विशिष्य पश्चात् तेनेदन्तेन द्विवचनेन प्रकृतिः । ईदाद्यन्तं यद्द्विवचनं तदन्तं शब्दरूपमितीदाद्यन्तं द्विवचनान्तमित्यर्थः । तत्र तृतीये पक्षे दोष उक्तः । कुमार्य्योरगारं कुमार्य्यगारम् । बध्वोरगारं बध्वगारमित्यत्र प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्नोति । एतदीदाद्यन्तं द्विवचनान्तञ्च भवति । प्रत्ययलक्षणेनेति चतुर्थे पक्षेऽपि दोष उक्तः । अशुक्ले वस्त्रे शुक्ले सम्पद्येतां शुक्लयास्तां वस्त्रे इत्यत्र प्राप्नोति । शुक्लशब्दाच् च्विप्रत्ययान्तान् नपुंसकाच्च (७।१।१९) त्यौङः शीभावे कृतेऽव्ययादाप्सुप (२।४।८२) इति लुक् । एतच्चीदाद्यन्तं द्विवचनान्तं भवति । प्रत्ययलक्षणेनेति तदन्तत्व इति । अनेन तृतीयचतुर्थपक्षावुपलक्षयति । तदन्तत्वे तदन्तपक्षे तृतीये चतुर्थे च ज्ञापकं भवेदेतदर्थमर्थग्रहणम् इति । इह प्रगृह्यप्रकरणे प्रत्ययलोपलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवतीति । यदि हि स्यादर्थग्रहणमनर्थकं स्यात् । एता-वद् वक्तव्यमीदूतौ च सप्तमीति । सप्तम्या लुकि कृते प्रत्ययलक्षणेन सप्तमी-सहचरितौ यावीदूतौ सप्तम्यां परतो वा यावीदूतौ तयोः प्रगृह्यसंज्ञा भवत्येवेति

नार्थोऽर्थग्रहणेन । अर्थग्रहणाद्विज्ञायते प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवतीति । तेन तदन्तपक्षद्वये यो दोष उक्तः स न भवति । मा वा पूर्व्वपदस्य भूदिति । पूर्व्वपदग्रहणेन समास उपलक्ष्यते । यस्मात् समासे सत्येतद् भवति पूर्व्वपदमुत्तरपदमिति । तदेतदुक्तं भवति वाय्वश्वो नद्यातिरित्यादौ समासे प्रगृह्यसंज्ञा माभूदित्येवमर्थमर्थग्रहणमिति । यथा च तस्मिन् सति समासे प्रगृह्यसंज्ञा न भवति तथा पूर्व्वमेव प्रतिपादितम् ।

## २० । दाधा घ्वदाप् ।

दाधा इति । दारूपाणां चतुर्णां कृतैकशेषाणां धारूपयोर्द्वयोश्च कृतैकशेषयोर्द्वन्द्वः । ननु च लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् । न तु लाक्षणिकस्येत्यनया परिभाषया दो अवखण्डने देङ् रक्षणे धेट् पान इत्येतेषां ग्रहणं न स्यात् । नैतदस्ति । तस्या हि परिभाषाया गामादाग्रहणेष्वविशेष इत्यपवादोऽस्ति । तेन सत्यपि लाक्षणिकत्वे दोदेङौ तावद् गृह्येते । धेटोऽपि लिङ्गाद् ग्रहण मनुमीयते । तत् पुनर्लिङ्गं दैपः पकारानुबन्धः । स ह्यदाबिति दाप्प्रतिषेधसामान्यग्रहणार्थः क्रियते । यदि चास्याः परिभाषाया इह व्यापारः स्याद् दैपः पकारानुबन्धकरणमनर्थकं स्यात् । लाक्षणिकत्वादेव ह्यस्य ग्रहणं न भविष्यतीति किं प्रतिषेधेऽस्य ग्रहणेन ? ननु च लाक्षणिकमपि दारूपं धारूपं च धेटो नोपपद्यत एव । सानुबन्धकस्य ह्यनेजन्तत्वादात्त्वानुपपत्तेः । नैष दोषः । यदयमुदीचां माङो व्यतिहारे ( ३।४।१९ ) इति मेङः सानुबन्धकस्यात्त्वभूतस्य निर्देशं करोति तज् ज्ञापयति नानुबन्धकृत मनेजन्तत्वमिति । ननु च माङ्-मान इत्यस्याप्यसौ निर्देशः स्यात् । तत् कथं ज्ञापकम् ? नैतदस्ति । मेङ् प्रणिदान इत्ययमेव व्यतिहारे वर्त्तते । न माङ् मान इति । तस्मान् मेङ एवायं कृतात्त्वस्य निर्देशो ज्ञापनार्थः । प्रणिददातीति । नेर्गदनद पतपदघुमास्यति ( ८।४।१७ ) हन्तीत्यादिना घुसंज्ञायां सत्यामिह णत्वं भवति । प्रणिदातेति । तृजन्तम् । प्रणिद्यतीति । ओतः ( ७।३।७१ ) श्यनीत्योकारलोपः । अस्मिन्विषये दारूपोऽयं भवतीत्यत्र घुसंज्ञा प्रवर्त्तत एव ।

दातं बर्हिरिति। घुसंज्ञाया अभावाद् दो दद्घोरि त ( ७।४।४६ ) ददादेशो न भवति। अवदातमिति। अत्रापि निष्ठेति (३।२।१०२) क्तप्रत्ययः। अत्राच ( ७।४।४७ ) उपसर्गात्त इति तकारादेशो न भवति।

## २१। आद्यन्तवदेकस्मिन्।

असहायस्येत्यादिना सूत्रारम्भस्य फलं दर्शयति। इतिकरणो हेतौ। यस्मादादेरन्तस्य यानि कार्य्याण्युपदिष्टानि तान्यविद्यमानसहायस्य न सिध्यन्ति। तस्मादतिदेशोऽय मारभ्यते। द्वितीयादिकं हि सहायमपेक्ष्याद्यन्तशब्दौ प्रवर्त्तेते। तथाहि लोकः सति हि परस्मिन् सहाये पूर्वाभावे चादिरिति व्यपदिशति। सति च पूर्वस्मिन् पराभावे चान्त इति। अतस्तदुभय मसहाये नास्तीति। तत्राद्यन्तप्रतिबद्धानि कार्य्याणि न स्युर्यद्यय मतिदेशो नारभ्यते। एकस्मिन्निति वचनादाद्यन्तवदित्यत्र सप्तमी समर्थादिति गम्यत इत्याह। सप्तम्यर्थे वतिरिति। आद्यन्तयोरिवाद्यन्तवत्। तत्र तस्येवेति ( ५।१।११६ ) वतिः। औपगव इत्यत्राप्यादिव्यपदिष्टं कार्य्यमतिदेशस्य फलम्। प्रत्ययाद्युदात्तत्वं ह्यादेरुपदिष्टम्। आद्युदात्तश्चेति ( ३।१।३ ) वचनात्। आभ्यामिति। अत्रान्तोपदिष्टम्। दीर्घत्वं ह्यन्तस्योपदिष्टम्। अलोऽन्त्यस्येति ( १।१।५२ ) वचनात्। इदमो भ्याम्। त्यदाद्यत्वम् ( ७।२।१०२ )। अतो गुणे ( ६।१।९७ ) पररूपत्वम्। हलि लोप (७।२।११३) इतीद्रूपस्य लोपः। सुपि (७।३।१०२) चेति दीर्घः। सभासन्नयने भवः साभासन्नयन इति। यद्येकग्रहणं न क्रियेत तदा यत्राद्यन्तव्यपदेशो नास्ति तत्रातिदेशो युक्त इत्याद्यन्तव्यपदेशरहिते मध्ये ऽप्यतिदेशः स्यात्। आद्यन्तवदिति वचनसामर्थ्यात्। ततश्च सभाशब्दाकारस्यादित्वे सति सभासन्नयनशब्दस्य यं आकार वृद्धिसंज्ञकं तमाकार माश्रित्य वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् ( १।१।७३ ) वृद्धमिति वृद्धसंज्ञा स्यात्। तस्याञ्च सत्यामणं बाधित्वा वृद्धाच्छ (४।२।११४) इति छप्रत्ययः प्रसज्येत। ननुच मध्येऽपि यस्य वृद्धसंज्ञकं तस्यापि यदि वृद्धसंज्ञा स्यादादिग्रहणं वृद्धसंज्ञासूत्रे निरर्थकं स्यात्। व्यवच्छेद्याभावात्। नैतदस्ति। आदिग्रहणसामर्थ्याद्धि यस्य यत्र विशिष्ट मादित्व-

मनातिदेशिकं मुख्यं तत्परिग्रहणार्थं तदादिग्रहणं स्यात्। तस्माद्ग्रस्य च न कदाचिदपीत्थमेवंविधमादित्वं सम्भवति तदादिग्रहणस्य व्यवच्छेद्यं भविष्यति। यथा जानातीति ज्ञा इत्यादि। सभासन्नयने तु ये परे ऽज्वर्णा स्तदपेक्ष मस्ति विशिष्ट मनातिदेशिक मादित्व मिति प्रवर्त्तत एव तत्र वृद्धसंज्ञा।

## २२। तरप्तमपौ घः।

कुमारितरेति। द्विवचनविभज्योपपदेत्यादिना (५।३।५७) तरप्। कुमारितमेति। अतिशायने (५।३।५५) त्यादिना तमप्। तयोर्घसंज्ञायां सत्यां घरूपकल्पेत्यादिना ह्रस्वत्वं (६।३।४३) भवति।

## २३। बहुगणवतुडति संख्या।

अत्र बहुगणशब्दौ प्रातिपदिके। वतुडतौ प्रत्ययौ। बहुकृत्व इति। संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने (५।४।१७) कृत्वसुच्। बहुधेति। संख्याया विधार्थे धा (५।३।४२)। बहुक इति। संख्याया (५।१।२२) अतिशदन्तायाः कन्। तावत्कृत्व इत्यादि। तच्छब्दाद् यत्तदेतेभ्यः (५।२।३९) परिमाणे वतुबिति वतुपि कृत आ (६।३।९१) सर्वनाम्न इत्यात्त्वे कृते तावदिति भवति। किंशब्दात् किमः संख्यापरिमाणे डतौ कृते टिलोपे च कतीति भवति। ताभ्यां पूर्ववदेव कृत्वसुजादयः। बहुगणशब्दयोरित्यादि। बहुशब्दोऽयं संख्यावचनोऽप्यस्ति। वैपुल्यवचनोऽपि। गणशब्दः संख्यावचनोऽप्यस्ति। सङ्घवचनोऽपि। तत्र यौ वैपुल्यसङ्घवचनौ तयोरिह ग्रहणं नास्ति। संख्यावाचिनोरेव तयो रेषा संख्यासंज्ञा विधीयते। तत् कथं संख्येत्यन्वर्थसंज्ञेयम्? संख्यायतेऽनयेति संख्या। नच यो वैपुल्ये बहुशब्दो वर्त्तते यश्च संघे गणशब्द स्ताभ्यां संख्यायते। तथाहि बहुरोदन इत्युक्ते वैपुल्यं गम्यते। तथा महान् भिक्षूणां गण इत्युक्ते सङ्घः। नतु संख्यानम्। तस्मादन्वर्थसंज्ञाकरणाद् यावेकद्विसंख्याव्यवच्छेदेन संख्याविशेषमाहतु स्तयोरेव ग्रहणम्। यद्येवं किमर्थं तयोरियं संज्ञा विधीयते? यावता संख्यावाचिनौ तौ लौकिकसंख्यायाम् अन्तर्भूतौ। लौकिकी च संख्या शास्त्रे

यद्यत एव । अन्यथा संख्याया अतिशदन्तायाः ( ५।१।२२ ) कन्नित्यत्रा तिशदन्ताया इति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । शास्त्रीयायाः संख्याया अतिशदन्ताया अभावादित्यत आह भूर्य्यादीनां निवृत्त्यर्थमिति । भूरि-प्रभूतमित्येवमादय स्तज्जातीयाः प्रचुरविशेषवाचिनः सन्ति । तेषां मा भूदित्येवमर्थं बहुगणशब्दयोः संख्यासंज्ञा विधीयते । तदेतेन नियमार्थ-मेतयोः संज्ञाविधानमेतदिति दर्शयति । तुल्यजातीयापेक्षया हि नियमः । अतस्तुल्यजातीयानां भूर्य्यादीनामिव नियमेन व्यावृत्तिः क्रियते । नान्येषाम् । अर्धपूर्वपदश्चेति । अर्धशब्दः पूर्वपदं यस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य सोऽर्धपूर्वपदः स च संख्यासंज्ञो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येय मित्यर्थः । किमर्थमित्याह समासकन्विध्यर्थमिति । तत्रेदं व्याख्यानम् । डति चेत्यत्र ( १।१।२५ ) यश्चकारः स इह स्वरितत्वमासज्य सिंहावलोकितन्यायेनोपस्थाप्यते । स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेनार्द्धपूर्वपदस्य पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति । अर्द्धपञ्चमशूर्प इति । अर्द्धं पञ्चमं येषामिति बहुव्रीहिः । अर्द्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतमिति तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ( २।१।५१ ) चेति समासः । संख्यापूर्वो (२।१।५२) द्विगुरिति द्विगुसंज्ञा । शूर्पादन्यतरस्यामिति (५।१।२६) विहितस्याञ्ठञो वाऽध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायामिति ( ५।१।२८ ) लुक् । अर्द्धपञ्चमक इति । संख्याया ( ५।१।२२ ) अतिशदन्तायाः कन् ।

## २४ । ष्णान्ता षट् ।

स्त्रीलिङ्गनिर्देशादित्यादि । ष्णान्तेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः क्रियते । न चेह किञ्चित् स्त्रीलिङ्गं श्रूयते । नापि प्रकृतमन्यत् संख्यायाः । तस्मात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् संख्यैव ष्णान्तेत्यनेन विशेषणेन विशिष्यते । षड़िति चानया संज्ञया सम्बध्यते । यदि ष्णान्तेत्यत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशो न क्रियेत सर्व्वं ष्णान्तं शब्दरूपं षट्संज्ञं स्यात् । ततः पामानो विप्रुष इत्यादावपि षड्भ्यो (७।१।२२) लुगिति लुक् प्रसज्येत । ननु च संख्येत्यनुवर्त्तिष्यते । तत् कुतोऽति-प्रसङ्गः ? सत्यमेतत् । सैवानुवृत्तिः स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन स्पष्टीक्रियते । यदि संख्येत्यनुवर्त्तते सामर्थ्यादेव तदन्तता विज्ञास्यते । नहि कारमात्रं वा

नकारमात्रं वा संख्यास्ति। तदपार्थकं मन्तग्रहणम्। नैतदस्ति। उपदेशावस्थायां या षान्ता सा षट्संज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थत्वादन्तग्रहणस्य। असति तस्मिन्, शतानि सहस्राणीति नुमि कृते षट्संज्ञा स्यात्। इह चाष्टानामित्यष्टन आत्वे कृते षट्संज्ञा न स्यात्। ततश्च षट्चतुर्भ्यश्चेति (७।१।५५) नुण् न भवति।

## २५। डति च।

डत्यन्ता या संख्या सा षट्संज्ञा भवतीति। संख्याग्रहणेनेहापि संख्यानुवर्त्तत इति दर्शयति। किमर्थं पुनः सेहानुवर्त्तते ? पातेर्डतिः पतय इत्यत्र माभूत्। अथ संख्यानुवृत्तावपि कस्मादेवात्र न भवति ? यावतायमपि संख्यासंज्ञ एव। सामान्येन हि पूर्वं डतेः संख्यासंज्ञा विहिता। नैतदस्ति। वतुना साहचर्य्यात् तद्धितस्यैव डतेस्तत्र ग्रहणं। न कृतः। कृचायम्।

## २६। क्तक्तवतू निष्ठा।

भुक्तवानिति। चोः कुरिति (८।२ ३०) कुत्वम्। अत्वसन्तस्य (६।४।१४) चा धातोरिति दीर्घः। अथ केन विहितयोः क्तक्तवत्वो रेषा संज्ञा विधीयते ? अनयैव संज्ञया। वक्ष्यति तृतीये ( ३।२।१०२ ) निष्ठेति। यद्येवं निष्ठासंज्ञया क्तक्तवतू भाव्येते तावेवाश्रित्य निष्ठासंज्ञेति। इतरेतराश्रयो दोषो भवति। इतरेतराश्रयाणि कार्य्याणि शास्त्रे न प्रकल्पन्ते। नैष दोषः। भाविनी हि संज्ञा विज्ञास्यते। यथास्य सूत्रस्य शाटकं वयेति। तौ भूते काले भवतो ययोर्विहितयो र्निष्ठेत्येषा संज्ञा भवतीति।

## २७। सर्वादीनि सर्वनामानि।

सर्व्वशब्द आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनीति। एष तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। इतरथा ह्युपलक्षणार्थत्वात् सर्वशब्दस्य संज्ञा न स्यात्। नह्युपलक्षणस्योपसर्जनीभूतस्य कार्य्येण सम्बन्धो भवति। तथाहि चित्रगुरानीयतामित्युक्ते न गवामप्यानयनं भवति। तद्गुणसंविज्ञानस्य बहुव्रीहेः लिङ्गमदः

सर्वेषामिति (७।३।१००) निर्देशः। सर्वशब्दस्य सुट् सर्वनाम्नः कार्य्यम्। अन्यथाहि तन्नोपपद्यते। सर्वः। सर्व्वौ। सर्वे इति। इदमत्रोदाहरणं सर्वे इति। अत्र हि सर्वनामसंज्ञायां जसः (७।१।१७) शीति शीभावः कार्य्यः। पूर्वयोस्तु तत्साहचर्य्येण सर्वे इत्येतस्य पुंलिङ्गतां श्रूयमाणविभक्तिताञ्च दर्शयितु मुपन्यासः। अन्यथा सर्वे इत्येतावत्युच्यमाने स्त्रीलिङ्गस्य लुप्तसम्बुद्धे रयं प्रयोग इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। सर्वस्मै इति सर्व्वनाम्नःस्मै (७।१।१४)। सर्वस्मात्। सर्वस्मिन् इति। ङसिङ्योः (७।१।१५) स्मात्स्मिनाविति। सर्वक इति। अव्ययसर्वनाम्नामकच् (५।३।७१) प्राक् टेरिति। उभशब्दोऽयं द्विवचनटाब्विषय एव प्रयुज्यते। उभौ। उभे इति। नच तत्र किञ्चित् सर्वनामकार्य्यं सम्भवति। स्मैप्रभृतीनां यथायोग मेकवचनबहुवचनविषयत्वात्। अकजपि नैवं सर्वनामसंज्ञां प्रयोजयति। विशेषाभावात्। नहि तस्मादकचि कप्रत्यये वा विहिते रूपभेदः स्वरभेदो वा भवति। तत् किमर्थ स्तस्येह पाठ इत्याह उभशब्दस्येत्यादि। सर्वनाम्न (२।३।२७) स्तृतीया चेत्यनेन उभाभ्यां हेतुभ्या मुभयोर्हेत्वोरिति तृतीयाषष्ठ्यौ यथा स्यातामितेत्र्यवमर्थ स्तस्येह पाठ इति दर्शयति। डतरडतम इति। किंयत्तदो (६।३।९२) र्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्। वा (५।३।९३) बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमजित्येतयोः प्रत्यययो र्ग्रहणम्। वक्ष्यमाणेनेति प्रथमचरमेत्यादिना (१।१।३३)। कथमित्यादि। समशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां सत्यामामि सर्वनाम्नः (७।१।५२) सुड़िति सुटि कृते समेषामिति भवितव्यम्। तत् कथं समानामिति भवति? तत्र्च सप्तम्येकवचनस्य स्मिन्भावे कृते समस्मिन्निति भवितव्यम्। तत् कथं समे देशे यजेतेति प्रयोग उपपद्यत इत्यभिप्रायः। न सर्वत्रेति! न सर्वत्रार्थे वर्त्तमानस्येत्यर्थः। एतच्च सर्व्वेषां नामानि सर्वनामानीत्यन्वर्थसंज्ञाकरणाल्लभ्यते। स एव हि समशब्दः सर्वेषां नाम भवति यः सर्वशब्दपर्य्यायः। नचानयोः प्रयोगयोः समशब्दः सर्वपर्य्यायः। तथाहि समानामित्यत्र समशब्द स्तुल्यार्थे वर्त्तते। समे देश इत्यत्राप्यविषमे निम्नोन्नतादिरहिते। अतएव चान्वर्थसंज्ञाकरणात् संज्ञोपसर्जनीभूतानां संज्ञा न भवति। यथा सर्वो नाम कश्चित्। तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः

सर्वमतिसर्वः। तस्मा अतिसर्वाय देहीति। नह्येवंप्रकाराणि सर्व्वेषां नामानि। विशिष्टवस्तुविषयत्वात्। णत्वं तु सर्वनामानीत्यत्र पूर्वपदात् संज्ञायामिति न भवत्यतएव निपातनात्।

## २८। विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ।

दिगुपदिष्ट इति। दिशा मुपदिष्ट उक्तो दिगुपदिष्टः। स पुनर्दिङ्नामान्यन्तराल इति यः (२।२।२६) समास स्तस्यात्र ग्रहणम्। स पुन र्लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया लभ्यते। प्रतिपदोक्तसमासाश्रयणं तु या पूर्वा दिक् सोत्तरा ऽस्योन्मुग्धस्य। अस्मै पूर्वोत्तराय देहीत्यत्र मा भूत्। उत्तरपूर्वस्मा इति। उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशो र्यदन्तरालमिति पूर्वोक्तेन सूत्रेण बहुव्रीहिः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भाव इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। चतुर्थ्येकवचनम्। सर्वनाम्नः (७।३।११४) स्याड्ढ्रस्वश्चेति स्याट्। ह्रस्वत्वञ्च। उत्तरपूर्वाया इति। यदा सर्वनामसंज्ञा नास्ति तदा याड़ाप (७।३।११३) इति याट्। आटश्चेति (६।१।९०) वृद्धिः। समासग्रहणं किमिति? यावता न बहुव्रीहिः समासत्वं व्यभिचरत्येव ततोऽ पार्थकं विशेषण मित्यभिप्रायः। समास एव यो बहुव्रीहि रिति। यस्यातिदेशेन बहुव्रीहिवद्भावो न विधीयते स वेदितव्यः समास एव बहुव्रीहिरिति। स पुन र्यः समासाधिकारे विहितः। बहुव्रीहिवद्भावेनेति। यस्यातिदेशिकं बहुव्रीहित्वं स बहुव्रीहिवद्भावेन बहुव्रीहिः। दक्षिणदक्षिणस्या इति। एकं (८।१।९) बहुव्रीहिवदित्यतो बहुव्रीहिवदिति वर्त्तमान आबाधे चेति (८।१।१०) दक्षिणाशब्दस्य द्विर्वचनम्। बहुव्रीहिवद्भावाच्च सुब्लुक्। अयं बहुव्रीहिवद्भावेन बहुव्रीहि रिति विभाषा न प्रवर्त्तते। योऽपि न बहुव्रीहाविति (१।१।२९) वक्ष्यमाणः प्रतिषेधः सोऽपीह न भवति। तत्रापि समासाधिकारात्। दक्षिणोत्तरपूर्वाणामिति। अत्र द्वन्द्वे (१।१।३१) चेति नित्य एव प्रतिषेधो भवति। तेन पक्षे सुण् न भवति। यद्येवं सर्वनाम्नो वृत्तिमात्र इति पुंवद्भावोऽत्र न स्यात्। नैतदस्ति। अवयवस्याद्वन्द्वत्वात्। ननु विनापि बहुव्रीहिग्रहणेनात्र द्वन्द्वे (१।१।३१) चेति प्रतिषेधेन भाव्यमेव। तदपार्थकं बहुव्रीहिग्रहणम्। नैतदस्ति। यो हि दिग्द्वन्द्वो न

भवति स तस्य विषयः स्यात् । दिग्द्वन्द्वे त्वसति बहुव्रीहिग्रहण एवैव विभाषा स्यात् । तस्माद्बहुव्रीहिग्रहणं कर्त्तव्यम् । न कर्त्तव्यम् । कस्मान्न भवति ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणा मित्यत्र प्रतिपदोक्तसमासस्येह ग्रहणात् । एवं तर्ह्यु-त्तरार्थं बहुव्रीहिग्रहणम् । न बहुव्रीहा (१।१।२९) वित्यत्रास्य प्रयोजनं वक्ष्यति । वृत्तिकारस्य त्वेषोऽभिप्रायः । उत्तरार्थ मवश्यकर्त्तव्यम् । तदुत्तरार्थं कृतमिहापि स्पष्टार्थं भविष्यतीति ।

## २९ । न बहुव्रीहौ ।

सर्वनामसंज्ञायामित्यादि । कथं पुनरेतदवगतम् ? अभ्युपगतस्तदन्त-विधिरिति । अतएव प्रतिषेधात् । अन्यथा हि निष्फलः प्रतिषेधः स्यात् । तदन्तविध्यभ्युपगमे हि परमसर्वस्मा उत्तमसर्वस्मा इत्यत्रापि संज्ञा यथा स्यात् । इह चेत्यादि । अस्य प्रतिषेध आरभ्यत इत्यनेन सम्बन्धः । त्वं पिताऽस्य । अहं पिता ऽस्येति विगृह्य बहुव्रीहौ कृते ऽज्ञाताद्यर्थविवक्षायाम् असति प्रतिषेधेऽव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् (५।३।७१) टेरित्यत्राकच् प्रसज्येत । ततश्च त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । तस्मादकज् माभूदिति प्रतिषेधआरभ्यते । तेन प्रागिवात् क इति (५।३।७०) कं एव भवति । तत्र परतः प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति (७।२।९८) मपर्यन्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्वमयोः कृतयो नद्यृतश्चेति (५।४।१५३) समासान्ते कपि च त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति सिध्यति । ननु चान्वर्थसंज्ञाकरणादेव संज्ञानिरासे कृते ऽकज् न भविष्यति । नह्यत्र सर्वार्थता सम्भवति । विशेषविषयत्वात् । नैतदस्ति । समुदायो हि विशेषे वर्त्तते । पूर्वपदं तु सर्वार्थताया अनपेत-मेव । भवत्वनयोरनन्तरयोरुदाहरणयोरेतत्सूत्रविषयता । प्रियविश्वायेत्या-दिषु नोपपद्यते । नहि प्रियविश्वादयः शब्दाः सर्वेषां नामानि । नापि तदवयवभूतानां विश्वादिशब्दानां किञ्चित् सर्वनामकार्य्यमुपपद्यते । स्मैप्रभृतीनामङ्गकार्य्यत्वात् । विश्वादिशब्दानाञ्चानङ्गत्वात् । एवं मन्यते । त्वत्कपितृको मत्कपितृक इत्यत्राकज् माभूदिति । एतदर्थं तावदेत-दारब्धव्यम् । प्रियविश्वायेत्येवमादावपि विस्पष्टार्थं भविष्यतीति । अथ

बहुव्रीहाविति वर्त्तमाने किमर्थं पुनर्बहुव्रीहिग्रहणमित्याह बहुव्रीहावित्यादि। वस्त्रान्तरवसनान्तरा इति। वस्त्रमन्तरं येषां वसनमन्तरं येषामिति बहुव्रीहिं कृत्वा वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्चेति द्वन्द्वः कृतः। अत्र वर्त्तमानत्वाद् द्वन्द्वस्य द्वन्द्वे ( १।१।३१ ) च विभाषा ( १।१।३२ ) जसीति द्वन्द्वाश्रितो विभाषा-प्रतिषेधः स्यात्। न नित्यो बहुव्रीह्याश्रितः। पुनर्बहुव्रीहिग्रहणात्तु भूतपूर्वस्यापि बहुव्रीहेराश्रयणात् तदाश्रयो नित्यः प्रतिषेधो भवति। वसन-शब्दश्चात्र वसत्यस्मिन्नित्यधिकरणसाधनो गृहे वर्त्तते। न वस्त्रे। अन्यथा वस्त्रान्तरवसनान्तरशब्दयोः पर्य्यायत्वाद् द्वन्द्वो न स्यात्। तुल्यार्थानाञ्च-विरूपाणामेकशेष इत्येकशेषविधानात्।

## ३०। तृतीयासमासे।

ननु च विभाषा दिक्समास ( १।१।२८ ) इत्यतः समासग्रहणमनुवर्त्तत एव। तत् किमर्थं पुनः समासग्रहणमित्यत आह समास इत्यनुवर्त्तमान इत्यादि। अस्त्येव तृतीयासमासो मुख्यः। यस्मिन् सत्यैकपद्यमैकस्वर्य्यमेक-विभक्तिकत्वञ्च भवति। अस्ति च गौणः। यस्मिंस्तादर्थ्यादतस्मिन्नपि तच्छब्दो भवति। स पुनस्तृतीयासमासार्थं वाक्यम्। तत्रासति पुनः समासग्रहणे गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसंप्रत्यय इति मुख्य एव प्रतिषेधः स्यात्। नेतरत्र। तस्मात् तत्रापि प्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थं पुनः समासग्रहणम्। यदि तर्हि तृतीयासमासार्थेऽपि वाक्ये प्रतिषेधो भवति यावान् कश्चित् तृतीयासमासस्तदर्थे वाक्ये सर्वत्र प्रतिषेधः स्यात्। ततश्च त्वयका कृतम्। मयका कृतमित्यत्राकज् न स्यात्। भवति ह्येतत् कर्त्तृकरणे ( २।१।३२ ) कृता बहुलमित्यनेन यः समासस्तदर्थं वाक्यम्। तत्र कप्रत्यये कृते त्वत्केन कृतम्। मत्केन कृतमिति रूपं स्यादित्यत आह पूर्वसदृशेत्यादि। एतच्च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया लभ्यते। त्वयका। मयका इति। पूर्ववत् त्वमावादेशौ। सुबन्तादकच्। क्वचित् त्वकया मकया इति पाठः। स त्वयुक्तः। प्रातिपदिकात् त्वकजुत्पत्तौ त्वकया मकयेति भवति। नचात्र प्रातिपदिकादकजुत्पत्तिरिष्यते।

अपितु सुबन्तात् । तथाह्यकज्विधौ वक्ष्यति प्रातिपदिकात् सुप इति च द्वयमपीहानुवर्त्तते । तत्राभिधानतो व्यवस्था । क्वचित् प्रातिपदिकस्य प्राक् टेः प्रत्ययो भवति । क्वचित् सुबन्तस्य । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोरावकयोरित्यत्र प्रातिपदिकस्य । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि । इत्यत्र सुबन्तस्येति ।

## ३१ । द्वन्द्वे च ।

## ३२ । विभाषा जसि ।

जसः कार्य्यं प्रतीयतादि । एतच्च व्यवस्थितविभाषात्वादस्या विभाषाया लभ्यते । अथवा जसीति कार्य्यापेक्षया ऽधारसप्तमीयम् । नतु सर्वाद्यपेक्षया परसप्तमी । तेन जसि यत् कार्य्यं जसाधारं यत् कार्य्यं जसः शीभाव स्तत्र विभाषा भवति । नान्यत्र । किं कारणमेवं व्याख्यायत इत्यत आह अकज् हि न भवतीति । हि शब्दो हेतौ । एवं व्याख्यायमाने सति कतरकतमका इत्यत्राकज् न भवति । पूर्वसूत्रेण संज्ञाप्रतिषेधात् । अन्यथा हि यदि जसि परतः संज्ञा विकल्प्यते तदा पक्षेऽकज् भवेदेव । तथाच तस्य तन्मध्यपातित्वात् तद्ग्रहणेन ग्रहणात् पाक्षिकः शीभावः प्रसज्येत । क-प्रत्यये तु सति तेन व्यवधानादेवैष दोषो न भवति ।

## ३३ । प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।

उभयशब्दस्य तयप्प्रत्ययान्तस्येति । संख्याया अवयवे तयप् ( ५।२।४२ ) तुरभशब्दाद्विहितस्य तयपो यद्यप्युभादुदात्तो ( ५।२।४३ ) नित्यमित्ययजादेशो विधीयते तथापि स्थानिवद्भावात् तद्ग्रहणेन गृह्यत इत्युभयशब्दस्तयप्-प्रत्ययान्तो भवति । तस्य गणपाठान्नित्या संज्ञेति । नत्वनेन योगेन परेणापि पाक्षिकी । एतच्च व्यवस्थितविभाषात्वाल्लभ्यते । काकचो यथायोगं वृत्ति-रिति । तेनोभयनेमशब्दयोः सर्वादित्वान्नित्यमकचो वृत्तिः । प्रथमादिभ्य-स्तु कप्रत्ययस्य इत्येष यथायोगार्थः ।

३४। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्।

असंज्ञायामिति। संज्ञायामसत्यां पूर्वादयश्चेत् संज्ञारूपा न भवन्तीत्यर्थः। स्वाभिधेयापेक्ष इत्यादि। अवधिर्मर्य्यादा। तस्य नियमोऽवश्यम्भावः। अवधिभावादभ्रंशः। किं विशिष्टोऽवधिनियमः? स्वाभिधेयापेक्षः। पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेयो दिग्देशकालस्वभावोऽर्थः। तमपेक्षते यः सः स्वाभिधेयापेक्षः। दिगादीनां ह्यर्थानां पूर्वादिशब्दाभिधेयानां यत् पूर्वादित्वं तन्नियोगतः कञ्चनावधिमपेक्ष्य सम्पद्यते। नत्ववधिनिरपेक्षम्। यथा पूर्वदेशस्य यत् पूर्वत्वं तत्परं देशमपेक्ष्य भवति। परस्यापि यत् परत्वं तत् पूर्वदेशम्। तस्मात् पूर्वादिशब्दवाच्यापेक्षेणावश्यं केनचिदवधिना भाव्यम्। तत्र तस्यैवावधेः यः पूर्वादिशब्दार्थापेक्षोऽवधिभाव ऐकान्तिकः स नियमो व्यवस्था। तस्यां गम्यमानायां पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेय एव वर्त्तमानानामियं संज्ञा भवति। न तु वाच्यायाम्। यो हि पूर्वादिशब्दाभिधेयादन्यस्यार्थस्यावधिभूतस्य नियमः स कथं पूर्वादिशब्दवाच्यो भविष्यति? पूर्वे पूर्वा इति। अत्र परस्मादेवावधेरिति गम्यते। परे परा इति। पूर्वस्मादेवावधेरिति गम्यते। प्रवीणा इति। कुशला इत्यर्थः। अत्र प्रावीण्यमात्रेण निमित्तेनावधिनिरपेक्ष एव दक्षिणशब्दो वर्त्तत इति व्यवस्था न गम्यते। सत्यामेवेत्यादि। जम्बूद्वीपं सुमेरुं वावधिमपेक्ष्य तत्रोत्तरशब्दो वर्त्तत इति विद्यत एव व्यवस्था।

३५। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।

अत्रापि नित्या संज्ञा प्राप्नोति। गणपाठात्। एवमुत्तरत्रापि वेदितव्यम्। नचेदित्यादिना ज्ञातिधनाख्याशब्दस्यार्थमाचष्टे। यत्र च शब्दान्तरनिरपेक्षः स्वशब्दो ज्ञातिधने स्वरूपेणाचष्टे तत्रासौ संज्ञारूपेण तयोर्वर्त्तते। आत्मीया इत्यर्थ इति। कथं पुनरयमर्थः? यावता स्वे पुत्रा इति ज्ञात्यर्थो गम्यते। स्वे गाव इति धनार्थः। नैतदस्ति। पुत्रगोशब्दसान्निध्यादेतदुभयं गम्यते। स्वशब्देनात्मीयत्वमात्रं गम्यते। स्वा ज्ञातय इति। प्रभूता स्वा इति चोभयत्र शब्दान्तरमनपेक्ष्य ज्ञातिधने स्वरूपेणैव स्वशब्देनाभिधीयेते।

यद्येवं ज्ञातय इत्यनुप्रयोगो नोपपद्यते । पर्य्यायत्वात् । यथा वृक्षशब्द-प्रयोगे सति तरुशब्दस्यानुप्रयोगो विरुध्यते । नैष दोषः । पर्य्यायशब्दस्य हि यत्रानेकार्थो भवति संदिग्धार्थो वा तत्र तदर्थस्यैव व्यक्तीकरणार्थः पर्य्याया-न्तरस्यानुप्रयोगो न विरुध्यते । यथा मेघाद्यनेकार्थवृत्तेर्वराहकशब्दस्य (A) प्रयोगे शूकरशब्दस्य प्रयोगः । तथा सन्दिग्धार्थस्य पिकशब्दस्य प्रयोगे कोकिल-शब्दस्य । स्वशब्दश्चायमनेकार्थः । तत्रासत्यनुप्रयोगे किंविषयोऽयं प्रयुक्त इति सन्देहः स्यात् । अतस्तन्निरासार्थमुपपद्यते ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः ।

## ३६ । अन्तरं वहिर्योगोपसंव्यानयोः ।

वहिर्योग इति । वहिरित्यनेनानावृतदेश उच्यते । तेन योगो वहिर्योगः । स चानावृतस्य वाह्यस्य वस्तुनो भवति । उपसंव्याने चेति । उपसंवीयते परि-धीयते यत् तदुपसंव्यानम् । कृत्यल्युटो (३।३।११३) बहुल मिति कर्मणि ल्युट् । अथवा संवीयते पिधीयते ऽनेनेति संव्यानम् । करणाधिकरणयोश्चेति (३।३।११७) ल्युट् । संव्यानस्य समीप मुपसंव्यानम् । अवहिर्योगे सामर्थ्यात् तदेव वेदि-तव्यम् । नगरवाह्या इति । अनेन वहिर्योगं दर्शयति । परिधानीय मुच्यत इति । उपसंव्यानस्येदमुदाहरणमुपन्यस्तम् । वस्त्रान्तरावृतवस्तु वस्त्वन्तरेणापिहित-मुच्यते । अविशेषाभिधानेऽपि यद् वस्त्रान्तरेणावृतं सामर्थ्यात् तदेवोपसंव्यान मुच्यते । नेतरत् । न प्रावरणीयमिति । प्राव्रियतेऽपिधीयतेऽनेनेति प्रावरणीयम् । तन्नाभिधीयते । तदभिधाने तस्य वहिर्योगत्वात् वहिर्योग एवेदमुदाहरणं स्यादित्यभिप्रायः । अन्तरे तापसः प्रतिवसतीति । अत्र संज्ञाया अभावात् सप्तम्याः स्मिन्नादेशो न भवति । ननु च जसीत्यनुवर्त्तते । तत् कस्मात् सप्तम्यन्तं प्रत्युदाहृत मित्यत आह गणसूत्रस्य चेत्यादि । अपुरीति वक्तव्यमिति । अनन्तरं गणसूत्रस्य चेत्यभिधानाद् गणसूत्रमेवैतद् वक्तव्य मिति गम्यते । यद्यपि गणसूत्रेऽन्तरशब्दः पठ्यते तथापि प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्ग-विशिष्टस्यापि ग्रहणमिति प्राकाराद्बहिर्वर्त्तिनी या पू स्तस्या अपि वहिर्योगोऽस्तीति तत्र वर्त्तमानस्य टावन्तस्याप्यन्तराशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति ।

---

(A) वराहको वलाहको वा । रलयोरभेदात् । वलाहको गिरौ मेघे दैत्यनागविशेषयो रिति विश्वः ।

तेनापुरीति वक्तव्यम्। तेनान्तरायामित्यत्र स्याण् न भवति। विभाषा-प्रकरण इत्यादि। उपसंख्यानशब्दस्येह प्रतिपादनमर्थः। अस्मिन् विभाषा-प्रकरणे तीयप्रत्ययान्तस्य सर्वनामसंज्ञायाः प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। विभाषा जसीत्यत्र विभाषेति योगविभागः क्रियते। तत्र च सर्वादीनि द्वन्द्व इति च निवृत्तम्। तेन तीयस्य विभाषा सर्वनाम-संज्ञा भविष्यतीति। नचैवं सत्यतिप्रसङ्गः। योगविभागादिष्टसिद्धेः। नापि विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्यामित्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः। प्रपञ्चार्थत्वात्। ततो जसीति द्वितीयो योगः। अत्र विभाषाग्रहणं सर्वादिग्रहणं द्वन्द्व-ग्रहणञ्चानुवर्त्तते॥

## ३७। स्वरादिनिपातमव्ययम्।

स्वरादिषु स्वस्तिशब्दोऽस्तिशब्दश्च पठ्यते। तत्र स्वस्तिशब्दस्य किमर्थः पाठः? यावतास्तिशब्दपाठादेव तदन्तविधिना स्वस्तिशब्दस्यापि भविष्यति। ग्रहणवता प्रातिपदिकेनेति तदन्तविधिप्रतिषेधान्न सिध्यतीत्येतत् तु नाशङ्कनीयम्। अव्ययमिति महती संज्ञा क्रियतेऽन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। लिङ्गकारक-संख्याविशेषानुपादान व्येति विविधत्वं न गच्छतीत्यव्ययम्। तस्याश्चोपसर्जन-प्रतिषेध स्तदन्तविधिश्च प्रयोजनम्। तस्मादन्वर्थसंज्ञाकरणादेव तदन्तस्यापि भविष्यति। स्वस्तिशब्दोऽपि न व्येत्येव। सत्यमेतत्। एवं त्वन्वर्थसंज्ञा-करणाल्लब्ध स्तदन्तविधिरनेनोपदर्शितः। विस्पष्टार्थं मुदाहरणमेतत्। तसिलादिस्तद्धित एधाच्पर्य्यन्त इति। पञ्चम्यास्तसिलित्यतः (५।३।७) प्रभृत्येधाच्चे (५।३।४६) त्येतत्पर्य्यन्तः। शस्तसी इति। बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् (५।४।४२)। प्रतियोगी (५।४।४४) पञ्चम्या स्तसिः। कृत्वसुजिति। संख्यायाः (५।४।१७) क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुजिति। द्वित्रिचतुर्भ्यः (५।४।१८) सुच्। आस्थालाविति (A)। 'इण आसिरि-त्युणादिसूत्रेण (४।६६१) इणो धातोरासिप्रत्ययः। अया इत्युदाहरणम्।

(A) In the printed काशिका, आच्थाली occurs. But the correct reading आस्थालौ is given in the printed पदमञ्जरी and शब्दकौस्तुभ।

प्रत्नपूर्वविश्वेमा (५।३।१११) त्थाल्छन्दसीति। च्व्यर्थाश्चेति। अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः (५।४।५०)। विभाषा साति (५।४।५२) कार्त्स्न्ये। देये त्रा च (५।४।५५)। अमिति। अमु च (५।४।१२) च्छन्दसि। आमिति (५।४।११)। किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे। निपाता वक्ष्यन्त इति। अथ कस्मात् ते स्वरादिषु न पठ्यन्ते। कः पुनरेवं गुणो भवति? अव्ययसंज्ञायां निपातग्रहणं न कर्त्तव्यमिति। नैतदस्ति। चादीनामसत्त्ववचनानामेवाव्ययसंज्ञेष्यते। स्वरादीनान्तु सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनानां च। तथाहि क्रियायोगो दृश्यते। स्वः पश्यन्ति। स्वरारोहन्तीति। तत्र यदि चादयो निपाताः पठेरं स्तेषां सत्त्वेऽपि वर्त्तमानानामव्ययसंज्ञा प्रसज्येरत। अव्ययमित्यन्वर्थसंज्ञेयमिति दर्शयितुमाह सदृशमिति। त्रिषु लिङ्गेषु स्त्रीपुंनपुंसकेषु सदृशं तुल्यम्। लिङ्गविशेषापरिग्रहाल्लिङ्गसामान्योपादानाच्च। सर्वासु च विभक्तिष्विति। विभक्तिनिमित्तत्वाद् विभक्तिः। विभज्यते वा प्रातिपदिकार्थ आभिरिति कर्मादीनि कारकाणि शक्तिरूपाणि विभक्तिशब्देनोच्यन्ते। वचनेषु चेति। वचनान्येकवचनद्विवचनबहुवचनानि। इहाभिधेयेऽभिधानोपचाराद् एकादिका संख्या गृह्यते। तदेवं लिङ्गकारकसंख्याविशेषस्यानुपादानात् सामान्यरूपोपादानाच्च विभक्तिषु वचनेषु च सदृशं भवति। एवं यस्मान्न व्येति लिङ्गादिसंख्याविशेषानुपादानाद् विविधं नानात्वं न गच्छति तस्मादव्ययमित्यन्वर्थता प्रतिपादिता भवति। प्रयोजनं पुनरुपसर्जनप्रतिषेध स्तदन्तविधिश्चेत्युक्तम्। तत्रोपसर्जनप्रतिषेधः। अत्युच्चैः। अत्युच्चैसौ। अत्युच्चैसः। नह्यत्र यथोपदर्शितार्थानुगमः सम्भवति। यत्र तु सम्भवति तत्र तदन्तस्याव्ययसंज्ञा भवत्येव। यथा परमस्वः। उत्तमस्वरिति। अत्र हि स्वर्शब्दस्य प्राधान्याल्लिङ्गादिविशेषस्यासम्भवः। पूर्वत्र तूच्चैःशब्दस्य विपर्ययाद् विपर्ययः।

## ३८। तद्धितश्चासर्वविभक्तिः।

प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहित स्तदादे स्तदन्तस्य ग्रहणं भवतीति तद्धितान्तस्य संज्ञा विज्ञायत इत्याह तद्धितान्तः शब्द इति। यस्मान्न सर्वेत्यादि। अत्रावयवकार्त्स्न्ये वृत्तिः सर्वशब्दः। सर्वा निरवशेषा येषां त्रयाणां

वचनानां विभक्तिरिति संज्ञा कृता। तानि सर्वाणि यतो नोत्पद्यन्त इत्यर्थः। ततो यत इति। तद्यच्छब्दात् पञ्चमीसमर्थात् पञ्चम्या तसिलिति (५।३।७) तसिल्। सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति (२।४।७१) सुब्लुक्। प्राग्दिशो विभक्तिरिति (५।३।१) विभक्तित्वात् त्यदाद्यत्वम् (७।२।१०२)। अतो गुणे (६।१।९७) पररूपत्वम्। तत्र यत्रेति। सप्तम्यास्त्रलिति (५।३।१०) त्रल्। तदा यदा सर्वदेति। सर्वैकान्य (५।३।१५) किंयत्तदः काले दा। सर्वे एते ततः प्रभृतयः विभक्त्यर्थप्रधानाः। स च विभक्त्यर्थः प्रातिपदिकार्थः सम्पन्न इति प्रातिपदिकार्थे प्रथमैव भवति। सापि संख्याविशेषाभावान्न सर्वा। किं तर्हि ? एकवचनमेव। तस्योत्सर्गत्वात्। तथाचोक्तम्। एकवचन मुत्सर्गः करिष्यत इति। तस्याव्ययादाप् सुपो (२।४।८२) लुक्। एक इति। अत्रासर्वविभक्तिकत्वमस्ति। एकत्वे द्वित्वायोगात्। अतद्धितत्वान्न भवति। औपगव इति। अत्र तद्धितान्तत्वमस्ति। तद्धितान्तस्य सर्वविभक्तियोगान्न भवति।

## ३९। कृन्मेजन्तः।

स्वादुंकारं भुङ्क्ते इति। स्वादुमि (३।४।२६) णमुल्। स्वादुमीत्यत एव निर्देशादुपपदस्य मकारान्तत्वं निपात्यते। स्वादुमिति चार्थग्रहणम्। तेन सम्पन्नङ्कारमित्यादौ सम्पन्नादावप्युपपदे णमुल् भवति। वक्ते इति। वच परिभाषणे। ब्रुवो (२।४।५३) वचिरिति ब्रूआदेशो वा। चोः कुरिति (८।२।३०) कुत्वम्। अन्तग्रहणमित्यादि। औपदेशिकप्रतिपत्त्यर्थमिति। नित्ययोगि बहुव्रीहिविज्ञानादौपदेशिकप्रतिपत्तिः। उपदेशे भवमौपदेशिकम्। तस्य प्रतिपत्ति र्ज्ञानम् प्रयोजनं यस्य तत् तथा। एवं मन्यते। विनाप्यन्तग्रहणेन येन विधिस्तदन्तस्येति सामर्थ्याद्वा कृत स्तदन्तविधौ सिद्धे यदन्तग्रहणं क्रियते तस्यैतत् प्रयोजनम्। नियोगतो यस्यैजन्तत्वमुपदेशावस्थायामेव भवति तस्यैव प्रतीतिर्यथा स्यादिति। आधय इति। दधाते राङ् पूर्वादुपसर्गे घोः (३।३।९२) किरिति किः। आतो लोप (६।४।६४) इटि चेत्याकारलोपः। चिकीर्षव इति। करोतेः चतुर्थ्येकवचने घेर्ङितीति (७।३।१११) गुणः।

सन् । अज्झनगमां (६।४।१६) सनीति दीर्घः । ऋत (७।१।१००) इद्धातोरितीत्त्वम् । रपरत्वम् । द्विर्वचनमभ्यासकार्य्यम् । हलि (८।२।७७) चेति दीर्घः । सनाशंसभिक्ष (३।२।१६८) उरित्युप्रत्ययः । अतो (६।४।४८) लोपः । शेषं पूर्ववत् । कुम्भकारेभ्य इति । कर्मण्यण् (३।२।१) । उपपदमतिङिति (२।२।१९) समासः । बहुवचने (७।३।१०३) झल्येदित्येत्त्वम् । ननु च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयैव वाऽसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग इत्येव वात्र संज्ञा न भविष्यति । विभक्तिप्रत्ययं ह्याश्रित्य विधीयमानत्वाद् गुणादिकार्य्यं बहिरङ्गम् । अव्ययसंज्ञा त्वन्तरङ्गम् । बाह्यस्य निमित्तस्यानाश्रयणात् । सत्यमेतत् । एवं त्वर्थप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । अतस्तत्परिहारार्थमन्तग्रहणं कृतम् ।

## ४० । क्त्वातोसुन्कसुनः ।

कृत्वा हृत्वेति । समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाल (३।४।२१) इति क्त्वा । उदेतोरिति । इण् गतौ । सार्वधातुकेति (७।३।८४) गुणः । अपाकर्त्तोरिति क्वुनः । विसृप इति गम्लृ सृप्लृ गतौ । आतृद इति । तृदिर् हिंसानादरयोः ।

## ४१ । अव्ययीभावश्च ।

उपाग्नीति । अव्ययं विभक्तीत्यादिना (२।१।६) सामीप्ये ऽव्ययीभावः । अव्ययादिति (२।४।८२) लुक् । अग्नेः समीपे उपाग्नीति । उपाग्नि मुखं यस्येत्यव्ययीभावगर्भो बहुव्रीहिः । तत्र मुखं स्वाङ्ग (६।२।१६७) मित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते नाव्ययेति (६।२।१६८) प्रतिषिद्धम् । तस्मिन् प्रतिषिद्धे पूर्वपदप्रकृतिस्वर इति । बहुव्रीहौ प्रकृत्येत्यादिना (६।२।१) तत् पुनरन्तोदात्तत्वम् । उपाग्निशब्दस्य समासस्वरेणान्तोदात्तत्वात् । उपपयःकार इति । कर्मण्यण् (३।२।१) । एवमुपपयःकाम इत्यत्रापि । उपपयः कामो यस्येति बहुव्रीहिर्वायम् । काम्यत इति कामः । अकर्त्तरि च कारके (३।३।१९) संज्ञायामिति कर्मण्यपि घञ् । अनव्ययस्येति (८।३।४६) सत्वे प्रतिषिद्धे कुप्वोः ≍क ≍पौ (८।३।३७) चेति जिह्वामूलीयो भवति विसर्जनीयो वा । अत्र मुखस्वरोपचारौ निर्वर्त्यमानौ प्रयोजनं ननु

विधीयमानौ। लुक् पुनर्विधीयमानः। ननु चाव्ययनिबन्धन मकजादिकार्य्य मस्त्येव। तत् कुतोऽयं कार्य्यनियमो लभ्यत इत्याह सर्व्वमित्यादि। इदमिति तद्धितश्चासर्वविभक्ति (१।१।३८) रित्यादिकम्। किञ्चित् स्वरूपेणैव पठ्यते। कस्यचित् पर्य्यायान्तरेणार्थः। स त्वभिधेयधर्मेणोपचारादित्युच्यते। तत्र कृन्मकारसन्ध्यक्षरान्त इति कृन्मेजन्त इत्यस्यार्थः पठ्यते। क्त्वातोसुन्कसुनोऽव्ययीभावश्चेति स्वरूपेणैव। तसिलादि स्तद्धित एधाच्पर्य्यन्त इति यावत्। च्व्यर्थाश्चेति। आसिमौणादिकं वर्जयित्वा। तद्धितश्चासर्वविभक्ति रित्यस्यार्थः। अनित्यत्वज्ञापनार्थं मिति। प्रकृतत्वात् संज्ञाया इति लभ्यते। तेनाकजादौ कर्त्तव्ये संज्ञा न भवतीति। अज्ञाताद्यर्थविवक्षायामुपाग्निकमित्यत्राकज् न भवति। क एव तु भवति। इह च उपकुम्भ मात्मानं मन्यत उपकुम्भम्मन्यः। आत्ममाने खश्चेति (३.२।८३) खशि कृते खित्यनव्ययस्ये (६।३।६६) त्यनुवर्त्तमाने ऽरुर्द्विषदजन्तस्य (६।३।६७) मुमिति मुमः प्रतिषेधो न भवति। इह चेत्यादिनाऽव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेध (२।३।६९ वा) इति यद्वक्ष्यति तस्यात्रावकाशतां दर्शयति। सूर्य्यस्येत्यत्र कर्त्तृकर्मणोः कृतीति (२।३।६५) षष्ठी।

## ४२। शि सर्वनामस्थानम्।

कुण्डानीत्यादि। जश्शसोः (७।१।२०) शिरिति शिः। तस्य सर्वनामस्थानत्वे सति नपुंसकस्य झलच (७।१।७२) इति नुम् भवति। सर्वनामस्थाने (६।४।८) चासम्बुद्धाविति दीर्घत्वञ्च। सर्वनामस्थानमिति। पूर्वाचार्य्यैरेवेयं प्रयोजनमन्तरेणापि महती संज्ञा प्रणीता। तस्या इह समाश्रयणं यत् तत् तत्कृतस्य शब्दानुशासनस्य दोषवत्त्वसूचनार्थम्। तत् पुनः स्वशास्त्रस्य पुनरुक्ततादोषपरिहारार्थम्। यदि हि तद्दोषवद्भवत्येवमस्य प्रणयनं युज्यते। नान्यथा।

## ४३। सुडनपुंसकस्य।

सुडिति प्रत्याहारग्रहणम्। सुशब्दादारभ्य आ औटष्टकारात्। तत्र सुडिति पञ्च वचनानीत्यादि। नपुंसकादन्यपञ्चैव वचनान्यन्तर्भवन्तीत्याह सुडिति पञ्च वचनानीत्यादि।

वेत्यादि। अनेनानपुंसकशब्दस्य पर्य्युदासतां दर्शयति। प्रसज्यप्रतिषेधे हि प्रतिषेधप्रधानमिदं वाक्यं स्यात्। नपुंसकस्य न भवतीति। ततश्च यावती काचित् सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञाप्राप्ति स्तस्याः सर्वस्याः प्रतिषेधः स्यात्। एवं हि कुण्डानि तिष्ठन्तीत्यत्र पूर्वेणापि संज्ञा न स्यात्। तस्यास्तु शसः शिरादेशोऽवकाशः। यद्यप्यनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेत्येतत् समाश्रयेण प्रसज्यप्रतिषेधेऽप्येष दोषः शक्यते परिहर्त्तुं तथापि प्रतिपत्ति-गौरवदोषः स्यात्। तथाहि विधिप्रतिषेधयो र्विरोधादेकेन वाक्येन तावच्छक्यो न विधातु मिति वाक्यभेदः कर्त्तव्यः। सुट् सर्व्वनामस्थान-संज्ञो भवति। नपुंसकस्य च न भवतीति। ततश्चासम्बद्धं प्रतिषेधवचन-मिति पूर्व्वस्या अपि प्राप्ते रयं प्रतिषेधः सम्भाव्येत। तत स्तत्परिहारेणा-भीष्टार्थप्रतिपत्तौ साध्यायां नियतभावी गौरवदोषः प्रसज्येत। तस्मात् सुखावबोधार्थं पर्य्युदास एवाश्रितः। नपुंसके न विधि रिति। स्त्री पुंससम्बन्धिनः सुट उपादानात्। न प्रतिषेध इति। विधिप्रधानत्वात् पर्य्युदा-सस्य। एतेन नपुंसकेऽस्य योगस्याव्यापारं दर्शयति। तेनेत्यादि। यत एवं नपुंसके नास्य विधौ प्रतिषेधे वा व्यापार स्तेन जसो यः शिरादेश स्तस्य तेन पूर्व्वयोगेन संज्ञा भवत्येव। अप्रतिषिद्धत्वात्। राजेति। पूर्व्ववद्दीर्घः। हल् (६।१।६८) ड्यादिलोपः। सामनी वेमनी इति। नपुंसकाच्चेति (७।१।१९) औङः शीभावः। तत्र संज्ञाया अभावाद्दीर्घत्वं न भवति।

## ४४। नवेति विभाषा।

नवेति शब्दोऽयमेको निपातोऽप्यस्ति प्रतिषेधवाची। यथा नवा वक्तव्य मुक्तार्थत्वादित्यादौ भाष्यवाक्ये। तस्येह यदि ग्रहणं स्याद् विभाषा दिक्-समासे (१।१।२८) बहुव्रीहावित्युक्त्वा न बहुव्रीहावित्यत्र (१।१।२९) तु पुनः प्रतिषेधोपादानमनर्थकं स्यात्। तस्मान्न निपातसमुदायोऽय मिति दर्शयन्नाह नेति प्रतिषेध इत्यादि। ननु चान्यत्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रक्रियाया हि शास्त्रे शब्दस्यैव ग्रहणं प्रसिद्धम्। यथा तरप्तमपौ घः (१।१।२२)। दाधा घ्वदाबिति (१।१।२०)। तथेहापि नवाशब्दयोरेव ग्रहणं युक्तम्। तत् कथं

तदर्थयोः संज्ञा लभ्यत इत्याह इतिकरण इत्यादि। क्रियत इति करणः। इतिश्चासौ करणश्चेतीतिकरणः। सोऽर्थस्य संज्ञिनो निर्देशो यथा स्यादित्येवमर्थः। इतिशब्दो हि विपर्य्यासकृत्। यथा गविल्यय माहेति गोशब्दात् परतः प्रयुज्यमान इतिशब्द स्तमर्थपदार्थकत्वात् प्रच्याव्य शब्दपदार्थकत्वे व्यवस्थापयति तथा नवाशब्दाभ्यां पर इतिशब्दः प्रयुज्यमान स्तौ स्वरूपपदार्थकत्वात् प्रच्याव्यार्थपदार्थकत्वे व्यवस्थापयति। तस्मादर्थनिर्देशार्थ एवेतिशब्दः कृत इति नवेति यावर्थौ प्रतीयेते प्रतिषेधविकल्पौ तयोरेवेयं संज्ञा भवति। न नवाशब्दयोः। तत्र प्रतिषेधेनेत्यादिना प्रतिषेधविकल्पयोः प्रवृत्तिक्रमं व्यापारभेदञ्च दर्शयति। समीकृत इति। तुल्यता मापादिते विकल्पः प्रवर्त्तत इति पक्षे कार्य्यसम्पादनाय। ननु च वाशब्द एव विकल्पार्थत्वेन लोके प्रसिद्धः। प्रदेशेष्वयमुपादीयमानो विकल्पेन कार्य्यं सम्पादयिष्यति। तथाहि प्राप्ते वा कार्य्ये विकल्पः क्रियतामप्राप्ते वा? यदि प्राप्ते तत्र प्राप्ति रस्त्येवेति प्रतिषेध एव पक्षे कर्त्तव्यः। अथाप्राप्ते तत्र प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य तामन्तरेण स न प्रयुज्यत इति विधिरेव पक्षे कर्त्तव्यः। न प्रतिषेधः। एतच्चोभयं वाशब्द एव शक्तः प्रयुज्यमानः संपादयितुम्। तत् किमर्थ मियं संज्ञा क्रियत इत्याह उभयत्र विभाषा प्रयोजयन्तीति। प्रकृतत्वात् संज्ञामिति गम्यते। विभाषा श्वे (६।१।३०) रित्यत्र प्रतिषेधमुखेन वाशब्दस्य प्रवृत्तिः स्यात्। विधिमुखेन वा। तत्र यदि प्रतिषेधमुखेन वा न भवतीत्येवं प्रवृत्तिः प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य यत्र प्राप्तिः स एव तस्य विषय इति कित्स्वेव विकल्पेन प्रतिषेधायेदं प्रवर्त्तते। तत्र वचिस्वपीत्यादिना (६।१।१५) श्वयतेः संप्रसारणस्य विहितत्वात्। न पित्सु। तत्र तस्य न केनचिद्विहितत्वात्। एकत्वाच्चास्य वाक्यस्य कित्सु च प्रतिषेधसंपादन एव चरितार्थत्वान् नोपपद्यते पुनर्विधिमुखेन प्रवृत्तिः। अथ विधिमुखेन वा भवतीत्येवं प्रवृत्तिः स्यात्? यत्र प्राप्ति र्नास्ति स एव विधिविषय इति पित्स्वेव विकल्पेन विध्यर्थः प्रवर्त्तते। तत्र चरितार्थत्वान्न कित्सु। संज्ञाविधाने तु न दोषः। तस्यां हि सत्यां प्रतिषेधः प्रवर्त्तमानो योऽसौ संप्रसारणनिमित्तानिमित्तभेदाद्विषय आसीत् तं समीकरोति। सर्वस्याः संप्रसारण-

निमित्तत्वया तुल्यता मापादयति । तस्मिन् समीकृते किति च पिति च विकल्पः प्रवर्त्तमानो विधिमुखेन सर्वत्र पाक्षिकं कार्य्यं सम्पादयति । संप्रसारणं पक्षे भवतीति । अप्राप्तिस्तु पक्षे स्थितैवेति सर्वमिष्टं सिध्यति । तस्मादुभयत्र प्राप्तावप्राप्तौ विभाषार्थ मियं संज्ञा विधीयते । शुशावेति । टुओश्वि गतिवृद्ध्योः । लिट् । णल् । संप्रसारणे कृते वृद्ध्यावादेशौ । शुशुवतुः । शिश्वियतुरिति । अचि श्नुधात्वित्यादिना (६।४।७७) इयङुवङौ ।

## ४५ । इग् यणः संप्रसारणम् ।

भूत इति । यत्र शास्त्रान्तरेण विहितो भूतविभक्त्या कार्य्यान्तरार्थ-मनूद्यते यथा संप्रसारणस्य (६।३।१३९) संप्रसारणाच्चेति (६।१।१०८) तत्र भूतः । भावी वेति । यत्र भाव्यमानविभक्त्या विधानार्थं निर्दिश्यते यथा ष्यङः संप्रसारणं (६।१।१३) वसोः (६।४।१९) संप्रसारणमिति तत्र भावी । अत्र हि ष्यङ्स्थानिको वस्वस्थानिकश्चेङ् नास्ति यस्य संज्ञा विधेया । तस्माद् भाविनः संज्ञित्वं विज्ञायते । संज्ञिनो भावित्वात् संज्ञापि भाविन्येव । यथास्य सूत्रस्य शाटकं वयेति । स इग् यणः स्थाने भवति यस्य भूतस्य संप्रसारण मित्येषा संज्ञा भवतीति । इष्टम् । उप्तमिति । वचिस्वपियजादीनां (६।१।१५) कितीति संप्रसारणम् । गृहीतमित्यत्रापि ग्रहिज्यावयीत्यादिना (६।१।१६) संप्रसारणम् । ग्रहोऽलिटि (७।२।३७) दीर्घः । केचिदित्यादिना ये भाविनीं संज्ञां नाश्रयन्ति तन्मतं दर्शयति । कथं पुनरेकस्य सूत्रस्यैतदर्थद्वयमेकेन वाक्येन लभ्यते ? तन्त्रेणावृत्त्या वा । ननु च संज्ञाविधौ शब्दस्यैव ग्रहणम् प्रसिद्धमित्युक्तम् । ततो युक्तं वर्णस्यैव संज्ञित्वम् । अर्थस्य तु कथम् ? यथा नवेति विभाषेति सूत्र इति चेत् ? न युक्तम् । तत्रेतिकरणस्यार्थनिर्देशार्थस्य प्रयोगात् । इह तु स नास्तीत्ययुक्तम् । इहापि तन्त्रस्यावृत्तेर्वा न्यायस्याश्रितत्वाद् युक्तमेव । अस्य च सूत्रार्थद्वयस्य विभक्तिविशेषनिर्देशो लिङ्गम् । यदयं ष्यङः (६।१।१३) संप्रसारणमित्यादौ विधिवाक्ये भाव्यमानविभक्त्या निर्देशं करोति ततो ज्ञायते वाक्यार्थः संज्ञेति । यतश्च संप्रसारणस्येत्यादौ भूतविभक्त्या निर्देशं करोति ततोऽवसीयते वर्ण

इति। तस्माद् युक्तं वाक्यार्थस्यापि संज्ञित्वम्। किंरूपोऽसौ वाक्यार्थ इत्याह स्थान्यादेश इत्यादि। तत्रेत्यादिनानन्तरयोः सूत्रार्थयोर्विषयविभागं दर्शयति। विधौ वर्णो न सम्भवतीति। ष्यङः संप्रसारण (६।१।१३) मित्यादौ विधिवाक्ये प्रथमः सूत्रार्थ उपतिष्ठते। अनुवादे तु संप्रसारणस्येत्यादौ (६।३।१३९) विहितत्वाद्विधेयस्य प्रथमोऽकिञ्चित्कर इति द्वितीयः। अदुहितरामिति। अत्र यणः स्थानिकत्वादिकः संप्रसारणसंज्ञया भाव्यम्। तस्याञ्च सत्यां हल इति (६।४.२) दीर्घत्वं प्रसज्येतेति चोद्यमपाकर्त्तुमाह संख्यातानुदेशादित्यादि। इह स्थानिनो यणश्चत्वारः। इकोऽप्यादेशाश्चत्वार एव। तेन संख्यातानुदेशेन भवितव्यम्। यथासंख्यमनुदेश (१।३।१०) इत्यादिना। ततश्च यकारस्य स्थाने य इवर्ण स्तस्यैव संप्रसारणसंज्ञा भवति। नचेह यकारस्य स्थान इवर्णः। किं तर्हि लकारस्य। तत् कुत स्तस्याः प्रसङ्गः? दुह प्रपूरणे। लङ्। कर्मवत् (३।१।८७) कर्मणा तुल्यक्रिय इत्यतिदेशे कर्मकर्त्तर्य्यात्मनेपद मिट्। न दुहस्नुनमां यक्चिणाविति (३ १।८९) यकि प्रतिषिद्धे शप्। तस्यादादित्वाल्लुक्। अदुहि इति स्थिते तिङश्चेति (५।३।५६) तरप्। किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्य-प्रकर्षे (५।४।११) इत्याम्। तरप इहोपन्यासोऽङ्गसंज्ञार्थः।

## ४६। आद्यन्तौ टकितौ।

षष्ठी स्थानेयोगे (१।१।४९) त्यस्याः परिभाषाया अयमपवादः। तेन तत्सम्बन्धादस्यापि परिभाषात्वं विज्ञायते। यदि तर्ह्यादिष्टिद् भवत्यन्तः किद्भवति तदा चरेष्ट (३।२।१६) आतोऽनुपसर्गे क (३।२।३) इत्यादयोऽपि प्रत्यया आद्यन्तभूताः स्युः। नच टितः प्रत्ययस्यादित्वे टिड्ढाणञिति (४।१।१५) टितो विधीयमानो ङीब् निरवकाश इत्याशङ्कनीयम्। यत्र हि प्रकृतेरेव सिद्धं टित्त्वं न प्रत्ययस्य नदड् भषड़ित्येवमादौ स तस्यावकाशो भविष्यतीति। टितश्च प्रत्ययस्यादित्वे सति कुरुचर इत्येवमादि रूपमेव न सिध्येत्। कितस्त्वन्त्यत्व आध्योर्विध्योरित्यत्रोपसर्गे (३।३।९२) घोः किरिति किप्रत्ययस्य प्रकृत्यन्तःपातित्वाद्धातुग्रहणेन ग्रहणे सत्युदात्तयणो (६।१।१७४) हल् पूर्वादित्येष स्वरो न स्यात्। नोङ्धात्वोरिति (६।१।१७५) प्रतिषेधा-

दित्यत आह षष्ठीनिर्दिष्टस्येति । ननु च नेह षष्ठी श्रूयते । नापि प्रकृता । तत् कथमेष विशेषो लभ्यते ? वक्ष्यमाणस्य षष्ठीग्रहणस्य सिंहावलोकित-न्यायेनोपस्थानात् । नन्वेवमपि गापो ष्टग् ( ३।२।८ ) व्रीहिशाल्यो ( ५।२।२ ) ढंगित्येतावाद्यन्तौ प्राप्नुतः । नैष दोषः । पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति स्थाने योगत्वस्यैवायमपवादो भविष्यति । न प्रत्ययपर-त्वस्य । अपर आह आद्यन्तावयवौ । अवयवश्चावयविनमन्तरेण न सम्भव-तीत्यवयविनमाक्षिप्य तौ प्रवर्त्तेते । ततश्चावयवावयविसम्बन्धे यस्यादिरन्तो वावयवो विधीयते सोऽवयवी षष्ठ्या निर्देष्टव्य इति सामर्थ्यादवयवषष्ठ्या निर्दिष्टस्येति विज्ञायते । नचैवं गापो ष्टक् ( ३।२।८ ) । व्रीहिशाल्योर्ढंगि ( ५।२।२ ) त्येतौ प्रत्ययावाद्यन्तौ प्राप्नुतः । यस्मादिह सामर्थ्यादवयवसम्बन्धे या षष्ठी तया निर्दिष्टस्येत्येषोऽर्थ उपजातः । नच गापोष्टगित्यादौ ( ३।२।८ ) प्रकृतयोऽवयवषष्ठ्या निर्दिष्टाः । किं तर्हि ? सुपां सुपो भवन्तीति पञ्चम्यर्थे या षष्ठी तयेति । भीषयत इति । ञिभी भये । हेतुमणिच् । भियो हेतुभये ( ७।३।४० ) षुक् । भीस्मोर्हेतुभय ( १।३।६८ ) इत्यात्मनेपदम् ।

## ४७ । मिदचोऽन्त्यात् परः ।

अत्र यदचि इत्येषा पञ्चमी स्यादन्त्यादित्यनया पञ्चम्या समानाधिकरणत्वं स्यात् । ततो नपुंसकस्य ( ७।१।७२ ) झलच इति नुमीहैवान्त्यादचः परः स्यात् कुण्डानीति । अस्ति ह्यत्र नपुंसकस्यान्त्योऽच् । पयांसीत्यत्र तु न स्यात् । अलोऽन्त्यस्येति ( १।१।५२ ) सकारस्यैव तु स्थाने स्यात् । नह्यत्रा-जन्त्यः । किं तर्हि ? सकारः । तस्मान्निर्धारणे षष्ठीयमिति दर्शयन्नाह अचामित्यादि । जातौ बहुवचनम् । सूत्रेऽप्यच इत्येकवचनं जातावेव । यदि तर्हि निर्धारणषष्ठीयम् अन्त्यस्याविशेषितत्वादविशेषेण यतः कुतश्चिदन्त्यात् परो मित् स्यात् । नहि द्वितीयमज्ग्रहणमस्ति येनान्त्यो विशेष्यते । नैष दोषः । समानजातीयस्यैव हि लोके निर्धारणप्रतीति र्भवति । तथाहि कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमेत्युक्ते गौरेव प्रतीयते । नाजा नाप्यश्वा । तस्मादि-

ह्यांप्यचां मध्ये ऽन्त्यादचोऽवधेरित्यन्त्यत्वेन निर्धार्य्यमाणः समानजातीयोऽजेव प्रतीयते। तेनाच एवान्त्यात् परो भविष्यति। स्थानेयोगित्व प्रत्ययपरत्वापवादार्थञ्चेदमारब्धम्। तत्र स्थानेयोगित्वापवादार्थं शे मुचादीनां (७।१।५९) नुम् भवति। मुञ्चति। नपुंसकस्य (७।१।७२) झलचः। पयांसि। प्रत्ययपरत्वापवादार्थं रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८)। रुणद्धि। ननु च पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति स्थानेयोगित्वस्यैवापवादो युज्यते। नतु प्रत्ययपरत्वस्य। नैतदस्ति। एवं हि श्नमो मित्करण मनवकाशत्वादनर्थकं स्यात्। श्रवणार्थत्वान्नानर्थकमिति चेत्? न। तृणह इमिति (७।३।९२) निर्देशात्। श्रवणार्थे ह्येतस्मिं स्तृणम् ह इमिति निर्देशः स्यात्। तस्मात् प्रत्ययपरत्वस्यापवादो युक्तः। यद्येवं तन्मध्यपतित स्तद्ग्रहणेन गृह्यत इति प्रकृत्यन्तःपातिन स्तद्ग्रहणेन ग्रहणादपरत्वाच्च श्नमः प्रत्ययसंज्ञा न स्यात्। तथाच लश (१।३।८) क्वतद्धित इति प्रत्ययादेः शकारस्य विधीयमानेत्संज्ञा न स्यात्। नैष दोषः। प्रत्ययाधिकारे विधीयमानत्वात् प्रत्ययसंज्ञा भविष्यति सत्यप्यपरत्वे सत्यपि प्रकृत्यन्तःपातित्वे। यथा बहुजकचोरन्तोदात्तत्वम्। बहुपटव उच्चकैरित्यनयो रसति परत्वे सत्यां प्रत्ययसंज्ञायां चित (६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वं भवत्येव। मस्जेरित्यादि। नकारस्योपधाया अनुषङ्ग इति पूर्वाचार्य्यैः संज्ञा कृता। टुमस्जो शुद्धावित्यस्य मस्जिनशोर्झलीति (७।१।६०) नुमं वक्ष्यति। स च यद्यचोऽन्त्यात् परः स्यात् स्कोः संयोगाद्योरिति (८।२।२९) सकारस्यानिदितामिति (६।४।२४) नकारस्य च लोपो न स्यात्। यथाक्रम मनादित्वादनुपधत्वाच्च। तस्मादन्त्याज्जकारात् पूर्वो जकारसकारयो र्मध्ये नुम् कर्त्तव्यः। यथाचान्त्यात् पूर्वो लभ्यते तथा सप्तमे वक्ष्यते। मग्न इति। ओदितश्चेति (८।२।४५) निष्ठानत्वम्। तस्यासिद्धत्वात् चोः कुरिति (८।२।३०) कुत्वं जकारस्य गकारः। मङ्क्तेति। अत्र पूर्ववद् गकारे कृते तस्य खरि चेति (८।४।५५) चर्त्वं ककारः। नश्चापदान्तस्य (८।३।२४) झलीत्यनुस्वारः। अनुस्वारस्य ययि परसवर्णो (८।४।५८) ङकारः। पूर्वभक्तश्चायं मिद् वेदितव्यः। अन्यथा वह्वाभ्रे लिहः (३।२।३२) इति लिहः खशि कृते ऽरुर्द्विषदजन्तस्येति

(६।३।६७)मुमि कृते वहंलिह इत्यत्र मोऽनुस्वार (८।३।२३) इति पदान्तस्य विधीयमानोऽनुस्वारो न स्यात्। अपदान्तत्वात्।

## ४८। एच इग् ह्रस्वादेशे।

परिभाषेय मादेशनियमार्था ह्रस्वो (१।२।४७) नपुंसके प्रातिपदिकस्येत्यादावुपतिष्ठते। इहेम एचोऽवयवसमाहारवर्णाः। तत्र ए ऐ इत्येतयोः पूर्वो भागो वर्णसमानाकृतिः कण्ठ्यो मात्रात्मा। उत्तरस्त्विवर्णसमानाकृति र्मात्रात्मैव तालव्यः। अतएव ए ऐ कण्ठतालव्याविति शिक्षाकाराः पठन्ति। तदवयवयोः कण्ठतालव्यत्वात्। ओ औ इत्येतयोः पूर्वो भाग स्तादृश एव यादृश एकारैकारयोः। उत्तरस्तूवर्णसमानाकृतिर्मात्रिक ओष्ठ्यः। अतएव ओ औ कण्ठोष्ठ्याविति शिक्षाकाराः पठन्ति। तदवयवयोः कण्ठोष्ठ्यत्वात्। तत्र समुदायात्मनामिचां समुदयान्तरतमो ह्रस्वो नास्तीति तदवयवस्य योऽन्तरतमस्तेनैव युक्तं भवितुम्। स पुन रकार इकार उकारो वा। तत्र एकारैकारयो र्ह्रस्वो विधीयमानः कदाचिदकारः स्यात् कदाचिदिकारः। ओकारौकारयोरपि कदाचिदकारः स्यात् कदाचिदुकारः। इकारोकारावेव यथायोगं यथा स्यातां कदाचिदप्यकारो मा भूदित्येवमर्थ मिदमारभ्यते। अत्र यद्यप्येचामिकां साम्यं तथापि संख्यातानुदेशो न भवति। यस्मान्नेदं विधायकम्। किं तर्हि? नियामकम्। प्राप्तिपूर्वकश्च नियम इति ये प्राप्ता अन्तरतमा इक एचो ह्रस्वा स्तेषामनेन नियमः क्रियते। नच प्राप्ता ऋकारऌकाराविति कुतो यथासंख्यत्वम्? यद्येवमिक्षित्येव वक्तव्यम्। नत्विगिति। सत्यमेतत्। किन्त्वेवमुच्यमाने संदेहः स्यात् किं पूर्वेण णकारेण प्रत्याहार उत परेणेति। तस्मादसन्देहार्थमिगित्युक्तम्। अतिरि। अतिन्विति। रायमतिक्रान्तं नावमतिक्रान्तं ब्राह्मणकुलम्। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति कुगतीत्यादिना (२।२।१८) समासः। परवल्लिङ्गं द्वन्द्व (२।४।२६) तत्पुरुषयोरिति पुंलिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च प्राप्ते द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु (२।४।२६ वा) प्रतिषेध इति प्रतिषेधे नपुंसकस्य ब्राह्मणकुल-

स्याभिधेयत्वादभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति तल्लिङ्गमेव भवति। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येति (१।२।४७) ह्रस्वः। इक् कण्ठतालव्यस्यैकारस्य तालव्य इकारो भवति। कण्ठोष्ठ्यस्यौकारस्यौष्ठ्य उकारः। उपग्विति। गोः समीपमिति। अव्ययं (२।१।६) विभक्तीत्यादिना सामीप्येऽव्ययीभावः। गोस्त्रियोरुपसर्ज्जनस्येति (१।२।४८) ह्रस्वः। कण्ठोष्ठ्यौकारस्यौष्ठ्य उकारः। एकारस्य तूदाहरणम्। हे इतीमं शब्दमतिक्रान्तं ब्राह्मणकुलमतिहि। अतिखट्व इति। पूर्ववत् प्रादिसमासे कृते गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येत्येवमादिना (१।२।४८) ह्रस्वो ऽकार एव भवत्यन्तरतमः। देवदत्तेति। अत्रामन्त्रितस्यादेरुदात्तादेशे (६।१।१९८) कर्त्तव्ये देवदत्त इत्यत्र च गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येत्यादिना (८।२।८६) प्लुतादेशे कर्त्तव्य इङ् न भवति।

## ४९। षष्ठी स्थानेयोगा।

योगनियमार्थेति। योगनियमः सम्बन्धनियमः। सोऽर्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथोक्ता। यदि योगनियमार्थेयं शास्त्रे या षष्ठी सा स्थानेयोगैव भवति। नान्ययोगीति। एवं सत्यूदुपधाया गोहः (६।४।८९) इत्येषापि षष्ठी स्थानेयोगैव स्यात्। नावयवावयविसम्बन्धयोगा। ततश्चालोऽन्त्यस्येति (१।१।५२) स्थानषष्ठ्या अन्त्येऽप्युपसंहाराद् गोहश्चान्तस्य हकारस्य ऊकारः स्यात्। उपधायाश्चेतिवचना दुपधामात्रस्य चेत्यत आह इह शास्त्रे या षष्ठ्यनियतयोगीत्यादि। अनियमप्रसङ्गे नियमोऽनया क्रियते। क्व चानियमप्रसङ्गः? यत्र सन्देहः। यथास्तेर्भूरिति। अत्र हि किमस्तेः स्थान आहोस्विदनन्तर इति सन्देहः। पूर्वत्र तूपधाया अवयवलक्षणस्य स्थानिनो विशिष्टावयविनो व्यवच्छिन्नत्वादवयवषष्ठ्येवेयमिति निश्चितम्। ततो नास्या व्यापारः। स्थाने योगेवेति। स्थान इति निमित्तसप्तमी। योगः सम्बन्धः। तेनेदमुक्तं भवति। स्थाननिमित्तक सम्बन्धेवेति। एतदेव विस्पष्टीकुर्वन्नाह स्थाने योगनिमित्त इत्यादि। स्थाने योगस्य निमित्तभूते निमित्तत्वं प्राप्ते सति सा वेदितव्या। भूतशब्दो ह्यत्र प्राप्तशब्दे वर्त्तते। यथा देवभूत इत्यत्र देवत्वं प्राप्त इत्यर्थः। निमित्तग्रहणं कुर्वन् सूत्रे स्थाने योगेति निमित्तसप्तमीयमिति दर्शयति। योगः पुन-

रिह स्थान्यादेशभावलक्षणः। कुत एतत्? तस्यैव स्थानिहेतुत्वात्। स्थानशब्दो भावसाधनः। स्थितिः स्थानम्। तत् पुनस्त्रिधा। अपकर्षो निवृत्तिः प्रसङ्गश्चेति। गोस्थानेऽश्वो बध्यतामित्यपकर्षः स्थानशब्दस्यार्थः। श्लेष्मणः स्थाने कटुकमौत्रधमित्यत्र निवृत्तिः। दर्भाणां स्थाने शरैरास्तरितव्यमिति प्रसङ्गः। तत्राद्यावर्थाविह न सम्भवतः। नित्यत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धस्य प्रथमो न संभवति। सामान्येनास्तेरुपदेशान्न द्वितीयः। तस्मात् तृतीय एवार्थ इति मत्वाह स्थानशब्दस्येत्यादि। चशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः प्रसङ्गवाचीत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तदेतदुक्तं भवति। स्थानशब्दः प्रसङ्गवाच्येवेति। प्रसङ्गस्त्वर्थक्रियानिमित्तभूतस्य कालस्यावसरः। अस्तेः स्थाने प्रसङ्ग इति। अस्तेर्या क्रिया स्वार्थप्रतिपादनलक्षणा तस्या निमित्तभूतस्य कालस्यावसरः प्राप्त इत्यर्थः। प्रसङ्गे सम्बन्धस्य निमित्तभूत इत्यादिना सूत्रार्थस्योदाहरणे संभवं दर्शयति। ब्रुव इति चोपलक्षणमात्रम्। अस्तेरित्यादेरपि हि षष्ठी प्रसङ्ग एव सम्बन्धस्य निमित्तभाव उत्पन्ना। के पुनर्बहवः षष्ठ्यर्थाः? यतः सम्बन्धान्तरविषयव्यवच्छेदनार्थं षष्ठ्या इदमुच्यत इत्याह बहवो हीत्यादि। शब्दे हि समीपानन्तरविकारावयवादिनिमित्ताः सम्बन्धाः सन्ति। नत्वपत्यापत्यवत्प्रभृतय इत्यतो यावन्तः शब्दे सम्भवन्तीत्याह। अथ स्थाने योग इति किमसमासोऽथ समासः? यद्यसमास स्तदा योगशब्दस्य पुंलिङ्गत्वात् स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः षष्ठीशब्देन च सामानाधिकरण्यं न प्राप्नोति। योगस्याषष्ठीत्वात्। अतः समासः किं तत्पुरुषः? आहोस्विद् बहुव्रीहिः? यदि तत्पुरुष स्तौ च पूर्वोक्तौ दोषौ स्याताम्। सप्तम्या लुक्प्रसङ्गश्च। अथ बहुव्रीहिः? एवमपि लुक्प्रसङ्गोऽत्रानिवार्य्य एवेत्यत आह षष्ठीस्थाने योगेत्यादि। गतार्थम्।

## ५०। स्थानेऽन्तरतमः।

परिभाषेयमादेशनियमार्था। स्थाने प्राप्यमाणानामिति। एतेन नेदं विधायकं वाक्यं किं तर्हि? लक्षणान्तरेण प्राप्तानामनन्तरतमानामितरेषाञ्च योऽन्तरतमः स एव भवतीति नियमार्थमिति दर्शयति। विधायकत्वे हि दधि-

मध्वित्यादावपि प्रसज्यति। किं पुनरत्रानिष्टम् ? यावतान्तरतम्याद् दधिमधु-शब्दयोस्तावेवादेशौ भविष्यतः। तयोरप्यादेशयोरन्यौ दधिमधुशब्दौ यावादेशौ स्यातां तयोरप्यन्याविल्येवमपरिसमाप्तादेशपरम्पराविधानादनवस्था स्यात्। ततश्चार्थप्रत्यायनं प्रति शब्दानां विनियोगो न स्यात्।' अन्वाख्यायकस्य शास्त्रस्य प्रवृत्त्यनुपरमात्। शास्त्रोपरतौ ह्यन्वाख्यातास्ते प्रयुज्यन्ते। नान्यथेत्यनिष्टम्। ननु च सकृत्प्रवृत्तौ लक्षणस्य चरितार्थत्वात् पुनः प्रवृत्तिर्न भविष्यति। नैतदस्ति। यत्र हि प्रयोजनार्था प्रवृत्तिस्तत्रैतदुक्तम्। इह पुनरकस्मादन्तरतमो विधीयत इत्यनुपरतैवास्य प्रवृत्तिः। नियामकत्वेऽप्यस्य यदीदं विहितानां नियमं कुर्य्यादनर्थकमेव वचनं स्यात्। यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुङ्क्ष्वेति किं तस्य तेन कृतं स्यात् ? तस्मात् प्राप्यमाणावस्थायामेव वाक्यान्तरैः सह संहत्यानेन कार्य्यं निर्वर्त्त्यते। तदेकदेशभूतत्वादस्य। सदृशतम इति। अन्तरतमशब्दस्यार्थं कथयति। अर्थत इत्यादि। वतण्डशब्दात् स्त्रियामपत्यार्थे वतण्डाच्चेति ( ४।१।१०८ ) यञ्। तस्य लुक् स्त्रियामिति ( ४।१।१०९ ) लुक्। शार्ङ्गरवाद्यञो ( ४।१।७३ ) ङीन्। यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपः। वतण्डी चासौ युवतिश्चेति पोटायुवतीत्यादिना (२।१।६५) समासः। तत्रानेन पुंवत् कर्मधारयेत्यादिना ( ६।३।४२ ) पुंवद्भावे कर्त्तव्ये सर्वः पुंशब्दः प्रसक्तः। तत्रानेन वतण्डापत्यार्थस्य वतण्डीशब्दस्यार्थतोऽन्तरतमो वतण्डापत्यार्थ एव वातण्ड्यशब्दो भवति। पाक इत्यादौ भावे घञ्। चकारस्येत्यादि। वर्गाणां प्रथमा अल्पप्राणा इति चकारककारावल्पप्राणौ। वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषस विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषा इत्यघोषौ। जकारस्येत्यादि। वर्गाणां तृतीयचतुर्थी अन्तःस्था हकारानुस्वारौ यमौ च द्वितीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्त इति जकारगकारौ घोषवन्तौ। वर्गाणां तृतीया अन्तःस्थाश्चाल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणा इत्यल्पप्राणौ। अमुष्मै। अमूष्यामिति। अदस श्चतुर्थ्येकवचने भ्यामि च परत स्यदाद्यत्वम् (७।२।१०२)। अतो गुणे (६।१।९७) पररूपत्वम्। सर्वनाम्नः (७।१।१४) स्मैड़ति स्मैभावः। भ्यामि

सुपि चेति (७।३।१०२) दीर्घः । ततो ह्रस्वस्य ह्रस्व उकारो भवति । दीर्घस्य दीर्घः । स्थाने इति वर्त्तमाने इति । प्रकृतो हि स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । तदनुवृत्तौ स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतमो भवतीत्येषो ऽर्थो लभ्यते । ननु च यत्रानेकमान्तर्यं तत्र ताल्वादिस्थानत एवान्तर्यस्य बलीयस्त्वम् । तस्मात् तद् यथा स्यादिति पुनस्ताल्वादिस्थानवाचिनः स्थानशब्दस्योपादानं क्रियते । यद्येवं स्थानकृतमेवेहान्तर्यं विशिष्टमुपात्तमिति प्रमाणादिकृतं परित्यक्तं स्यात् । नैष दोषः । वाक्यभेदं हि कृत्वा तत्र सम्बन्धः क्रियते । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवति । स्थाने च भवतीति पूर्वत्र वाक्ये प्रसङ्गवाची स्थानशब्दः । उत्तरत्र तु ताल्वादिस्थानवाची । एवं वाक्यभेदेन सम्बन्धे सति पूर्वस्मिन् वाक्ये स्थानादिकृतानामान्तर्याणां परिग्रहः प्रतीयते । द्वितीये तु तेषामेव बलाबलवत्त्वम् । स्थान इति च निमित्तसप्तमी । तेनेदमुक्तं भवति । यत्रानेकमान्तर्यं तत्र स्थानेन निमित्तेन योऽन्तरतमः स एव भवति । वाक्यभेदस्य च तमब्ग्रहणं लिङ्गम् । सादृश्ये प्रकर्षो हि तेन प्रतिपादयितुमिष्टः । स चानेकस्मिन् सादृश्ये सति सादृश्यान्तरापेक्षया भवति । एकवाक्यतायाञ्च स्थानग्रहणेन सादृश्यान्तरे निरस्ते किमपेक्षया सादृश्यप्रकर्षः स्यात् ? तस्मात् तमब्ग्रहणाद् वाक्यभेदोऽनुमीयते । अन्यथा हि तस्य वैयर्थ्यं स्यात् । चेतेति । अत्रेकारस्य तालव्यत्वादेकारस्य कण्ठतालव्यत्वात् स्थानत आन्तर्यम् । इकाराकारयोस्तु प्रमाणतो द्वयोरपि मात्रिकत्वात् । स्तोतेति । अत्राप्युकारस्यौष्ठ्यत्वादोकारस्य कण्ठौष्ठ्यत्वात् स्थानत आन्तर्यम् । उकाराकारयोस्तु प्रमाणतः पूर्ववत् । तत्रासति पुनः स्थानग्रहणे प्रमाणत आन्तर्यात् कदाचिदकारो गुणः स्यात् । स्थानत आन्तर्यात् कदाचिदेकारौकारौ । पुनः स्थानग्रहणात् तु स्थानकृतस्यान्तर्यस्य बलीयस्त्वादेकारौकारौ एव भवतः । न कदाचिदकारः । सोष्मणः सोष्माण इतीत्यादि । इतिकरणो हेतौ । यस्मात् सोष्माणो द्वितीयास्तस्मात् सोष्मणो हकारस्य द्वितीयाः प्रसक्ता इत्यर्थः । एवं नादवतो नादवन्त इत्यादौ वाक्ये हेत्वर्थो योज्यः । शादय ऊष्माणः सस्थानेन द्वितीया हकारेण चतुर्था इति शिक्षा । अत्र शादय ऊष्माण इति वचनेन हकारस्य सोष्मत्वं प्रतिपादितम् । सस्थानेन द्वितीया इत्यनेन

तु वर्गद्वितीयानां खकारादीनां। हकारेण चतुर्था इत्यनेनापि वर्गचतुर्थानां घकारादीनां समानं स्थानं यस्य स सस्थानः। सस्थानेनेति। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। सस्थानेन द्वितीया ऊष्मतया लक्ष्यन्ते। एतदुक्तं भवति। यथा सस्थान एवैषामूष्मा एवमेतेऽपि वर्गाणां द्वितीया ऊष्माण इति। अथवा तुल्यार्थयोग एषा तृतीया। तुल्यशब्दस्त्वध्याहार्यः। तुल्यत्वमूष्मतया वेदितव्यम्। तत्र खकारस्य सस्थानो हकारः। छकारस्य शकारः। ठकारस्य षकारः। थकारस्य सकारः। फकारस्य सस्थान ऊष्मा नास्ति। तस्मात् तस्यापि विशेषेणोष्मत्वं वेदितव्यम्। हकारेण चतुर्था इति। इहापि तृतीयेत्थम्भूतलक्षणे तुल्यार्थयोगे वा। हकारेण चतुर्था ऊष्मतया लक्ष्यन्ते। तत्सदृशत्वात्। तेन यथा हकार ऊष्मा एवं तेऽपीत्यर्थः। नादवत इत्यादि। वर्गाणां तृतीयचतुर्थ इत्यादिना पूर्वोक्तेन ग्रन्थेन तृतीयानां हकारस्य नादवत्त्वमुक्तम्। ये सोष्माणो नादवन्तश्चेति। सोष्मत्वं हकारस्य शादय ऊष्माण इत्यनेनाख्यातम्। चतुर्थानां तु हकारेण चतुर्था इत्यनेन नादवत्त्वम्। उभयेषां वर्गाणां तृतीयचतुर्था इत्यादिनैव पूर्वोक्तेन।

५१। उरण् रपरः।

अत्र त्रयः पक्षाः सम्भवन्ति। उः स्थानेऽण् रपरत्वञ्चानेनोभयं विधीयत इत्येकः पक्षः। लक्षणान्तरेण विहितस्याण उःस्थाने पश्चादनेन रपरत्वमात्रं क्रियत इति द्वितीयः पक्षः। उःस्थाने लक्षणान्तरेण विधीयमानोऽण् विधानकाल एव तेन लक्षणान्तरेण सह संहत्य रपरत्वविशिष्टोऽनेन भाव्यत इति तृतीयः। तत्र यद्याद्यः पक्ष आश्रीयत ऋकारस्य स्थान उदात्तादयो न स्युः। अनेन बाधितत्वात्। कृतिरित्यत्र ञ्नित्यादिर्नित्यमित्याद्युदात्तो (६।१।१९७) न स्यात्। प्रकृतमित्यत्र पूर्वपदस्याद्युदात्तस्य गतिरनन्तर (६।२।४९) इति प्रकृतिस्वरे कृतेऽनुदात्तं (६।१।१५८) पदमेकवर्जमित्यनुदात्तो न स्यात्। उदात्तानुदात्तस्य (८।४।६६) स्वरित इति स्वरितश्च। यद्यचः स्थान उदात्तादयो विधीयन्ते तथापि तेषां मन्योऽजवकाश इति ऋवर्णस्थाने प्रतिपदोक्तोऽणेव रपरः स्यात्। ये चाप्यन्य ऋवर्णस्थाने प्रतिपदमादेशा उच्यन्ते

ऋत (७।१।१००) इद् धातोरित्येवमादिभिर्लक्षणान्तरैस्तेषु रपरत्वं न स्यात्। ततश्च किरतीत्यादि न सिध्येत्। अथ द्वितीयः पक्ष आश्रीयते तरतेस्तृजादौ गुणो विधीयमानः प्रमाणत आन्तरतम्याद् दीर्घस्य दीर्घ एव स्यात्। तथाच तरितेत्यादि न सिध्येत्। किञ्च ण्वुलादौ वृद्धौ विधीयमानायामृकारस्य केनचिद् वृद्धिसंज्ञकेनान्तरतम्यविशेषो नास्तीति सर्वे वृद्धिसंज्ञकाः पर्य्यायेण प्रसज्येरन्। तथाच पक्षे नायकः स्तावक इत्याद्यप्यनिष्टं रूपं स्यात्। इत्येवमाद्ययोः पक्षयोर्दोषवत्तां दृष्ट्वा तृतीयं पक्षमाश्रित्याह उःस्थानेऽण् प्रसज्यमान एवेत्यादि। एतेन लक्षणान्तरेण विधीयमानस्याणो विधानकाल एव तेन सह संहत्य रपरत्वविशिष्टस्य विधावियं परिभाषा व्याप्रियत इति दर्शयति। एतच्च स्थानद्वयग्रहणस्यात्रानुवृत्तेर्लभ्यते। पूर्वकेण हि स्थानग्रहणेनेहानुवृत्तावुः स्थान इत्येतदर्थरूपं लभ्यते। द्वितीयेन तु प्रसज्यमान इत्येतत्। तथाहि यदिह स्थानग्रहणं सप्तम्यन्तं प्रकृतमनुवर्त्तमानं तत् सामर्थ्यात् प्रथमान्तं सम्पद्यते। स्थानशब्दश्चायं प्रसङ्गवाची। ततश्च यदा स्थानेनाण् विशिष्यते ऽण् स्थानमिति तदाण् प्रसज्यमान एवेत्येषोऽर्थो जायते। प्रसज्यमान इति। प्रसङ्गेनाभिसम्बध्यमान इति यावत्। एवेति। अवधारणं पुनरत्र व्यवच्छेदफलत्वेन सर्ववाक्यानां सावधारणत्वाल्लभ्यते। कथं पुनरण् स्थानं भवति? नैव हि स स्थानं भवति। तद्योगात्तु तत्र स्थानव्यपदेशो भवति। यथा यष्टीः प्रवेशयेति यष्टियोगात् पुरुषाणां व्यपदेशः। ननु च स्थानेऽन्तरतम इत्यत्र ताल्वादिस्थानवचनः स्थानशब्द उपात्तः। तत् कथं तदनुवृत्तावपि प्रसज्यमान इत्येषोऽर्थो लभ्यते? नैष दोषः। स्वरितत्वचिह्नासङ्गाद्धि यो यत्रोपतिष्ठते स तत्र सामर्थ्यात् तत्कार्य्ययोग्यस्यैवार्थस्याभिधाता सन्नुपतिष्ठते। तेन यद्यपि पूर्वसूत्रे स्थानशब्दस्ताल्वादि स्थानवचनस्तथापीहोपतिष्ठमानः प्रसङ्गवचन एवोपतिष्ठते। तदेवं यस्मान्नेदं स्वतन्त्रमणो रपरत्वविशिष्टस्य च विधायकं तस्मादाद्ये पक्षे यो दोषः स इह न भवति। ततश्च लक्षणान्तरेण विहितस्याणः पश्चादनेन रपरत्वं न विधीयते। किं तर्हि? प्रसज्यमान एवाण् लक्षणान्तरेण तत्सहायं प्रतिपद्य रपरो भाव्यते। तेन द्वितीये पक्षे यो दोषः सोऽप्यस्मिन्न भवत्येव।

प्रसज्यमानस्यैव हि रपरत्वविधौ यथा ऋवर्णो रश्रुतिमान् एवमादेशोऽपि रश्रुतिमानेव भवति। ततश्चान्तरतम्यादृकारस्य रश्रुतिमतस्तादृश एव रश्रुतिमानादेशो भवति। अन्ये गुणवृद्धिसंज्ञका व्यावर्त्तिता भवन्ति। यदि तर्हि प्रसज्यमानएव रपरो भवत्यनेकाल्त्वात् सर्वादेशः प्रसज्येत।" नैष दोषः। यदयं तरतीति ( ४।४।५ ) निर्देशं करोति ततो ज्ञायते सर्वादेशो न भवतीति। कर्त्ता हर्त्तेति। डुकृञ् करणे। हृञ् हरणे। आभ्यां ण्वुल्तृचाविति ( ३।१।१३३ ) तृच्। सार्वधातुकार्द्धधातुकयोरिति ( ७।३।८४ ) गुणः। अचो रहाभ्यामिति ( ८।४।४६ ) द्वित्वम्। किरति। गिरतीति। कॄ विक्षेपे। गॄ निगरणे। आभ्यां लट्। शेषात् कर्त्तरि ( १।३।७८ ) परस्मैपदमिति तिप्। तुदादित्वाच्छः। ऋत (७।१।१००) इद् धातोरितीत्वम्। द्वैमातुर स्त्रैमातुर इति। द्वयोर्मात्रोरपत्यं तिसृणां मातॄणामपत्यमिति। मातुरुत् संख्यासंभद्रपूर्वाया ( ४।१।११५ ) इत्यण्। उकारश्चान्तादेशः। तद्धितेष्वचामादेरिति ( ७।२।११७ ) वृद्धिः। खेयमिति। ई च खन ( ३।१।१११ ) इति क्यप्। ईकारश्चान्तादेशः। आद् गुणः ( ६।१।८७ )। सौधातकिरिति। सुधातुरकङ् ( ४।१।९७ ) च इञ्। तत्संयोगेनाकङादेशः क्रियमाणो रपरो न भवति। अनण्त्वात्। अथ योऽत्राण् स रपरः कस्मान्न भवति? अनादेशत्वात्। समुदायो ह्यत्रादेशो न तदवयवः। अथेह कथं रपरत्वम्? खट्वा ऋश्यः खट्वर्श्य इति? यावता नायमृकारस्य स्थानेऽण्। किन्तु तस्यान्यस्य च। नैष दोषः। यो हि द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभते सोऽन्यतरव्यपदेशम्। यथा देवदत्तस्य पुत्रो देवदत्तायाः पुत्र इति।

## ५२। अलोऽन्त्यस्य।

अल्ग्रहणमन्त्यस्य विशेषणम्। नादेशस्य। अन्यथा ह्यलन्त्यस्येत्येवं ब्रूयात्। आदेशः पुनरनेकाल्त्वात् अन्यस्यानेकाल्शित् सर्वस्येति (१।१।५५) सर्वादेशतां वक्ष्यति। षष्ठीनिर्दिष्टस्येति। सामान्यवचनेऽपि षष्ठी स्थानेयोगेत्यधिकारात् स्थानषष्ठ्या निर्दिष्टस्येति वेदितव्यम्। अन्यथा टित्किन्मितोऽप्यवयवसम्बन्धषष्ठीनिर्दिष्टा विधीयमाना अन्त्यस्य स्युः। इद् गोण्या (१।२।५०)

इति । येयं षष्ठी सान्त्यमलं नीयते । अन्त्यस्याल इत्त्वमिति । पञ्चगोणि रिति । पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीत इति तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चेति ( २।१।५१ ) समासः । तेन क्रीतमिति ( ५।१।३७ ) प्राग् वहतेष्ठक् (४।४।१) । अध्यर्द्धपूर्व-द्विगोर्लुगसंज्ञायामिति ( ५।१।२८ ) तस्य लुक् । यद्यलोऽन्त्यस्य षष्ठीनिर्दिष्ट-स्यादेशो भवतीदोऽय् पुंसीत्यत ( ७।२।१११ ) इद इत्यनुवृत्ते हलि लोपो ( ७।२।११३ ) विधीयमान इद्रूपस्य योऽन्त्य स्तस्य स्यात् । तथाच आभ्यामिति न सिध्येत् । नैष दोषः । नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारेष्विति परिभाषया न भविष्यति ।

## ५३ । ङिच्च ।

होतापोतारावित्ति । होतृपोतृशब्दयोर्द्वन्द्वः । आनङ् । औप्रत्यये परत ऋतो ङिसर्व्वनामस्थानयोरिति (७।३।११०) गुणः । रपरत्वञ्च । अप्तृन् ( ६।४।११ ) स्तृजित्यादिना दीर्घः । मातापितराविति । पिता मात्रेति ( १।२।७० ) यस्मिन् पक्ष एकशेषो नास्ति तत्रेद मुदाहरणम् । यदि ङिदादेशोऽनेकालप्यन्त्यस्य भवत्येवं सति तातङप्यन्त्यस्य भवतीत्यत आह तातङीत्यादि । तत्र गुणप्रतिषेधार्थश्चिनुतादित्यादौ । अत्र हि सार्वधातुकल-क्षणस्य गुणस्य प्राप्तिः । वृद्धिप्रतिषेधार्थं मृष्टादिति । अत्र हि मृजेर्वृद्धिरिति (७।२।११४ ) वृद्धिप्राप्तिः । तदेवं गुणवृद्धिप्रतिषेधे चरितार्थत्वात् तातङो ङित्करणस्य सावकाशत्वे सति तस्मिन् परत्वादनेकाल्शित् ( १।१।५५ ) सर्वस्येत्यनेन तातङ् सर्वादेशो भवति । ङिच्चेत्यस्यावकाशो होतापोतारा-वित्यादि । अनेकालित्यादेरवकाशो यो न ङित् । अस्तेर्भूः ( २।४।५२ ) । भवितेत्यादि । जीवतादित्यादावुभयप्राप्तौ परत्वादनेकाल्त्वात् तातङ् सर्वादेशो भवति । जीवताद् भवान् । जीवतात् त्वमिति । जीवतादिति । आशिषि लिङ्लोटाविति ( ३।३।१७३ ) लोट् । तिप् । एरुः ( ३।४।८६ ) । तुह्यो-स्तातङ् इत्यादिना ( ७।१।३५ ) तातङ् ।

## ५४ । आदेः परस्य ।

अलोऽन्त्यस्यापवादोऽयम् । शास्त्रे न क्वचित् परस्येत्युच्चार्य्य कार्य्यं विधीयते ।

ततश्च निर्विषय मेतदित्यभिप्रायेणाह क्व चेत्यादि। यत्र पञ्चमीनिर्देश इति। तस्मादित्युत्तरस्येति ( १।१।६७ ) वचनाद् यत्र पञ्चमीनिर्देश स्तत्र परस्य कार्य्यं शिष्यति। आसीन इति। आस उपवेशने। लट्। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम्। शानच्। अदादित्वाच्छपो लुक्। द्वीपमन्तरीपं समीपमिति। द्विर्गता अन्तर्गताः सङ्गता आपोऽस्मिन्निति विगृह्य बहुव्रीहिः। ऋक्पूरित्यादिना ( ५।४।७४ ) ऽकारप्रत्ययः समासान्तः।

## ५५। अनेकाल्शित् सर्वस्य।

शितः शकारानुबन्धेनानेकाल्त्वेऽपि शिदिति पृथक्करणं नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमिति ज्ञापनार्थम्। तस्य तु प्रयोजनं दिव ( ६।१।१३१ ) उदित्यादिषु सर्वादेशाभावः।

## ५६। स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।

स्थानं प्रसङ्गः। स च पूर्वमुक्तस्वरूपः। अतिदेशोऽनेकप्रकारः। निमित्तातिदेशः। व्यपदेशातिदेशः। शास्त्रातिदेशः। रूपातिदेशः। कार्य्यातिदेशश्चेति। तत्र तावन्निमित्तमशक्यमतिदेष्टुम्। नहि धात्वादिधर्माः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता धात्वादिव्यक्त्याश्रिता वस्त्वन्तरमादेशं प्रापयितुं पार्य्यन्ते। यथा ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्त्तितव्यमिति ब्राह्मणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न शक्यं क्षत्रिये प्रापयितुम्। तद्वत् तस्मादशक्यत्वान् नेह निमित्तातिदेश आश्रीयते। नापि व्यपदेशातिदेशः। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादभिन्नत्वात्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धे हि वत्करणस्यानर्थक्यं स्यात्। विनापि तेन तत्सिद्धेः। अप्रधानत्वाच्च नात्र व्यपदेशातिदेशो युक्त आश्रयितुम्। अतएव शास्त्रातिदेशोऽपि। अप्रधानत्वं तु तयोरपि कार्य्यं प्रत्यङ्गभूतत्वात्। रूपातिदेशस्याप्याश्रयणमयुक्तम्। निष्फलत्वात्। यदि ह्यादेशस्य स्थानिनो रूपमतिदिश्येतादेशस्य वैयर्थ्यं स्यात्। द्विर्वचने (१।१।५९) ऽचीत्यत्र रूपातिदेशोऽपि न भवत्यादेशवैयर्थ्यम्। द्विर्वचनादुत्तरकालं श्रवणार्थत्वात्। तस्मादतिदेशान्तराश्रयणस्यायुक्तत्वात् कार्य्यातिदेश आश्रीयते। स्थानिना तुल्यं वर्त्तत इति। तत्तुल्यकार्य्यत्वात्। तेन तुल्यं स्थान्याश्रयेष्विति। स्थानी आश्रय एषा

मिति बहुव्रीहिः । अनलाश्रयेष्विति । अल आश्रय एषामिति बहुव्रीहिं कृत्वा न अलाश्रयाणि अनलाश्रयाणीति नञ्समासः । अनन्तरोक्तमेवार्थं विस्पष्टीकर्त्तुमाह स्थान्यलाश्रयाणीत्यादि । स्थानी अल् आश्रयो येषां तानि तथोक्तानि । आश्रयग्रहणेन सूत्रे योऽल्विधिशब्दः सो ऽलाश्रयो विधिरल्विधिरित्युत्तरपदलोपी समास इति दर्शयति । स पुनः समासो मयूरव्यंसकादित्वाद् (२।१।७२) वेदितव्यः । समानाधिकरणाधिकारे (२।१।६०,वा) शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्चेत्यनेनेत्यपरे । एतच्चायुक्तम् । सूत्रप्रणयनकालादर्वाक्कालभावित्वादस्य वाक्यस्य (A) । तस्मान् मयूरव्यंसकादित्वात् समासं कृत्वा नञ्समासः कृतः । न अल्विधिरनल्विधिरिति । कः पुनरलाश्रयो विधिः ? यो वर्णमात्राश्रितः । यस्तु समुदायाश्रितः सोऽनलाश्रयः । कार्य्यशब्देन कर्मसाधनेन विधिशब्दस्यार्थमाचक्षाणो विधीयत इति विधिरिति तस्य कर्मसाधनत्वं दर्शयति । किमुदाहरणमिति प्रश्नः । धात्वाद्यादेशाः प्रयोजनमित्युत्तरम् । प्रयुज्यतेऽनेनेति प्रयोजनम् । उदाहरणेन च प्रयुज्यत इति । अर्थात् प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनम् । ननु चार्द्धधातुके परतो भाव्यमादेशाभ्याम् । तत्र किमत्रादेशिनेत्यत आह आर्धधातुके विषय इति । प्रकृत्येत्यादि । कुगतीत्यादिना (२।२।१८) समासः । समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो (७।१।३७) ल्यप् । दाधिकमिति । दध्ना संस्कृतमिति (४।४।३) दध्नष्ठक् । अद्यतनमिति । सायंचिरमित्यादिना (४।३।२३) ट्युप्रत्ययः । तुड़ागमश्च । योरनादेशः । अकुरुताम् । अकुरुतमिति । कृञो लङ् । तस्थस्थमिपामित्यादिना तसस्ताम् (३।४।१०१) । थसस्तम् । तनादित्वात् तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९) । धातोर्गुणः । अत उत् सार्वधातुके (६।४।११०) । ग्रामो वः स्वम् । जनपदो नः स्वमिति युष्मदस्मदोः षष्ठीबहुवचनस्य (८।१।२१) वस्नसाविति वस्नसादेशौ । वत्करणं किमिति ? विनापि तेन तदर्थो गम्यते ? यथाऽसंयोगाल्लिट् (१।२।५) किदित्यादावित्यभिप्रायः । स्थानीत्यादि । प्रायेण ह्यस्मिन् पादे वृद्धिरादैजित्यादीनि (१।१।१) सूत्राणि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थान्येव दृष्टानि । अतोऽसति वत्करणे स्थान्यादेशस्य संज्ञा विधीयत इति विज्ञायते । तदेवं मा

(A) अन्तत्सूत्रपदन्यासो न्यासकारो नाम नियतं वार्त्तिकप्रत्याख्यायी ।

विज्ञायीत्येवमर्थं वत्करणम्। किमर्थं पुनः स्थान्यादेशस्य संज्ञा नेष्यत इत्याह स्वाश्रयमपीत्यादि। संज्ञा हि संज्ञिप्रत्यायनार्थां न स्वतः कार्य्यं प्रतिपद्यते। अपि तु तत्प्रत्यायितः संज्ञीति। अत्र यदि स्थान्यादेशस्य संज्ञा स्यादादेशस्यैव हि संज्ञिनः कार्य्यं स्यात्। न संज्ञाभूतस्य स्थानिनः। ततश्चाङो (१।३ २८) यमहन इति वधेरात्मनेपदं स्यात्। न हन्तेः। वत्करणे तु सत्यतिदेशोऽयं भवति। अतिदेशेन चान्यसम्बन्धिकार्य्यमन्यत्र सम्पाद्यते। न तु तत्र स्वाश्रयं-निवर्त्त्यते। तथाहि ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्त्तितव्यमित्यतिदेशे तद् ब्राह्मण-सम्बन्धि कार्य्यं क्षत्रिये भाव्यते। नतु ब्राह्मणस्य यत् स्वाश्रयमग्रभोजनादि तद् व्यावर्त्त्यते। स्वाश्रयमपीत्यपिशब्दादतिदेशप्रापितमादेशे पराश्रितमपि। आहतेति। हन्तेर्लुङ्। हनः (१।२।१४) सिजिति कित्त्वम्। अनुदात्तोपदेशे-त्यादिना ( ६।४।३७ ) ऽनुनासिकलोपः। ह्रस्वादङ्गादिति (८।२।२७) सिचः। आवधिष्टेति। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्यामिति वधादेशः ( २।४।४३ )। इट्। अतो लोपः ( ६।४।४८ )। षत्वष्टुत्वे। आदेशग्रहणं किमिति ? स्थानीति सम्बन्धिशब्दोऽयम्। तत्र यथा पितृवत् स्थूल इत्युक्ते ऽन्तरेणाप्यत्र पुत्रग्रहणं सम्बन्धिशब्दत्वात् पुत्र इति गम्यते तथा स्थानिवदित्युक्ते विनाप्यादेशग्रहणेन सम्बन्धिशब्दत्वादादेश एव स्थानिवद् भवतीति विज्ञायत इत्यभिप्रायः। आनुमानिकस्येत्यादि। अस्तेर्भूरित्यादौ (२।४.५२) स्थानी अपि शब्देन साक्षात् प्रत्याय्यते। आदेशोऽपि। पचत्वित्यत्र स्थान्यप्यानुमानिक आदेशोऽपि। तथाहि एरुरित्यत्र (३।४।८६) न वस्तुत इकार एव स्थानी अपितु तिशब्दः। नाप्युकार-मात्र आदेशः किं तर्हि ? तुशब्दः। लाघवार्थं तु तदेकदेशयोरिकारोकारयो रुच्चारणम्। तेनैकदेशद्वारेण समुदायस्य समुदाय एवादेशो विधीयते। तत्र यथा विषाणैनैकदेशेनोपलब्धेन विषाणी समुदायोऽनुमीयते तथैकदेशेनेकारेणो-कारेण च तिशब्द तुशब्दश्च। अत्र च शास्त्रे यस्य च क्रियाभिसम्बन्धः साक्षाच्छब्दादेव प्रतीयते यस्य च कुतश्चिदर्थप्रकरणादेरनुमीयते तयोः पूर्वस्य प्राधान्यमितरस्य विपर्य्यय इष्यते। तथाहि सहयुक्तेऽप्रधान ( २।३।१९ ) इत्यत्र वृत्तिकारः पुत्रेण सहागत इत्याद्युदाहृत्य वक्ष्यति पितुरत्र क्रियादिसम्बन्धः शब्देनोच्यते पुत्रस्य तु प्रतीयमान इति तस्याप्राधान्यमिति। प्रधानेतरयोश्च

सन्निधाने प्रधानस्यैव कार्य्येण संप्रत्ययो युक्तः । तथा चाह प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्ययात् सिद्धमिति । अत्र हि यद्यादेश इति नोच्येत ततो य आदेशशब्देनोपादाय विधीयमानत्वात् प्राधान्यमनुभवति तस्यैव स्थानिवद्भावः स्यात् । नाप्रधानस्यानुमानिकस्य । तस्मात् तस्यापि स्थानिवद्भावो यथा स्यादित्येवमर्थमादेशग्रहणम् । तेन पचत्वित्यादावपि सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमिति पदसंज्ञा सिद्धा भवति। कुतः पुनरेतदवसीयते ? एरु (३।४।८६) रित्यनेनैकदेशद्वारेण तुशब्दः समुदायो विधीयते । न पुनर्यथाश्रुतमिकारमात्रस्योकारमात्रमेवेति। पचत्वित्यत्र पदसंज्ञाकार्य्योपलब्धेः । तद्धि न विना पदसंज्ञया । सापि न विना तिङ्वद्भावेन । सोऽपि न विना समुदायादेशेनेति । तस्मिन् हि सति स्थानिवद्भावेन यत्नप्रतिपादितेन तिङ्भावो लभ्यते । नान्यथेति गतमेतत् । अथानुमानिके गृहीते कथमितरस्य ग्रहणं लभ्यते ? एवं मन्यते । स्थानिवदित्येतावानेको योगः कर्त्तव्यः । एतेन योगेनादेशः प्रधानभूतः सम्बन्धिशब्दत्वाल्लभ्यते । तत आदेश इति द्वितीयो योग आनुमानिकस्य स्थानिवद्भावाय । अत्र च स्थानिवदिति वर्त्तते । एवमुभयोः प्रत्यक्षानुमानशिष्टयोर्ग्रहणमुपपद्यते । अनल्विधाविति । द्वयोरपि योगयोः शेषभूतः । द्युपथित्यदादेश इत्यादि । दिव औत् (७।४।८४) । पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५) । त्यदादीनाम (७।२।१०२) इत्येते हल्ङ्याब्भ्य इति (६।१।६८) सुलोपे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवन्ति । तस्य हल्मात्रमाश्रित्य प्रवृत्तेः । अलाश्रयत्वात् ।

## ५७ । अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ।

किमर्थमिदमुच्यते ? अनल्विधौ स्थानिवद्भाव उक्तः । अल्विध्यर्थमिदम् । पटयतीत्यादौ ह्यत उपधायाः ( ७।२।११६ ) इति वृद्धिरलाश्रया । अकारस्योपधाया अल्त्वात् । तस्मात् पूर्वेण न प्राप्नोतीत्येके । अजादेश एव परनिमित्तक एव पूर्वविधावेव कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवतीति नियमार्थमित्यन्ये । अच इति स्थानिनिर्देश इति । अच इत्यनेन स्थानषष्ठ्यन्ततां दर्शयति । परस्मिन्निति । निमित्तसप्तमीति । न परसप्तमी । परशब्देनैव परस्योक्तत्वादित्यभिप्रायः । पूर्वविधाविति । विषय इति । प्रकृतत्वात् स्थानिवद्भावस्येति गम्यते । पूर्वविधौ विषये स्थानिवद्भवति । नान्यस्मिन्नित्यर्थः । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः ।

विधिशब्दश्चायं कर्मसाधनः। विधीयत इति विधिः। भावसाधनो वा। विधानं विधिरिति। कर्मसाधने ह्येतस्मिन् पूर्वस्येति शेषलक्षणा षष्ठी। पूर्वस्य व्यवस्थितस्य लब्धसत्ताकस्य सम्बन्धिनि कार्य्ये कर्त्तव्य इत्यर्थः। भावसाधने तु पूर्वस्येति कृद्योगलक्षणा कर्मणि षष्ठी। पूर्वस्यापरिनिष्पन्नस्य विधाने कर्त्तव्य इत्यर्थः। पूर्वस्मिन् विधातव्य इति यावत्। पूर्वत्वं पुनरिहादेशापेक्षमजपेक्षं निमित्तापेक्षं वा। एषामेवादेशादीनामिह सन्निधानात्। तत्रादेशः स्वरितत्वात् सन्निहितः। इतरयोस्त्वत्रैव सूत्र उपादानात्। ननु च त्रिष्वप्येषु दोषः। तत् कथमादेशाद्यपेक्षया पूर्वत्वं शक्यमाश्रयितुम्? आदेशापेक्षे हि पूर्वत्व आश्रीयमाणे पटयतीत्यादौ स्थानिवद्भावो न सिध्यति। लोपो हि तत्रादेशः। नच तेन पूर्वपरता सम्भवति। तस्याभावरूपत्वात्। स्यादेतत्। लोपस्य यः स्थानी तदपेक्षया पौर्वापर्य्यमस्तीति तद्द्वारेणादेशापेक्षयाप्यौपचारिकं तद् भविष्यतीति वार्त्तमेतत्। बहुखट्वकादिषु मुख्ये पौर्वापर्य्ये सत्यौपचारिककल्पनाया अयुक्तत्वात्। व्यक्तिः पदार्थ इत्यस्य दर्शनस्याश्रयणाददोषः। व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणं प्रवर्त्तते। तत्र यदि पटयतीत्यादिष्वौपचारिकत्वात् पौर्वापर्य्यस्य स्थानिवद्भावो न स्याद् यदेतद्विषयं लक्षणं तस्यानवकाशत्वाद् वैयर्थ्यं स्यात्। अयं तर्हि दोषः। व्याकरणमधीते वैयाकरणः स्वश्वस्येदं सौवश्व मित्यत्र य्वोः स्थानिवद्भावादैचोरायावौ प्राप्नुतः। तस्मात् प्रथमस्तावत् पक्षो ऽयुक्तः। द्वितीये तु काममेष दोषो न भवति। तथाहि तत्र योऽचः पूर्वस्तस्य विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भवतीत्येषः सूत्रार्थः। इह च न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यामिति ( ७।३।३ ) वचनात् प्रागेवैजागमाद् यणादेशेन भवितव्यम्। तेन नास्त्यैचोरजपेक्षं पूर्वत्वमिति न भवति स्थानिवद्भावः। तदभावादैचोरायावावपि न प्राप्नुतः। किन्त्वाच इत्येतदादेशविशेषणार्थं षष्ठ्यन्तं प्रतिज्ञातम्। ननु पञ्चम्यन्तम्। तदा चाचः पूर्वस्येत्येष एवार्थो न लभ्यते। नैष दोषः। यद्यपि ह्यच इति षष्ठ्यन्तं तथापि यदा दिग्योगो विवक्ष्यते तदा पञ्चम्यन्तं सम्पद्यते। अयं तर्हि दोषः। इह तन्वन्तीत्युप्रत्ययस्य यणादेशे कृत इट् प्राप्नोति। नह्यत्राचः पूर्वस्य व्यवस्थितस्य किञ्चित् कार्य्यं विधीयते यतो यणादेशस्य स्थानिवद्भावा-

दिड़ागमो न स्यात्। तृतीये तु पक्षे यणादेश एव निमित्तात् पूर्वः। तस्य व्यवस्थितस्येटि विधातव्ये स्थानिवद्भावो लभ्यत इति न भवति तन्वन्तीत्य-त्रेट्प्रसङ्गः। किन्त्वाद्ये पक्षे यो दोषः स इहापि प्रसज्येत। वैयाकरणः सौवश्वमित्यत्रापि य्वौ निमित्तात् पूर्वौ भवत इति। ननु च निमित्तात् पूर्वस्य कार्य्ये विधातव्ये स्थानिवद्भाव उच्यते। नचेह निमित्तात् पूर्वयो य्वोः किञ्चित् कार्य्यं विधीयते। नह्यायावादेशौ य्वोः कार्य्यम्। किं तर्हि ? ऐचः। नैतदस्ति। ऐचो हि यत् कार्य्यं तद् य्वोरपि सम्बन्धि भवत्येव। तयो स्तद्-भक्तयो स्तदवयवभूतत्वात्। अत्रोच्यते। आद्यन्तयोः पक्षयो र्यो दोष उक्तः स तावन्न भवति। यस्माद् वहिरङ्गावैचौ। तद्धिताश्रयत्वादङ्गाश्रयत्वाच्च। अन्तरङ्गावायावौ। तद्धितनिरपेक्षत्वाद् वर्णाश्रयत्वाच्च। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्ग इत्यसिद्धत्वादैचोरायावौ न भविष्यतः। इतरस्मिन्नपि पक्षे यो दोष उक्तः सोपि न भवत्येव। तत्र भावसाधनस्य विधिशब्दस्याश्रयणात्। द्विविधो हि विधिशब्दः प्राग् दर्शितः कर्म्मसाधनो भावसाधनश्च। तत्र कर्म्मसाधने सर्वमिष्टं न सिध्यतीति भावसाधनोऽप्याश्रीयते। तेन तन्वन्तीत्यत्रेट एवा-परिनिष्पन्नस्याचः पूर्वस्य विधाने कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावः सिद्धो भवति। कर्म्मसाधनेऽप्यदोषः। यणादेश एवात्राचः पूर्वः। तस्य विधाने कर्त्तव्ये स्थानि-वद्भावो भविष्यति। आदेशापेक्षया हि पूर्वत्वे विधिशब्दे च कर्म्मसाधने तन्वन्तीत्यत्रेड़ागमप्रसङ्गो न निवार्य्य एव। नहि यणादेशात् पूर्वस्य व्यवस्थितस्य कस्यचिदिड् विधीयते। किं तर्हि ? यणादेशस्यैव। भावसाधने तु तस्मिन्न दोषः। यणादेशाद् पूर्वस्यापरिनिष्पन्नस्येट एव विधानात्। तस्मात् तत्रापि पक्षे भावसाधन एव विधिशब्दोऽङ्गीकर्त्तव्यः। पटयतीति। तत्करोति तदाचष्ट इति णिच्। णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्येति टिलोपः। ननु चात्र व्यवधानात् पूर्वत्वं न सम्भवति। नैष दोषः। व्यवहितेऽपि हि पूर्वशब्दो वर्त्तते। यथा मथुरायाः पूर्वं पाटलिपुत्त्रमिति। ननु च द्वितीया समर्थात्क्विजुत्पद्यते। तत्रान्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञायां सत्यां जश्त्वे सति पड्यतीति भवितव्यम्। टिलोपस्य स्थानिवद्भावाज् जश्त्वं न भवतीति चेत् ? न। जश्त्वविधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्। नैष दोषः।

तदाचष्ट इत्यत्र हि तदिति न द्वितीयासमर्थादिति। कुतस्तर्हि? कर्मण इति। कुत एतत्? अर्थनिर्देशपरत्वात्। एतदुक्तं भवति। कर्मसंज्ञकात् तदाचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिज् भवतीति। तस्मादसुबन्तात् णिजुत्पत्तेः पद-संज्ञाया अभावाज् जश्त्वं न प्रवर्त्तते। अवधीदिति। हन्तेर्लुङ्। हनो वध लुङीति (२।४।४२) वधशब्दोऽदन्त आदेशः। अतो लोपः (६।४।४८)। आर्धधातुकस्येट्। अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) इतीट्। इट ईटीति (८।२।२८) सिचो लोपः। हलन्तलक्षणेति। वदव्रजेत्यादेः (७।२।३) सूत्राद्धल्ग्रहणानुवृत्ते रतो हलादे र्लघोरिति (७।२।७) वृद्धि र्हलन्तलक्षणा। बहुखट्वक इति। ननुच स्वरविधिं प्रति न स्थानिवद् भवतीति प्रतिषेधं वक्ष्यति। अतः स्थानिवद्भावस्य प्राप्तिरेव नास्तीत्ययुक्तमेतदुदाहरणम्। नैतत्। विशेषे हि स प्रतिषेधः स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवद् भवतीति। नचायं लोपाजादेशः स्वरो न भवतीति। खकाराकारस्यो-दात्तत्वं न भवति। कपि (६।२।१७३) पूर्वमित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वमेव भवति। प्रश्न इति। यजयाचयतविच्छप्रच्छेत्यादिना (३।३।९०) नङ्। तुकि न स्थानिवद्भवतीति। तुकि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवतीत्यर्थः। यदि हि स्यात् छकारमात्रस्य शादेशे कृते स्थानिवद्भावाद्विहितस्य तुकः श्रवणं स्यादित्येके। एतच्चायुक्तम्। अत्र ह्यन्तरङ्गत्वाच्छे चेति (६।१।७३) तुकैव प्राग् भवितव्यम्। नचात्रेदमस्ति वार्णादाङ्गं बलीय इति। नानाश्रयत्वात्। यत्र ह्येकं निमित्तमाश्रित्य युगपद् वार्ण माङ्गञ्च प्राप्नोति तत्रेदमुपतिष्ठते। यथेयायेति। अत्राकारमाश्रित्याभ्यासेकारस्येको यणचीति (६।१।७७) यण् प्राप्नोति। अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८) इतीयङ् च। तत्र वार्णादाङ्गं बलीय इत्यस्योपस्थानादियङेव भवति। प्रश्न इत्यत्र तु शादेश मनुनासिक-माश्रयति। तुक् पुनश्छकारम्। अतो नानाश्रयत्वान्नोपतिष्ठते। तस्मात् तुकात्र भवितव्यमेव। अवश्यञ्चैतदेवं विज्ञेयम्। अन्यथा च्छ्वोः शूडनुनासिके (६।४।१९) चेत्यत्र यद्वक्ष्यति वृत्तिकारो—ऽन्तरङ्गत्वाच्छे चेति (६।१।७३) तुकि कृते सतुकस्यायमादेश इति—तद्विरुध्यते। अन्ये तु व्याचक्षते च्छ्वोः शूडनु-नासिकेति (६।४।१९) सूत्रे सतुकस्य च्छकारस्य निर्देश इत्येवं केनचिदाचार्येण

श्रिथाः प्रतिपादिताः । केनचित्तु तुग्विरहितस्य शब्दस्येत्येवम् । उभयश्चैतत् प्रमाणम् । द्वैतत्वे तत्राङ्गेन शा च्छ्वौ विशिष्येते । छकारवकाराभ्यां वाङ्गमिति । तत्राद्ये पक्षे ऽङ्गस्य यश्छस्तस्य शादेश इति वाक्यार्थः । सतुक्कस्य च स्थानित्वे नोपादानात् । अन्तरङ्गे तुकि कृते नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरिति तदन्त-विध्यभावात् समुदायस्यैवादेशो भवति । यदा शकारविधौ सतुक्कस्य च्छकारस्य निर्देशः प्रश्न इत्येतत् तदानीमज्ग्रहणस्याप्रत्युदाहरणमेव । तुकः पुनः प्रसङ्गाभावात् । यदा तु च्छकारवकाराभ्यामङ्गं विशिष्यते तदा छकारान्त-स्याङ्गस्य स्थानित्वम् । अस्मिन् पक्षे शविधौ शब्दएव च्छकार उपात्तो वेदितव्यः । अन्तरङ्गत्वात् तु पूर्वं तुकि कृते पश्चादलोऽन्त्यपरिभाषाया उपस्थानाच् छकारमात्रस्य शकारः । तस्मिन् कृते निमित्ताभावात् तुको निवृत्तिः । यथा स्थातेत्यत्र षत्वनिवृत्तौ ष्टुत्वस्य । अत्र पक्षे प्रश्न इत्येतत् प्रत्युदाहरणमज्-ग्रहणस्य । यद्यत्र स्थानिवद्भावः स्यात् तुकः प्रत्यावृत्तिर्भवेत् । निमित्त-सद्भावात् । यथा प्रत्यष्ठादित्यत्र ष्टुत्वस्य । तुकि न स्थानिवद्भवतीत्य-स्यायमर्थः । योऽसौ निमित्ताभावान्निवृत्तस्तुगासीत् तमेव पश्चात् प्रत्यावर्त्तमानं प्रति न स्थानिवद् भवतीति पुनः प्रत्यावृत्तिरेव । पूर्वविधिरिति । ननु च यद्यत्र तुकः प्रत्यावृत्तिः स्यान् नङो ङित्करणमनर्थकं स्यात् । तद्धि प्रच्छेः संप्रसारणार्थं वा विच्छेर्गुणप्रतिषेधार्थं वा क्रियते । तत्र प्रच्छेर्नङि संप्रसारणेन न भवितव्यम् । प्रश्ने चासन्नकाल इति ( ३।२ ११७ ) निपातनात् । यदि च स्थानिवद्भावे सति तुकः प्रत्यावृत्तिः स्यात् ततो गुणप्रतिषेधार्थमपि न स्यात् । अलघूपधत्वादेव गुणो न भविष्यति । ततश्चानर्थकमेवैतत् स्यात् । नानर्थकम् । अनित्यमागमशास्त्रमिति ज्ञापनार्थत्वात् । अनित्यत्वज्ञापने त्वागमशासनस्य स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्त इत्यत्र (७।२।३६) यद्वक्ष्यति—क्रमेस्तु कर्त्तर्यात्मने-पदविषयादसत्यात्मनेपदे कृति प्रतिषेधो वक्तव्य इति—तन्न वक्तव्यं भवति । उछि उव्छे विछ गतौ सनाद्यन्ता (३।१।३२) धातव इत्येवमादयो निर्देशा श्चोपपन्ना भवन्ति । आक्राष्टामिति । कृष विलेखने । आङ्पूर्वाल्लुङ् । च्लिः । स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज् (३।१।४४ वा) वेत्युपसंख्यानात् क्सस्यापवादः पक्षे सिच् । तसस्ताम् । अनुदात्तस्य ( ६।१।५९ ) चर्दुपधस्यान्यतरस्यामित्य-

मागमः। यथादेशः। वदव्रजेत्यादिना (७।२।७) वृद्धिः। वैयाघ्रपद्य इति। व्याघ्रस्येव पादावस्येति बहुव्रीहिः। पादस्य लोपो (५।४।१३८) ऽहस्त्यादिभ्य इत्यन्तलोपः। व्याघ्रपादिति स्थिते गर्गादित्वाद् यञ् (४।१।१०५)। पादः पदिति पद्भावः (६।४।१३०)। आदीध्य इति। अदादित्वाच्छपो लुक्। अथात्र टेरेत्त्वात् प्रागेव कस्माल्लोपो न भवति? स्याद् यदि परस्मिन्निति वचनं न स्यात्। तस्मिन् ह्यसत्युभयोर्नित्यत्वात् परत्वाच्च लोपेनैव युक्तं भवितुम्। परस्मिन्नित्युच्यमाने तु स्थानिवद्भावाभावात् कृते टेरेत्त्वे न प्राप्नोतीत्यनित्यो लोपः। टेरेत्त्वं तु कृताकृतप्रसङ्गित्वान् नित्यम्। तस्मात् तदेव पूर्वं भवति। हे गौरिति। गोतो णिदिति (७।१।९०) णित्त्वात् सर्वनामस्थानस्याचो ञ्णितीति वृद्धिः (७।२।११५)। सम्बुद्धिलोपे कर्त्तव्य इति। एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धे (६।१।६९) रित्यनेन। बाभ्रव्येति। बभ्रोरपत्यमिति मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मण (४।१।१०६) कौशिकयो रिति यञ्। ओर्गुणः (६ ४।१४६)। वान्तो यि प्रत्यय (६।१।७९) इति वान्तादेशः। आदिवृद्धिः। बाभ्रव्य इति स्थिते वृद्धाच्छः (४।२।११४)। यस्येति (६।४।१४८) चेत्यकारलोपः। अवादेशो न स्थानिवद्भवतीति। ननु चासत्यपि स्थानिवद्भावे सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न भवितव्यमेवात्र यलोपेन। तथाहि यकारादाववादेशेनात्मलाभः प्रतिलब्ध इति नोत्सहते स तं बाधितुम्। नैतदस्ति। संघातो ह्यत्र सन्निपातलक्षणो नावयवो हल्। सत्यपि वा तस्य सन्निपातलक्षणत्वे न भवत्येष दोषः। अनित्यत्वात् सन्निपातलक्षणपरिभाषायाः। अनित्यत्वं तु नलोपः (८।२।२) सुप्स्वर इत्यादौ सूत्रे ज्ञापयिष्यते। नैधेय इति। निपूर्वो डुधाञ् उपसर्गे घोः (३।३।९२) किः। आतो लोपः (६।४।६४)। निधि इति स्थिते द्व्यच इतश्चानिञ (४।१।१२२) इति ढक्। ननु पूर्व्वस्माद् विधिः पूर्व्वविधिरिति पञ्चमीसमासस्याप्यभीष्टत्वात् पूर्वस्मादपि विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावेन भाव्यम्। तथाहि ठस्येक (७।३।५०) इत्यत्र वक्ष्यति मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र यस्येति (६।४।१४८) लोपे कृते इसुसुक्तान्तात्क (७.३।५१) इति स्थानिवद्भावादिकस्य कादेशः प्राप्तः। सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न भवति। अकारलोपस्य स्थानिवद्भावत्वात्। पूर्वस्मादपि

विधौ स्थानिवद्भवतीति । तदेवं यस्मात् पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावोऽनेन भवति तस्माद् हे गौरित्यादिष्वपि स्थानिवद्भावेन भवितव्यमेवेत्ययुक्तान्येतानि प्रत्युदाहरणानि । नैष दोषः । पूर्वस्माद् विधौ कर्त्तव्ये यः स्थानिवद्भावस्त-स्यानित्यत्वात् । अतएव चानित्यत्वादप्रधानभूतोऽसाविति वृत्तावस्य सूत्रस्य पूर्वस्मादिति न प्रतिपादित स्तदेवाप्राधान्यमस्य दर्शयितुम् । कुतः पुन स्तस्यानित्यत्वमवसितम् ? निष्ठायां सेटीत्यत्र ( ६।४।३२ ) सेड्ग्रहणात् । तदेवमर्थं क्रियते । इटि कृते णिलोपो यथा स्यादिति । यदि ह्यकृत एव तस्मिन् णिलोपः स्यात् कारितमित्यत्रेडागमो न स्यात् । एकाच इति प्रतिषेधात् । तथाच तत्र वक्ष्यति सेड़िति किम् ? संज्ञपितः पशुः । सनीवन्तर्धेति (७।२।४९) ज्ञपेरिड् विकल्प्यते । यस्य विभाषेति (७।२।१५) निष्ठायामिट्-प्रतिषेधः । अथ पुनरेकाच इति तत्रानुवर्त्तते । तत्र निष्ठायामत्र भवितव्य-मिड़ागमेनेति सेड्ग्रहण मनर्थकं स्यात् । तत् क्रियते कालावधारणार्थम् । इड़ागमे कृते णिलोपो यथा स्यादिति । अकृते तस्मिंष्णिलोपे सति कारित-मित्यत्रैकाच उपदेशे ऽनुदात्तादिति ( ७।२।१० ) प्रतिषेध इटः प्रसज्येत । यदि च पूर्वस्माद् विधौ कर्त्तव्ये नित्यं स्थानिवद्भावः स्यान् णिलोपस्य स्थानिवद्भावे सत्यनेकाच्त्वादिट्प्रतिषेधस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति सेड्ग्रहणं न कुर्य्यात् । कृतश्च । ततोऽवसीयते पूर्वस्माद् विधावनित्यः स्थानिवद्भाव इति । तेन गौरित्यादिषु पूर्वस्माद् विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवति । अथ विधिग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वस्येत्येवं सिद्धम् । तथाहि कार्य्यापेक्षया षष्ठी भविष्यति । पूर्वस्य विधौ कर्त्तव्य इति । नैतदस्ति । असति हि विधिग्रहणे यदि पूर्वस्येत्युच्येत पूर्वस्माद् विधौ स्थानिवद्भावो न स्यात् । अथ पूर्वस्मादित्यु-च्येत पूर्वस्य विधौ न स्यात् । विधिग्रहणे सति षष्ठीसमासः पञ्चमीसमासश्च लभ्यत इति सर्वत्र सिध्यति । तस्मात् समासद्वयार्थं विधिग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

## ५८। न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ-जश्चर्विधिषु ।

अत्रापि विधिशब्दो भावसाधनः कर्म्मसाधनश्च । स च प्रत्येकमभिसम्ब-

ष्यति। तत्र यथायोगं क्वचिद् भावसाधन आश्रीयते क्वचित् कर्म्मसाधनः। तत्र द्विर्वचनविधौ भावसाधनः। तत्र हि तदेव विधातव्यम्। नहि तस्यावस्थितस्य किञ्चित् कार्य्यम्। अन्यत्र तु कर्म्मसाधनः। तत्र हि व्यवस्थितस्य पदान्तादेः कार्य्यान्तरविधानात्। कौ स्तो यौ स्त इति। अस्तेर्लट्। तस्। अदादित्वाच्छपो लुक्। पूर्वविधावावादेशे यणादेशे च कर्त्तव्ये स्थानिवत् स्यादिति। कथं पुनः स्थानिवत् स्यात्? यावता पदसंस्कारायैव प्रयुक्तत्वाद् व्याकरणस्य स्त इत्यादिकं पदं पदान्तरनिरपेक्षमेव संस्क्रियते। अनादिष्टादचो यः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावेन भवितव्यम्। न चायं प्रकारः पदान्तरनिरपेक्षे पदसंस्कारे सम्भवति। स्त इत्यादिके पदे संस्क्रियमाणे कावित्यादेः पदान्तरस्यासन्निधानात्। किं पुनरिदं राजशासनं पदसंस्कारायैव शब्दानुशासनं कर्त्तव्यमिति? अथ शास्त्रकारस्यैवायमभिप्राय इति चेत्? न। शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे (१।४।१०५) समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादिपुरुषविधानाद् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम्। अत्र कौ इत्यादिकं पदं प्रागेव व्यवस्थाप्य स्त इत्यादेः पदस्य संस्कारे क्रियमाणे ऽनादिष्टादचः पूर्वं औकारादिर्भवतीति स्थानिवद्भावः स्यात्। अतः प्रतिषेध उच्यते। ननु च दध्यत्रेत्येवमादौ प्रतिषिद्धेऽपि स्थानिवद्भावे वहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गं द्विर्वचनं न प्राप्नोति। तत् किमित्येवमाह अस्माद्वचनाद् भवतीति। नच शक्यं वक्तुं स्थानिवद्भावप्रतिषेधादसिद्धं वहिरङ्गमित्येषा न प्रवर्त्तत इति। यत्रोभयमेकपदाश्रयं पट्व्यौ पट्व्यः शुच्यौ शुच्य इत्येवमादौ तत्र स्थानिवद्भावप्रतिषेधस्यार्थवत्त्वान् नैष दोषः। द्विर्वचनमेव वहिरङ्गम्। बह्वपेक्षत्वात्। तथाह्यच उत्तरस्य यरो ऽनचीति च त्रितयं तदपेक्षते। यणादेशस्त्विको ऽचीति द्वयमेव। वरे इति। ननु चात्र समासे सति सप्तम्या लुका भवितव्यम्। तत् कथं वरे इति निर्देशः। अतएव निपातनाद्लुगित्यदोषः। अन्ये त्वौकारप्रश्लेषोऽत्रेति वर्णयन्ति। एवञ्च सम्बन्धं कुर्वन्ति। वरे योऽ जादेशस्तस्य विधिं प्रति न स्थानिवत्। ईविधिं च प्रति न स्थानिवदिति। तेनामलक्याः फलं विकार इति नित्यं वृद्धशरादिभ्य

( ४।३।१४४ ) इति मयट्। तस्य फले लुगिति ( ४।३।१६२ ) लुक्। अतो लुक् तद्धितलुकीति ( १।२।४९ ) गौरादिलक्षणस्य ङीषो लुकि कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् यस्येति चेति ( ६।४।१४८ ) लोपः प्राप्नोति। ईकारे परतो यो विधिस्तं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति। ननु चाजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीत्युच्यते। नच लुका पौर्व्वापर्य्यमस्तीत्यतएव स्थानिवद्भावो न भविष्यति। तदप्रयोजनमीकारप्रश्लेषस्य। लोपेनापि तर्हि पौर्वापर्य्यं नास्तीति पटयतीत्यादावपि स्थानिवद्भावो न स्यात्। अथ तत्र स्थानिद्वारकं पौर्वापर्य्यं सम्भवति। इहापि तथा स्यात्। ये त्वीकारप्रश्लेषं नेच्छन्ति त आमलक्याः फलं विकार आमलकमित्येतदर्थं नेति योगविभागं कुर्वन्ति। यायावर इति। अत्यर्थं यातीति धातोरेकाच इत्यादिना (३।१।२२) यङ् । द्विर्वचनम्। अभ्यासस्य ह्रस्वः। दीर्घोऽकित इति ( ७।४।८३ ) दीर्घः। ततो वरच्। अतो लोपे कृते लोपो ( ६।१.७६ ) व्योर्वलीति यकारलोपः। अतो लोपः परनिमित्तक इति। आर्धधातुके परतो विधानात्। यद्यतो लोपः परनिमित्तकस्ततो ऽचो (३।१।९) यदित्यत्राज्ग्रहणं किम् ? यावता हलन्तात्प्रतं वक्ष्यतीति चोद्यं समुत्थाप्याजन्तभूतपूर्वादपि यथा स्याद् दित्स्यं धित्स्यम् इति यद् वक्ष्यति—तद् विरुध्यते। नहि परनिमित्तकेऽतो लोपे ऽजन्तभूतपूर्वाद् यतो विधिः सम्भवति। प्राग् यदुत्पत्तेरतो लोपस्याभावात्। अभावस्तु परस्य निमित्तस्याभावात्। पक्षभेदादविरोधः। तत्र ह्यार्धधातुक इति वर्त्तते। आर्धधातुक इति विषयसप्तमी चैषा। परसप्तमी चेति पक्षद्वयम्। आर्धधातुकसामान्यविवक्षायां सामान्येन पौर्वापर्य्यं न सम्भवतीति विषयसप्तमी भवति। आर्धधातुकव्यक्तिविवक्षायां तु व्यक्तेः पौर्वापर्य्यं सम्भवतीति परसप्तमी। यदा तु व्यक्तिद्वारकं सामान्यस्य पौर्वापर्य्यं विवक्ष्यते तदापि परसप्तम्येव। तत्राद्ये पक्ष आर्धधातुके विषयभूते प्रागेव यदुत्पत्ते रतो लोपो भवति। इतरत्र तु तस्मिन्नुत्पन्ने। तत्राचो यदित्यत्र यदज्ग्रहणस्य प्रयोजनं वक्ष्यति तत्पूर्वम् पक्षमाश्रित्य। यत पुनरिहातो लोपः परनिमित्तक इत्युक्तं तदितरं पक्षम्। तस्माद् विषयभेदादविरोधः। परसप्तमीपक्षे

तु तत्राज्ग्रहणं विस्पष्टार्थमेव वेदितव्यम्। कथं पुनर्ज्ञायते परसप्तमीपक्षोऽपि तत्राभिमत इति ? अनुदात्तेतश्च हलादेरित्यादि ( ३।२।१४९ ) ग्रहणात्। तद्धेयवमर्थं क्रियते। हलन्तादित्येवं मा विज्ञायीति। एवं हि विज्ञायमाने जुगुप्सनः मीमांसन इत्यत्र युच् न स्यात्। अजन्तत्वात्। यदि चार्धधातुक इति विषयसप्तम्येवैषाभिमता स्यान्न परसप्तम्यपि तदा ऽदिग्रहणमनर्थकं स्यात्। आर्धधातुके विषये ऽकारलोपे कृते जुगुप्सतिमीमांसत्योरपि हलन्तत्वात्। तस्मादादिग्रहणाद् विज्ञायते परसप्तमीपक्षोऽपि तत्राभीष्ट इति। विषयसप्तमीपक्षे तु तत्रादिग्रहणं विस्पष्टार्थमेव द्रष्टव्यम्। कण्डूतिरिति। कण्ड्वादिभ्यो ( ३।१।२७ ) यक्। तदन्तात् स्त्रियां ( ३।३।९४ ) क्तिन्। चिकीर्षको जिहीर्षक इति। चिकीर्षजिहीर्षशब्दाभ्यां ण्वुल्। शिंषि: पिण्ढीति। शिष्लृ विशेषणे। पिष्लृ सञ्चूर्णने। हिलधिलष्टुत्वजश्त्वेष्विति। सेर्ह्यपिच्चेति ( ३।४।८७ ) हिरादेशे कृते हुझल्भ्यो ( ६।४।१०१ ) हेर्धिरिति धिरादेशः। ष्टुना ष्टुरिति ष्टुत्वम् ( ८।४।४१ )। झलां जश् ( ८.४.५३ ) झशीति जश्त्वम्। ननु चात्र स्थानिवद्भावस्य प्राप्तिरेव नास्ति। यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वं स्तस्य विधौ स्थानिवद्भवतीत्युच्यते। न चायमनादिष्टादचः पूर्वः। तत् किं प्रतिषेधेन ? नैष दोषः। स्थानिनो नकारस्याऽनादिष्टादजपेक्षं पूर्वत्वमस्तीति। तदादेशोऽप्यनुस्वारः स्थानिवद्भावादनादिष्टादचः पूर्व इति लभ्यते। शिंषन्तीत्यादि। किमर्थं पुनरुदाहरणान्तरोपन्यासः ? यावता शिण्ढीत्याद्यनन्तरोक्तमेवेदं युक्तमुदाहरणम्। एवं मन्यते। यदि तदेवोदाक्रियते तदा यत्र परसवर्णं स्तत्रानुस्वारेण भवितव्यम्। तत्रैव हि स विधीयते। ततश्च नान्तरीयकत्वात् परसवर्णविधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधेऽनुस्वारविधावपि स्थानिवद्भावप्रतिषेधः कृत एव। ततोऽनुस्वारग्रहणं पृथङ् न कर्त्तव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। तस्माद् यत्र परसवर्णो न सम्भवति तदेवोदाहरणं युक्तमिति। प्रतिदीव्नेति। दिवेः कनिन् वृषीत्यादिना कनिन् प्रत्यये रूपम्। हलि चेति। उपधायाश्चेति (७।१।१०१) दीर्घत्वन्न स्यादिति। हलि ( ८।२।७७ ) चेत्यनेनैवात्र दीर्घत्वम्। उपधायाश्चेत्येतदिदानीन्तनकुलेखकैः प्रमादाल्लिखितम्। तथाहि उपधायाश्चेत्यत्र ( ७।१।१०१ )

वक्ष्यति प्रतिदीव्न इत्यत्र तु हलि चेति दीर्घत्वमिति । ननु च स्थानिवद्भावे प्रतिषिद्धेऽपि न भकुर्छुरामिति (८।२।७९) दीर्घत्वप्रतिषेधेनात्र भवितव्यम् । तत् किमित्येवमाह । अस्माद् वचनाद् भवतीति । नच स्थानिवद्भावप्रतिषेधसामर्थ्यादत्र प्रतिषेधो न भवतीति शक्यं परिकल्पयितुम् । स्थानिवद्भावप्रतिषेधस्य पिपठीरित्यत्रार्थवत्त्वात् । अत्र हि पिपठिषतेः क्विपि कृतेऽतो लोपे रुत्वे च—रुत्वं पुनरस्य पूर्वत्रासिद्धमिति (८।२।१) षत्वस्यासिद्धत्वाद्—यदि स्थानिवद्भावो न प्रतिषिध्येत ततोऽकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद् र्वोरुपधाया दीर्घ इक (८।२।७६) इति रेफवकारान्तस्य धातोरुच्यमानं दीर्घत्वं न स्यात् । एवं मन्यते । र्व्योरुपधाया (८।२।७६) इत्यधिकाराद् रेफवकारान्तस्य भस्य दीर्घत्वं प्रतिषिध्यते । नचैतद् रेफवकारान्तम् भसंज्ञकम् । अपितु नकारान्तमिति । सध्रिरिति । समाना ध्रिरिति विशेषणसमासः । समानस्य च्छन्दस्य (६।३.८४) मूर्धप्रभृत्युदर्के-ष्विति सभावः । बब्भ्रिति । भस भर्त्सनदीप्त्योः । अभ्यासे चर्च (८।४।५४) इत्यभ्यासभकारस्य जश्त्वं बकारः । जक्षतुः । जक्षुरिति । लिट्यन्यतरस्यामिति (२।४।४०) घस्लादेशः । कुहोश्चु रित्यभ्यासघकारस्य (७।४।६२) चुत्वं झकारः । तस्य पूर्ववज्जश्त्वं जकारः । बहुवचने घस्लादेश इति । लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७) इत्यनेन । बहुखट्वक इति । अत्र स्थानिवद्भावाद् कस्यान्तेऽन्त्यात् पूर्वमिति (६।२।१७४) खकारस्यो-दात्तत्वं न भवति । कपि (६।२।१७३) पूर्वमितिट्वशब्दस्याकारस्यैव भवति । किर्य्योर्गिर्य्योरिति । र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८।२।७६) । हलि चेति (८।२।७७) दीर्घत्वं न भवति । एतच्च व्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्योक्तं यदा कॄग्रोरिच्चेति किरतेर्गिरतेश्च किरिगिरिशब्दौ व्युत्पाद्येते । अव्युत्पत्तिपक्षे त्वसत्यपि स्थानिवद्भावे धातुत्वाभावान्न भवत्येव दीर्घत्वम् । तथा ह्यव्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्योपधाया श्चेत्यत्र (७।१।१०१) वक्ष्यति उणादयो-ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानीति किर्य्योर्गिर्य्योरित्येवमादिषु दीर्घो न भवतीति । वाय्वोरिति । लोपो व्योर्वलीति (६।१।७६) यलोपो न भवति ।

## ५६। द्विर्वचनेऽचि।

पूर्वं कार्य्यातिदेशः कृतः। इदानीन्तु रूपातिदेशार्थमिदमारभ्यते। अथवा निमित्तात् पूर्वमित्येतस्मिन् पक्षेऽनन्तरसूत्रेण द्विर्वचनविधिं प्रति प्रतिषेधः प्राप्त इत्यस्यारम्भो वेदितव्यः। द्विर्वचनेऽचीति समानाधिकरणे सप्तम्यौ। तत्राज् विशेष्यः। द्विर्वचनं विशेषणम्। विशेषणविशेष्यभावस्य च प्रयोजनं दुद्यूषतीति प्रत्युदाहरणे दर्शयिष्यते। कथं पुनरज् द्विर्वचनशब्देनोच्यते। द्विर्वचननिमित्तत्वात्। अतएव वृत्तावाह द्विर्वचननिमित्तेऽचीति। भवति हि तन्निमित्तत्वात् ताच्छब्द्यम्। यथा आयुर्घृतमिति। परसप्तमी चेय-मपीति यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणमिति। अजादाविति द्रष्टव्यम्। परस्मिन्निति च प्रकृतत्वात् परस्मिन्नजादाविति गम्यते। अथवा द्विर्वचनस्य प्रत्ययविशेषनिमित्तत्वाद् द्विर्वचनग्रहणेन प्रत्ययः सन्निधापितः। तेनाजादौ प्रत्यय इति प्रतीयते। यदि तर्ह्यजादावजादेशः स्थानिवद्भवति पपाविति न सिध्यति। नह्यजादावादेशः। किं तर्हि? अच्येव। इहापि व्यपदेशि-वद्भावेनाजादित्वमस्तीत्यदोषः। इह तर्हि न सिध्यति चक्रतुरिति? अच्येव तु यणादेशो विधीयते। नत्वजादौ। नैष दोषः। यो ह्यत्राचि यणादेशो विधीयते सोऽजादावपि भवत्येव। यदि द्विर्वचननिमित्तेऽच्यजादेशः स्थानि-वद्भवति सर्वस्यामवस्थायां द्विर्वचनादुत्तरकालमपि स्यादित्यत आह द्विर्वचनएव कर्त्तव्य इति। एवकारेण द्विर्वचनक्रियाकालात् कालान्तरे स्थानिवद्भावस्याभावं दर्शयति। कथं पुनरेतल्लभ्यते? यावतैकं द्विर्वचनग्रहणं तेन चाज् विशेषितः। एवं मन्यते। द्वितीयमपि द्विर्वचनग्रहणमनन्तरसूत्रादि-हानुवर्त्तते। अथवा द्विर्वचनञ्च द्विर्वचनञ्चेत्येकशेषं कृत्वा द्विर्वचन इति निर्देशः कृतः। तत्रैकेन द्विर्वचनग्रहणेन द्विर्वचननिमित्तेऽचीत्येषोऽर्थो लभ्यते। द्वितीयेन तु द्विर्वचन एव कर्त्तव्य इति। इह द्विर्वचने कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावो विधीयत इति द्विर्वचनकार्य्यार्थ एवैष प्रतीयते। साच्कस्य द्विर्वचनं विधीयमानमनच्कस्य न प्राप्नोतीति युज्यते द्विर्वचनकार्य्यार्थत्वमस्य। द्विर्वचनकार्य्यार्थे त्वस्मिं चक्रतु चक्रुरित्यत्रास्यानच्कस्य द्विर्वचने कृते सतीष्टमभ्यासरूपं न सिध्यतीति व्यामोहाद् यो मन्यते तं प्रत्याह रूपाति-

देशस्त्वायमिति । चशब्दोऽवधारणे । रूपातिदेश एव न कार्य्यातिदेश इत्यर्थः । कुतः पुनरेष निश्चयो रूपातिदेशस्त्वायमिति । अज्ग्रहणात् । तस्य ह्येतत् प्रयोजनम् । जेघ्रीयते देध्मीयत इत्यत्र मा भूदिति । यदि चायं द्विर्वचनकार्य्यातिदेशः स्यान्न रूपातिदेशोऽज्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवत्वत्र स्थानिवद्भावः । तथापि न कश्चिद्विशेषः । तथाहि यद्यप्यत्र स्थानिवद्भाव एवमपि द्विर्वचनकार्य्येण भवितव्यम् । अथापि न स्थानिवद्भाव एवमपि भवितव्यम् । उभयत्रापि साच्कत्वात् । ततश्च कथमेतत् प्रत्युदाहरणम् ? तदेतदज्ग्रहणं कथमर्थवद् भवति ? यद्येष रूपातिदेशो रूपेऽस्यातिदिश्यमाने यद्यज्ग्रहणं न क्रियते तदिहापि रूपातिदेशे सति घ्रा इति ध्मा इति च द्विर्वचनं स्यात् । तथाऽनिष्टमभ्यासरूपं प्रसज्येत । तस्मादज्ग्रहणाद् रूपातिदेशोऽयमिति निश्चीयते । यद्येवं भेदनिबन्धनो वतिर्न प्राप्नोति । स्थान्येव हि पुनरात्मीयं रूपं प्रापित इति कुतो भेदः ? आतिदेशिकानातिदेशिकत्वेन रूपभेदस्य विवक्षितत्वाददोषः । द्विर्वचनएव कर्त्तव्य इति यदुक्तं तस्यार्थं विस्पष्टीकर्त्तुमाह नियतकाल इति । कृते द्विर्वचन इत्यादिना तदेव नियतकालत्वं दर्शयति । जघ्नतुरिति । अभ्यासाच्चेति ( ७।३।५५ ) हकारस्य कुत्वम् । आटिटदिति । अटती हेतुमति णिच् । लुङ् । चङ् । चङीत्य (६।१।११) जादेर्द्वितीयस्येति ( ६।१।२ ) द्विर्वचनम् । आड़जादीनामित्याड् ( ६।४।७२ ) भवति । निनयेत्यादि । णलुत्तमो वेति ( ७।१।९१ ) यदा णित्त्वं नास्ति तदा गुणः । यदा णित्त्वं तदा वृद्धिः । जग्ले मम्ले इति । ग्लै हर्षक्षये । म्लै गात्रविनामे । आदेच ( ६।१।४५ ) उपदेशेऽशितीत्यात्त्वम् । भाव आत्मनेपदम् । लिटस्तझयोरेशिरेजित्येश् ( ३।४।८१ ) । श्रवणमाकारस्य न भवतीति । यदा कालावधिपरिग्रहार्थं द्विर्वचनग्रहणं न क्रियते तदोत्तरकालमपि स्थानिरूपं प्रसज्येत । ततश्चाकारस्य श्रवणमेव स्यात् । आतो लोपस्य तु गोद इत्येवमाद्यवकाशः । श्रूयमाणे चाकारे परेण सह वृद्धिः स्यात् । दुद्यूषतीति । दिवेः सनीवन्तर्द्धेत्यादिना ( ७।२।४९ ) यदा पक्ष इड़ागमो न क्रियते तदेको झल् ( १।२।९ ) हलन्ताच्चेति ( १।२।१० ) कित्त्वम् । ततः च्छ्वोः ( ३।४।१९ ) शूड़नुनासिके चेतूठ् ।

स च द्विर्वचननिमित्तं न भवति। तत्र यदि द्विर्वचननिमित्तत्वेन नाज् विशिष्यत जठि परतो यो यणादेश स्तस्यापि स्थानिवद्भावः स्यात्। एवञ्चा-भ्यासरूपमिवर्णान्तं श्रूयेत। द्विर्वचननिमित्ताच्परिग्रहे तु द्यू इत्यस्य द्विर्वचनं भवति। तत्र हलादिशेषङ्गस्वत्वयोर्दुद्यूषतीत्यभ्यासरूपमुकारान्तं सिध्यति।

## ६०। अदर्शनं लोपः।

अदर्शनमित्यादि। ननु चादर्शनानुपलब्धिशब्दावनुपलब्धिसामान्यवचनौ। अश्रवणानुच्चारणशब्दौ त्वनुपलब्धिविशेषणवचनौ। तथाह्यश्रवणादिशब्दोच्चारणे शब्दस्यैवानुपलब्धिः प्रतीयते। नानुपलब्धिमात्रम्। नच सामान्यविशेष-शब्दानामेकार्थता। तत् किमित्येवमाह अनर्थान्तरमिति। एवं मन्यते। सामान्यशब्दा अपि प्रकरणवशाद् विशेषे वर्त्तन्ते। इह च शब्दा व्युत्पाद्यत्वेन प्रकृता स्तस्माद् यद्यप्यदर्शनानुपलब्धिशब्दौ सामान्यवचनौ तथापीह प्रकरण-सामर्थ्याद् विशेषे शब्दानुपलब्धावेव वर्त्तेते। इह वृद्धिरित्यादिकाः संज्ञाः शब्दानां विहिताः। तद्वदिहाप्यदर्शनमित्यस्यैव शब्दस्य लोप इत्येषा संज्ञा स्यात्। ततश्च लोपप्रदेशेष्वदर्शनशब्दस्योपस्थानात् स एवादेशः स्यादित्यत आह एतैः शब्दैरित्यादि। कथं पुनरेतल्लभ्यते? एवं मन्यते। नवेति विभाषेत्यत (१।१।३४) इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थोऽनुवर्त्तते। तेन यथा तत्रार्थस्य संज्ञा भवति तथेहापीति। अर्थस्येयं संज्ञेत्यवधारणम्। अर्थस्यैव न शब्द-स्येत्यर्थः। पुनः स्तुतौ ह्यवधारणं गम्यते। यथा क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यमिति। विनापीतिकरणेन शब्दस्वरूपस्य संज्ञा सिध्यत्येव। यथा तरप्तमपौ घ इत्यत्र (१।१।२२)। तस्मादितिकरणानुवृत्तिसामर्थ्याददर्शनमिति योऽर्थः प्रतीयते तस्यैवैषा संज्ञा। न शब्दस्य। किञ्च लोप इति महती संज्ञा क्रियते यथान्वर्थसंज्ञा विज्ञायेत। लोपनं लोपः। अनुपलब्धिरनुच्चारण-मित्यर्थः। नचादर्शनमित्येतच्छब्दरूप मेवाभावात्मकम्। किं तर्हि? तदर्थः। तस्मादन्वर्थसंज्ञाविज्ञानादर्थस्यैवैषा संज्ञा। यदि तर्ह्यर्थस्यैवैषा संज्ञा ततोऽतिप्रसङ्गः। सर्वो हि शब्दः स्वविषयादन्यत्र न दृश्यते। ततश्च त्रपु जत्वित्यत्र क्विपोऽदर्शनस्य लोपसंज्ञा स्यात्। एवञ्च सति प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण

मिति ह्रस्वस्य पिति (६।१।७१) कृति तुगिति तुक् प्रसज्यत इत्यत आह प्रसक्त-स्येत्यादि । तद्ध्यदर्शनमात्रस्यैषा संज्ञा न । किं तर्हि ? शास्त्रादर्थाद्वा कुतश्चित् प्रसक्तस्य यददर्शनं तस्यैव । तदिह न केनचित् प्रकारेण क्विप्प्रसङ्गोऽस्ति तत्कुतोऽतिप्रसङ्गः ? कथं पुनरेष विशेषो लभ्यते ? यावता नेह प्रसक्तग्रहण-मस्ति । नापि तत् प्रकृतम् । एवं मन्यते । स्थानिवदित्यतः स्थानि-ग्रहणमिहाप्यनुवर्त्तते । स्थानी प्रसङ्गवान् प्रसक्त इति पर्य्याया ह्येते । तेनायमर्थो लभ्यते । प्रसक्तस्य यददर्शनं तस्येयं संज्ञेति । गौधेर इति । गोधाया ढ्रक् (४।१।१२९)। एयादेशः । लोपो (६।१।७६) व्योर्वलीति यकारस्य शास्त्रेण प्रसक्तस्य लोपः । पचेरन्नित्यत्रापि सीयुटः शास्त्रेण । एवमन्यत्रापि यथायोगं प्रसक्तता वेदितव्या । जीरदानुरास्त्रेमाणमिति । पूर्ववद् वकारस्य लोपः । स्त्रिवु गति शोषणयोरित्यस्य सर्वधातुभ्यो मनिन्निति मनिन्प्रत्ययान्तस्य द्वितीयैकवचन उपधादीर्घेणत्वे च कृते आस्त्रेमाणमिति । अपरस्यानुबन्धादे-रिति । ककारादेरनुबन्धस्य । आदिशब्देन सीयुट्सकारस्य ।

## ६१ । प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ।

यथा वृद्धिशब्द स्तद्भाविताना मतद्भावितानामपि संज्ञा तथा लुगित्या-दिका अप्यतद्भावितस्यापि संज्ञाः प्राप्नुवन्ति । ततश्च संज्ञासंकरः स्यात् । संज्ञासंकरे हि सति तत्कार्य्याण्यपि संकीर्य्येरन्नित्यत आह अनेकसंज्ञा-विधानाच्चेत्यादि । यद्यतद्भावितस्याप्येताः संज्ञाः स्यु रनेकसंज्ञाकरणमनर्थकं स्यात् । एकयैव सर्वकार्य्यसिद्धेः । तस्मादनेकसंज्ञाविधानाद् यददर्शनं यया संज्ञयोच्चारितया भावितं निष्पादितं तस्यैव प्रत्ययादर्शनस्य सा संज्ञा नान्यस्येति न भवति संकरः । एवं तर्हीतरेतराश्रयदोषः प्राप्नोति । तथाहि संज्ञया विशिष्टमदर्शनं भाव्यम् । सति च तस्मिन् प्रत्ययादर्शने संज्ञया भाव्यमित्यत आह विधिप्रदेशेषु चेत्यादि । तददर्शनं विधीयते यस्य विहितस्य लुगित्येवमादिकाः संज्ञा भवन्तीति भाविन्याः संज्ञाया विज्ञानान् न भवतीत-रेतराश्रयदोषः । अत्तीति । अदिप्रभृतिभ्यः (२।४।७२) शप इति शपो लुक् । जुहोतीति । जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५) । वरणा इति । वरणानां वृक्षाणा-

मदूरभवो ग्राम इति प्राग्दीव्यतोऽण् ( ४।१।८३ )। तस्य वरणादिभ्यश्चेति ( ४।२।८२ ) लुप्। अगस्तयः कुण्डिना इति। यदि प्रत्ययग्रहणं न क्रियेतागस्त्यस्यापत्यानि बहूनि ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्य इति ( ४।१।११४ ) ऋष्यण्। कुण्डिन्या अपत्यानि बहूनि गर्गादित्वाद् यञ् ( ४।१।१०५ )। तयोरागस्त्यकौण्डिन्यशब्दयोर्जसि परतो यदागस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनजिति ( २।४।७० ) लुक् क्रियतेऽगस्तिकुण्डिनचौ चादेशौ तदा वैषम्यादेकैकस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिन स्त्रय आदेशाः पर्य्यायेण स्युः। तत्र यदा लुक् क्रियते तदा विभक्तिमात्रस्य श्रवणं प्राप्नोति। अथाप्यलोऽन्त्यस्य स्यादेवमप्यागस्त्यः कौण्डिन्य इति स्यात्। अगस्तयः कुण्डिना इति चेष्यते। यदाप्यागस्त्यशब्दस्य कुण्डिनजादेशः कौण्डिन्यशब्दस्य चागस्त्यादेशस्तथाप्यनिष्टमेव प्राप्नोति। आगस्त्यशब्दस्य हि जसन्तस्य अगस्तय इति रूपमिष्यते। कौण्डिन्यशब्दस्य तु कुण्डिना इति। अतएवागस्तयः कुण्डिना इत्यनयानुपूर्व्या तयोरुपन्यासः। अथाप्यान्तरतम्यादागस्त्यशब्दस्यागस्तिशब्द एवादेशो भवति। न कुण्डिनजिति। कौण्डिन्यशब्दस्यापि कुण्डिनजादेशो भवति। नागस्तिशब्द इत्येवमपि नैवानिष्टापत्तेर्मुक्तिः। तथाह्येवं ह्यगस्तयः कुण्डिना इति च सिध्यति तथापि प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये विवक्षिते सति वृद्धाच्छ इति ( ४।२।११४ ) च्छो न स्यात्। अवृद्धत्वात् प्रकृतेः। प्रत्ययग्रहणे तु सति तददर्शनस्यैवेयं संज्ञा विहितेति तस्यैव लुग् भवति। परिशिष्टस्य च प्रकृतिद्वयस्य यथासंख्यमादेशद्वयम्। तेनागस्तयः कुण्डिना इत्येतच्च रूपद्वयं सिध्यति। प्राग्दीव्यतीयाजादिप्रत्ययविवक्षायामपि गोत्रेऽलुगचीति (४।१।८९) लुकि प्रतिषिद्धे वृद्धाच्छप्रत्ययश्च। अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इति। (A) कौण्डिन्यशब्दात् तु सत्यपि लुकि कण्वादिभ्यो गोत्र ( ४.२।१११ ) इत्यणेव भवति। कौण्डिनाश्छात्रा इति। तेन तत्र च्छप्रत्ययाभावदोषो न प्रसञ्जनीयः।

## ६२। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।

प्रत्ययलक्षणमिति। प्रत्ययो लक्षणं यस्येति कार्य्येऽन्यपदार्थे बहुव्रीहिः। प्रत्ययनिमित्तमित्यादिना सूत्रारम्भस्य प्रयोजनमाह। ननु च स्थानिवद्भावेनाप्ये-

(A) सूर्य्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधाया इति ( ६।४।१४९ ) यलोपः।

तत् सिध्यति । नैतदस्ति । अलाश्रयमपि हि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं कार्य्य-मिष्यते । तथाह्यग्निचिदित्यत्र ह्रस्वस्य पिति ( ६।१।७१ ) कृति तुगित्यला-श्रयोऽपि तुग् भवत्येव । अग्निचिदिति । अग्नौ चेरिति ( ३ २।९१ ) क्विप् । अधोगिति हल्ङ्याब्भ्यादिसूत्रेण ( ६।१।६८ ) तिलोपः । अदादित्वाच्छपो लुक् । दादेर्धातोर्घ ( ८.२।३२ ) इति घत्वम् । एकाचो बशो ( ८.२।३७ ) भषित्यादिना भष् धकारः । झलाञ्जशोऽन्त ( ८।२ ३९ ) इति जश्त्वम् । धकारस्य गकारः । तस्य वावसान इति ( ८।४।५६ ) चर्त्वं ककारः । प्रत्यय इति । वर्त्तमान इति पूर्वसूत्रात् । आघ्नीयेति । आङो यमहन ( १।३।२८ ) इत्यात्मनेपदम् । गमहनेत्यादिनो पधालोपः ( ६।४।९८ ) । हो हन्तेरिति ( ७।३।५४ ) घः । संग्मीयेति । संपूर्वाद् गमेः समो गम ( १।३।२१ ) इत्यादिनात्मनेपदम् । इटोऽदित्यद् ( ३।४।१४६ ) भावः । बहुलं छन्दसीति शपो ( २।४।७६ ) लुक् । पूर्ववदुपधालोपः । अनुनासिकलोपो न भवतीति । अनुदात्तोपदेशेत्यादिना ( ६।४।३७ ) । रैकुलमिति । षष्ठीसमासः । गोहित-मिति । चतुर्थीत्यादिना । अस्त्यत्र षष्ठीचतुर्थ्येकवचनयोः प्रत्यययो र्लोपः । किं त्वयवादेशयोरचि विधानात् तद्विधौ वर्ण आश्रीयते । नतु प्रत्ययः । तेन वर्णनिमित्तकौ तौ न प्रत्ययनिमित्तकाविति न भवतः । ननु च नात्र प्रत्ययस्य लोपः क्रियते । किं तर्हि ? लुक् । नैतदस्ति । लोपशब्दोऽपि सामान्येन तद्भावितस्यातद्भावितस्य चाऽदर्शनस्य संज्ञा । तस्माल्लुगपि लोपो भवत्येव ।

## ६३ । न लुमताङ्गस्य ।

लुमतेति । लुशब्दो यस्मिन्नस्ति स लुमान् । कः पुनरसौ ? लुगित्यादि संज्ञाशब्दः । करणे चेयं तृतीया । हेतौ वा । इत्थम्भूतलक्षणे वा । लुमता करणेन लुप्ते प्रत्यये । तेन हेतुना वा । तदुपलक्षितेन वेत्यर्थः । अथ प्रत्यय इत्येतत् कुतो लभ्यते ? प्रत्ययादर्शनस्यैव लुगादिसंज्ञाविधानात् । लुमता-शब्देन लुप्ते प्रत्यये यदङ्गमिति । तत् पुनस्तमेव प्रत्ययं निमित्तमाश्रित्य येनाङ्ग-संज्ञा प्रतिलब्धा तद् वेदितव्यम् । तस्य प्रत्ययलक्षणं कार्य्यं न भवती

त्यविशेषाभिधानेऽपि प्रत्यासत्तेर्य एवासौ लुमता लुप्तः प्रत्ययोऽङ्गसंज्ञाया निमित्तं तल्लक्षणमिति गम्यते। गर्गा इति। गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५)। यञञोश्चेति (२।४।६४) बहुषु लुक्। अत्र तद्धितेष्वचामादेरिति (७।२।११७) वृद्धिर्न भवति। मृष्ट इति। मृजेस्तस्। अदादित्वाच्छपो लुक्। व्रश्चादिसूत्रेण (८।२।३६) षत्वम्। ष्टुत्वम्। मृजेर्वृद्धिरिति (७।२।११४) वृद्धिर्न भवति। जुहुत इति तसि परतो जुहोत्यादिभ्यः श्लौ (२।४।७५) कृते सार्वधातुकलक्षणो गुणो न भवति। सर्वत्र यमेव प्रत्ययमाश्रित्याङ्गसंज्ञा जाता स एव वृद्ध्यादेः कार्यस्य निमित्तम्। इह च विशेषस्यानाश्रयणान्न केवलमङ्गाधिकारविहितं कार्यं प्रतिषिध्यते ऽपित्वनङ्गाधिकारविहितमपि। तेन गर्गा विदा उष्ट्रग्रीवा इत्यत्र ञ्नित्यादि (६।१।१९७) र्नित्यमित्याद्युदात्तत्वमनङ्गाधिकारविहितमपि न भवति। इह चात्रय इति तद्धितस्य कित (६।१।१६५) इत्यन्तोदात्तत्वम्। गर्गा विदा इति यथाक्रमं गर्गादियञ्। अनृष्यानन्तर्ये (४।१।१०४) विदादिभ्योऽञित्यञ्। यञञोश्चेति (२।४।६४) लुक्। उष्ट्रग्रीवा इति। इवे (५।३।९६) प्रतिकृताविति विहितस्य कनो देवपथादिभ्यश्चेति (५।३।१००) लुप्। अत्रय इति। अत्रेरपत्यार्थ इतश्चानिञ (४।१।१२२) इति विहितस्य ढकोऽत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठेत्यादिना (२।४।६५) बहुषु लुक्। पञ्च सप्तेति। षड्भ्यो लुगिति (७।१।२२) जश्शसो लुक्। पयः सामेति। अत्रापि स्वमोर्नपुंसकादिति (७।१।२३)। अत्र यद्यपि लुमता लुप्तः प्रत्यय स्तन्निमित्ता चाङ्गसंज्ञा तथापि प्रत्ययलक्षणेन सुप्तिङन्तं पदमिति (१।४।१४) पदसंज्ञा भवत्येव। यस्मान्नासावङ्गस्य कार्यम्। अपितु सविभक्तिकस्य समुदायस्य प्रत्ययस्य हि पूर्वभागोऽङ्गम्। नचेह तस्य लुमता यो लुप्तः प्रत्यय स्तन्निमित्ता पदसंज्ञा प्राप्नोति। स्वादिष्वसर्वनामस्थान (१।४।१७) इति वचनात्। तेन नात्र यमेव प्रत्ययमाश्रित्याङ्गसंज्ञा भवति तमेवाश्रित्य पदसंज्ञा प्राप्नोति। पदसंज्ञायाञ्चेह सत्यां पय इत्यत्र ससजुषो (८।२।६६) रुरिति रुत्वम्। खरवसानयोर्विसर्जनीयश्च (८।३।१५) पदकार्यं भवति। पञ्च सप्त सामेति। अत्रापि नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति (८।२।७) नलोपः पदसंज्ञाकार्यम्।

कार्य्यत इति । ण्यन्तात् कर्म्मणि लकारः । सार्वधातुके (३।१।६७) यक् । अत्र न लुमता प्रत्ययो लुप्तः । किं तर्हि ? णेरनिटीति (६।४।५१) । अतातो लोप (६।४।४८) इत्यस्माल् लोपग्रहणानुवृत्तेः । तेन प्रत्ययलक्षणा वृद्धिर्भवत्येव ।

## ६४ । अचोऽन्त्यादि टि ।

अन्त्यादीति बहुव्रीहिः । अचां मध्ये योऽन्त्यो ऽच् स आदिर्यस्य शब्दरूपस्य तत् तथोक्तम् । ननु चान्त्यशब्दोऽत्राचामित्येतदपेक्षत इत्यसामर्थ्यादादिशब्देन सह समासो न प्राप्नोति । नैष दोषः । अन्त्यशब्दो हि सम्बन्धिशब्दः । सम्बन्धिशब्दानां नित्यसापेक्षत्वेन गमकत्वात् सापेक्षत्वेऽपि समासो भवति । यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । निर्धारणे षष्ठीति । यतश्च निर्धारण (२।३.४१) मित्यनेन । यदि निर्धारणे षष्ठीयमेवं हि सति निर्धारणमनेकसन्निपाते भवतीत्यथ इत्येकवचनं न स्यात् । बहुत्वाद् बहुवचनेन भवितव्यमित्यत आह जातावेकवचनमिति । जातेरेकत्वादिति भावः । अचां सन्निविष्टानां योऽन्त्योऽजिति । कथं पुनरजित्येष विशेषो लभ्यते ? यावता नेह द्वितीय मज्ग्रहणम् । नापि प्रकृतम् । एवं मन्यते । समानजातीयस्यैव लोके निर्धारणं प्रसिद्धम् । तथाहि कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमेति द्वितीयं गोशब्दमन्तरेणापि गौरेव प्रतीयते । तस्मादिहापि यद्यपि द्वितीय मज्ग्रहणं नास्ति तथापि समानजातीयो ऽजेव निर्धार्य्यमाणोऽवसीयत इति । अन्ते भवोऽन्त्यः । दिगादित्वाद् यत् (४।३।५४)। तदादीति । स आदि र्यस्येति विग्रहः । इच्छन्द इत्यादीनि रूपोदाहरणानि । कार्य्यं पुनरिच्छब्दस्य टिसंज्ञाया मग्निचितमाचष्ट इति णिचि कृते णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्येति टिलोपः । अग्निचयतीति । आतामाथामिति । अनयोस्तु टिसंज्ञाकार्य्यं टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) इति टेरेत्वम् । पचेते पचेथे इति कार्य्योदाहरणे । अथ वह्निमह्योरिकारस्य कथं टिसंज्ञा ? यावता न सोऽस्ति यस्य सोऽन्त्यः । अजादिरिति व्यपदिश्यते । नैष दोषः । आद्यन्तवदेकस्मिन्निति (१।१।२१) व्यपदेशिवद्भावेनादि रन्त्यइति व्यपदेशो भविष्यति ।

## ६५। अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा।

अलोऽन्त्यादिति समानाधिकरणे पञ्चम्यौ। धात्वादौ वर्णसमुदायं इति। ननुच नेह वर्णसमुदायग्रहणमस्ति। नापि तत् प्रकृतम्। तत् कथमेषोऽर्थों लभ्यते? अन्त्यग्रहणात् समुदायस्यैवान्त्योऽल् भवति। न केवलः। तस्माद-न्त्यग्रहणादेषोऽर्थो लभ्यते। अलेवेति। एवकारकरणादेवाल्समुदायो व्यव-च्छिद्यते। ननुच नेह द्वितीय मल्ग्रहणमस्ति तदल्समुदायस्याप्येषा संज्ञा कस्मान्न भवति? लोकतश्च। लोके ह्यमीषां ब्राह्मणाना मन्त्यात् पूर्वं आनीयतामित्युक्त एक एवान्त्यात् पूर्वं आनीयते। न समुदायः। एवमप्यल एव व्यवहितस्य कस्मादेषा संज्ञा न भवति? व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो वर्त्तत एव। अतएव लौकिकाद् दृष्टान्तात्। लोके ह्यन्त्यात् पूर्वमानयेत्युक्तो न कश्चिद् व्यवहित मानयति।. अपि त्वनन्तरमेव। यदि ह्यल एवैषा संज्ञा नाल्-समुदायस्य ऋतश्च संयोगादे र्गुणः (७।४।१०) इत्यत्र यद् वक्ष्यति—संयोगादिगुणविधाने संयोगोपधग्रहणं कर्त्तव्यमिति—तद्व्याहन्यते। नह्यल एवोपधासंज्ञायामनेकानन्तरहल्समुदायात्मनः संयोगस्योपधात्वमुपपद्यते। संयोगावयवस्योपधात्वादवयवधर्मेण समुदायस्य तथा व्यपदेश इत्यविरोधः। भवति ह्यवयवधर्मेण समुदायस्य तथा व्यपदेशः। यथा आढ्यमिदं नगर-मिति। अथवा संयोगस्याल्पूर्वत्वोपलक्षणार्थं तत्रोपधाग्रहणं द्रष्टव्यम्। अकार इत्यादीनि रूपोदाहरणानि। कार्य्यं त्वकारस्योपधासंज्ञायां पाचकः पाठक इत्यत्र अत उपधाया इति (७।२।११६) वृद्धिः। इकारऋकारयोस्तु भेदक च्छेदको वर्त्तको वर्द्धक इति। अत्र पुगन्तलघूपधस्येति (७।३ ८६) गुणः। शिष्ट इति। शासु अनुशिष्टौ। निष्ठा। शास इदङ् हलोरिति (६।४।३४) उपधाया इत्वम्। तत्र ह्यनिदितामित्यादेः (६।४।२४) सूत्रादुपधाग्रहण मनुवर्त्तते। शासिवसीत्यादिना षत्वम् (८।३।६०)। समुदायादित्यादि। अकारसकारसमुदायात् पूर्वस्य शकारस्योपधासंज्ञा मा भूदित्यर्थः। यदि हि स्यात् तस्यैवेत्त्वं स्यात्।

## ६६। तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।

किमर्थमिदम्? इको (६।१।७७) यणचीत्येवमादावचीत्येवमादेराधारा-

धेयभावः प्रत्यासत्तिनिबन्धनः। यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति। अत्र गङ्गायाः सा च प्रत्यासत्ति र्यथापूर्वमपिच्च भवति तथा परमपि। ततश्च दध्युदकादिषु न ज्ञायते किं पूर्वस्यैकः प्रत्यासत्तिभाजो यणादेश उत परस्येति। तत्र संदेहे सति नियमार्थेयं परिभाषाऽरभ्यते। यद्येवं सन्देहविषय इयमारभ्यत इति यत्र संदेह स्तत्रोपतिष्ठते। ततश्च दध्युदकमिति सिद्धं स्यात्। इदन्तु न सिध्यति। दध्यत्रेति। ननु च विनैव परिभाषयैतत् सिद्धम्। नह्यत्र सन्देहोऽस्ति। इदं तर्हि न सिध्यति समिदत्रेति। अग्निचिदत्रेति। यदि हि यत्र सन्देहो नास्ति तत्रैषा परिभाषा न स्यादिहानुपस्थानाद् व्यवधानेऽपि यणादेशः स्यादेव। तस्मादसन्देहविषयेऽप्येषा परिभाषा यथा भवति स यत्नः कर्त्तव्यः। एष क्रियते। इह सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्येतावत् सूत्रं कर्त्तव्यम्। इयतैवाभिलषितार्थसिद्धेः। तत्राप्ययमर्थः। स्वरूपग्रहणशङ्कां निराकर्त्तुमितिकरणो न कर्त्तव्यो भवति। नहि क्वचिच्छास्त्रे सप्तमीनिर्दिष्टः शब्दः श्रूयते येन स्वरूपग्रहणमाशङ्क्येत। सोऽयमल्पेन सूत्रेण सिद्धे यन्महत् सूत्रं करोति तन्महाविषयेयं परिभाषेति सूचनार्थम्। एवञ्च महाविषयेयं भवति यदि सर्व्वत्र सन्देहविषयेऽन्यत्र च प्रवर्त्तते। स्यादेतत्। सप्तमीनिर्दिष्ट इत्युच्यमाने सप्तम्या यद्यप्यधिकरणं निर्दिश्यते तथापि तस्याधेयप्रधानत्वादिको (६।१।७७) यणचीत्यत्राचि योऽल् व्यवस्थित स्तस्मिन् यणादेशो विज्ञायते। ततश्चेहैव स्याद् दधि भुङ्क्त इति। इह तु न स्याद् दध्यत्रेति। यथान्यासे त्वेष दोषो नास्ति। तस्मान् महत् सूत्रं प्रणीतमिति। नैतदस्ति। यदयं दाधा घ्वदाबिति (१।१।२०) निर्देशं करोति तज् ज्ञापयत्यधिकरण एव यणादेशादिकार्य्यं भवति। नत्वाधेय इति। अपि च यथान्यासेऽप्यधिकरणस्याधेयप्रधानत्वादाधेय एव यणादेशादि कार्य्यं स्यात्। तस्मात् तत्रापि तदेव ज्ञापकं शरणमाश्रयणीयम्। तदेव महतः सूत्रस्य प्रणयनं परिभाषाया महाविषयत्वसूचनार्थम्। तेन सर्व्वत्रैषा परिभाषोपतिष्ठत इति सर्व्वमिष्टं सिद्धं भवति। इह स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञेति (१।१।६८) स्वरूपस्यैव ग्रहणेन भवितव्यम्। ततश्च यत्रैव तस्मिन्नित्येतत् पदमुच्चार्य्यते तत्रैवेयं परिभाषा स्यात् तस्मिन्नणि च (४।३।२) युष्माकास्माकाविति।

अस्ति ह्यत्र तस्याः परिभाषायाः परनिवृत्तिः प्रयोजनम्। यौष्माकीणं युष्मभ्यं देहि। आस्माकीनमस्मभ्यं देहीति। युष्मभ्यं देहि यौष्माकीणम्। अस्मभ्यं देह्यास्माकीनमिति। इको यणचीत्येवमादौ (६।१।७७) त्वेषा नोपतिष्ठते इत्यत आह तस्मिन्निति। सप्तम्यर्थनिर्देश इति। एवं मन्यते। इतिकरणो ह्यत्र कृतः। स च स्वरूपपदार्थकत्वं निरस्यार्थपदार्थकत्वं तस्मिन्नित्यस्य संपादयति। तेनार्थस्यैव ग्रहणं भवति। स त्वर्थोऽवश्यं येन केनचिच्छब्देन निर्देष्टव्य इति। नानार्थकत्वात् सामान्यवाचिना तस्मिन्नित्यनेन पदेन निर्दिष्ट इति। ननु च शब्दस्यार्थेन पौर्वापर्यं न सम्भवतीत्यर्थेनासंभवात् तद्वाचिना सम्भवात् तद्वाचिना शब्देन विज्ञास्यत इत्यदोषः। अत्रेदं चोद्यते। अर्थस्य ग्रहणं यथा स्यात् स्वरूपस्य च ग्रहणं मा भूदित्येवमर्थ मितिकरणः क्रियते। तच्च स्वरूपग्रहणं तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकाविति सूत्रेण (४।३।२) सम्भाव्यते। यदि च स्वरूपग्रहणं स्यात् तत्रैव पूर्वग्रहणं कुर्यात्। न च कृतम्। तस्मादवगम्यते ऽन्तरेणापीतिकरणमर्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति। न स्वरूपस्येति नार्थस्तेन। सत्यमेतत्। ये तु मन्दबुद्धय एवं प्रतिपत्तुमसमर्थास्तान् प्रति सुखावबोधनार्थमितिकरणः कृतः। निर्दिष्टग्रहणमिदमर्थस्य विशेषणम्। इह च शास्त्र इको (६।१।७७) यणचीत्यादिषु वाक्येषु यत्र सप्तम्यर्थोऽस्ति तत्रासौ निर्दिष्ट एव सर्वत्र। तदपार्थकं निर्दिष्टग्रहणविशेषणं व्यभिचाराभावादित्यत आह निर्दिष्टग्रहणमित्यादि। आनन्तर्यमव्यवधानमर्थो यस्य तत् तथोक्तम्। कथं पुनस्तदानन्तर्यार्थं भवति? ततस्तत्प्रतीतेः। तथाहि दिशिरयमुच्चारणक्रियः। निःशब्दोऽप्ययमिह नैरन्तर्यं द्योतयति। तत्र निरन्तरं दिष्टो निर्दिष्ट इति प्रादिसमासे कृते स्फुटमेवानन्तरमुच्चारितमिति प्रतीयते। किमर्थं पुनरानन्तर्यमाश्रितमित्यत आह अग्निचिदत्रेत्यादि। पूर्वशब्दोऽयं व्यवहितेऽपि वर्त्तते। तत्र यद्यानन्तर्यं नाश्रीयते ततो व्यवहितेऽपि स्यादित्यभिप्रायः। ननु चाचीत्यौपश्लेषिकमधिकरणं विज्ञायते। न च व्यवहितमुपश्लिष्टम् भवति। तत् किमानन्तर्यार्थेन निर्दिष्टग्रहणेन? असदेतत्। असति हि निर्दिष्टग्रहण औपश्लेषिकमधिकरणमेव न शक्यं विज्ञातुम्।

यस्मात् 'पूर्वशब्दो व्यवहितेऽपि वर्त्तमानः परस्यैव निवृत्तिं करोति न व्यवहितपूर्व्वस्यापि । निर्दिष्टग्रहणे तु सति सप्तम्या औपश्लेषिकाधिकरणाभिधायिन्याः प्रत्यासत्तिरुपादीयते । सा च पूर्वग्रहणेन न निवर्त्यते । परनिवृत्तिरेव क्रियत इत्येषोऽर्थो लभ्यते । तेन व्यवहितस्य कार्य्यं न भवति । उत्तरार्थञ्च निर्दिष्टग्रहणं कर्त्तव्यमेव ।

## ६७ । तस्मादित्युत्तरस्य ।

किमर्थमिदम् ? तिङ्ङतिङ (८।१।२८) इति यात्र पञ्चमी सा तु न कारकविभक्तिः । किं तर्हि ? दिक्शब्दादञ्चूत्तरपदेति (२।३।२९) दिग्योगलक्षणा । दिक्शब्दस्त्वध्याहार्य्यः । तत्र किं पूर्वशब्दमध्याहृत्यातिङः पूर्वस्य निघातः क्रियत उत परशब्दमध्याहृत्य परस्येति सन्देहे सति परिभाषेयं नियमार्था ऽरभ्यते । निर्दिष्टग्रहणमनुवर्त्तत इति । तेन तस्यानन्तर्य्यार्थत्वादव्यवहितस्य कार्य्यं न भवतीति भावः । इहापीतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः क्रियते । तेन पञ्चम्यर्थग्रहणं भवति । नतु शब्दस्वरूपस्येत्यभिप्रायेणाह तस्मादिति । पञ्चम्यर्थनिर्देश इति । ननु च पूर्वसूत्रादेवेतिकरणोऽनुवर्त्तिष्यते । तत् किमर्थः पुनरिहेतिकरणः ? अनेन प्रकारेण पूर्वसूत्रादेकदेशोऽनुवर्त्तत इति ज्ञापनार्थः । तेनेति शब्दवन्निर्दिष्टग्रहणमनुवर्त्ततेत्येतदाख्यातं भवति । अन्यस्त्वाह इतिकरणं त्विहावधेरवधिमत्तन्त्रतां निवर्त्तयति । तेनावधेरेवोत्तरस्य विज्ञायते । नावधिमतः । स्वरूपग्रहणनिरासार्थस्त्वितिकरणो न भवति । स्वरूपाभावात् । यदपि तस्माच्छसो नः पुंसीति (६।१।१०३) तत्रापि पूर्वसवर्णदीर्घात् पूर्वः शस् न सम्भवतीति न भवति सन्देहः । तस्मादवधेरवधिमत्तन्त्रतानिरासार्थ एवेतिशब्द इति । अत्रोच्यते । यद्यवधेरेवोत्तरस्य कार्य्यं यथा स्यादवधिमतो मा भूदित्येवमर्थ इतिकरणो ऽवधेरवधिमत्तन्त्रतामपाकर्त्तुं क्रियते नार्थस्तेन । लोकत एव तत्सिद्धेः । लोके हि तस्माच्छात्रादुत्तरो भोज्यतामित्युक्ते ऽवधेरेवोत्तरो भोज्यते । नावधिमतः । तदिहापि विनापीतिकरणेनावधेरेवोत्तरस्य कार्य्यं भविष्यति । नावधिमतः । यदप्युक्तं तस्माच्छसो (६।१।१०३) नः पुंसीत्यत्रापि पूर्वसवर्णदीर्घात् पूर्वः शस् न

संभवतीति तदप्ययुक्तम्। तथा ह्वशब्दादिशब्दाच्च शसि परतः पूर्वसवर्णदीर्घत्वे पूर्वत्र च ह्वादिशब्दे शसन्ते व्यवस्थापिते गच्छत आन् ह्वानुपलभते गच्छतो ह्वानानुपलभत इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घात् पूर्वं शस् सम्भवत्येव। अथ यत्रोभयनिर्देशस्तत्र कस्य कार्य्येण भवितव्यम्? तत्र यानवकाशा सेतरस्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति। अतः षष्ठीनिर्दिष्टस्य कार्य्यं भविष्यति। यथाऽने मुगित्यत्र ( ७।२।८२ ) सप्तमी निरवकाशा ऽतो येय ( ७।२।८० ) इत्यत इति पञ्चम्याः पूर्वसूत्रे सावकाशायाः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति। तथेदास (७।२।८३) इति पञ्चम्यान इति पूर्वसूत्रे सावकाशायाः सप्तम्याः। यत्रोभे सावकाशे तत्र परत्वात् पञ्चमी सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति। यथा ऽमि ( ७।१।५२ ) सर्वनाम्नः सुडिति। आज्जसेरसुगित्यत्र ( ७।१।५० ) पञ्चमी सावकाशा। आमीति सप्तम्युत्तरार्था। तत्रादिति पञ्चम्यामीति सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयति। तेन सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुड् भवति। इह तु दीर्घात् पदान्ताद्वेति ( ६।१।७३ ) यद्यपि छे चेति ( ६।१।७५ ) सप्तमी पूर्वसूत्रे सावकाशा तथापि तस्याः स्वरितत्वात् पूर्वयोगादनुवृत्ताया निरवकाशत्वम्। अतः सा च सप्तमी पञ्चम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति। पञ्चमी तु पौर्व्वापर्य्यं प्रकल्प्य सावकाशा निवर्त्तते। तेनायं सूत्रार्थो भवति। दीर्घादुत्तरो यश्छस्तस्मिन् परतः पूर्वस्य दीर्घस्यैव तुग् भवतीति। सार्वधातुके यगित्यत्र (७।१।६७) निरवकाशापि सप्तमी धातोरिति पञ्चम्याः सावकाशाया अपि षष्ठीत्वं न प्रकल्पयति। अन्यथा हि धातोरेवादेशा यगादयः स्युः। ततश्च परश्चेत्यस्यानुवृत्तस्य (३।१।२) बाधाद् यगादीनां चानुबन्धकरणस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत। नहि धात्वादेशत्वे सति तेषां परत्वमुपपद्यते। नाप्यनुबन्धानामर्थवत्त्वम्। तस्मात् सार्वधातुक इति सप्तमी यगादीनां प्रत्यासत्तिं गमयति। पराधिकारात् तु ते धातोः परे भवन्ति।

## ६८। स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा।

शब्दस्येति शास्त्रे स्वमेवेत्यादि। शास्त्रग्रहणं लोकेऽर्थस्यैव ग्राह्यत्वात्। शब्दस्येति कृत्यानां कर्त्तरि वेति ( २।३।७१ ) कर्त्तरि षष्ठी। शब्दः स्वमेव रूपं ग्राहयति बोधयति प्रत्याययतीत्यर्थः। कः पुनः शब्दस्य स्वरूपस्य च भेदः? येन शब्दस्येति

व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी भवति। परमार्थतो वस्तुगतो नास्त्येव भेदः। तथाहि स्वं रूपं शब्दस्य स्वभावः। तच्चेत् ततोऽर्थान्तरं स्याच् शब्दस्य वैस्वभाव्यमेव स्यात्। असत्यपि तु वास्तवे भेदे बुद्धिविरचितं भेदमाश्रित्य षष्ठी भवति। बुद्धि हिं स्वबीजपरिपाकवशादाकारविशेषपरिग्रहवतुत्पजायमाना वस्तुनोऽसत्यपि भेदे भेदमापादयति। यथा राहोः शिरः स्वस्य स्वभावइति (A)। न वाह्योऽर्थ इति। एवकारेण यदवच्छिन्नं तद्दर्शयति। अतिप्रसक्तस्यापवादमाहाशब्दसंज्ञेत्यादि। किमर्थं पुनरिदमारभ्यत इत्याह शब्देनेत्यादि। शब्देनोच्चारितेनार्थः कार्य्योपयोगितया गम्यते। न शब्दस्वरूपम्। तथाहि गौरुपलभ्यतामित्युक्तेऽर्थमेवोपलब्धुमाद्रियते। न शब्दस्वरूपम्। व्याकरणे तु प्रत्ययविधानादिकार्य्यमर्थस्य न सम्भवति। तेन सह शब्दस्य पौर्वापर्य्याभावात्। नचार्थाद् विहितेन प्रत्ययेन कश्चित् प्रकृतोपयोगः। तेनाग्नेर्ढगित्युक्ते (४।२।३३) नायं संप्रत्ययो भवति। अग्निशब्दस्य योऽर्थः स इह कार्य्यी तस्येदं कार्य्यं विधीयत इति। ततश्च तस्यार्थस्य ये वाचकाः शब्दास्तेषु तत्कार्य्यसम्भवात् तत् साहचर्य्याच्च तेषामेव संप्रत्ययः स्यात्। एतेऽत्र कार्यिणः। एतेषामिदं कार्य्यं विधेयमिति। यथाऽऽकृतिवादिनां गौर्दुह्यतामिति शब्देन जातौ चोदितायां तत्र तत्कार्य्यासम्भवात् तदाधारायां व्यक्तौ संभवात् तत्साहचर्य्याच्च तस्यामेव व्यक्तौ संप्रत्ययो भवति न जातौ तथेहापि तन्मा भूत् तद्वाचिनां संप्रत्यय इत्येवमर्थमिदमारभ्यते। तद्वाचिनामिति कर्मणि षष्ठी। तद्वाचिनो मा विज्ञायीत्येवमर्थमिदमारभ्यत इत्यर्थः। तत्र केचिदाहुः। स्वरूपस्य पर्य्यायाणाञ्च कार्य्ये प्रसक्ते श्रूयमाणस्यैव तद् यथा स्यात् पर्य्यायाणां मा भूदिति नियमार्था परिभाषेयमिति। अन्ये तु लिङ्गवती परिभाषा भवति यथेको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धी लिङ्गम्। विध्यन्तरशेषभूता वा यथा विप्रतिषेधे परं कार्य्यमिति परस्य विध्यन्तरस्य शेषभावमापद्यते। नचास्या लिङ्गं विध्यन्तरशेषभावो वा विद्यत इति संज्ञासूत्रमिदमिति प्रतिपन्नाः। यद्यपि वृत्तौ संज्ञाशब्दो नोच्चारितस्तथापि स्वमेव रूपं शब्दस्य ग्राह्यमित्येवं ब्रुवता वृत्तिकारेण

(A) स्वस्य स्वरूपमिति दाक्षिणात्यपुस्तके पाठः।

संज्ञैवेत्याख्यातं भवति। अग्निशब्दादौ शब्दान्तरैः साधारणमपि रूपमस्ति शब्दत्वादि। असाधारणमपि अग्निशब्दत्वादि। तत्र साधारणरूपव्युदासेना-साधारणस्याग्निशब्दत्वादिरूपस्य परिग्रहार्थं स्वंग्रहणम्। तद्धि स्वमेव तस्य रूपम्। इतरत् पुनः परस्यापि। प्रतीतिं प्रत्यन्तरपदेशाच्च शब्दस्य स्वरूपमेवासन्नम्। नार्थः। विपर्ययात्। अहेयत्वाच्च। तन्नित्यसम्बन्धित्वाच्च। नार्थो विपर्ययात्। तथाह्यनुकरणशब्दा ह्यर्थं जहति। नतु स्वरूपम्। असाधारणञ्च रूपम्। अर्थस्तु साधारणः। शब्दान्तरैरपि प्रत्याय्यमान-त्वात्। तदेवमासन्नत्वान्नित्यसम्बन्धित्वादसाधारणत्वाच्च रूपमेव शब्दस्य स्वम्। नार्थः। ततश्च स्वग्रहणादेव रूपपरिग्रहे सिद्धे व्याकरणे रूपवदर्थोऽ-प्यङ्गीक्रियत इति ज्ञापनार्थं रूपग्रहणम्। तेनार्थवद्ग्रहणेन नानर्थकस्येत्ये तदुपपन्नं भवति। शब्दानुशासनप्रस्तावादेव च शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वरूपं गृह्यते नार्थपरो निर्देश इति ज्ञापनार्थम्। तेन स्वे पुष ( ३।४।४० ) इत्यत्र स्वरूपस्य ग्रहणं न भवति। अर्थपरत्वन्तु निर्देशस्या-विच्छिन्नपारम्पर्यादाचार्योपदेशाद् विज्ञायते। आग्नेयमिति। अग्निर्देवता ऽस्येत्यत्रार्थे ढक्। औदश्वित्कमिति। अत्राप्युदश्विता संस्कृतमित्यत्रार्थे ठक्। उदश्वितोऽन्यतरस्यामित्यत्र ( ४।२।१९ ) दध्न ठगित्यस्यानुवृत्तेः ( ४।२।१८ )। इसुसुक्तान्तात्क इति ठकः ( ७।३।५१ ) कादेशः। घुग्रहणेष्वित्यादि। यदि घुप्रभृतिरपि संज्ञाशब्दः स्वरूपस्य ग्राहकः स्यादुपसर्गे घोः किरित्यत्र (३।३।९२) यद्यपि धात्वधिकारस्तथापि घुग्रहणाद् घुशब्दात् किप्रत्ययः स्यात्। उपसर्ग-ग्रहणं तु प्राद्युपलक्षणार्थं स्यात्। यथा ऽञ् नासिकायाः संज्ञायां ( ५।४।११८, ११९ ) नसञ्चास्थूलादुपसर्गाच्चेत्यत्र। कुमारीघं इत्यत्र च वदति संज्ञाशब्देन स्वरूपप्रत्यायने सति घरूपकल्पेत्यादिना ( ६।३।४३ ) घशब्दे परतो ह्रस्वत्वं प्रसज्येत। ननु च संज्ञाविधानसामर्थ्यात् संज्ञायाः स्वरूपग्रहणं न भवति। संज्ञा हि संज्ञिनः प्रत्यायनार्था क्रियते। यदि संज्ञाशब्दोऽपि स्वरूपं प्रत्याययेत् संज्ञाविधानमनर्थकं स्यात्। नैतदस्ति। संज्ञाविधानसामर्थ्याद्धि संज्ञिनं प्रत्याययेत्। परिभाषाविधानसामर्थ्याच्च स्वरूपम्। तस्मात् प्रतिषेधः कर्त्तव्यः। न कर्त्तव्यः। ज्ञापकात् संज्ञाशब्दो रूपस्य ग्राहको न भविष्यति।

यदयं ष्णान्ता षड़िति ( १।१।२४ ) षकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञां विदधाति तज्ज्ञापयति संज्ञाशब्दः स्वरूपस्य ग्राहको न भवतीति। अन्यथा हि षड्भ्यो लुगित्यत्र ( ७।१।२२ ) षट्शब्देन स्वरूपस्य प्रत्यायितत्वात् ततोऽपि लुग् भवतीति, षकारान्तायाः संख्यायाः षड़िति संज्ञां न कुर्यात्। षट्शब्दो हि षकारान्ता संख्या नान्या। सत्यमेतत्। तथापि येषां ज्ञापकद्वारेणार्थप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् तान् प्रति तत्परिहारायाशब्दसंज्ञेति प्रतिषेधः कृतः। शब्दग्रहणं व्याकरणे या संज्ञा तस्या एव प्रतिषेधो न लौकिक्या इति प्रदर्शनार्थम्। सित्तद्विशेषाणामित्यादि। यत्र विशेषाणां ग्रहणमिष्यते तत्र सकार इत्संज्ञकः कर्त्तव्यः। वृक्षस् स्वगस् इति। ततो वक्तव्य इत्यादि। सिन्निर्देशं कृत्वा ततः प्रथमेऽध्यायेऽन्यत्र वा परिभाषेयं कर्त्तव्या सित्तद्विशेषाणामित्यादि। यस्य सकार इत्संज्ञकः स तद्विशेषाणां वृक्षादिविशेषाणां खदिरादीनां प्रतिपादक इति वक्तव्यम्। एवं पित्पर्य्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थमित्यादावपि वेदितव्यम्। न्यायादपि चैतत् प्रतिपाद्योऽर्थः सिध्यति। यथा सिध्यति तथा यथावसरं पुरस्तात् प्रतिपादयिष्यामः। सुखावबोधनार्थं तु सित्तद्विशेषाणामित्यादिग्रन्थोपन्यासः।

## ६९। अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः।

संज्ञासूत्रमिदम्। न परिभाषा। सा हि नियमार्था भवति। न चाणुदितां सवर्णानामन्येषाञ्च ग्रहणं प्राप्तं येन सवर्णानामेव ग्रहणं भवतीति नियमः क्रियते। परेण णकारेण प्रत्याहारग्रहणमिति। तेन ऋकारादयोऽपि सवर्णानां ग्राहकाः सिध्यन्तीत्यभिप्रायः। परेण च णकारेण प्रत्याहारग्रहणम् अइउण् इत्यत्र प्रतिपादितम्। पूर्वसूत्रात् स्वं रूपमित्येतदिहानुवर्त्तते। तच्चार्थाद्विभक्तिविपरिणामो भवतीति षष्ठ्यन्तं सम्पद्यते। तेन स्वस्यापि रूपस्याण् गृह्यमाण उदिच्च ग्राहको भवतीति दर्शयन्नाह स्वस्य च रूपस्येति। आद्गुण (६।१।८७) इत्यादि। यथेह भवति देवेन्द्र इति तथा खट्वेन्द्र इत्यत्राप्याद्गुणो भवति। अस्य च्वौ ( ७।४।३२ )। यथा पटीभवतीत्यत्रेत्वं भवति तथा मालीभवतीत्यत्रापि। यस्येति च (६।४।१४८)। यथा दाक्षिरित्यत्र

लोपो भवति तथा चौलिरित्यत्रापि। बाह्वादित्वाच्चूलाशब्दादिञ्। स्वरानुनासिक्येत्यादि। उदात्तः सूत्रे गृह्यमाणः स्वरान्तरभिन्नस्यापि ग्राहको भवति। एवमनुदात्तः स्वरितश्च। तथा सानुनासिको निरनुनासिकस्य। सोऽपि तस्य। दीर्घो न भवतीति। यद्यप्रत्यय इति प्रतिषेधो न स्यात् प्रत्ययोऽपि सवर्णानां ग्राहकः स्यात्। ततश्च दीर्घोऽपि स्यात्। ननु चाल्पल्पमिदमुच्यतेऽप्रत्यय इति। अप्रत्ययादेशटित्किन्मित इति वक्तव्यम्। प्रत्यये प्रत्युदाहृतम्। आदेश इदम इश् (५।३।३)। अस्मात्। इतः। पञ्चम्यास्तसिलिति तसिल् (५।३।७)। अस्मिन्। इह। इदमो हः (५।३।११)। अत्र हि सवर्णग्रहणे सति यद्यक्ृते त्यदाद्यत्व इशभावस्तदान्तरतम्यात् त्रिमात्र इकारः प्राप्नोति। अथ कृते ऽर्द्धचतुर्थमात्रः। यद्यतो गुणे (६।१।९७) पररूपत्वे ऽकृते तदापि। अथ कृते ततोऽर्द्धतृतीयमात्रः। अथवाऽर्द्धचतुर्थमात्रोऽर्द्धतृतीयमात्रश्च नास्ति ततो द्विमात्र स्त्रिमात्रश्च स्यात्। टित्। आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५)। लविता। सवर्णग्रहणे सति दीर्घोऽपि स्यात्। कित्। भुवो वुग् लुङ्लिटोः (६।४।८८)। बभूव। अत्र सानुनासिकोऽपि स्यात्। सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। मित्। चतुरनडुहोरामुदात्तः (७।१।९८)। अम् सम्बुद्धौ (७।१।९९)। अनड्वन्। अत्र दीर्घोऽपि स्यात्। तत् तर्ह्येवं वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। चकारोऽत्र क्रियते। सोऽनुक्तप्रतिषेधसमुच्चयार्थो भविष्यति। तेन येषामादेशादीनां ग्राहकत्वं नेष्यते ते सवर्णानां ग्राहका न भविष्यन्ति। अन्ये त्वाहुः। अप्रत्यय इति। नेह संज्ञाग्रहणम्। किं तर्हि ? अन्वर्थग्रहणम्। प्रतीयते विधीयत उत्पाद्यत इति प्रत्ययः। तेनाप्रत्यय इत्यस्यायमर्थो भवति। भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णातीति। इशादयोऽपि भाव्यन्त उत्पाद्यन्त इति तेऽपि प्रत्ययाः। तेन ते सवर्णानां ग्राहका न भवन्तीति। ते चकारस्य प्रयोजनं वक्तव्यम्। स्वं रूपमित्यस्यानुकर्षणं तस्य प्रयोजनमिति चेत् ? न। चानुकृष्टत्वादुत्तरत्र तदनुवृत्तिर्न स्यात्। न चैतत्प्रयोजनमुपपद्यते। स्वरितत्वादेवानुवृत्तिसिद्धेः। अथ मतं प्रथमान्तं स्वमित्येतत्प्रकृतं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। तस्माच्चकारे कृते यत्नात् षष्ठ्यन्तता तस्य यथा स्यादित्येवमर्थश्चकार इति। एतदपि नास्ति। अर्थादेव हि विभक्तिविपरिणामसिद्धेः।

## ७० । तपरस्तत्कालस्य ।

तः परो यस्मात् सोऽयं तपर इति बहुव्रीहिं दर्शयति । तादपि परः स्तपर इति पञ्चमीतत्पुरुषं च । स पुनः पञ्चमीति ( २।१।३७ ) योगविभागात् समास इति वेदितव्यः । कथं पुनरेतत् समासद्वयं लभ्यते ? यावतैकस्तपरशब्दः । एकस्याप्यावृत्त्या द्विधा भेदो भविष्यतीत्यदोषः । अत्र हि बहुव्रीहेर्लिङ्गमतो भिस ऐसिति (७।१।९) तपरकरणम् । नह्यत्र पञ्चमीतत्पुरुष उपपद्यते । अवर्णो ह्यत्र तपरोऽभिमतः । न भिस् । यदि चेह पञ्चमीतत्पुरुषः स्यात् तर्हि भिस् तपरः स्यात् । यतस्तपरो वर्ण इहोच्यते । नचासौ वर्णः । किं तर्हि ? तत्समुदायः । पञ्चमीतत्पुरुषे तु लिङ्गं वृद्धिरादैजिति (१।१।१) तपरकरणम् । नह्यत्र बहुव्रीहिर्युज्यते । यदि बहुव्रीहिः स्यात् तदाकारस्य तपरत्वं स्यात् । नचाकारार्थं तपरकरणम् । अपि त्वैजर्थम् । एतच्च तत्रैव प्रतिपादितम् । सवर्णस्येति वर्त्तते । वर्णस्य च सवर्णो न भवति । ननु वर्णसमुदायस्य । तस्मादविशेषाभिधानेऽपि वर्णएव तपरो विज्ञायत इत्याह तपरो वर्ण इति । तत्कालस्येति बहुव्रीहिः । स कालोऽस्येति । अयुक्तोऽयं निर्देशः । तथाहि तच्छब्देन तपरः परामृश्यते । तपरश्च वर्णः । कालस्तु क्रियाविशेष इष्यते । तथाहुरुक्तम्

आदित्यग्रहतारादि (A) परिस्पन्दमथापरे ।
भिन्नमावृत्तिभेदेन कालं कालविदो विदुः ॥ १ ॥ इति

तत् कुतो वर्णक्रियाविशेषाभिधायिनो स्तपरकालशब्दयोः सामानाधिकरण्यम् ? एवं तर्ह्युत्तरपदलोपी समासोऽयं द्रष्टव्यः । यथोष्ट्रस्य मुखमिव मुखमस्योष्ट्रमुख इत्येवं तत्काल इव कालो यस्य स तत्काल इति । अस्यार्थं दर्शयितुमाह आत्मनेत्यादि । यद्यपि तपरकरणसन्निधानादिहात्मशब्दस्य तत्र वृत्तिर्युक्ता तथापीह साहचर्यात् तत्सहचरितायामुच्चारणक्रियायां कालाख्यायां स वर्त्तते । कुत एतत् ? तपरेण वर्णेन क्रियाया तुल्यत्वानुपपत्तेः । सम्भवति साहचर्यात् ताच्छब्द्यम् । तदेतदुक्तं भवति । तपरवर्णसहचरितया क्रियया तुल्यकालस्येति यादृशी तपरवर्णस्योच्चारणक्रिया

(A) गचन Stands for तारादि in the Deccan copy.

ताहगुच्चारणक्रिया यस्येति यावत्। गुणान्तरयुक्तस्येति। येन गुणेन धर्म्माख्येनोदात्तादिना विशिष्ट उच्चारितस्ततोऽन्यैरुदात्तादिभिर्गुणैः सम्बद्धस्येत्यर्थः। स्वस्य च रूपस्येति। इहापि तदनुवृत्तेः। इहेदं सूत्रं नियमार्थं वा स्याद् विध्यर्थं वा? यद्यणित्यनुवर्त्तते ततः पूर्वेणैव सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थो भवति। तपरोऽण् तत्कालस्यैव ग्राहको भवति नान्यस्येति। अथाणिति निवृत्तं ततो विध्यर्थम्। तत्राद्ये पक्षे विड्वनोरनुनासिकस्यादित्याकारो (६।४।४१) दीर्घस्तपरो निरनुनासिकः सूत्र उपात्तो भेदका गुणा इत्यस्मिन् दर्शने सानुनासिकस्य ग्राहको न स्यात्। अनण्त्वात्। ततश्च निरनुनासिक एवादेशः स्यात्। इतरत्र तु पक्षे सत्यपि भेदकत्वे गुणानामेष दोषो न भवतीति मन्यमानो द्वितीयं पक्षमाश्रित्याह विध्यर्थमिदमिति। कथं विध्यर्थमित्याह अणिति नानुवर्त्तत इति। अणामन्येषाञ्चेत्यादि। युक्तं यदन्येषामेव तपराणां ग्रहणकशास्त्रमिति तेषां पूर्वेण ग्रहणस्यासिद्धत्वात्। अणां तु पूर्वेणैव सिद्धे ग्राहकत्वे कथमित्यत आह अतो भिस (७।१।९) ऐसित्यादि। स्यादेतत्। इहापि तत् प्रवृत्तमेवानवकाशत्वादित्यत आह अतपरा इत्यादि। तस्माद् गुण (१।६।८७) इत्यादावतपरा अणोऽवकाशः। अस्य त्वनणस्तपरा दीर्घाः। यथा विड्वनोरनुनासिकस्यादिति (६।४।४१)। ये त्वणस्तपरास्तेषूभयप्राप्तौ परत्वादिदमेव ग्रहणकशास्त्रं प्रवर्त्तत इत्यभिप्रायः। वृक्षैः प्लक्षैरिति। तृतीयाबहुवचनं भिस्। अतो भिस (७।१।९) ऐसित्यैसादेशः। वृद्धिरेचीति (६।१।८८) वृद्धिः। अब्जाः गोजा इति। जनी प्रादुर्भावे। अप्सु जायते। गोषु जायत इति। जनसनखनक्रमगमो (३।२।६७) विट्। खट्वाभिरिति। कथं पुनरेतत् प्रत्युदाहरणम्? यावता ऽन्तादिवच्चेत्यन्तादिवद्भावे (६।१।८५) भवितव्यमेवात्रैस्भावेन। तपरकरणस्य तु यत्रैकादेशो नास्ति तद् व्यवच्छेद्यं भविष्यति। कीलालपाभिः सोमपाभिरित्यादि। नैष दोषः। अन्तादिवच्चेत्यत्र (६।१।८५) वक्ष्यति वर्णाश्रयविधावन्तादिवद्भावो नेष्यत इति। तथाहि खट्वाभिरित्यत्रान्तवद्भावाभावादतो भिस ऐस न भवतीति। अथवा अत इत्यत्राकारद्वयप्रश्लेषः कृतः श्रूयमाणादतो यथा स्यात्।

## ७१। आदिरन्त्येन सहेता।

स्वरूपविधिपरिहारायारम्भः। इदमपि संज्ञासूत्रम्। अनादिभूतं वस्त्वपेक्ष्य तत्पूर्ववस्तुन आदित्वं न भवति। अनन्त्यभूतं वस्त्वपेक्ष्य ततः परस्यान्त्यत्वम्। न चेहाद्यन्तयोः परस्परापेक्षे आद्यन्तत्वे युज्येते। एवं हि सति वस्त्वन्तरस्य संज्ञिनो भावादादिरन्त्येन सहितः स्वस्यैव संज्ञा स्यात्। ततश्च स्वं रूपमित्येतस्येहानुवृत्तये स्वरितत्वासङ्गो वृथा स्यात्। तस्मादाद्यन्त-शब्दाभ्यां सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु संज्ञित्वेनाक्षिप्तमिति मत्वाह तन्मध्यपतितानामिति। जाताविदं बहुवचनम्। अन्यथा ह्योङ्-शब्द ओकारस्य संज्ञा न स्यात्। ननु चाद्यन्तशब्दाभ्यां नियतदेशावयवावभि-धीयेते। अवयवाश्चावयविनः समुदायरूपस्य सम्बन्धिन इति सम्बन्धि-शब्दत्वादाद्यन्तशब्दाभ्यां तस्यैव संज्ञित्वेनाक्षेपो युक्तः। अत एवं वक्तव्यं तन्मध्य-पतितानां समुदायस्येति। एवं मन्यते। यदयं तस्मादित्युत्तरस्येत्यादौ (१।१।६७) वर्णानां समुदाये परतो यकारं यणादेशं कृत्वा निर्देशं करोति ततो गम्यते न वर्णसमुदायः संज्ञीति। किं तर्हि प्रत्येकं वर्णा एवेति। अन्यथा वर्णसमुदाये संज्ञिनि परतो वर्णमालां यणादेशं कृत्वा निर्देशं कुर्य्यादिति। असम्भवात् स न कृत इति चेत्? न। वर्णमालात्मन आदेशस्य सम्भवात्। तर्हि समुदाये संज्ञिनि कार्य्यमेव न सम्भवतीति चेद् यदि च समुदाये परतः कार्य्यं न सम्भवति वर्णा एव प्रत्येकं सन्तु संज्ञिनः। तत्र कार्य्यं सम्भवति। किं समुदायेन? टा इत्यनेन ग्रहणं माभूदिति। ननु च सोऽपि तावतोऽवधेरन्त एव। न। तावतोऽवधेरविवक्षितत्वात्। टकारो ह्ययं टाङसिङसामिनात् स्याः (७।१।१२) द्वितीयाटौस्स्वेन (२।४।३४) इत्यत्र तृतीयैकवचनस्य विशेषणार्थः। न तु प्रत्याहारार्थः। अथादिग्रहणं किमर्थम्? अन्त्येन सह समुदाय एव संज्ञा मा भूदिति। नैतदस्ति। आवृत्तिधर्माणो हि संज्ञाशब्दा भवन्ति। आदिरेव प्रदेशवाक्येष्वावर्त्तते। न समुदायः। तस्मादन्तरेणाप्यादिग्रहणं सामर्थ्यादादेरेवान्त्यसहितस्य संज्ञात्वं विज्ञायते। न समुदायस्य। एवं तर्हि सामर्थ्यलब्धस्यैवार्थस्य विस्पष्टीकरणार्थमादिग्रहणम्। अथ सहग्रहणं किमर्थम्? यावता तृतीययैव सहार्थो गम्यते। यथा वृद्धो यूनेत्यत्र (१।२।६५)।

नैतदेवम्। इत्थम्भूतलक्षणेऽपि तृतीयास्ति। तस्माच्च सत्यामादिरेवान्त्येनेत् संज्ञकेनोपलक्षितः संज्ञा स्यात्। ततश्च प्रदेशेष्वक इतीक इत्यचीति च समुदायाद् विभक्तिर्न स्यात्। निरर्थकत्वेनाप्रातिपदिकत्वात्। सह ग्रहणात् तु सहभूता संज्ञेति समुदायस्य संज्ञात्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वे सति विभक्तिर्लभ्यते। इद्ग्रहणं त्वचीत्यत्रानित्संज्ञकेन चटतव इत्यनेन चकारेण संज्ञा मा भूदित्येवमर्थम्। अन्त्यत्वं तस्य पूर्ववत्। न समुदायापेक्षया। एवं तर्हि हलन्त्यमितीत्संज्ञा ( १।३।३ ) प्राप्नोति। तदर्थं न विभक्तौ तुस्माः ( १।३।४ ) इत्यत्र नेति योगविभागः कर्त्तव्यः।

## ७२। येन विधिस्तदन्तस्य।

स्वं रूपं शब्दस्येत्यस्यायमपवादः। इदमपि संज्ञासूत्रम्। ननु परिभाषा। नह्यत्र नियमरूपता परिभाषाधर्म्मो विद्यते। येनेति करणे तृतीया। विधीयतेऽपूर्वं एव क्रियते इति विधिः कर्मसाधन उपसर्गे घोः कि ( ३।३।९२ ) रिति किप्रत्ययान्तः। तदन्तस्येति। सोऽन्तो ऽस्येति बहुव्रीहिः। तदित्यनेन स एव करणभूतः शब्दः प्रत्यवमृश्यते। अन्त-शब्दोऽयमवयववाची। अवयवश्च समुदायस्य भवति। अतश्च तस्यैवेयं संज्ञा विज्ञायत इत्याह। समुदायस्य संज्ञा भवतीति। अवश्यलाव्यमिति। अवश्यपाव्यमिति। लूञ् छेदने। पूञ् पवने। वृद्धौ कृतायां वान्तो यि प्रत्यय ( ६।१।७९ ) इत्यावादेशः। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। लुम्पेदवश्यमः कृत्य इति मकारलोपः। अथेह कस्मादिजन्तस्य संज्ञा न सम्भवति ? एचोऽयवायाव ( ६।१।७८ ) इति। किञ्च स्यात्। चयनं चायको लवनं लावक इत्यत्रा-नेकाल्त्वादयादयः सर्वादेशाः स्युः। नैष दोषः। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येच एव भविष्यन्ति। न सर्वस्य तदन्तस्य। अथवा ऽस्य योग-स्यैवंविधो विषय एव न भवति। ततो नायमिह प्रवर्त्तते। तथाहि येनेति करणे तृतीयेत्युक्तम्। न चाकर्तृकं करणमस्तीति कर्त्ताप्याश्रितः। स पुनरिहसम्बन्धिशब्दत्वादन्तशब्देनावयववाचिना सन्निधापितः समुदायो विज्ञायते। प्रकृतत्वात् स्वरूपञ्च कर्त्ता च त्रिभिः प्रकारैः सन्निहितो भवति।

क्वचिन्निर्देशात् । ईदूदेद्द्विवचनमिति (१।१।११)। अत्र द्विवचनं कर्तृभूतं निर्दिष्टम् । तथाहीदादिभिः करणैः प्रगृह्यसंज्ञां विदधाति । क्वचित् प्रकरणाद् यथा एरजिति (३।३।५६) । अत्र धातोरित्यधिकाराद् धातुः प्रकरणात् कर्त्ता सन्निहितः । स इकारेण करणेनाचं विदधाति । क्वचित् सामर्थ्याद् यथेको झलिति (१।२।९)। अत्र धातोरेव सन् विधीयते । नान्यस्मादिति सामर्थ्याद्धातुः कर्त्ता सन्निहितः । स इका करणेन सनः कित्त्वं विदधाति । तदेव मीदूदेद्द्विवचनमित्यादौ (१।१।११) कर्तृकरणयोरुभयोरपि विद्यमानत्वात् सोऽस्य सूत्रस्य विषय इति तत्र तदन्तविधिर्भवति । एचोऽयवायाव (६।१।७८) इत्यत्र तु न केनचित् कर्त्ता सन्निहितः प्रकारेण । न चाकर्तृकं करणं सम्भवति । तस्मात् कर्तृकरणयोरुभयोरप्यसन्निहितत्वान् नायमस्य सूत्रस्य विषय इति न सम्भवति तदन्तविधिः । वक्तव्य इति । व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । द्वितीयाश्रितेत्यादौ (२।१।२४) सुपा श्रितादयो विशिष्यन्ते । न श्रितादिभिः सुप् । विशेषणेन च तदन्तविधिः । न विशेष्येण । यस्माद् येनेति करणे तृतीया करणञ्च परतन्त्रं परार्थं भवति न विशेष्यं तस्माद् विशिष्टैः श्रितादिभिस्तदन्तविधिर्न भवति । नड़ादिभ्यः (४।१।९९) फगिति । अत्रापि प्रकृतेन प्रातिपदिकेन नड़ादयो विशिष्यन्ते । न नड़ादिभिः प्रातिपदिकम् । अतोऽत्रापि नास्ति तदन्तविधिरिति । उगिद्वर्णग्रहणवर्जमिति । उगिता वर्णेन च प्रातिपदिकं विशिष्यते । विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवत्येव । यस्मिन् विधिरित्यादि । तदन्तविधौ प्राप्ते तदादिविधिरुच्यते । यस्मिन्निति सप्तमीनिर्दिष्टे तदादिविधिं दर्शयति । यत्राल्ग्रहणे सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य विधिस्तत्र तदादौ वेदितव्यः । अलादावित्यर्थः । यदि तर्हि तत्रापि तदन्तविधिः स्यादिहैव स्याच् श्रियाविति । इह तु न स्याच् श्रिय इति । तदादिविधौ तु सतीहापि भवति । स्वस्य च रूपस्येति श्रियावित्यत्रापि भवत्येव ।

## ७३ । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् ।

यस्येति समुदाय उच्यत इति । अचां मध्ये यस्यादिर्वृद्धिसंज्ञकस्तस्यैव

शब्दरूपस्येयं संज्ञा विधीयते। तच्च नियोगतः समुदायात्मकमेवेति सामर्थ्याद् यस्येति सामान्यपदेनापि समुदाय एवाभिधीयते। संज्ञिनिर्देशार्थं यस्येति वचनम्। अचां मध्य इत्यादिना वृद्धिसंज्ञिनः समुदायादेकदेशस्य निर्धारणं दर्शयन्नचामित्यस्य निर्धारणषष्ठीत्वं दर्शयति। आदिशब्दस्त्विहोपक्रमे वर्त्तते। उपक्रम्यत इत्युपक्रमः प्रथमत उच्चारित इत्यर्थः। अचामिति बहुवचन-निर्देशाद् यस्य बहूनामचां मध्ये वृद्धिसंज्ञक आदिभूतस्तस्यैव वृद्धसंज्ञया भवितव्यम्। न तु यस्य द्वयोर्मध्य इति चोद्यमपाकर्त्तुमाह अचामित्यादि। यदि तर्ह्यचामिति निर्धारणषष्ठीय मेवं सति समानजातीयस्यैव निर्धारणं भवतीत्यचां मध्ये वृद्धिसंज्ञकोऽजेव यथा स्यादित्येषोऽर्थः स्यात्। तथाच सत्याकारो यस्यादिस्तस्य संज्ञा न स्यादाश्वलायन इत्यादेः। नह्याकारस्य मुख्यमच्त्वमस्ति। अच्त्वसन्निवेशात्। उपचरितं तु स्यात्। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय (१।१।६९) इत्यनेनानचोऽपि सतोऽच्कार्य्यकरणात्। न च मुख्ये सति गौणस्याश्रयणं युक्तम्। गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसंप्रत्ययात्। नैष दोषः। व्याप्तेर्न्यायादाकारस्यापि गौणमच्त्वमाश्रित्य भविष्यति। अन्यथा ह्यज्-ग्रहणमेव कुर्य्यात्। न वृद्धिग्रहणम्। शालीयो मालीय इत्यादि। अत्र वृद्ध-संज्ञायां सत्यां वृद्धाच्छ इति (४।२।११४) च्छो भवति। ननु च शालामाला-शब्दयोः कायटुशब्दस्य च संज्ञया न भवितव्यम्। नह्येषां वृद्धिसंज्ञक आदिः। किं तर्हि ? हल्। नैतदेवम्। विद्यमानोऽपि ह्यत्र हल् नापेक्ष्यते। अजपेक्षस्यादि-त्वस्याश्रयणात्। एतदेव ह्यज्ग्रहणस्य प्रयोजनम्। कथं नाम तदपेक्षयादित्वं विज्ञायेतेति ? अन्यथा तन्न कर्त्तव्यमेव स्यात्। अज्ग्रहणे क्रियमाणे सत्ययमर्थो भवति। अचां मध्ये यस्य यो वृद्धिसंज्ञको ऽजेवादिभूत इति। अन्येभ्यो ऽज्भ्यो यस्य वृद्धिसंज्ञकः प्रागुच्चार्य्यत इति यावत्। तेन शाला-शब्दादेरपि संज्ञा सिध्यति। साभासन्नयन इति। अत्र वृद्धिसंज्ञाभावादणेव भवति। ननु च्छः : यदि पुनरादिग्रहणं न क्रियेत ततो यस्याप्यचां मध्ये वृद्धिसंज्ञकः कश्चित् सभासन्नयनादे स्तस्याप्येषा संज्ञा स्यात्। अत्र यद्यपि वृद्धिशब्दः श्रूयते तथापि तल्लिङ्गकपरिभाषा नोपतिष्ठते। यस्माद् यत्र नियतस्थानिके गुणवृद्धी विधीयेते तत्र स्थानिनियमार्था सा व्याप्रियते। एतच्च

प्रागेवोक्तम् । न चेह गुणवद्वृद्धेर्विधानम् । अतो नात्र व्यापारस्तस्याः । तेन यस्याप्यनियतस्थानिको वृद्धिसंज्ञक आदिभूतस्तस्यापि संज्ञा सिद्धा भवति । वा नामधेयस्येत्यादि । ये पुरुषैर्व्यवहाराय संकीर्त्यमानाः शब्दा देवदत्त इत्येवमादयस्तेषामेषा संज्ञा वेदितव्या । तेष्वेव नामधेयशब्दो रूढः । न तु ये जात्यादिनिमित्तका गवादिशब्दा अनादिव्यवहारान्तःपातिनस्तेषु । ननु च काश्यादिपाठात् काश्यादिभ्य (४।२।११६) ष्ठञ्ञिठाभ्यां भवितव्यम् । तदयुक्तं देवदत्तीय इति च्छप्रत्ययान्तस्योदाहरणम् । नैष दोषः । यो हि देवैर्दत्तो देवदत्त इति क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्यैव तत्र पाठो न संज्ञाशब्दस्य । तेन संज्ञाभूताद्देवदत्तशब्दाद् यदा वृद्धसंज्ञा तदा छो भवति । अन्यदा त्वण् । गोत्रान्तादित्यादि । यथा ऽसमस्तात् केवलाद् गोत्रप्रत्ययान्ताद् वृद्धाच्छप्रत्ययो भवति तथा समस्तादवृद्धादपि । घृतरौढ़िरिति । समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्चेति (२।१।६०, वा) समासः । एवमुत्तरत्रापि । रूढस्यापत्यं पाणिनस्यापत्यम् । अत इञ् (४।१।९५) । वृद्धाम्भीया इति । अत्राप्यम्भःशब्दाद् बाह्वादिभ्यश्चेतीञ् (४।१।९६) । बाह्वादिषु सम्भूयोऽम्भसः सलोपश्चेति पठ्यते । काश्यपशब्दो विदादित्वादञन्तः । जैह्वाकाता हारितकाता इति । कात्यशब्दो गर्गादियञन्तः । जिह्वाचपलः कात्यः जिह्वाकात्यः । हरितपचः (A) कात्यः हरितकात्यः । ताभ्यामौत्सर्गिक एवाण् । यस्येति चेत्यकारलोपः (६।४।१४८) । आपत्यस्य च तद्धितेऽनातीति (६।४।१५१) यकारस्य ।

## ७४ । त्यदादीनि च ।

उत्तरार्थमिति । उत्तरसूत्रेऽस्य प्रयोजनवत्त्वाद् यद्यनुवर्त्तत एतदर्थमपि कस्मान्न भवतीत्याह इह न सम्बध्यत इति । यदीहापि सम्बध्येत तदायमर्थः स्यात् । त्यदादीनि यस्याचामादिभूतानि तद्वृद्धमिति । ततश्च त्वत्पुत्त्र इत्यादावेव स्यात् केवलानाञ्च त्यदानीनां न स्यादित्यभिप्रायः । ननु च त्वत्पुत्त्रो मत्पुत्त्र इत्यादावुपसर्जनानि त्यदादीनि । उपसर्जनानाञ्च तेषां त्यदादित्वं निर्वर्त्तितम् । तत् कुतोऽयं प्रसङ्गः ? यदि यस्याचामादेरित्येतदिह

(A) हरितचपः कात्य इति वङ्गीयपुस्तके पाठः ।

सम्बध्यते तदा सत्युपसर्जनत्वे वचनात् त्यदादावेव संज्ञा स्यात्। न केवलाना-मिति मन्यते। कथं पुनरिहानुवर्त्तमानं शक्यमसम्बद्धुम् ? स्वसम्बन्धानुवृत्तेः। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्‌वृद्धमिति त्यदादीनि च वृद्धिसंज्ञकानि भवन्ति। वृद्धिर्य-स्याचामादिस्तद्‌वृद्धमिति तद्‌वृद्धम् एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणमनु-वर्त्तते। वृद्धिग्रहणं निवृत्तम्। एवं वृद्धिशब्देन सम्बन्धमनुवर्त्तमानं न शक्यते त्यदादिभिः सम्बन्धुम्। त्वादायनिः। मादायनिरिति। उदीचां वृद्धाद-गोत्रादिति (४।१।१५७) फिञ्। प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति (७।२।९७) युष्मदस्मदो स्त्वामादेशौ। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन वा नामधेयस्येत्यादि वक्तव्यं न भवति।

## ७५। एङ् प्राचां देशे।

प्राचां देशाभिधान इति। प्राचां सम्बन्धी यो देशस्तदभिधान इत्यर्थः। एतेन प्राचामिति देशविशेषणं न विकल्पार्थमिति दर्शयति। प्राचां मतेनेत्यस्याविवक्षितत्वादित्याख्यातं भवति। एणीपचनीय इत्यादि। एणी-पचन इत्यादिभ्यश्छः। आहिच्छत्र इति। कान्यकुब्ज इति। अहिच्छत्रकान्य-कुब्जशब्दाभ्यामणेव भवति। दैवदत्त इति। वृद्धाधिकारे विहितो वाहीकग्रामे-भ्यश्चेति (४।२।११७) ठञ्ञिठौ न भवतः। काश्यादिपाठादपि तौ न भवतः। क्रियानिमित्तको हि देवदत्तशब्दस्तत्र पठ्यते। संज्ञाशब्दस्य चेदं प्रत्युदाहरणम्। एतच्च यदा वा नामधेयस्येति वृद्धसंज्ञा नास्ति तदा वेदितव्यम्। गौमता इति। अत्र सर्वमस्ति न तु देशाभिधानम्। तथाहि गोमती नदी प्राग्देशे। न देशः। नहि नदी देशग्रहणेन गृह्यते। नदीदेशोऽग्रामा इत्यत्र (२।४।७) नद्याः पृथग्ग्रहणात्। एङ् प्राचां देश इति। उदीचां (४।१।१५७) वृद्धादगोत्रादित्येव-मादिषु प्रागुदञ्चौ श्रूयेते। तयोश्च विभागो न विज्ञायते। अतस्तत्परिज्ञानायाह प्रागुदञ्चावित्यादि। शरावती नाम नदी। तस्याः पूर्वेण व्यवस्थितो देशः प्राग्देशः। उत्तरेण व्यवस्थित उदग्देशः। तौ शरावती विभजते विभागेन व्यवस्थापयति। तस्यां हि मर्य्यादायां सत्यां तयोर्विभागः परिज्ञायते। किमर्थं विभजते ? विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थमिति। पण्डितानां वैयाकरणानां शब्द-

व्युत्पत्त्यर्थम् । कथं विभजते ? हंसः क्षीरोदकं यथा । क्षीरोदकमिति जातिरप्राणिनामित्येकवद्भावः ( २।४।६ ) । क्वचित् क्षीरोदके इति पाठः । स सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवतीति वेदितव्यः । यथा हंसः क्षीरमुदकञ्च मिश्रीभावमुपगतं पृथगसङ्करेण व्यवस्थापयति तथा शरावती प्रागुदञ्चौ । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सेतिवचनादनुक्तमपि येत्येतल्लभ्यते । या विभजते सा नो ऽस्मान् पातु रक्षतु । प्रसिद्धस्तु पाठो यत्र श्लोके प्रागुदीचाविति । तत्राऽच उद ईदिति ( ६।४।१३८ ) भसंज्ञकस्योच्यमानः कथमीकारः ? कथञ्चोगिदचां सर्वनाम स्थानेऽधातोरिति ( ७।१।७० ) नुम् न भवतीति चिन्त्यम् । अत्र वर्णयन्ति । अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न (५।४ ७५) इत्यत्राजिति योगविभागेनाच्प्रत्ययः कृतः । तेनात्राचि परतो भसंज्ञायां सत्यामीत्त्वं भवति । नुम् तु न भवति । अचा सर्वनामस्थानस्य व्यवहितत्वादिति । अन्ये तु प्रागुदीचमिति समाहारं कुर्वन्ति । तेषां द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहार इति ( ५।४।१०६ ) टचि समासान्ते कृते पूर्ववदीकारो नुमभावश्च भवति । क्वचित् तु प्रागुदीच इति पाठः । तत्रावयवदेशापेक्षया बहुत्वविवक्षायां बहुवचनम् । प्राग्देशानुदग्देशांश्च विभजत इत्यर्थः ।

इति श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्यजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जि (ञ्चि) कायां प्रथमाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ । १ ॥

---

अथ

न्यासापरनाम्नी

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

## प्रथमोऽध्यायः।

### द्वितीयः पादः।

#### १। गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्।

अत्र पक्षत्रयं सम्भाव्यते। इत्संज्ञको वा ङकारोऽनेन भाव्यते। गाङ्कुटादिभ्यः परे येऽञ्णितः प्रत्ययास्ते ङितो भवन्ति। इत्संज्ञको ङकार एषां सम्बन्धी भवतीति यावत्। एवं हि ते ङितो भवन्ति यदि हि तेषां ङकारोऽनुबन्धो विधीयते। नान्यथा। नहि विना चित्रगवीभिर्देवदत्तश्चित्रगुर्भवति। ङिदितीयं वा संज्ञाऽनेन क्रियते। गाङ्कुटादिभ्यः परे येऽञ्णितः प्रत्ययास्ते ङितो भवन्ति ङित्संज्ञका भवन्तीति यावत्। अतिदेशोऽयं वा स्यात्। गाङ्कुटादिभ्यः परे येऽञ्णितः प्रत्ययास्ते ङितो भवन्ति। ङिद्वद् भवन्तीत्यर्थः। तत्राद्ये पक्षे गाङ्कुटादिभ्य इत्यनया पञ्चम्याऽञ्णिदित्यस्याः प्रथमायाः षष्ठ्यां परिकल्पितायां सत्यामादेः परस्येति (१।१।५४) वचनादादेरलः स्थान आदेश एव ङकारः प्राप्नोति। द्वितीये तु पक्षेऽनिदितां हल उपधायाः (६।४।२४) क्ङितीत्यत्र संज्ञिनः संप्रत्ययो न स्यात्। शब्दभेदात्। अन्यो हि ङिच्छब्दः। अन्यो हि क्ङिच्छब्दः। किञ्च ङिद्ग्रहणे ग्रह्यादौ (६।१।१६) सूत्र एषामेव संज्ञिनां ग्रहणं प्राप्नोति। न यङादीनाम्। कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्यय इति वचनात्। अथापि कथञ्चिदेते दोषाः परिहर्त्तुं शक्येरन्नाद्ययोः पक्षयोर्यस्तु तत्परीहारद्वारेण प्रवृत्ती

साध्यायां प्रतिपत्तिगौरवदोष आपद्यते सोऽपरिहार्य्य एव । तृतीये तु पक्षे न कश्चिद् दोष इति मत्वा तमेवाश्रित्याह अतिदेशोऽयमिति । यद्येवं वतिना निर्देशः कर्त्तव्यः । अन्यथा तदर्थो नावगम्येत । नैतदेवम् । परपदार्थेषु हि प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयन्ति । यथा सिंहो माणवकः । गौर्वाहीकः । गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङिदिति गाङिङितीङादेशो गृह्यते । इङश्च (२।४।४८) गाङ् (२।४।४९) लिटि विभाषा लुङ्लृङोरिति (२।४।५०) गाङादेशो य इङः स्थाने वक्ष्यते तस्येदं ग्रहणम् । न गाङ् गतावित्यस्य । अथ गाङ् गतावित्यस्य धातोर्ग्रहणं कस्मान्न भवतीत्याह ङकारस्येत्यादि । इङादेशस्य यो ङकारस्तस्येदं प्रयोजनम् । इह सूत्रे तस्यैव ग्रहणं यथा स्यान्नान्यत् किञ्चिदात्मनेपदार्थं स्यादिति चेत् ? न । आत्मनेपदस्य स्थानिवद्भावेनैव सिद्धत्वात् । तस्मादिङादेश एव गृह्यते । अन्यथा ङकारस्य वैयर्थ्यं स्यात् । ननु चोभयोरपि सामान्यग्रहणार्थो ङकारः स्यात् । तत् कुतो वैयर्थ्यम् ? नैतदस्ति । यदि हि तौ समानौ स्यातां तदा स्यात् सामान्यग्रहणार्थता तस्य । नच तौ समानौ । गत्यर्थस्य गाङो ङकारस्यात्मनेपदविधौ चरितार्थत्वात् । इतरस्य तु न क्वचिच्चरितार्थता । तस्मादसमानार्थत्वादयुक्तं सामान्यग्रहणमिति गाङादेश एव गृह्यते । किमर्थं पुनरिह ङकार उच्चार्यते ? न गा इत्येवोच्येत ? नैवं शक्यम् । एवं हि सति निरनुबन्धकग्रहणेन सानुबन्धकस्येति कै गै शब्द इत्यस्यैव ग्रहणं स्यात् । कुटादयो हि कुट कौटिल्य इत्यत आरभ्य कुङ् शब्द इति यावदिति । तदनन्तरं वृत्करणात् ततोऽधिकानां कुटादित्वानुपपत्तेः । अध्यगीष्टेति । सिचो ङित्त्वे घुमास्थागादिसूत्रेणेत्त्वम् (६।४।६६) । अत्र हि दीङो युड़चि (६।४।६३) क्ङितीत्यतः क्ङितीत्यनुवर्त्तते । ईद् यतीत्यत (६।४।६५) ईदिति च । अध्यगीषतेति । आत्मनेपदेष्वनत इत्यदादेशः (७।१।५) । अथ लिटि यो गाङादेशस्तस्य कस्मादुदाहरणं न प्रदर्शितम् ? एवं मन्यते । लुङ एवायम् । नासाविह लिङ्ग्रहणं प्रयोजयति । असंयोगाल्लिट् किदिति (१।२।५) वक्ष्यमाणेनैव सिद्धत्वात् । उत्कुटितेति । कुट कौटिल्ये । उत्पुटितेति । पुट संश्लेषणे । अथेहोच्चुकुटिषतीति सनो ङित्त्वादात्मनेपदं कस्मान्न भवति ? उपदेशाधिकारात् । तत्र ह्युपदेशे ऽजनुनासिक (१।३।२)

इत्यत उपदेशग्रहणमनुवर्त्तते। नचात्रौपदेशिकं ङित्त्वम्? किं तर्हि? आतिदेशिकम्। व्यचेरित्यादि। व्यच व्याजीकरण इति तुदादौ कुटादिभ्यः प्राक् पठ्यते। विचितेति। ङित्त्वादिह ग्रह्यादिसूत्रेण (६।१।१६) संप्रसारणम्। उरुव्यचा इति। सर्वधातुभ्योऽसुन्नित्यसुन्प्रत्ययः। अत्वसन्तस्य चाधातोरिति (६।४।१४) दीर्घः।

## २। विज इट्।

इडादिप्रत्यय इति। इट् आदिर्यस्य तजादेः स तथोक्तः। अथोत्तमपुरुषस्यैकवचनस्येटो ग्रहणं कस्मान्न भवति? सार्वधातुकमपिदित्यनेनैव(१।२।४) तस्य ङित्त्वस्य सिद्धत्वात्। नैतदस्ति। यत्र हि तेन न सिद्ध्यति तत्रोत्तमपुरुषस्यैकवचनस्य ङित्वविधानार्थमिड्ग्रहणं स्यात्। क्व च तेन न सिध्यति? आर्द्धधातुक आशिषि लिङ्युद्विजिषीयेत्यत्र। अतो युक्तश्चोत्तमपुरुषस्यैकवचनस्य ग्रहणम्। नागमस्य। अर्थवद्ग्रहणेनानर्थकस्य प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति परिभाषाद्वयात्। अथापि कथञ्चिदागमस्येटो ग्रहणं स्यात्? एवमपि तन्मात्रस्यैव ङित्त्वं लभ्यते। नतु तदादेः प्रत्ययस्य। तत्किमित्याह इडादिप्रत्ययो ङिद् भवतीति। एवं मन्यते। वृद्धिर्यस्याचामादिरित्यत आदिग्रहणमनुवर्त्तते। तेन चेड् विशिष्यते। न चोत्तमपुरुषस्यैकवचनस्यादित्वमस्ति। किं तर्हि? आगमस्यैव। तस्मात् स एव गृह्यते। तस्य च केवलस्यादिभूतस्य ङित्त्वे प्रयोजनं नास्तीति सामर्थ्यादिडादेः प्रत्ययस्य ङित्त्वं विज्ञायत इति। उद्विजितेति। ङित्त्वात् पुगन्तलघूपधस्येति (७।३।८६) गुणो न भवति।

## ३। विभाषोर्णोः।

प्रोर्णुवितेति। ङित्त्वाद् गुणे प्रतिषिद्धे ऽचि श्नुधात्वित्यादिनो-(६।४।७७) वङादेशः।

## ४। सार्वधातुकमपित्।

अपिदिति। किमयं प्रसज्यप्रतिषेध उत पर्य्युदासः? किञ्चात्र? पूर्वस्मिन् पक्षे लोडुत्तमपुरुषस्यैकवचनस्याडुत्तमस्य पिच्चेत्याटि (३।४।९२) पिति कृते

तुदानीत्यत्राड्विकरणाकारयोः पिदपितोरेकादेशः परं प्रत्यन्तादिवच्चेत्यादिवचनात् ( ६।१।८५ ) पिद्ग्रहणेन गृह्यते इति पित्त्वम् । पित्त्वे च सत्यपिदिति ङित्त्वप्रतिषेधः स्यात् । ततश्च धातोर्गुणः प्रसज्येत । इतरत्र तु पचेच्चवन्ते प्लवन्त इत्येवं शबन्तादेशाकारयोः पिदपितोर्य एकादेशस्तस्य पितोऽन्यत्वान् ङित्त्वमापद्येत । ततश्च धातोर्गुणो न प्राप्नोति । पितोऽन्यत्वन्त्वेकादेशस्य परं प्रत्यादिवत्त्वात् परग्रहणेन ग्रहणाद् । उच्यते । यथेच्छसि तथैवास्तु । उभयथाप्यदोषः । पूर्वत्र तावददोषो यस्मादपितोरेव तुदानीत्यत्रैकादेशः । न पिदपितोः । तथाह्याडुत्तमस्य पिच्चेति ( ३।४।९२ ) लोडुत्तमपुरुषस्यैव पित्त्वं विधीयते । न लाटः । इतरत्राप्यदोषः । यस्मादपिदित्यनेन सार्वधातुकं विशिष्यते पितोऽन्यत् सार्वधातुकमपिदिति । न चान्तशब्दाकारः सार्वधातुकम् । किं तर्हि ? तदेकदेशः । यच्चात्र सार्वधातुकं न च तेन सहैकादेशः । येन सहैकादेशो न च तत्सार्वधातुकम् । तेन यद्यप्ययमेकादेशः पितोऽन्य स्तथापि सार्वधातुकं न भवतीति तत्कुतो ङित्त्वस्य प्रसङ्गः ? अथवा भवतु ङित्त्वम् । सत्यपि तस्य ङित्त्वे तस्मिन् नास्ति गुणाभावप्रसङ्गः । यस्माद् वार्णादाङ्गं बलीय इति वचनादेकादेशाद्धि प्रागेव च्यवन्ते प्लवन्त इत्यत्र गुणेन भवितव्यम् । कुरुत इति । तसो ङित्त्वे सति विकरणस्य गुणो न भवति । करोतेरस्यातउत् सार्वधातुक ( ६।४।११० ) इत्युत्त्वम् भवति । तत्र हि गमहनेत्यादिसूत्रात् ( ६ ४।९८ ) क्ङितीत्यनुवर्त्तते ।

## ५ । असंयोगाल्लिट् कित् ।

धातोरेव लिड् विधीयते । नान्यस्मादिति लिटा सामर्थ्याद्धातुः सन्निधापितः । स चासंयोगग्रहणेन विशिष्यते । विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवतीत्याह असंयोगान्ताद्धातोरिति । यदि तर्ह्यसंयोगान्ताद्धातोः परस्य लिटः कित्त्वं विधीयते तदा वव्रते ववृधे इति न सिध्यति । परत्वाद् गुणेन भवितव्यम् । कित्त्वस्यावकाश ईजतुरीजुरिति । गुणस्यावकाशो वर्त्तित्वा वर्धित्वेति । वव्रते ववृधे इत्यादावुभयप्राप्तौ परत्वाद् गुण एव स्यात् । नैतदस्ति । इष्टवाचित्वात्परशब्दस्य । कित्त्वमेवेष्टम् । कित्त्वमेव परमतस्तदेव भविष्यतीत्यदोषः । अत्र

च यद्यसंयोगादिति पर्य्युदास आश्रीयते तदा संयोगादन्यस्मिन् गृह्यमाणे नञिवयुक्तन्यायेन सदृशस्यैव ग्रहणं स्यात्। संयोगस्य सदृशो योऽन्योऽसहायो हलिति हलन्तादेव कित्त्वं भविष्यति। नाजन्तात्। ततश्चक्रतुश्चक्रुरिति न सिध्यति। तस्मात् प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्। न पर्य्युदासः। न चेत् संयोगात् परो लिड् भवतीति। ङित्त्वे प्रकृते किद्वचनं वच्यादीनां संप्रसारणं यथा स्यादित्येव-मर्थम्। तद्धि वचिस्वपियजादीनां (६।१।१५) कितीति किति विधीयते। न ङिति। विभिदतुर्विभिदुरिति। कित्त्वात् पुगन्तलघूपधस्येति (७।३।८६) गुणा-भावः। सस्रंसे दध्वंस इति। कित्त्वाभावादनिदितामित्यनुनासिकलोपो (६।४।२४) न भवति। स्रन्सु ध्वन्सु अधःपतने। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम्। लिटस्तझयो-रेशिरेजित्येशादेशः (३।४।८१)। विभेदिथेति। सिप्। थल्। क्रादिनियमादिट्।

## ६। इन्धिभवतिभ्याञ्च।

समीध इति। ञिइन्धी दीप्तौ। पूर्व्ववदात्मनेपदमेशादेशः। कित्वादनि-दितामित्यादिनानु (६।४।२४) नासिकलोपः। द्विर्वचनम्। अकः (६।१।१०१) सवर्णे दीर्घत्वञ्च। अथेजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ इत्याम् (३।१।३६) कस्मान्न भवति? मन्त्रविषयत्वादस्य। तत्र चामन्त्र इत्यधिकारात्। एवं तर्हि मन्त्रश्छन्द एवेति छन्दस्युभयथेति (३।४।११७) सार्वधातुकत्वम्। ततश्च सार्वधातुकमपिदिति (१।२।४) ङित्त्वम्। अतएव ङित्त्वादनुनासिकलोपो भविष्यतीति तत् किमर्थमिन्धेः परस्य लिटः कित्त्वं विधीयते? ज्ञापनार्थम्। एतदनेन ज्ञाप्यतेऽनित्योऽयमामिति। नित्ये ह्यामि तेन व्यवधानादेवेन्धेः परो लिण् न सम्भवतीति कित्त्वविधानं नोपपद्यते। तस्मादनित्योऽयमामिति। तेन भाषायामपि समीध इति प्रयोग उपपन्नो भवति। बभूव। बभूवि-थेति। कित्त्वाद् यथाक्रमं वृद्धिगुणौ न भवतः। भुवो वुग् लुङ्लिटोरिति वुक्। भवतेर (७।४।७३) इत्यभ्यासस्यात्वम्। ननु च कृतयोरपि गुण-वृद्ध्योर्वुका भवितव्यमकृतयोरपीति नित्यो वुक्। कृताकृतप्रसङ्गित्वात्। तत्र नित्यत्वाद् वुकि कृते गुणवृद्ध्योः प्राप्तिरेव नास्ति। भवतेरलघूपधत्वात्। अनजन्तत्वाच्चेति भवतिग्रहणमनर्थकम्। नैतदस्ति। शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्

विधिरनित्यो भवतीति वुगप्यनित्यः। ततश्च परत्वाद् गुणवृद्ध्योः कृतयोर्वुङ् न स्यात्। तस्माद् भवतिग्रहणं कर्त्तव्यम्। अथ कृतयोरपि गुणवृद्ध्योरेकदेश-विकृतमनन्यवद्भवतीति नास्ति शब्दान्तरत्वम्। एवं सति शक्यं भवति ग्रहणम-कर्त्तुम्। तत् क्रियते विस्पष्टार्थम्। अथ बभूवेत्यत्राचो ञ्णितीति (७।२।११५) वृद्धेः कथं प्रतिषेधः? यावर्तक इत्यनुवर्त्तते? क्ङिति चे (१।१।५) त्यने-नेग्लक्षणा वृद्धिः प्रतिषिध्यते। न चेयमिग्लक्षणा वृद्धिः। निर्दिष्टस्थानिक-त्वात्। अत्र कित्त्वविधानसामर्थ्यादनिग्लक्षणाया अपि वृद्धेर्भविष्यति प्रतिषेधः। अन्यथा कित्त्वविधानमनर्थकं स्यादिति चेत्? न। तस्य यत्युत्तमणलि च गुणप्रतिषेधार्थत्वात्। एवं तर्हि ङिद्ग्रहणमप्यनुवर्त्तते। तदनुवर्त्तमाने न विद्यमानमन्यत् प्रयोजनम्। तेनानिग्लक्षणाया अपि वृद्धेः प्रतिषेधो भविष्यति। इन्धेः संयोगार्थं वचनमिति। तस्य संयोगान्तत्वात् पूर्वेणासिद्धेः। भवतेःपिदर्थमिति। नापिदर्थम्। तस्यासंयोगान्तत्वादपिदिति पूर्वेण सिद्धेः। भवतेरिह श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः। यङ्लुगन्ताल्लिटः कित्त्वं मा भूदिति। बोभावेति। तथाचोक्तम्—

> श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
> यच्चैकाज्ग्रहणं किञ्चित् पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ १ ॥ इति।

श्रन्थिग्रन्थीत्यादि। श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे। दम्भ दम्भे। ष्वञ्ज परिष्वङ्गे। एषामपि श्रन्थिग्रन्थिप्रभृतीनां लिटः कित्त्वं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येय-मित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः क्रियते। तेन श्रन्थि प्रभृतीनामपि संयोगान्तानां लिटः कित्त्वं भविष्यतीति। श्रेथतुरित्यादि। कित्त्वादनिदिता (६।४।२४) मित्यनुनासिकलोपः। तृफलभजत्रपश्चेति (६।४।१२२) चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादनेकहल्मध्यस्याप्येत्वाभ्यासलोपौ। परिषस्वजइति। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम्। पूर्वस्य सकारस्य स्थादिष्वभ्यासेन (८।३।६४) चाभ्यासस्येति वर्त्तमान उपसर्गात् सुनोतीत्यादिना (८।३।६५) षत्वम्। परस्य तु सकारस्य सदिस्वञ्जोः परस्य लिटीति (८।३।११८) षत्वप्रतिषेधः।

## ७। मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा ।

मृड सुखने । मृद क्षोदे । गुध रोषे । कुष निष्कर्षे । क्लिशू विबाधने । वद व्यक्तायां वाचि । वस निवासे । न क्त्वा सेडिति (१।२।१८) कित्त्वप्रतिषेधं वक्ष्यतीति । नन्वेतदेव नियमार्थं भविष्यतीति मृडादिभ्य एव सेट् क्त्वा किद् भवति नान्येभ्य इति । ततश्च सिद्धं देवित्वा सेवित्वेत्यादि । तत् किमर्थं न क्त्वा सेडिति (१।२।१८) प्रतिषेधं वक्ष्यति ? विस्पष्टार्थम् । अन्यथा हि केचिद्विपरीतनियमं सम्भावयेयुः । मृडादिभ्यः क्त्वाप्रत्यय एव किद् भवति नान्य इति । पुरस्तादपकर्ष इत्यादि । अपकर्ष इत्यपवाद इत्यर्थः । क्लिशित्वेति । क्लिशः क्त्वानिष्ठयोरितीट् (७।२।५०) । उदित्वा उषित्वेति । वच्यादिसूत्रेण (६।१।१५) संप्रसारणम् । वसतेः शासिवसिघसीनाञ्चेति ( ८।३।६० ) षत्वम् । वसतिक्षुधोरितीट् ( ७।२।५२ ) ।

## ८। रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ।

रुदिर् अश्रुविमोचने । विद ज्ञाने । मुष स्तेये । ग्रह उपादाने । ञिष्वप् शये । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । ग्रहेर्विध्यर्थमेवेति । न क्त्वा सेडिति (१।२।१८) प्रतिषिद्धस्य कित्त्वस्य पुनर्विधिर्यथा स्यात् । स्वपिप्रच्छ्योरित्यादि । सन्नर्थमिति । अथ क्त्वार्थं वचनं कस्मान्न भवतीत्याह किदेव हि क्त्वेति । स्वपिप्रच्छ्यो ह्येकाच उपदेशेऽनुदात्तादितीट् ( ७।२।१० ) प्रतिषेधात् क्त्वा सेड् न भवतीत्यतो न क्त्वा सेडिति ( १।२।१८ ) निषेधो न प्रवर्त्तते । तेन किदेव हि क्त्वेति । रुदित्वेति । समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले ( ३।४।२१ ) क्त्वेति क्त्वा । गृहीत्वेति ग्रहोऽलिटि दीर्घः ( ७।२।३७ ) । ग्रह्यादिसूत्रेण ( ६।१।१६ ) संप्रसारणम् । जिघृक्षतीति । हो ढ इति ( ८।२।३१ ) ढत्वम् । षढोः कः ( ८।२।४१ ) सीति कत्वम् । एकाचो बशो ( ८।२।३७ ) भषित्यादिना गकारस्य घकारः । सनि ग्रहगुहोश्चेतीट् ( ७।२।१२ ) प्रतिषेधः । सुषुप्सतीति । वच्यादिसूत्रेण ( ६।१।१५ ) संप्रसारणम् । पिपृच्छिषतीति । अत्रापि ग्रह्यादिसूत्रेण ( ६।१।१७ ) संप्रसारणम् । छे चेति तुक् ( ६।१।७३ ) । स्तोश्चुना श्चुरिति ( ८।४।४० ) श्चुत्वम् ।

९। इको झल्।

क्त्वेति निवृत्तमिति। झलादेः क्त्वाप्रत्ययस्यौपदेशिकं कित्त्वमस्त्येवेति तदनुवृत्तेरपार्थकत्वात्। सन्ग्रहणन्तु प्रथमान्तमिहानुवर्त्तते। तस्य झलित्यनेन सामानाधिकरण्यमुपपन्नम्। अतः सामर्थ्यात् तदादिविधिर्विज्ञायत इत्यत आह। झलादिः सन् किद् भवतीति। अथ तदन्तविधिः कस्मान्न भवति? झलन्तः सन्निति? एवं मन्यते। वृद्धसंज्ञासूत्रा (१।१।७३) दिहादि ग्रहणमनुवर्त्तते। तेन झल् विशिष्यते। तस्मात् तदादिविधिरेव विज्ञायते न तदन्तविधिरिति। यदि पुनस्तदन्तविधिः स्यात् तदा किं स्यात्? यत्रातो लोपे कृते झलन्तत्वं सनस्तत्रैव स्याच् चिकीर्षितेत्यादौ। चिकीर्षतीत्यादौ तु न स्याददन्तत्वात्। अदन्तत्वन्तु सञ्श्रवकारयोर्द्वयोरेकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावात्। अथेकइतीक् स्मरणइत्यस्य धातोर्ग्रहणं कस्मान्न भवति। झलिति प्रत्याहारसाहचर्य्यात्। प्रत्याहारस्यैव युक्तत्वात्। किञ्च गर्गादिषु जिगीषुशब्दपाठाच्च। धातुग्रहणे हि सति जयतेः परस्य सनः कित्त्वं न स्यात्। तथाच जिगीषुशब्दो न सिद्ध्येत्। किञ्च धातुग्रहणे हि सतीको धातोः समीपगतो हल् न सम्भवतीति हलन्ता(१।२।१०)च्चेत्येतदप्यघटमानं स्यात्। तस्मात् प्रत्याहारस्यैव ग्रहणं न्याय्यं न धातोः। चिचीषतीति। अज्झनगमां सनीति (६।४।१३) दीर्घः। एकाच (७।२।१०) इत्यादिना पूर्वोक्तेनेट्प्रतिषेधः। उत्तरत्रापि यत्रेटः श्रवणं नास्ति तत्राप्यनेनैव प्रतिषेधो वेदितव्यः। यत्र तु विशेषोऽस्ति तत्रासौ वक्ष्य एव। तुष्टूषतीति। शर्पूर्वाः खय (७।४।६१) इति खयः शेषः। शिशयिषत इति। पूर्ववत् सन (१।३।६२) इत्यात्मनेपदम्। एवमुत्तरत्रापीच्छासन्नन्तादात्मनेपदमनेनैव बोद्धव्यम्। किमर्थं पुनरित्यादि। अत्र वक्ष्यमाणोऽभिप्रायः। गुणो मा भूदिति। यदर्थमिदमुच्यते तदाह। येनाभिप्रायेण पृष्टवां स्तमाविष्कर्त्तुमाह अज्झनगमांसनीत्यादि। यदि दीर्घत्वे कृतेऽपि गुणः स्यात् तदा दीर्घत्वस्य वैयर्थ्यं स्यात्। तस्मान् मा भूत्तस्य वैयर्थ्यमिति दीर्घत्वं तद्गुणस्य बाधकं भविष्यतीति। अत्र दोषमापादयितुमाह यथैव तर्हीत्यादि। असति कित्त्वेऽनवकाशं दीर्घत्वं यथा गुणस्य बाधकं भवति तथा णिलोपस्यापि

बाधकं स्यात्। ततश्च णिलोपं बाधित्वा दीर्घत्वे सति ज्ञीप्सतीति न सिद्ध्येदित्यभिप्रायेणाह तस्मादित्यादि। यत एवमनारभ्यमाण एतस्मिन्नेष दोषोऽनुषज्येत तस्माद् दीर्घत्वस्यावकाशदानाय कित्त्वमिदमारभ्यते। अथारभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् कस्मादेष दोषो न भवतीत्यत आह चिचीषतीत्यादि। कित्त्वे सति तेनैव गुणस्य बाधितत्वात्। चिचीषति तुष्टूषतीत्यादिषु सावकाशं दीर्घत्वं भवति। तेन च परत्वाण्णिलोपो न बाध्यते। नहि कित्त्वे सति शक्यमेवं वक्तुं यथा दीर्घत्वं गुणं बाधते तथा णिलोपमपीति। यस्मान्न गुणो दीर्घत्वेन बाध्यते। किं तर्हि? कित्त्वेन। अत्र दीर्घत्वस्यावकाशो दर्शितः। णिलोपस्य त्वेषोऽवकाशः। पाचयतेः पाक्तिः। याजयतेर्याष्टिरित्यादि। ज्ञीप्सतीत्यत्रोभयप्राप्तौ दीर्घत्वं बाधित्वा परत्वान् णिलोप एव भवति। ज्ञा अवबोधने। मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा। मिच्चेति चुरादिपाठाण्णिच्। अर्त्तिह्रीत्यादिना पुक् (७।३।३६)। मितां ह्रस्व (६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम्। अन्ये तु ज्ञप मारणतोषणनिशामनेष्विति पठन्ति। ततो णिच्। तत इच्छासन्। सनीवन्तर्द्धेत्यादिना (७।२।४९) पक्ष इड्भावः। आप्ज्ञप्यृधामीदितीत्त्वम् (७।४।५५)। अत्र लोपोऽभ्यासस्ये (७।४।५८) त्यभ्यासलोपः। णेरनिटीति णिलोपः (६।४।५१)। इकः कित्त्वमित्यादि। अथ किमर्थमिक उत्तरस्य सनः कित्त्वं विधीयते? किमर्थमिको झलिति योगविभागः क्रियते? नन्वेकमेवेदं सूत्रं पठितव्यम्। इको झल् हलन्ताच्चेति? प्रयोजनमाह गुणो मा भूदिति। चिचीषतीत्यादौ सार्वधातुकार्द्धधातुकयोरिति (७।३।८४) गुणः प्राप्नोति। स मा भूदित्येवमर्थं कित्त्वं विधीयते। नैतदस्ति प्रयोजनम्। यस्मादज्झनगमां सनीति (६।४।१६) नाप्राप्ते गुणे दीर्घत्वमारभ्यतेऽतो दीर्घारम्भाद् गुणो न भविष्यतीति। अन्यथा हि दीर्घग्रहणमनर्थकं स्यात्। ननु च चुकूषतइत्यत्र दीर्घवचनस्य सार्थकत्वम्। अत्र हि गाङ्कुटादिसूत्रेण (१।२।१) ङित्त्वे सति गुणो न प्रवर्त्तते। नैतदस्ति। नह्येकमुदाहरणं प्रतियोगारम्भं प्रयोजयति। यदि ह्येतत् प्रयोजनमभिमतं स्यादुकारमेव गृह्णीयात्। कृते भवेदिति। यदि कित्त्वं नोच्येत कृते दीर्घत्वे गुणः स्यात्। अनर्थकन्त्विति। तुशब्दोऽवधारणे।

यदि दीर्घत्वे कृते गुणः स्यात् तदा दीर्घवचनमनर्थकमेव स्यात् । ननु च शास्त्रमावर्त्यमानमभ्युदयाय भवति यथा मन्त्रजपादयः । तत् कुतस्तस्यानर्थक्यम् ? नैतदस्ति । शास्त्रप्रवृत्तिपूर्वकाद्धि प्रयोगादभ्युदयो भवति । यदि शास्त्रप्रवृत्तौ किञ्चित् प्रयोजनं सम्पद्यते ततः शास्त्रं प्रवर्त्तते । ततः शास्त्रसंस्कृतप्रयोगाद्धर्मो भवति । न तु शास्त्रप्रवृत्तिमात्रात् । गुणे च कृते दीर्घस्य प्रयोगो नास्तीति दीर्घशास्त्रमनर्थकमापद्यते । तदनर्थकं मा भूदिति गुणो न भविष्यतीति । ह्रस्वार्थमिति । चिचीषतीत्यादौ ह्रस्वानां दीर्घत्वे कृते दीर्घत्वस्य श्रवणं यथा स्यादित्येवमर्थं दीर्घत्वम् । ततो न तस्यानर्थक्यम् । दीर्घाणान्तु प्रसज्यत इति । ह्रस्वानां दीर्घवचनसामर्थ्यान्न गुणो भविष्यति । दीर्घाणान्तु स्यादेव । नहि तेषां दीर्घत्वमुच्यते यतो दीर्घवचनसामर्थ्याद् गुणो न प्रवर्त्तते । ततश्च निनीषतीत्यादिर्न सिध्येत् । नैतदस्ति । सामर्थ्याद्धि पुनर्भाव्यमिति । यथैव हि भुक्तवद्भिरपि पुरुषैः सामर्थ्याद् भोजनविशेषात् पुनर्भोजनक्रिया भाव्यते तथा दीर्घाणामपि सामर्थ्यात् पुनर्दीर्घत्वेन भाव्यम् । सामर्थ्यन्तु प्रयोजनम् । तत् पुनर्गुणप्रतिषेधः । तस्माद् दीर्घाणामपि गुणो मा भूदित्येवमर्थं दीर्घत्वं वक्तव्यम् । ततश्च तेषामपि दीर्घवचनसामर्थ्याद् गुणो न भविष्यतीति । यथैव हि गुणो न भवत्येवं चिकीर्षतीत्यादावृत इद्धातोरितीत्त्वमपि (७।१।१००) न स्यादित्यत आह ऋदित्त्वं दीर्घसंश्रयमिति । दीर्घः संश्रयो निमित्तं यस्य तत् तथोक्तम् । यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते । यस्य तु विधेस्तदेव निमित्तं नासौ विधिर्बाध्यते । गुणं प्रति दीर्घत्वस्योपदेशोऽनर्थकः । ऋदित्त्वन्तु तन्निमित्तमेव । नहि करोतेर्विना दीर्घत्वेनेत्त्वस्य प्राप्तिरस्ति । तस्माद् दीर्घत्वेन तेन गुण एव बाध्यते । न ऋदित्त्वम् । स्यादेतत् । ह्रस्वानां नाकृते दीर्घत्व ऋदित्त्वं प्राप्नोत्यतस्तेषां मा भूद् दीर्घत्वमृदित्वस्य बाधकम् । दीर्घाणान्तु तरतिप्रभृतीनां तितीर्षतीत्यादौ बाधकमेव स्यात् । नहि तेषामृदित्त्वं दीर्घविधिमपेक्षत इत्यत आह । दीर्घाणां नाकृते दीर्घ इति । दीर्घाणामपि नाकृते दीर्घ ऋदित्त्वं प्राप्नोति यस्मादित्त्वोत्त्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेनेति वचनात् परत्वाद् दीर्घाणामपि गुणः प्राप्नोति । तद् बाधनार्थं तेषामपि

दीर्घत्वं वक्तव्यमेव। तदेवं सर्वत्र ऋदित्त्वं दीर्घसंश्रयमिति कुतस्तद्दीर्घत्वेन न बाध्यते ? तस्मात् सर्व्वत्र दीर्घेषु ह्रस्वेषु च दीर्घवचनसामर्थ्याद् गुणो न भविष्यतीति नार्थ इको झलिति सनः कित्त्वेन। णिलोपस्तु प्रयोजनमिति। इदं तर्हि प्रयोजनम्। ज्ञीप्सतीत्यत्र परत्वान् णिलोपो यथा स्यात्। असति हि कित्त्वेऽनवकाशत्वाद्दीर्घत्वेन यथा गुणो बाध्यते तथा णिलोपोऽपि बाध्येत। ततश्च ज्ञीप्सतीति न सिध्येत्। सति तु कित्त्वे चिचीषतीत्यादिषु यत्र कित्त्वेन गुणो बाध्यते तत्र दीर्घत्वं सावकाशं भवति। तेन तत् सावकाशं दीर्घत्वं बाधित्वा ज्ञीप्सतीत्यत्र परत्वाण्णिलोप एव प्रवर्त्तते। ननु चासत्यपि कित्त्वे येन नाप्राप्तिन्यायेन गुणएव दीर्घत्वेन बाधितः स्यान्न णिलोपः। नैतदस्ति। यस्माद् दर्शनान्तर इयं परिभाषा यत्र कार्य्यविशेषचिन्ता तत्र प्रवर्त्तते। यदा तु कार्य्यसामान्यचिन्ता तदा कार्य्यमात्रेण सकलो विषयो व्याप्त इति सर्व्वत्र दीर्घत्वं बाधकं स्यात्। नन्वेवमप्यारभ्यमाणे कित्त्वे पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति णिलोपमेव दीर्घत्वं बाधेत। न गुणम्। गुणस्तु स्यादेवेति दोषायैवेदं कित्त्वम्। एतदपि नास्ति। नह्येकमुदाहरणं प्रतियोगारम्भं प्रयोजयति। यदि ह्येतावत् प्रयोजनमभिमतं स्यान् णिग्रहणमेव कुर्य्यात्। समुदायमात्रापेक्षया वा पुरस्तादपवादा इत्यादिका परिभाषा नास्त्येवेति।

## १०। हलन्ताच्च।

इक इत्यनुवर्त्तते। अत्र यदि चान्तशब्दोऽवयववाची स्यादिको हला सह सम्बन्धो न स्यात्। नहीको हलवयवः सम्भवति। यो हि येनारभ्यतेऽपृथगदेशभूतः स तस्यावयवो भवति। यथा पटस्य तन्तव इति। न च हले गारभ्यते। तस्मान्नायमन्तशब्दोऽवयववाची। अपि तु समीपवचनो युक्त इति मत्वाह समीपवचनोऽयमन्तशब्द इति। ननु च धातुरत्र सामर्थ्यादाक्षिप्तः। अतस्तदपेक्षया हलोऽवयवत्वं भविष्यति। नैतदस्ति। एवं तर्ह्यन्तशब्दोऽतिरिच्येत। येन विधिस्तदन्तस्येत्यनेनैव (१।१।७२) तदन्तविधेर्लब्धत्वात्। हल् चासावन्तश्चेति विग्रहविशेषेण कर्म्मधारयत्वं दर्शयति। कस्य पुनरसावन्तः ? प्रकृतस्येकः।

यद्येवं सापेक्षमसमर्थं भवतीतीकमपेक्षमाणस्यान्तशब्दस्य समासो नोपपद्यते । नैष दोषः । अन्तशब्दो ह्यत्र प्रधानः । भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास इति द्वितीयेऽध्याये ज्ञापयिष्यति । उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोग (२।१।५६) इत्यत्र सामान्याप्रयोगग्रहणेन । इगन्तादिति । षष्ठीसमासोऽयम् । ननु चेक इति पञ्चम्यन्तं प्रकृतम् । तत् कथं षष्ठीसमासः । नैष दोषः । यद्यपि पञ्चम्यन्तं प्रकृतं तथापीह समीपसमीपिसम्बन्धे सति विभक्तिविपरिणामेन षष्ठ्यन्ततामनुभवति । इकः समीपगतादिति । इकः समीपवर्त्तिन इति । बुभुत्सत इति । बुध अवगमने । एकाचो बशो भषित्यादिना (८।२।३०) भष्भावः । एवमुत्तरत्रापि यत्र भष्भावस्तत्रानेनैव बोद्धव्यः । खरि चेति चर्त्वं (८।४।५५) धकारस्य तकारः । यियक्षत इति । यजेर्व्रश्चादिना (८।२।३६) षत्वम् । षकारस्य षढोः कः (८।२।४१) सीति कत्वम् । कित्त्वाभावाद् वचिस्वपीत्यादिना (६।१।१५) संप्रसारणं न भवति । यदि समीपवचनोऽयमन्तशब्दस्तदा दम्भेः परस्य सनः कित्त्वं न सिध्यति । तथाहि तस्य य इकः समीपगतो हल् न तस्मात् परः सन् । यस्मात् परः सन् नासाविकः समीपगत इत्यत आह दम्भेरित्यादि । हलित्यनेन हल्जातिरुच्यते । ननु व्यक्तिः । तेन यदा ता एव व्यक्तयस्त्यक्तभेदा जातिरिति दर्शनं तदा तासां व्यक्तीनां हल्त्वेनाश्रितानां नास्ति व्यवधानम् । अतो यैव हल्जातिरिकः समीपवर्त्तिनी तत एव परः सन्निति दम्भेर्विहितस्य सनः कित्त्वं सिद्धमेव । यदाप्यर्थान्तरभूता जातिर्व्यक्तिषु प्रत्येकं परिसमाप्ता निरवयवैका तदापि नास्ति व्यवधानम् । यस्माद्व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरस्य व्यवधायिका भवति । ननु जातिः । तस्या अशरीरिणीत्वात् । तस्मादिहापि दर्शने यैव हल्जातिरिकः समीपगता तत एव परः सन्निति दम्भेः परस्य सनः कित्त्वं भवति । तस्यास्तु व्यक्तिव्यतिरिक्ताया जातेर्यदिकमपेक्ष्य समीपवर्त्तिनीत्वं यच्च तज्जातिमपेक्षमाणस्य सनः परत्वं तदुभयं व्यक्तिद्वारकं वेदितव्यम् । तत्र नकारव्यक्तिरिकः समीपगतेति तदाधारा हल्जातिरपीकः समीपगतेति भकारस्य व्यक्तेः परः सन्निति तदाऽधारभूताया जातेरपि परः सन् । ननु जातेर्व्यक्तिनिरपेक्षं समीपवर्त्तिनीत्वं सम्भवति । नापि

जात्यपेक्षं सनः परत्वम्। जातेरशरीरिणीत्वात्। यदि तर्हि व्यक्तिद्वारक-मेतदुभय मेवं तर्हि विपर्य्ययोऽपि व्यक्तिद्वारकः स्यात्। भकारव्यक्तिरिकः समीपगता न भवतीति जातिरपि न स्यात्। नकारव्यक्तेः परः सन् न भवतीति जातिरपि न स्यात्। ततश्च हल्ग्रहणस्य सत्यपि जातिवाचकत्वे दम्भेः परस्य सनः कित्त्वं न सिध्यत्येव। नैतदस्ति। यद्यपि जातेर्व्यक्ति-द्वारकमिकः समीपवर्त्तिनीत्वं तद्विपर्य्ययश्च। सनोऽपि यद्यपि व्यक्तिद्वारकं जात्यपेक्षं परत्वं तद्विपर्य्ययश्च। तथापि यदत्र हल्त्वसामान्यस्येकः समीप-गतत्वं यदपेक्षञ्च सनः परत्वं तदाश्रयं कित्त्वं भविष्यतीति विपर्य्ययस्तु विद्यमानोऽपि नापेक्ष्यत एव। लक्ष्यानुरोधात्। ननु च हल्त्वं नाम जाति-र्नास्त्येव। तथाहि हलिति संज्ञाशब्दः सङ्केतवशादेव प्रवर्त्तते डित्यादिशब्द-वत्। नहि यथा गवादिषु गोत्वादिकं नाम सामान्यमभिन्नमस्ति तथा हकारादिषु वर्णेषु हल्त्वं नाम सामान्यमभिन्नमस्तीति शक्यमभ्युपगन्तुम्। तन्निबन्धनस्याभावात्। ततश्चायुक्तमुक्तं दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धमिति। नैतदस्ति। जातिपदार्थवादिनां मते येऽपि तावदेकवस्त्वभि-धायिनः संज्ञाशब्दा देवदत्तादयस्तदर्थानामप्यवस्थाभेदे परिकल्पितनानात्वेन जातिरभ्युपगम्यते। किम्पुनर्हलित्येवमादीनामनेकवर्णविषयाणां संज्ञाशब्दा-नाम्? अन्यथा ह्यतिव्यापिनी शब्दार्थस्य व्यवस्था स्यात्। इदञ्च तावद् भवान् प्रष्टव्यः। गवादिषु जातेरस्तित्वस्य किं निबन्धनं येनासौ तत्राभ्युप-गम्यत इति? भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययाविति चेदेतावितरत्रापि समानौ। यथैव हि गवादिषु भिन्नेष्वपि प्राक् सङ्केतादुत्तरकालमनुयायिनौ तौ भवत स्तथा हकारादिष्वपि। प्राक् सङ्केताद् यथा तेषु तौ न भवतस्तथा गवादिष्वपि। तस्माद् यौ भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययौ जातिसद्भावसम्-प्रत्ययहेतुभूतौ हल्ष्वपि स्त इति तत्रापि हल्त्वं नाम जातिरभ्युपेया। नतु गवादिष्वेव गोत्वादिकमस्तीत्येकान्त एव। धिप्सति धीप्सतीति। सनीवन्तर्धेत्यादिना ( ७।२।४९ ) यत्र पक्ष इण् नास्ति तत्रेदमुदाहरणम्। दम्भ ( ७।४।५६ ) इच्चेतीत्त्वम्। ईत्त्वञ्च। अत्र लोपोऽभ्यासस्ये ( ७।४।५८ ) त्यभ्यासलोपः। खरि चेति चर्त्वं (८।४।५५) भकारस्य पकारः।

कित्त्वे सत्यनिदितामिति (६।४।२४) न लोपः। दकारस्य भष्भावेन धकारः।

## ११। लिङ्सिचावात्मनेपदेषु।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु परत इति। कथं पुनर्लिङात्मनेपदेषु परतो भवति। यावता सिच एवात्मनेपदेषु परत्वं सम्भवति। न लिङः। एवं मन्यते। लिङेकदेशे ऽत्र सीयुटि लिङ्शब्दो वर्त्तते यथा न धातुलोप आर्धधातुक इत्यत्र (१।१।४) धात्वेकदेशे धातुशब्दो वर्त्तते। तस्मात् सीयुट एवानेन प्रकारेण कित्त्वं विधीयते। अथवा यथा हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घादिति सूत्रे (६।१।६८) ययोरेव दीर्घत्वं सम्भवति तयोरेव ङ्यापो दीर्घादित्येतद् विशेषणं तथेहापि यस्मादात्मनेपदं परं सम्भवति सिचस्तस्यैवैतद् विशेषणम्। आत्मनेपदग्रहणं भवति परस्मैपदव्यवच्छेदार्थम्। भित्सीष्टेति। आशिषि लिङ्लोटाविति (३।३।१७३) लिङ्। स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। एवमुत्तरत्रापि स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफल इत्यात्मनेपदमनेनैव वेदितव्यम्। सुट्तिथोरिति (३।४।१०७) सुट्। कर्त्तरि शप्। लिङः सलोपोऽनन्त्यस्येति (७।२।७९) च न भवति। लिङाशिषीत्यार्द्धधातुकत्वात् (३।४।११६)। तयोश्च सार्वधातुके विधानात्। भुत्सीष्टेति। बुधेरनुदात्तङित (१।३।१२) इत्यात्मनेपदं वेदितव्यम्। उत्तरत्राप्यनुदात्तङिद्भ्यः कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदमनेनैव वेदितव्यम्। अभित्तेति। झलो झलीति (८।२।२६) सिचो लोपः। अबुद्धेति। झषस्तथोर्धोऽध (८।२।४०) इति तकारस्य धकारः। झलाञ्जश् झशीति (८।४।५३) पूर्वधकारस्य दकारः। यक्षीष्टेति। स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। पूर्ववत् षत्वं कत्वञ्च। संप्रसारणं हि स्यादिति। वचादिसूत्रेण (६।१।१५)। अद्राक्षीदिति। अस्तिसिचोऽपृक्त (७।३।९६) इतीट्। वदव्रजहलन्तस्याच (७।२।३) इति वृद्धिः। पूर्ववत् षत्वकत्वे।

## १२। उश्च।

लिङ्सिचाविहानुवर्त्तमानौ धातुं सन्निधापयतः। तत एव तयोर्विधानात्। स च ऋकारेण विशिष्यते। येन विधिस्तदन्तस्येति ऋकारेण तदन्तविधिर्विज्ञायत इत्याह ऋकारान्ताद्धातोरित्यादि। अथ ऋ गतावित्यस्य धातो-

ग्रहणं कस्मान्न भवति ? शैलीहेयमाचार्य्यस्य यत्र यस्य धातोर्ग्रहणमिच्छति तत्र तस्य श्तिपा निर्देशं करोति। यथाऽर्त्तिपिपर्त्त्योश्च ( ७।४।७७ ) सर्त्ति-शास्त्यर्त्तिभ्यश्चेति (३।१।५६)। न चेह श्तिपा निर्देशः कृतः। तस्माद्वर्णस्येदं ग्रहणम्। न धातोः। अकृतेति। ह्रस्वादङ्गादिति (८।२।२७) सिचो लोपः। वरिषीष्टेति। वृङो वृञो वैकस्य रूपम्। लिङ्सिचोरात्मनेपदेष्वितीट् (७।२।४२)।

## १३। वा गमः।

संगसीष्टेति। समो गम्यृच्छीत्यादिनात्मनेपदम् (१।३।२९)। समगतेति। ह्रस्वादङ्गादिति ( ८।२।२७ ) सिचो लोपः।

## १४। हनः सिच्।

आहतेति। आङो यमहन ( १।२।२७ ) इत्यात्मनेपदम्। पूर्ववत् सिचो लोपः। आहसतेति। आत्मनेपदेष्वनत (७।१।५) इत्यदादेशः। अथ सिज्ग्रहणे प्रकृते पुनः सिज्ग्रहणं किमर्थं क्रियत इत्याह सिज्ग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थमिति। प्रकृतं हि सिज्ग्रहणं लिङा सह सम्बद्धम्। अतस्तदनुवृत्तौ सत्यां तस्याप्यनु-वृत्तिराशङ्क्येत। तस्मात् तान्निराकर्त्तुं सिज्ग्रहणं क्रियते। ननु च हन्ते-र्लिङि वधादेशेन भवितव्यम्। न च तत्र सत्यपि कित्त्वे किञ्चिदनिष्टमापद्यते तत् कस्माल्लिङ्निवृत्त्यर्थं सिज्ग्रहणं क्रियत इत्यत आह उत्तरत्रेत्यादि। यद्यत्र लिङनुवर्त्तते तत उत्तरत्र तस्यानुवृत्तिः स्यात्। ततश्चोत्तरसूत्रेण तस्यापि कित्त्वं स्यादित्यभिप्रायः। इह तु वृत्तावात्मनेपदेन सिज् न विशेष्यत इत्यात्मनेपदं निवृत्तमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यादतस्तान्निराकर्त्तुमाह आत्मने-पदग्रहणमित्यादि। इहापि कस्मान्न भवतीत्यत आह इह त्वित्यादि। लुङि चेति। हन्तेः परस्मैपदेषु लुङि वधादेशः क्रियते। स च नित्यः। नित्यत्वन्तु तस्यात्मनेपदेष्वन्यतरस्यामित्युत्तरसूत्रे (२।४।४४) ऽन्यतरस्यांग्रहणाद्। न च नित्ये वधादेशे कित्त्वस्य किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। अतो नेहात्मनेपदस्यानु-वृत्तिरुपपद्यते। अथ किमर्थं हन्तेः परस्य सिचः कित्त्वं विधीयते ? यावता सार्व्वधातुकमपिदिति (१।२।४) सिचः परस्य सार्वधातुकस्य ङित्त्वमस्त्येव।

तत्रानिदितामित्यनुनासिकलोपः (६।४।२४) सिद्धः। सिच इदित्त्वान्न सिध्यतीति चेत्? न। सिच इकारस्योच्चारणार्थत्वात्। तथाहि च्लेः सिजित्यत्र (३।१।४४) वक्ष्यति—इकार उच्चारणार्थ इति। एवमपि च्लेरिदित्त्वात् सिचोऽपि स्थानिवद्भावेनेदित्त्वमतो न सिध्यतीति चेत्? न। च्लेरकारस्योच्चारणार्थत्वात्। तथाहि च्लि (३।१।४३) लुङीत्यत्र वक्ष्यति—इकार उच्चारणार्थ इति। एवं तर्हि सिद्धे ङित्त्वे सति यत् पुनरिह हनः सिजिति सिचः कित्त्वं विदधाति तज् ज्ञापयति वाह्यसार्वधातुकमाश्रित्य सिजन्तस्यानिदितामित्यनुनासिकलोपो (६।४।२४) न भवतीति। तेनारंस्त। अमंस्त। आयंस्त पादमिति सिद्धं भवति। अन्यथा ह्यनुनासिकलोपे कृत आयतेत्यनिष्टं रूपं स्यात्।

## १५। यमो गन्धने।

ननु च यम उपरम इति पठ्यते। तत् कथमयं गन्धने वर्त्तत इत्यत आह अनेकार्थत्वादित्यादि। आङो यमहन (१।३।२८) इत्यत्राकर्मका (१।३।२६) चेत्यतोऽकर्मकग्रहणमनुवर्त्तते। तत् कथमिह सकर्मकत्वे सत्यात्मनेपदमित्यत आह सकर्मकत्वेऽपीत्यादि। सकर्मकत्वन्तु पादादेः कर्मणोऽत्र विद्यमानत्वात्। उदायंस्त पादमिति। आकृष्टवानित्यर्थः।

## १६। विभाषोपयमने।

दारकर्मेति। कर्मशब्दः क्रियावाची। दारक्रियेत्यर्थः।

## १७। स्थाघ्वोरिच्च।

सिच किद् भवतीति चकारेण कित्त्वं समुच्चीयत इति दर्शयति। किमर्थं पुनः सिचः कित्त्वं विधीयते। यावता गुणप्रतिषेधस्तस्य फलम्। इकारविधानसामर्थ्यादेव गुणो न भविष्यति। अन्यथा ह्येकारमेव विदध्यात्। नैतदस्ति। लाघवार्थं ह्यीकारविधानं स्यात्। दीर्घोच्चारणाद्ध्रस्वोच्चारणं लघु भवति। उपास्थितेति। समवप्रविभ्यःस्थ (१।३।२२) इत्यतः स्थग्रहणेऽनुवर्त्तमान उपान्मन्त्रकरण (१।३।२५) इत्यत उपादिति नाकर्मकाच्चेत्यात्मनेपदम् (१।३।२६)। पूर्ववत् सिचो लोपः। ननु च सिचमाश्रित्येत्त्वं विधीयते। तेन सन्निपात-

लक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येतीत्त्वं नोत्सहते सिचं विहन्तुम्। नत् कुतो लोपः? नैतदस्ति। नहीत्त्वं सिचीत्युच्यते। किं तर्हि? इकारस्यान्तादेशो भवति सिच्च किद् भवतीति। अथापि सिज्निमित्तकं स्यात्? एवमप्यदोषः। तस्याः परिभाषायाश्चानित्यत्वात्। अनित्यत्वन्तु सप्तमेऽध्याये ज्ञापयिष्यते। इच्चेत्यादि। हेतुशब्दोऽत्राध्याहार्य्यः। तेन षष्ठी हेतुप्रयोग इति (२।३।२६) हेतुशब्दप्रयोगे कस्येति षष्ठी भवति। तकार एव इत् तकारेत्। तकार एव वा इद् यस्य स तकारेत्। तकारेतो भावस्तकारेत्त्वम्। इच्चेत्यत्र निर्देशे कस्य हेतोरिकारस्य तकारेत्त्वं क्रियते? किमर्थमिकारस्तपरः क्रियत इत्यर्थः। शेषलक्षणा वा कार्य्यसम्बन्धविवक्षायां षष्ठीयम्। कस्य कार्य्यस्य निष्पत्त्यर्थमिकारस्तपरः क्रियत इति यावत्। दीर्घो मा भूदिति। असति हि तपरत्वेऽण् गृह्यमाणः सवर्णान् गृह्णातीतीकारेण सवर्णानां ग्रहणे सति स्थानेऽन्तरतमपरिभाषयोपास्थितादितेत्यत्र दीर्घस्थाने दीर्घो भवति। स मा भूदिति तपरत्वं क्रियते। ऋतेऽपि स इति। स इत्यनेन दीर्घस्य प्रत्यवमर्शः। ऋतेऽप्यस्मादेव वचनाद् घुमास्थादिसूत्रेण (६।४।६६) दीर्घः सिद्धः। तस्माद् वचनसामर्थ्याद्दीर्घो न भविष्यतीत्यभिप्रायः। भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णातीत्यतो दीर्घो न भविष्यतीति। एष तु परीहारो नोक्तः। भाव्यमानेनाप्यणा क्वचित् सवर्णानां ग्रहणात्। तथाहि अदस औप्रत्यये परतस्त्यदाद्यत्वे वृद्धिरेचीति (६।१।८८) वृद्धौ कृतायामदसोऽसेर्दादु दो म (८।२।८०) इत्युकारो विधीयमानः सवर्णानां ग्रहणादौकारस्य दीर्घस्य स्थाने दीर्घ एव भवत्यमू इति। इदं तर्हि प्रयोजनम्। अनन्तरे प्लुतो मा भूदिति। अनन्तरार्थे विसदृशार्थे आरम्भे सति। कुत एतत्? विसदृशस्य आकारस्य स्थाने क्रियमाणो ह्रस्वो भवति न पुनः प्लुतः। तस्मात् प्लुतबाधनार्थं तपरत्वं कर्त्तव्यम्। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। प्लुतश्च विषये स्मृत इति चशब्दो हेतौ। प्लुतो हि दूराद्धूतादिविषयविशेष (८।२।८४) उक्त एव। तत्र यद्यनेन प्लुतो विधीयते तदा सर्वत्र दूराद्धूतादिविषयेऽन्यत्र चानेन भवितव्यम्। ततश्च दूराद्धूतादिविषयेऽपि तस्मिन् भवत्युक्तानुवाददोषः स्यात्। तस्य कृतस्य करणात्। तस्मात् पक्ष उक्तानुवाददोषो मा भूदिति ह्रस्व एव भविष्यति न

प्लुत इति प्रत्याख्यातं भाष्ये तपरत्वम्। अन्ये तु वर्णयन्ति प्लुतस्य विषये प्लुत इति नानेन तपरत्वं प्रत्याख्यायते किन्तर्हि तस्य प्रयोजनमाख्यायते। दूराद्धूतादिविषये प्लुत इष्टोऽभिप्रेतः। स न प्राप्नोति। स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया दीर्घस्यैव स्थाने दीर्घ एव विधीयते। ननु चोक्तं सिद्ध एव दीर्घ इति। सिद्धस्य पुनर्वचनं प्लुतस्य बाधनार्थं स्यात्। दृश्यते च प्लुतो दूराद्धूतादिविषये। तस्मात् तस्य बाधको दीर्घो मा भूदिति तपरत्वं कर्त्तव्यम्। तेन विचार्य्यमाणानामित्याष्टमिको (८।२।९७) भवत्येव प्लुत इति।

## १८। न क्त्वा सेट्।

क्त्वाप्रत्ययस्यौपदेशिकं कित्त्वमस्त्येवेति। तदिटः क्त्वाप्रत्ययेन ग्रहणात् सेटोऽपि प्राप्नोतीत्यतः प्रतिषेधोऽयमारभ्यते। क्त्वाप्रत्ययः सेट् किन्न भवतीति। अथ किं ककारस्येत्संज्ञाप्रतिषेधात् कित्त्वन्न भवति? कित्कार्य्यस्य प्रतिषेधाद्वा? यदि ह्यत्र ककारस्येत्संज्ञाप्रतिषेधादकित्त्वं विधित्सितं स्यादित्संज्ञाप्रकरणे लशक्वसेट्क्त्वातद्धितयोरिति सूत्रं कुर्य्यात्। एवं हि द्विष्प्रतिषेधो न कर्त्तव्यो भवति। तस्मात् कित्त्वप्रतिबद्धं यत् कार्य्यं तत् प्रतिषेधादकित्त्वं सेटः क्त्वाप्रत्ययस्यानेन क्रियते। न तु ककारस्येत्संज्ञाप्रतिषेधात्। अथ सानुबन्धकस्य ग्रहणं किमर्थम्? न त्वेत्येवोच्येत। एवं हि लघु सूत्रं भवति। नैतदस्ति। ककारानुच्चारणे हि कश्चिद् द्वेष्यमपि विजानीयात्। सेटः क्त्वाप्रत्ययस्य ककारानुबन्ध एव नास्ति निरनुबन्धकस्योच्चारणादिति। तदेवं मा विज्ञायीति सानुबन्धकस्योच्चारणम्। कः पुनः सेटो निरनुबन्धकत्वे दोषः स्यात्? क्त्वातोसुन्कसुन् (१।१।४०) इत्यत्र सेटो ग्रहणं न स्यात्। निरनुबन्धकत्वात् अथाव्ययसंज्ञाविधौ निरनुबन्धक उच्चार्य्यते। एवमपि सेट एव ग्रहणं स्यात्। नानिटः। सानुबन्धकत्वात्। निगृहीतिरिति। स्त्रियां क्तिन्(३।३।९४)। तितुत्रतथेति (७।२।९)ग्रहादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इति तितुत्रतथेत्यादिनेट्प्रतिषेधो न भवति। उपस्निहितिरिति। ष्णिह प्रीतौ। निकुचितिरिति। कुन्चु क्रुन्चु कौटिल्याल्पीभावयोः। एषु त्रिषूदाहरणेषु यथाक्रमं संप्रसारणगुणप्रतिषेधौ। अनिदितां हल उपधायाः (६।४।२४) क्ङि-

तीत्यनुनासिकलोपश्च किच्वाद् भवति। न सेड्त्विादि। न सेड़ित्येतावता योगेनाकित्त्वे सति सिद्धं देविल्वेत्यादि। क्त्वाग्रहणं तु किमर्थम्? तेन विनाऽकित्त्वे सति गुध परिवेष्टने निगुधितो निगुधितवानित्यत्र निष्ठायां प्राप्नोतीति चेत्? नैतदस्ति। निष्ठायामवधारणात्। निष्ठाशीङ्स्विदिमिदी (१।२।१९) त्यत्रावधारणान्निष्ठायां न भविष्यति। शीङादिभ्य एव निष्ठा सेट् किन्न भवति। नान्येभ्यो धातुभ्य इति। शीङादिभ्यो निष्ठैवेति विपरीतनियमस्तु नाशङ्कनीयः। नह्यनिष्टार्था शास्त्रे प्रवृत्तिरिति न भविष्यति। लिटस्तर्हि कित्त्वस्य प्रतिषेधः स्यात्। ततश्च जग्मिव जग्मिमेत्यत्र गमहनेत्यादिनोपधालोपो (६।४।९८) न स्यादित्यत आह ज्ञापकान्न परोक्षायामिति। परोक्षे विहितत्वाल् लिटः श्रुतिः परोक्षेत्युच्यते। तस्यां कित्त्वप्रतिषेधो न भविष्यति। कथम्? ज्ञापकात्। किं तज् ज्ञापकम्? इत्याह सनि झल्ग्रहणं विदुरिति। यदयमिको (१।२।९) झलिति सन्विशेषणं करोति ततो ज्ञायत औपदेशिकस्य कित्त्वस्य न सेड़िति प्रतिषेधोऽयम्। नातिदेशिकस्येति। झल्ग्रहणं हि शिशयिषत इत्यत्र कित्त्वं मा भूदित्येवमर्थः क्रियते। यदि च न सेड़िति प्रतिषेध आतिदेशिकस्यापि कित्त्वस्य स्याज् झल्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अस्त्वत्र कित्त्वम्। तस्य न सेड़िति प्रतिषेधो भविष्यतीति तस्मादौपदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधोऽयं नातिदेशिकस्येति। अस्यार्थस्य ज्ञापकं झल्ग्रहणं विदन्ति विद्वांसः। आतिदेशिकञ्च लिटः कित्त्वमतस्तस्य प्रतिषेधो न भविष्यतीति। ननु चोत्तरार्थं झल्ग्रहणं स्यात्। स्थाघ्वोरिच्चेत्यत्र (१।२।१७) झलादौ सिचीत्त्वं यथा स्यादजादौ माभूदिति। उपास्थायिषातामिति। अत्र हि स्यसिच्सीयुट्तासिष्वित्यादिना (६।४।६२) चिण्वद्भावः प्राप्नोति। इत्त्वञ्च। तत्र परत्वाच्चिण्वद्भावादिट्। चिण्वद्भावे सत्यातो युक् (७।३।३३) चिण्कृतोरिति युक्। तत्रासति झल्ग्रहण इड़ादावपीत्त्वं यकारस्थाने प्राप्नोति। नैतदस्ति यस्मादित्त्वं कित्सन्नियोगेन विधीयते। कित्त्वं हि प्रधानभूतम्। इत्त्वमन्वाचयशिष्टम्। अतः कित्त्वाभावे तदित्त्वं न भविष्यतीति। अथ स्थाघ्वोरिच्चेत्यत्रापि (१।२।१७) कित्त्वं कस्मान्न भवति? न सेड़ित्येतावता योगेन

प्रतिषिद्धत्वात्। रेण तुल्यं सुधीवनीति। रेफेण तुल्यमेतदित्त्वम्। क्व चोदाहरणे? सुधीवनीत्यत्र। शोभना धीवानो यस्यां सा सुधीवा। अनो बहुव्रीहेरिति (४।१।१२) ङीपोऽत्र प्रतिषेधे कृते यथा वनो र चेति (४।१।७) रेफो ङीप्सन्नियोगेन विधीयमानस्तदभावे न भवति तथा कित्त्वसन्नियोगेन विधीयमानमित्त्वं तदभावे न भविष्यति। किमर्थं तर्हि क्त्वाग्रहणम्? क्तसौ कित्त्वप्रतिषेधो मा भूदित्येवमर्थं क्त्वाग्रहणं कर्त्तव्यम्। क्तसौ त्वौपदेशिकं कित्त्व-मस्ति। तस्य न सेड़ित्येतावता योगेन प्रतिषेधः स्यात्। ततश्च जग्मिवा-नित्यत्रोपधालोपो न स्यात्। वस्वर्थं क्तिदतिदेशादिति न भविष्यतीत्यध्या-हार्य्यम्। अस्तु क्तसावौपदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधः। सत्यपि तस्मिन्न संयोगाल्लिट् (१।२।५) किदिति यदातिदेशिकं कित्त्वं तेनोपधालोपो भविष्यति। झल्ग्रहणादातिदेशिकस्य कित्त्वस्य प्रतिषेधो न भविष्यतीत्युक्तं ह्येतत्। तस्माद् वस्वर्थं क्त्वाग्रहणं न भविष्यतीति। एवं तर्हि निगृहीतिः प्रयोजनम्। क्तिनि तु प्रतिषेधो मा भूदित्येवमर्थं क्त्वाग्रहणमित्यर्थः। जग्मिवानित्यत्र विभाषा गमहनविदविशामिति (७।२।६८) क्तसोरिट्। उगिदचामिति (७।१।७०) नुम्। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् ( ६।१।६८ ) संयोगान्तस्य लोपः ( ८।२।२३ )। सान्तमहत (६।४।१०) इत्यादिना दीर्घः।

## १९। निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः।

शीङ् स्वप्ने। ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे। ञिमिदा स्नेहने। ञिक्ष्विदा स्नेहन-मोचनयोः। ञिधृषा प्रागल्भ्ये। शयितवानिति। अत्वसन्तस्य चाधातोरिति (६।४।१४) दीर्घः। शयित इति। गत्यर्थाकर्मकेत्यादिना (३।४।७२) कर्त्तरि क्तः। प्रस्वेदित इत्यादावादिकर्मणि क्तः कर्त्तरि (३।४।७१) चेत्यनेन प्रशब्द आदिकर्म प्रारम्भं द्योतयति। प्रधर्षित इति। वैयात्यादन्यत्रेदमुदाह-रणम्। तत्र हि धृषिशसी (७।२।१९) वैयात्य इतीट्प्रतिषेधेन भवितव्यम्। प्रकृतिग्रहणे यङ्लुको ग्रहणं स्मरति। अतो यङ्लुको ग्रहणं मा भूदिति शीङोऽनुबन्धनिर्देशः। तेन शेश्यितः शेश्यितवानित्यत्र कित्त्वप्रतिषेधाभावाद् गुणो न भवति। एरनेकाच (६।४।८२) इत्यादिना यणादेशः।

## २० । क्षमस्तितिक्षायाम् ।

तितिक्षा क्षमा क्षान्तिरिति । यद्येवं क्षान्तिग्रहणमेव कर्त्तव्यम् । लघु ह्येवं सूत्रं भवति । सत्यमेतत् । वैचित्र्यार्थं तु न कृतम् । अपक्षमितमिति । अपराक्षमितमित्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । अनेकार्थत्वन्तु तिति ग्रहणाद् विज्ञायते । असति हि तत्र क्षमस्तितिक्षायामेव पठ्यत इति । कुर्य्यात् । व्यवच्छेद्याभावात् ।

## २१ । उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ।

आदिकर्मणि वर्त्तमान इति । आदिभूतक्रियाक्षण आदिकर्म । तस्मिन् भूतत्वेन विवक्षिते यः क्तो भवति स आदिकर्मणि वर्त्तते । द्योतितमनेन द्युतितमनेनेति । द्युत दीप्तौ । नपुंसके भावे क्तप्रत्ययः । एवं मोदितमनेन मुदित मनेनेत्यत्रापि मुद हर्ष इत्यस्मात् । प्रद्युतित इत्यादिषु त्वादिकर्मणि क्तः कर्त्तरि चेति ( ३।४।७१ ) क्तः कर्त्तर्य्येव विधीयते । न कर्मणि । धातोरकर्मकत्वात् । नापि भावे । भावोदाहरणादविशेषप्रसङ्गात् । कर्त्तर्य्युत्पन्नः क्त आदिकर्मसम्बन्धादादिकर्मणीत्युच्यते । आदिकर्मसम्बन्धस्त्वर्थ द्वारकः । रुचितमिति । रुच दीप्तौ । अस्याकर्मकत्वाद् गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्चेत्यादिना कर्त्तरि (३।४।७२) क्तः । दीप्तिमत् कार्षापणमित्यर्थः । आदिकर्मात्र न विवक्षितम् । प्रभुक्त ओदन इति । भुज पालनाभ्यवहारयोः । तयोरेव क्तयक्तखलर्था (३।४।७०) इति कर्मणि क्तः । तस्यादिकर्मसम्बन्धादादिकर्मणि वृत्तिः । गुध परिवेष्टन इति दैवादिकः । निगुधित मिति भावे क्तः । यदि व्यवस्थितविभाषया शब्विकरणानामेव भवति सेड्ग्रहणेन किमर्थमिह निष्ठा विशिष्यते ? अशब्विकरणत्वादेव हि प्रभुक्त इत्यत्र न भवति । नहि भुजिः शब्विकरणः । अपितु श्नम्विकरणः । सत्यमेतत् । उत्तरार्थं सेड्ग्रहण मनुवर्त्तनीयम् । अतस्तदुत्तरार्थं मनुवर्त्तमान मिहापि मन्दधियां सुखप्रतिपत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थम् । तकारोऽत्र मुखसुखार्थो नतु दीर्घनिवृत्त्यर्थः । अलघूपधत्वादेव हि दीर्घोपधानां गुणप्रसङ्गाभावात् ।

## २२। पूङः क्त्वा च।

न सेड़िति वर्त्तते इत्युक्तम्। न क्त्वा सेड़ित्यतः (१।२।१८)। ननुच पूङः परयोः क्त्वानिष्ठयोरिटा न भवितव्यमेव। श्र्युकः (७।२।११) कितीति प्रतिषेधात्। :पार्थिका सेड्ग्रहणानुवृत्तिरिति य श्चोदयेत् तं प्रत्याह पूङश्चेड् विहित यादि। अथ क्त्वाप्रत्ययस्योदाहरणं कस्मान्न प्रदर्शितमित्यत आह क्त्वाप्रत्ययस्येत्यादि। यदि ह्यनेन योगेन क्त्वाप्रत्ययस्य कित्त्वं प्रतिषिध्येत तदा तस्यायुदाहरणं प्रदर्श्येत। नचानेन प्रतिषिध्यते। किन्तर्हि ? न क्त्वा (१।२।१८) सेड़ित्यनेनैव प्रतिषिद्धत्वात्। तस्मात् तस्योदाहरणं न प्रदर्शितमिति भावः। क्त्वाप्रत्ययस्य न क्त्वा सेड़ित्यनेन (१।२।१८) प्रतिषेध इत्येतदेव द्रढ़यितुमाह तथाचेत्यादि। पूङश्चेत्यत्र सूत्रे द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये ये विधयस्ते नित्या भवन्तीति मन्यमाने भारद्वाजीयैरिदमुक्तं नित्यमकित्त्वमिड़ाद्योरिति। तौ पुनरिड़ादी क्त्वानिष्ठाप्रत्ययौ। यदि तर्हि नित्यमकित्त्वमिड़ाद्योस्तदा क्त्वाग्रहणमनर्थकं स्यात्। विकल्पेन ह्यत्राकित्त्वसिद्धये तस्य ग्रहणमर्थवद्भवति। नान्यथा नित्यत्वम्। कित्त्वप्रतिषेधस्य न क्त्वा सेड़ित्यनेनैव (१।२।१८) सिद्धत्वादिति चोद्यमाशङ्क्येदमुक्तं क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थमिति। पूङ इति सानुबन्धकस्योच्चारणं किमर्थम् ? पोपुवितः पोपुवितवान् पोपुवित्वेति यङ्लुगन्तात् कित्त्वप्रतिषेधो मा भूदिति। पूञ्निवृत्त्यर्थं सानुबन्धकस्योच्चारणं नोपपद्यते। श्र्युकः किती (७।२।११) तीट्प्रतिषेधात्। पुञः परयोः क्त्वानिष्ठयोः सेटोरभावात्।

## २३। नोपधात् थफान्ताद्वा।

निष्ठेति निवृत्तमिति। पूर्वसूत्रे चानुकृष्टत्वात्। ग्रथित्वेति। कित्त्वपक्षेऽनिदितामित्यनुनासिकलोपः (६।४।२४)। गुफित्वेति। गुफ गुन्फ ग्रन्थे। रिफित्वेति। रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु। ननु चैतद्विकल्पाभावेऽपि रलो व्युपधादित्यादिनैवात्र (१।२।२६) विकल्पेन भवितव्यम्। न चानयोर्विकल्पयोः कश्चिद् विशेषोऽप्यस्ति। एवं तर्हि नोपधग्रहणसामर्थ्याद् योगान्तरक्षतोऽपि विकल्पोऽनेन बाध्यते। ननु च ऋकारोपधो नोपधग्रहणस्य प्रत्यु-

हरणविषयो भविष्यति। ऋफ ऋन्फ हिंसायाम्। अर्फिलेति। नैतदस्ति। इहास्माभिरनयोर्धात्वो रूपत्रयं साध्यम्। अर्फिला ऋम्फिला ऋफिलेति। एतत् तु सत्यसति वा नोपधग्रहणेऽनेनैव सिद्ध्यत्येव। सति तावन्नोपधग्रहणे ऽनोपधस्य ऋफेर्न क्त्वा सेड़िति (१।२।१८) प्रतिषेधे सत्यर्फिलेति सिध्यति। नोपधस्य त्वृम्फेरस्मिन् विकल्पे सत्यृम्फिला ऋफिलेतीदमपरं रूपद्वयं सिद्ध्यति। असत्यपि नोपधग्रहणे सर्वथास्मिन् विकल्पे सतीदं रूपत्रयं सिध्यत्येव। तस्माद् युक्तमुक्तं प्रत्युदाहरणं रेफिलेति। येन विधिस्तदन्तस्येति तदन्तविधौ सिद्धेऽन्तग्रहणमिह क्त्वाप्रत्ययकाण्डे यत्नमन्तरेण तदन्तविधिर्न भवतीति ज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरसूत्र ऋत इति धातुः स्वरूपेण गृह्यते। नतु तदन्त इति।

## २४। वञ्चिलुञ्च्यृतश्च।

वन्चु प्रलम्भने। लुन्च अपनयने। ऋत इति सौत्रो धातु र्यत्र ऋतेरीयङि तीयङ् (३।१।२९) विहितः। ऋतेरीयङ् आर्धधातुके विकल्प्यत इति। आयादय आर्धधातुके (३।१।३१) वेत्यनेन। वचित्वेति। अनिदिता-मिति (६।४।२४) नलोपः। वक्त्वेति। उदितो (७।२।५६) वेतीड्भावः पक्षे। चकारो वाग्रहणस्य स्वरितत्वविस्पष्टीकरणार्थः। तेनोत्तरसूत्रे काश्यपग्रहणस्य पूजार्थता विज्ञायते। अन्यथा हि तस्य विकल्पार्थता विज्ञायते। तथाच द्वयोर्विभाषयोर्मध्यवर्त्तित्वान्नित्यो ऽयं विधिः स्यात्।

## २५। तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य।

जितृषा पिपासायाम्। मृष तितिक्षायाम्। कृश तनूकरणे। काश्यप-ग्रहणं पूजार्थमिति। काश्यपस्यैवैतद्विषयं ज्ञानं नान्येषामित्यसाधारण-ज्ञानोद्भावनमेव तस्य पूजा। तत्पूजाद्वारेण शास्त्रस्यापि महार्थतोद्भावन-लक्षणा पूजा कृता भवति। एवन्नाम शास्त्रस्य महार्थत्वं येन तथाविधा मुमुक्षवोऽप्याद्रियन्त इति। तेन विकल्पार्थं काश्यपग्रहणं कस्मान्न भवतीत्यत आह वेत्येव हि वर्त्तत इति।

## २६ । रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।

क्त्वाप्रत्ययस्य न क्त्वा सेड़िति ( १।२।१८ ) किक्त्वे प्रतिषिद्धे सनोऽप्यकित्त्वे स्वभावत एव व्यवस्थित उभयत्रेदं विधिमुखेनैव प्रवर्त्तत इति पचे कित्त्वं भवतीति। विदिद्युतिषत इति। द्युतिस्वाप्योः (७।४।६७) संप्रसारण-मित्यभ्यासस्य संप्रसारणम्। एषिषिषतीति। इषु इच्छायाम्। इड़ागमे कृतेऽजादेर्द्वितीयस्येति (६।१।२) द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम्। बुभुत्तत इति। हलन्ताच्चेति (१।२।१०) नित्यं कित्त्वं भवति। लाघवार्थमिणुपधादिति वाच्य इण्ग्रहणानि सर्वाणि परेण णकारेणेति ज्ञापनार्थं व्युपधादित्युक्तम्। तेन लणित्यत्र यदुक्त मिण्ग्रहणानि सर्वाणि परेण णकारेणेति तदुपपन्नं भवति।

## २७। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः।

ऊः कालो यस्याचः स ऊकालः। ननु चायुक्तोऽयं निर्देशः। तथाहि ऊ इति शब्दः। कालस्तु क्रिया। तत् कुतोऽत्र सामानाधिकरण्यम्? नैष दोषः। यस्मादू इत्येतत्सहचरितायामुच्चारणक्रियायामिह साहचर्य्यादू इत्येष शब्दो वर्त्तते। एवमप्ययुक्तम्। यत ऊ इत्येतत्सहचरितं यदुच्चारणं तदूकारस्यैव। नान्यस्याचः। तत् कथं सोऽन्यसम्बन्धिन्या क्रियया ऊकालः स्यात्। नहि यज्ञदत्तसम्बन्धिनीभिश्चित्रगवीभिर्देवदत्तश्चित्रगुर्भवति। अयमप्य-दोषः। वत्यर्थस्येह विवक्षितत्वात्। तस्य च विनापि वतिना गम्यमानत्वात्। परपदार्थेषु हि प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयन्तीत्युक्त-मेतत्। तदेतदुक्तम्भवति। ऊ इत्येतत्सहचरितयोच्चारणक्रियया तुल्योच्चारण-क्रिया कालाख्या यस्याचः स ऊकाल इति। ननु च ऊकाल इत्येकः संज्ञी। संज्ञास्तु तिस्रः। ततो वैषम्यात् संख्यातानुदेशो न प्राप्नोतीति यो मन्येत तं प्रत्याह ऊ इति त्रयाणामित्यादि। मात्रिकाणां त्रयाणामकः सवर्णे (६।१।१०१) दीर्घत्वमेकादेशं कृत्वा ऊ इति निर्देशः कृत इत्यर्थः। कुतः पुनरेतद् विज्ञायते त्रयाणामेकः प्रश्लेषनिर्देश इति? तिसृणां संज्ञानां विधानसामर्थ्यात्। नह्येकस्य भिन्नप्रयोजनमन्तरेणानेकसंज्ञाविधान-

मर्थवद्भवति। नचेह्वैकस्यानेकसंज्ञाकरणे भिन्नप्रयोजनमस्ति। ह्रस्वदीर्घ प्लुत इति यद्येक एवायं शब्दः संज्ञा स्याल् लाघवार्थत्वात् संज्ञाकरणस्य महत्याः संज्ञायाः करणमयुक्तं स्यात्। किञ्चान्वर्त्थधर्माणः संज्ञाशब्दाः प्रदेशेषु भवन्ति। नचायं समुदायः प्रदेशेष्वावर्त्त्यते। अपितु प्रत्येकं ह्रस्वादि-शब्दाः। तस्मात् तेषां द्वन्द्वं कृत्वा निर्देश इति मत्वाह ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्यादि। द्वन्द्वैकवद्भावस्तु सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवतीति वचनात्। ननुच द्वन्द्वैकवद्भावे स नपुंसकमिति (२।४।१७) नपुंसकत्वेन भवितव्यम्। तत् कथं पुंलिङ्गेन निर्देशः। सौत्रत्वान्निर्देशस्य। छन्दसि व्यत्ययो (३।१।८५) बहुलमिति लिङ्गव्यत्यय उक्तः। छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीत्यविरुद्धास्य पुंलिङ्गता। उऊऊ३ इति। अनया ऽनुपूर्व्व्याैषां प्रश्लेष इति दर्शयति। कुतः पुनरेष निश्चय एवैषा-मानुपूर्व्वीति। एवम्मन्यते। विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेरि (८।२।९३) त्येकमात्रिकस्य हेः प्लुतविधानाज् ज्ञायते न मात्रिकोऽन्त्य इति। अन्त्यत्वे हि सति तस्य प्लुतसंज्ञा स्यात्। एवञ्च प्लुतस्य प्लुतविधानमनर्थकं स्यात्। द्विमात्रिको ऽप्यन्त्यो न भवति। ओमभ्यादान (८।२।८७) इति द्विमात्रिकस्य प्लुतविधानात्। तस्य चान्त्यत्वे हि सति यदि प्लुतसंज्ञा स्यात् तदा च प्लुतस्य प्लुतविधानमनर्थकं स्यात्। तस्मादन्त्य एकमात्रिकद्विमात्रिकौ न भवतः। मध्येऽप्येकमात्रिको न भवति। अतो दीर्घो (७।३।१०) यञीति सुपि चेति (७.२।१०२) च दीर्घविधानसामर्थ्यात्। यदि मध्य एकमात्रिकः स्यात् तदा तस्य दीर्घसंज्ञा स्यात्। दीर्घस्य दीर्घवचनमकिञ्चित्करं स्यात्। तस्मादादावेकमात्रिकत्वे हि सति पारिशेष्यान्मध्ये द्विमात्रिकोऽन्ते त्रिमात्रिक इति। उऊऊ३ इति। अत्राप्युकारादिसहचरितायामुच्चारणक्रियायामुकारादयो वर्त्तन्ते। एवंकालोऽजिति प्रत्येकमेवाभिसम्बध्यते। एवं शब्दः सादृश्ये। तच्च सादृश्यं क्रियाश्रितत्वादुकारादिसहचरिता योच्चारणक्रिया तदपेक्षं विज्ञायते। तेनायमर्थो भवति। उकारसहचरितोच्चारणक्रियया सदृशकालो योऽच् स ह्रस्वसंज्ञो भवति। ऊकारसहचरितोच्चारणक्रियया सदृशकालो योऽच् स दीर्घसंज्ञो

मधुच्छत्रमिति। च (६।१।७३) चेति ह्रस्वाश्रयस्तुक्। कुमारी। गौरीति। एतदपि रूपोदाहरणम्। कार्य्योदाहरणं कुमारीच्छत्रं गौरीच्छत्रमिति। दीर्घात् (६।१।७५) पदान्ताद्वेति (६।१।७६) वा तुक्। देवदत्ता३ अत्र न्वसीति कार्य्योदाहरणम्। अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोरिति (८.२।१०५) प्लुतः। देवदत्तशब्दात् परस्यां विभक्तेः सोः ससजुषो (८।२।६६) रुरिति रुत्वम्। अतो रोरप्लुतादप्लुत (६।१।११३) इत्युत्वप्रतिषेधः कार्य्यः। भोभगो अघोअपूर्वस्येति (८।३।१७) यकारः। तस्य लोपः (८।३।१९) शाकल्यस्येति यकारस्यलोपः। ननु चोकारोऽ यमण् गृह्यमाणः सवर्णान् गृह्णातीति। अत उकारेण दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणे सति तयोरपि ह्रस्वसंज्ञा भवतीत्यत आह काल-ग्रहणमित्यादि। कालग्रहणे हि येषामिताः संज्ञा विधीयन्ते तेषां यथाक्रम-मेकमात्रिकत्वद्विमात्रिकत्वत्रिमात्रिकत्वानि विशेषणानि लभ्यन्ते। तथाहि कालग्रहणे सति प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तौ क्रियमाणायां त्रयो बहुव्रीहयो भवन्ति। उः कालो यस्य स उकालः। ऊः कालो यस्य स ऊकालः। ऊ३ः कालो यस्य स ऊ३कालः। एषां यथाक्रममेकमात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्रिका अचोऽन्यपदार्था यस्मात् मात्रिक एवाच उ इत्येतत्सहचारिण्या उच्चारण-क्रियाया स्तुल्यकालः। एवं द्विमात्रिक एवाच ऊ इत्येतत्सहचारिण्या उच्चारणक्रियाया स्तुल्यकालः। एवं त्रिमात्रिक एवाच ऊ३ इत्येतत् सहचारिण्या उच्चारणक्रियाया स्तुल्यकालः। एवं च सति मात्रापरिमाणस्याचो ह्रस्वसंज्ञा विधीयमाना सत्यप्युकारेण दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणे तयोर्न भवति। नहि ते मात्रापरिमाणे। तेनालूय परिणीयेत्यत्र ह्रस्वाश्रयस्तुङ् न भवति। तच्च प्रच्छेति। तनू त्वचू तनूकरणे। रच पालने। कुगतिप्रादय (२।१।१८) इति समासे कृते समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो (७।१।३७) ल्यबिति ल्यप्। तत्र परतो द्वयोरर्द्धमात्रयोर्हलोः संयोगसंज्ञिनोरुकालत्वमस्तीत्यसत्यज्ग्रहणे ह्रस्वसंज्ञा स्यात्। ततश्च ह्रस्वाश्रयस्तुक् प्रसज्येत। तितउच्छत्रमिति। अत्राकारो-कारयोरचोः समुदायस्य ऊकालत्वाद्द्विमात्रिकत्वमस्तीति दीर्घसंज्ञा स्यात्।

तस्यां समुदायाश्रयायां दीर्घसंज्ञायामवयवाश्रया ह्रस्वसंज्ञा भविष्यति। तदाश्रयस्तुङ् नित्य एव। नैतदस्ति। परत्वाद् दीर्घाश्रयस्तुग्विकल्पः प्राप्नोति। नचैवंविधविषये पुनः प्रसङ्गविज्ञानमस्ति। यत्र पूर्वो विधिः प्रवर्त्तमानः परविधिविज्ञानं न बाधते तत्रैतद् भवति पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धमिति। इह तु नित्यो विधिः परविधिविकल्पविज्ञानं बाधते। नित्यविकल्पयोर्विरोधात्। ततश्च सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेवेति परिभाषयैव विकल्पः स्यात्। तस्मादज्ग्रहणं कर्त्तव्यम्।

## २८। अचश्च।

परिभाषेयं लिङ्गवती स्थानिनियमार्था प्रदेशेषु ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येत्येवमादिषूपतिष्ठते। तदुपस्थाने च षष्ठीद्वयं प्रादुर्भवति। विशेषणविशेष्यभावं प्रति कामचारात्। ह्रस्वो नपुंसकेति (१।२।४७) प्रातिपदिकस्येत्यत्वाचा प्रातिपादिकं गृह्यमाणं विशिष्यतेऽजन्तस्य प्रातिपदिकस्येति। नतु प्रातिपदिकेनाज् विशिष्यते। यदि हि प्रातिपदिकेनाज् विशिष्येत प्रातिपदिकस्य योऽजिति तदा मध्यस्थितस्याप्यचो ह्रस्वः स्यात्। सुवाग् ब्राह्मणकुलमिति। अथा तु प्रातिपदिके विशिष्यमाणे प्रातिपदिकस्यैवेत्येषा स्थानषष्ठी भवति। नचावयवषष्ठी। तेनालोऽन्त्यस्यैवाचो ह्रस्वो भवति। वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त (८।२।८२) इत्यत्र गृह्यमाणेन टिशब्देनाज्विशिष्यते टेर्योऽजिति। तेन टे र्मध्यवर्त्तिनो ऽप्यचः प्लुतो भवति। यदि त्वचा टिर्विशिष्यते ऽजन्तस्य टेरिति तदेहैव स्याद् देवदत्ता ३ इति। इह तु न स्यादग्निचिदिति। चकारेणाजित्यनुकृष्यते। तस्य प्रयोजन मिहैव वक्ष्यति। अतिरीत्यादीनुदाहरणान्यच इग् ह्रस्वादेश (१।१।४८) इत्यत्र व्युत्पादितानि। चीयत इति कर्मणि लकारः। संज्ञाविधाने नियम इत्यत्र युक्तिमाह। अजिति वर्त्तत इति। अज्ग्रहणे ह्यनुवर्त्तमाने ह्रस्वादिशब्दा अनुवर्त्तमाना अच एवोपस्थानं प्रति न व्याप्रियन्ते। तस्य स्वयमेवोपस्थितत्वात्। ततश्च स्वरूपमात्रपदार्थकाः सन्तो विधीयमानस्याचो विशेषणता मुपयान्ति। तत्रैव मभिसम्बन्धः क्रियते। अचः स्थानेऽज् भवति ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्येवं संज्ञया विधीयमान इति। द्यौः

पन्थाः स इति । एतानीको ( १।१।३ ) गुणवृद्धी इत्यत्र व्युत्पादितानि । एषु च यथायोगं दिव (७।१।८४) औत् पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५) त्यदादीनाम (७।२।१०२) इत्येभि रौकारादयः स्वरूपेण विधीयमाना दीर्घादिसंज्ञया न विधीयन्त इति हल एव स्थाने ते भवन्ति । नाचः । द्युभ्यां द्युभि रित्यत्रापि दिव(६।१।१३) उदित्युकारो ह्रस्वसंज्ञया न विधीयत इति हल एव स्थाने भवति । नाचः । ननु च द्यौरित्यादीनि त्वीख्युदाहरणानीको गुणवृद्धी ( १।१।३ ) । इत्यनेनैव संज्ञाविधाननियमेन सिद्धानि । तत्र हि तस्याप्येतानि प्रत्युदाहरणानि प्रागुपन्यस्तानि । तस्मान्नार्थ एतदर्थेन संज्ञया विधीयमानेन नियमेन । सत्यमेतत् । एवं मन्यते । द्युभ्यां द्युभिरित्येवमर्थं संज्ञाविधाने नियमः कर्त्तव्यः । नह्युकारस्य गुणसंज्ञास्ति । नापि वृद्धिसंज्ञा । यतः पूर्वेणैव संज्ञाविधाननियमेनैतदपि सिद्ध्यति । तस्मादन्यार्थोऽयं संज्ञाविधाननियमः क्रियमाणो येऽपि विस्मरणशीलाः पूर्वस्य नियमस्य प्रयोजनं न स्मरन्तिताननुग्रहीतुं द्यौः पन्थाः स इत्येवमर्थोऽपि भवति ।

## २९ । उच्चैरुदात्तः ।

उदात्तादयो लोकवेदयोः प्रसिद्धाः । तत् किं संज्ञाकरणेनेति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह उदात्तादिशब्द इत्यादि । आदिशब्देनानुदात्तस्वरितयोः परिग्रहः । एवकारो भिन्नक्रमो वर्णधर्म इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । लोकवेदयोरुदात्तादयः शब्दा वर्णानां ये धर्मा गुण स्तत्रैव प्रसिद्धाः । नतु तद्वत्यचि । तस्मादिह व्याकरण उदात्तादयो धर्म्मा यस्याच स्तद्गुणेऽचि संज्ञाप्यन्ते परिभाष्यन्ते । अन्यथा प्रदेशेषूदात्तादिशब्दश्रवणाद् वर्णधर्म्म एव गृह्येत । न तद्वानजित्यभिप्रायः । उच्चैरिति श्रुतिप्रकर्षेऽस्ति । श्रुतिप्रकर्षवत्युच्चैर्भाषते । उच्चैः पठतीति । अस्ति च प्रमाणाधिकरणवाची । उच्चैः स्थितो देवदत्त इति । उच्चैर्नाम प्रमाणम् । तस्य यदधिकरणं तदिहोच्चैःशब्देनोच्यते । तदिह द्वितीयस्योच्चैः शब्दस्यार्थो गृह्यते । नेतरस्येति दर्शयितुमाह उच्चैरिति । उच्चैर्भाषत इत्येवमादौ तु वाक्ये प्रयुक्तस्योच्चैःशब्दस्य योऽर्थः श्रुतिप्रकर्षः स उच्चैरित्यत्र न गृह्यते । यदि गृह्येत उपांशुप्रयोग उदात्तादिसंज्ञा न स्यात् ।

प्रकर्षाभावात्। प्रकर्षस्यानवस्थितत्वादुदात्तादयो न विशिष्येरन्। य एव हि कश्चित् प्रत्युच्चैर्भवति स एव हि कञ्चित् प्रति नीचैर्भवति। एवञ्च सर्वमुदात्तं स्यात्। अनुदात्ततमोऽपि चेष्यत इत्यभिप्रायः। स्थानकृतमित्यादि। उच्चता नाम प्रमाणविशेषः। तदधिकरणभूतस्थानमुच्चैर्भवति। एवञ्च सर्वमुदात्तं न स्यात्। अनुदात्तमुच्चैरुच्यत इत्यर्थः। भागवत्स्विति। भागा अवयवा येषां तानि भागवन्ति। ते भागा स्ताल्वादिषु स्थानेष्वौत्तराधर्य्येण व्यवस्थिताः। स्थानमुच्चैः शब्देनोच्यते। तत् कुतः संज्ञिन उच्चैस्त्वं विशेषणम्? उच्चैःस्थाननिष्पन्नत्वात्। तत्र समाने स्थान उच्चैरूर्द्ध्वभागे यो निष्पन्नः स उदात्तसंज्ञो भवति। यदि स्थाने य ऊर्द्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवतीत्येतावदुच्यत एवञ्च स एवानवस्थितदोषः। तथाह्यल्पशरीरेषु य एव ताल्वादिभाग उच्चैर्भवति स एव महाशरीरेषु ताल्वादिभागापेक्षया नीचै र्भवति। अतः समान इत्येतत् स्थानविशेषण मुक्तम्। एतच्च लघ्वर्थत्वात् संज्ञाकरणस्यैकाक्षरायां संज्ञायां कर्त्तव्याया मनेकाक्षरसंज्ञाकरणाल्लभ्यते। ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यं भवतीति। ननु च ग्रन्थाधिक्यादत्र कश्चिदाचार्य्यस्याधिकोऽर्थोऽभिप्रेत इत्येतावन्मात्रं प्रतीयते। समानत्व मित्येषोऽर्थविशेषः कुतो लभ्यते? अविच्छिन्नादुपदेशपारम्पर्य्यात्। तत् पुनः समानत्वं वक्तभिन्नत्वाद् वेदितव्यम्। नतु ताल्वादिस्थानस्याभिन्नत्वात्। अन्यथा तालव्यमेवापेक्ष्योदात्तः स्यात्। नतु कण्ठादीन्। वक्तृभेदात् तद्द्वारेण भिन्नानामपि ताल्वादीनां समानत्वेऽपि विज्ञायमान एष दोषो न भवति। किंलक्षणः पुनरसावुच्चभागनिष्पन्नोऽजित्याह यस्मिन्नित्यादि। आयाम इत्यस्य विवरणं निग्रह इति। निग्रहः स्तब्धता। संवृतकण्ठता कण्ठविवरस्य संवृतता। अतएव शनै र्निष्क्रामन् वायुर्गलावयवाञ् शोषयति। रुक्षता भवत्यस्निग्धता। ये ते क इति। यत्तत्किंशब्देभ्य स्त्यदाद्यत्वम्। अतो गुणे (६।१।९७) पररूपत्वम्। जसः शी (७।१।१७)। आद्गुणः (६।१।८७)। अत्र प्रातिपदिकस्वरेण प्रकृति रुदात्ता। अनुदात्तौ सुप्पिता विति (३।१।४) विभक्तिस्वरः। एकादेशस्त्वेकादेश उदात्तेनोदात्त (८।२।५) इति।

## ३० । नीचैरनुदात्तः ।

अन्ववसर्ग इत्यस्य विवरणं मार्दवमिति । शैथिल्यमित्यर्थः । मृदुतेत्यस्य विवरणं स्निग्धतेति । उरुतेत्यस्यापि महत्तेति । महत्त्वादेव कण्ठविवरस्य पुनः शीघ्रं वायुर्निष्क्रामन् गलावयवान् न शोषयतीति । अतः स्वरस्य स्निग्धता भवति । त्वसमसिमनेमेत्यनुच्चानीति सर्वादिष्वेव पठ्यन्ते । अनुच्चानि अनुदात्तानीत्यर्थः । नमस्ते रुद्रेत्यादि । तेशब्द स्तेमया-वेकवचन ( ८।१।२२ ) इत्यनुदात्तं सर्वं ( ८।१।१८ ) मपादादावित्यधिकारा-दनुदात्तः । रुद्रादयोऽप्यामन्त्रितस्य ( ८।१।१९ ) चेत्यनेनाष्टमिकेन सर्वे ऽनुदात्ता भवन्तीति ।

## ३१ । समाहारः स्वरितः ।

उदात्तानुदात्तशब्दावज्विशेषयोः संज्ञे । संज्ञा हि प्रदेशेषूच्चारिताः संज्ञिनं प्रत्याययन्ति । ताभ्या मिहानुवृत्ताभ्या मुदात्तोनुदात्तयोरचो रूपस्यापि-तयोः प्रत्ययः । तस्मात् समाहारात्मकस्याचः स्वरितसंज्ञा विधीयते । समाहारशब्दश्च समाहरणं समाहार इति भावसाधनोऽयं लोके समुदाये रूढः । नचोदात्तानुदात्तात्मकः कश्चिदच् समुदायः सम्भवतीति । ततश्च संज्ञिनोऽसम्भवात् संज्ञापि न सम्भवतीति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह सामर्थ्याच्चे-त्यादि । उच्यते चेद मुदात्तानुदात्तसमाहारः स्वरितसंज्ञो भवतीति । नच पारिभाषिकोदात्तानुदात्तसमाहारात्मनोऽचः सम्भवोऽस्ति । तत्र सामर्थ्याल्लोकवेदप्रसिद्धौ यौ धर्मावुदात्तानुदात्तौ तावेव गृह्येते । नाचौ । नन्वेवमपि स एव दोषः । लोके प्रसिद्धोदात्तानुदात्तसमाहारात्मकस्याप्य-चोऽसम्भवादित्याह तौ समाक्रियेते यस्मिन्नित्यादि । नहि लोकप्रसिद्धो-दात्तानुदात्तात्मनोऽच एषा संज्ञा विधीयते । कस्य तर्हि ? लोकवेदप्रसिद्धा वुदात्तानुदात्तौ समाक्रियेते यस्मिन्नचि तस्य । सम्भवति चैकस्मिन्नप्यचि तयोः समाहार इति कुतः संज्ञिनोऽसम्भवः ? समाक्रियेते यस्मिन्निति ब्रुवता ऽधिकरणसाधनोऽयं समाहारशब्दो न भावसाधन इति दर्शितम् । समाक्रियेते संहन्येते सहितावुपलभ्येते इत्यर्थः । शिक्षयमिति । पूर्वो यण् गुण् ह्रस्व

( उण् ५।६९३ ) श्वेति यदिति वर्त्तमाने अन्येः शि कुट् किच् ( उण् ५।६९४ ) चेति अंसतेर्यत्प्रत्यये शिशब्दादेशे कुड़ागमे च कृते रूपम्। तित्त्वात् स्वरितत्वम्। कन्येति। तिल्यशिक्यमर्त्त्यकाश्मर्य्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्त ( फिट्, ४।७६ ) इत्यन्तस्वरितत्वम्। सामन्य इति। सामनि साधुः।तत्र साधुरिति (४।४।९८) यत्प्रत्ययः। क्वेति। किम्शब्दात् सप्तम्यन्तात् किमोऽदित्यत् (५।३।१२) प्रत्ययः। क्वातीति (७।२।१०५) क्वादेशः।

## ३२। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्।

आदावादितः। सप्तम्यर्थे तसिः। अयमेव निर्देशो ज्ञापक आद्यादिभ्यस्तसिर् भवतीत्यत्र। तेन तसिप्रकरण आद्यादिभ्य (५।४।४४, वा ) उपसंख्यानमित्येतन्न वक्तव्यं भवति। अर्द्धह्रस्वमिति। ह्रस्वस्यार्द्धमित्यर्थः। अर्द्धं नपुंसकमिति (२।२।२) समासः। ततश्च परवल्लिङ्गमित्यादिना (२।४ २६) पुंलिङ्गेन भवितव्यम्। ह्रस्वशब्दस्य पुंलिङ्गत्वात्। नैतदस्ति। ह्रस्वशब्दो हि प्रमाणविशेषं गुणमुपादाय प्रवृत्तः। गुणवचनानाचाश्रयलिङ्गवचनानि भवन्तीति गुणवचनत्वाच् शुक्लशब्दइव ह्रस्वशब्दस्त्रिलिङ्गः। ह्रस्व इति मात्रिकस्य संज्ञा कृता। तस्यैव विभागः स्यात्। नतु दीर्घप्लुतयोरित्याशङ्कयाह अर्द्धह्रस्वमित्यादि। ह्रस्वस्यार्द्धमर्द्धमात्रा भवति। अतोऽर्द्धह्रस्वग्रहणेनार्द्धमात्रोपलक्ष्यते। तत एव च तस्येत्युक्तम्। त्रयाणां ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वरितानां निर्देशार्थम्। यदि चार्द्धह्रस्वग्रहणमर्द्धमात्रोपलक्षणमतस्त्रयाणां निर्देशोऽर्थवान् भवति। नान्यथा। ह्रस्वग्रहणमतन्त्रमिति। अतन्त्रमप्रधानमुपलक्षणार्थत्वात्। यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र काकाः। तेन सर्वेषामेव ह्रस्वादीनामेष स्वरविभागो भवति। नन्वेवमप्याष्टमिकस्य स्वरितस्य विभागो न सिध्यति। तस्यासिद्धत्वात्। नैतदेवन्। यस्मात् परविधिः पूर्वविधावसिद्धः। नचायं विधिः। किं तर्हि ? तस्य विहितस्य विभागाख्यानार्थः। अथवा न मु न ( ८।२।३ ) इत्यत्र नेति योगविभागात् सिद्धं भवति। एकश्रुतिर्वेति। पूर्वो भागोऽयमुदात्तः पटुतरः। तेनोपरज्यमानस्तद्रूपतामिवापन्नः परो भागः स्फटिकमणिरिवोपधानेनोपरक्तः

शुद्धेनोदात्तेन भिन्नश्रुतिकत्वादनुदात्तव्यपदेशं नार्हति। उदात्तव्यपदेशमपि नार्हति। उपरागमात्रत्वात्। तस्मादेकश्रुतिरिति केचित्। अन्ये त्वाहुः। पूर्वेण भागेनानुपजातरूपातिशयेन नोपरज्यते यदोत्तरभागस्तदा स्वेन रूपेण प्रतिभानादनुदात्त इति व्यपदिश्यते। यदा तूपधानेन स्फटिकमणिरिव पूर्वेण भागेन पटीयसोदात्तेनाभिभूयानुरज्यमानस्तद्रूपतामिवोपपद्यते तदैक-श्रुतिरिति व्यपदिश्यते। पूर्वभागश्रुतेरभिन्नैका तुल्याकारा श्रुतिर्यस्येति कृत्वा। नहि तदानीं पूर्वोत्तरयोः स्वरितश्रुतिं प्रति कश्चिद् भेदोऽस्ति। द्वयोरप्युदात्तगुणवत्तया प्रतीयमानत्वादिति।

## ३३। एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ।

एकश्रुति वाक्यं भवतीति। वाक्यग्रहणेन पदपदैकदेशयोर्निरासं करोति। तयोः सम्बोधनं प्रत्यसामर्थ्यात्। वाक्यस्य सम्बुद्धौ कर्त्तव्यायां करणभावोप-गमादस्ति सामर्थ्यम्। ततस्तस्यैकश्रुत्यं विधीयते। कुतः पुनस्तद्वाक्य-मित्याह। दूरात् सम्बोधयति येनेति। एतेन सम्बुद्धिं प्रति वाक्यस्य करणभावो दर्शितो भवति। दूरादिति। दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया (२।३।३५) चेति पञ्चमी। सम्बोधनं सम्बुद्धिरित्यादिना सम्बुद्धिरित्यन्वर्थग्रहणम्। न पारिभाषिकं सम्बुद्धिग्रहणमिति दर्शयति। यदि पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणं स्यात् तदा देवा ब्रह्माण इत्यत्रैकश्रुत्यं न स्यात्। पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर-सत्त्वात्। अन्वर्थग्रहणे तु भवति। सम्बोधनलक्षणक्रियारूपायाः सम्बुद्धे रिहापि विद्यमानत्वादिति भावः। कुतः पुनरेतदन्वर्थग्रहणं व्यवसितम्? दूरग्रहणात्। अन्वर्थग्रहणे दूरादित्यनेन सम्बुद्धिरुत्पद्यते। दूरात् सम्बोधने कर्त्तव्य इति। तेनार्थवद् भवति दूरशब्दस्योपादानम्। पारिभाषिक्यास्तु ग्रहणे तदसम्बद्धमेव स्यात्। नह्यामन्त्रितविभक्तेर्दूरत्वमस्ति। दूरत्वञ्च यद्यप्य-नवस्थितं तथापि यत्र प्राकृतप्रयत्नसंस्थापितं वचनं न श्रूयते तदिह दूरं वेदितव्यम्। स्वराणामित्यादि। एकश्रुतिस्वरूपाख्यानमविभाग इति! भेदतिरोधान (A) मित्यनन्तरं विवरणम्। उदात्तादिस्वरविशेषानुपलब्धि

(A) मुद्रितकाशिकायाम् अभेदस्तिरोधानमिति पाठः। न्यासवत् पदमञ्जर्यामपि भेदतिरोधानमित्येव दृश्यते।

रकारादिवर्णमात्रावबोध एकश्रुति रित्युक्तं भवति। आगच्छ भो माणवक देवदत्ता ३ इति। दूराद्धूते ( ८।२।८४ ) चेत्यत्रैवार्थे प्लुतः। स चोदात्तः। वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त ( ८।२।८२ ) इत्यधिकारात्। तस्यैकश्रुत्योदात्तस्य समावेश इष्यते। प्लुतनिवृत्त्यर्थम्। यथा चासौ लभ्यते तथा वक्ष्यति। प्रत्युदाहरणे त्रैस्वर्य्यमेव भवतीति तत्राकारो निपाता आद्युदात्ता ( फिट्, ४।८० ) उपसर्गाश्चाभिवर्जमित्युदात्तः। गच्छेत्यस्य तिङ्ङतिङ ( ८।१।२८ ) इति निघातः। भो इति निपाता आद्युदात्ता इत्युदात्तः। माणवक देवदत्तशब्दयो रामन्त्रितस्य चेति ( ८।१।१९ ) निघातः।

## ३४। यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु।

अग्निर्मूर्धा दिव इत्यादि। अगि रगि गत्यर्थाः। वीज्याज्वरिभ्यो (उण, ४।४८७ ) निरिति वर्त्तमाने ऽङ्गे र्नि र्नलोप श्चेति (उण, ४।४८९) निप्रत्ययः। नलोपश्च भवति। अग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। मुर्वी बन्धने। कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवइत्यतः ( उण, १।१५४ ) कनिन्निति वर्त्तमाने श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्य्यमन्विश्वप्सन्परिज्मन्मातरिश्वन्-मघवन्निति ( उण, १।१५७ ) मूर्धन्शब्दः कनिन्प्रत्ययान्तो निपातित इति निपातनादाद्युदात्तः। वकारस्य धकारोऽत्र निपातनादेव। दिवु क्रीडादौ। डिविन् प्रत्ययः। इकार उच्चारणार्थः। डित्यभस्याप्यनुबन्ध-करणसामर्थ्याट्टेरिति ( ६।४।१४३ ) टिलोपः। दिव् इति स्थित जड़िदम् पदाद्यप् पुम् रै द्युभ्य ( ६।१।१७१ ) इति विभक्तेरन्तोदात्तत्वम्। ककुच्छब्दः प्रातिपदिकमन्तोदात्तं ( फिट् १।१ ) भवतीत्यन्तोदात्तः। पतिशब्दः पाते-र्डतिरिति ( उण, ४।४९७ ) डतिप्रत्ययान्तः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः। ततः ककुदः पतिः ककुत्पतिरिति षष्ठीसमासः। समासस्येत्यन्तोदात्तत्वम् ( ६।१।२२७ )। प्रथ प्रख्याने। प्रथेः षिवन् ( उण, १।१४८ ) संप्रसारणञ्च। षिद्‌ ( ४।१।४१ ) गौरादिभ्यश्चेति पृथिवशब्दान् ङीष्। प्रत्ययस्वरेण धातुप्रत्यय ङीष आद्युदात्तोदात्ताः। षष्ठ्येकवचनम्। ङस्। आण्नद्या (७।३।११२) इत्याट्। आगमा अनुदात्ता भवन्तीत्यनुदात्तत्वम्। विभक्तेरनुदात्तौ (३।१।४)

सुप्पितावित्यनुदात्तत्वम् । सवर्णदीर्घः । इको (६।१।७७) यणचीति यणादेशः। उदात्तयणो ( ६।१।१७४ ) हल्पूर्वादिति विभक्तिरुदात्ता । अयमिति । इदि परमैश्वर्य्ये । इदितो नुम् (७।१।५८) धातोरिति नुम् । इन्देः कमिर्नलोपश्चेति (उण, ४।५९६) कमिप्रत्ययो नलोपश्च । इदम्शब्दः कमिप्रत्ययेनान्तोदात्तः । सौ परत इदोऽय् ( ७।२।१११ ) पुंसीतीदम इदूपस्यायादेशः । अपामिति । आप्लृ व्याप्तौ । आप्नोतेर्ह्रस्वश्चेति ( उण, १।७४ ) क्विप् । ह्रस्वश्च । षष्ठीबहुवचनम् । ऊड़िदं (६।१।१७१) पदेति विभक्तेरुदात्तत्वम् । तेनापामित्यस्यान्तोदात्तत्वम् । रि गतौ । स्रुरिभ्यां तुट् ( उण, ४।६४१ ) चेत्यसुन्प्रत्ययः । तुड़ागमः । रेतांसीति नित्स्वरेणाद्युदात्तः । जिन्वतीति जि जये । लट् । शत्रादेशः । व्यत्ययो बहुलमिति ( ३।१।८५ ) व्यत्ययेन श्नुप्रत्ययः । हुश्नुवोः सार्वधातुक (६।४।८७) इति यणादेशः । उगितश्चेति (४।१।६) ङीप् । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व ( ७।३।१०७ ) इति ह्रस्वः । एङ् ह्रस्वात् (६।१।६९) सम्बुद्धे रिति सुलोपः । ये यज्ञकर्मणीति (८।२।८८) वर्त्तमाने प्रणवष्टेरिति (८।२।८९) प्रणवादेशः । स च प्लुत उदात्तश्च । वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त (८।२।८२) इत्यधिकारात् । प्रणव इत्योकार मोङ्कारं वाचचते । प्रणवस्योदात्तविधानसामर्थ्यादसिद्धत्वाच्च पदादुत्तरस्यामन्त्रितस्य (८।१।१९) चेत्यनुदात्तं न भवति । शेषस्य तु भवति । एषु स्वरेषु प्राप्तेष्वेकश्रुतिर्विधीयते । संपाठे मा भूदिति । सम्पाठः स्वाध्यायकालः । ममाग्न इत्यादि । अस क्षेपणे । युष्यसिभ्यां (उण, १।१३६) मदिगिति मदिक् । अस्मच्छब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । षष्ठ्येकवचनस्य युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽशित्यशादेशः ( ७।१।२७ ) । तवममौ ( ७।२।९६ ) ङसीत्यस्मदो ममादेशः । स्थानिवद्भावादन्तोदात्तः । अतो गुणे ( ६।१।९७ ) पररूपत्वम् । एकादेश ( ८।२।५ ) उदात्तेनोदात्तः (B) । अग्निशब्दस्यामन्त्रितस्येति' ( ८।१।१९ ) निघातः । वर्च दीप्तौ । असुन्निति असुन्प्रत्ययः । वर्चः शब्दो नित्स्वरेणाद्युदात्तः । ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् । ह्वः संप्रसारणञ्च न्यभ्यु ( ३।३।७२ ) पविष्वित्यप् प्रत्ययः । उपपद मतिङिति ( २।२।१९ ) समासः ।

---

(B) इदं तु चिन्त्यम् । युष्मदस्मदोर्ङसि ( ६।१।२११ ) त्याद्युदात्तत्वविधानात् ।

गतिकारकोपपदात् कृदित्युत्तर ( ६।१।१३९ ) पदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते ऽन्त इत्यनुवर्त्तमाने ( ६।२।१४३ ) थाथघञ्क्ताजबित्रकाणा (६।१।१४४) मित्यन्तोदात्तत्वम् । सप्तमीबहुवचने बहुवचने ( ७।३।१०३ ) झल्येदित्येत्त्वम् । स्थानिवद्भावादेकारोऽ प्युदात्त एव । अस भुवि । लोट् । तिप् । एरु ( ३।४।८६ ) रित्युत्वम् । अदादित्वाच्छपो लुक् । तिङ्ङतिङ ( ८।१।२८ ) इति निघातेनास्तुशब्दोऽनुदात्तः । जपोऽनुकरणमन्त्र इति । जपद्दत्युक्तेरर्थकथन मनुकरणमन्त्र इति । अनुकृति रनुकरणम् । सर्वत्र मन्त्रे स्फुट मुच्चारण मित्यनुकरण मन्त्रः । अतएवाह उपांशुप्रयोग इति । यथा जले निमग्नस्य पाठः । क्वचिदकरणमन्त्र इति पाठः । तत्रायमर्थः । ईषत् करणमुच्चारणं यस्य सोऽकरणमन्त्र इति । नञ ईषदर्थत्वात् । एशब्दो निपातः । निपाता ( फिट्, ४।८० ) आद्युदात्ता इत्याद्युदात्तः । विश प्रवेशने । अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः (उण,१।१४९) क्वनिति क्वन्प्रत्ययान्तत्वाद्विश्वशब्दो नित्स्वरेणाद्युदात्तः । समञ्च तत् (C) अत्रिणश्चेति विशेषणसमासः । समासान्तोदात्तत्वम् । दह भस्मीकरणे । लोट् । सिप् । सेर्हिरादेशः । अतो (६।४।१०५) हेरिति हेर्लुक् । तिङ्ङतिङ ( ८।१।२८ ) इति निघातविधानाद् दहशब्दोऽनुदात्तः । केचिद् दहा ३ इति प्लुतान्तं पठन्ति । तेषां साहसमनिच्छतां सर्वत्र विभाषा प्लुतो वक्तव्य इत्यतो वचनात् प्लुतो (D) वक्तव्यः । स चोदात्तः । अन्ये त्वाकारान्तं पठन्ति । तेषां छान्दसत्वादाकारः । ह्रस्वोऽपि हि वर्णो व्यत्ययेन दीर्घो भवति पूरुषो नारक इति यथा । वाक्यविशेषस्था गीतय इति । यथोक्तं जैमिनिना गीतिषु सामाख्येति । गीतिर्ध्वनिविशेषः । अथ कर्मग्रहणं किमर्थम् ? यज्ञ इत्येवोच्येत । यज्ञमन्त्राणां यज्ञक्रियार्थत्वाद् यज्ञकर्मणि भविष्यति । सत्यमेतत् । विस्पष्टार्थं हि कर्मग्रहणम् । अथवा योऽपि न प्रसिद्धो यज्ञः पञ्चयजनादि स्तत्रापि यथा स्यादित्येवमर्थम् । अन्यथा यज्ञ इत्युच्यमाने प्रसिद्धो यो यज्ञो ऽश्वमेधादिस्तत्रैव स्यात् ।

---

(C) अन्ये तु समिति दहतेर्गतिं मन्यन्ते। व्यवहिताश्चेति ( १।४।८२ ) तस्य व्यवहितत्वम् । तथाच हरदत्तः—"विश्वमत्रिणं पाप्मानं सन्दहेति सम्बन्ध" इति । भट्टोजिश्चैवम् ।

(D) इदमप्रीत्प्रेषणे परस्य चेत्यत (८।२।९२) भाष्यकृताऽन्यदीयवचनरूपेणोपन्यस्तम् ।

## ३५ । उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ।

वषट्शब्देनात्र वौषट्शब्दो लक्ष्यत इति । समानार्थत्वादित्यभिप्रायः । द्वावपि तौ देवानां दानवचनौ । यथा वषट्शब्देन देवानां दानं दीयते तथा वौषट्शब्देनापि । तस्मात् समानार्थत्वाद् वषट्शब्दो वौषट्शब्दं लक्षयति । कारशब्दग्रहणमर्थपदार्थकत्वं विहाय शब्दपदार्थकत्वेन दानक्रियायामुपयुज्यमानस्य तस्योदात्ततरत्वं यथा स्यादित्येवमर्थम् । कारग्रहणे शब्दपदार्थता दृष्टा यथा एवकार इति । अन्ये कारग्रहणमन्यस्यापि यथा स्यादिति वर्णयन्ति । तेनास्तु श्रौषड़ित्यत्रायमुदात्ततरो भवति । उच्चैस्तरामिति प्रकर्षप्रत्ययो वौषट्शब्दे ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड् वौषड़ावहानामादेरिति (८।२।९१) यः प्लुतो विहितस्तदपेक्षया वेदितव्यः । स ह्युदात्तः । अयं तूदात्ततरः । अन्यसदेश इत्यस्याः परिभाषायाः समाश्रयणादन्यसदेशस्यानुदात्तस्योदात्ततरो भवति । अन्ये वर्णयन्ति द्वयोरपि तयोरुदात्ततरो भवति । अन्यसदेशपरिभाषा नाश्रीयते । प्रकर्षप्रत्ययस्तु याज्या ऋचः सम्बन्धी वषट्कारः । तस्य याज्यान्त (८।२।९०) इत्यनेन य उदात्तः प्लुतो विहितस्तदपेक्षया प्रकर्षस्य सत्त्वात् । अथवा प्रकर्षप्रत्ययान्तः स्वरूपशब्दान्तरमेवैतदिति । अपरे त्वाहुः । अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति (६।१।१५८) वचनेन प्लुतस्योदात्तः । अन्यस्त्वनुदात्ततर इति ।

## ३६ । विभाषा छन्दसि ।

इषे त्वेत्यादि । इषु इच्छायाम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यत (६।२।१७८) इति क्विप् । इड़स्यास्तीति लुगधिकारस्याप्रत्यय (४।४।१२८, वा) इत्यनेनोपसंख्यानेन अकारप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । इषशब्दात् (E) सप्तम्येकवचनम् । आद्गुणः (६।१ ८७) । एकादेश (८।२।५) उदात्तेनोदात्तः । युष्मच्छब्दस्य द्वितीयान्तस्य त्वामौ द्वितीयायामिति (८।१।२३) त्वामादेशः । स त्वनुदात्तः । अनुदात्तं (८।१।१८) सर्व्वमपादावित्यधिकारात् । अम्बइति ।

(E) हरदत्तमते चतुर्थ्येकवचनम् । तथाच पदमञ्जरी—"इड़न्नम् । ऊर्ग्बलम् । चतुर्थ्येकवचनस्य सावेका च (६।१।१६८) इत्युदात्तत्वम् ।"—इति ।

आमन्त्रितस्य चेति ( ६।१।१९८ ) षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वम्। आङ् पूर्वाद् या प्रापण इत्यस्माल्लोट्। सिप्। सेर्हिरादेशः। आङ् ( फिट्, ४।८१ ) उपसर्गाश्चाभिवर्जमित्युदात्तः। तिङ्ङतिङ (८।१।२८) इति याहीत्यस्य निघातः। वी गत्यादिषु। मन्त्रे वृषेषपचेत्यादिना (३।३।९६) क्तिन्नुदात्तः।॰ चतुर्थ्येकवचने प्रत्यये घेर्ङितीति गुणः ( ७।३।१११ )। अयादेशः। द्वावपि स्थानिवद्भावेनोदात्तौ। शेषमनुदात्तम्। अग्निशब्दः पूर्ववन्निप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। द्वितीयैकवचने ऽमि पूर्वत्वम् ( ६।१।१०७ )। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५)। ईड़ स्तुतौ। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम्। तिङ्ङतिङ ( ८।१।२८ ) इतीड़ेशब्दस्य निघातः। पुरः पूर्वस्मिन् देश इति विगृह्य पूर्वापराधरावराणामसि ( ५।३।३९ ) पुरधवश्चैषामित्यसिप्रत्ययः। पूर्व्वशब्दस्य पुरादेशः। पुरःशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। दधातेर्निष्ठायां दधाते (७।४।४२) र्हिरिति हिरादेशः। पुरोऽव्ययमिति ( १।४।६७ ) गतिसंज्ञायां सत्यां कुगतिप्रादय (२।१।१८) इति समासः। समासस्यान्तोदात्तत्वे प्राप्ते गतिरनन्तर (६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण पुरःशब्दोऽन्तोदात्तः। शंशब्दश्चादित्वान्निपातः। निपातस्वरेणाद्युदात्तः। अस्मच्छब्दस्य षष्ठीबहुवचनस्य वस्नसाविति (८।१।२१) नसादेशोऽनुदात्तः। अनुदात्ताधिकारात्। दिवः पचाद्यच्। पचादिषु देवड़िति पठ्यते। टिड्ढाणञिति ङीप् ( ४।१।१५ )। अनुदात्तः। यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपः। अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोप ( ६।१।१६१ ) इति ङीबुदात्तः। द्वितीयाबहुवचने प्रथमयोः पूर्वसवर्ण ( ६।१।१०२ ) इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५)। ष्टुञ् स्तुतौ। अभिपूर्वाद्दोरबित्यप् ( ३।३।५७ )। गुणावादेशौ। वर्णव्यत्ययेन वकारस्य यकारः। गतिकारको ( ६।२।१३९ ) तुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्तेऽन्त इति वर्त्तमाने (६।१।१४३) थाथघञ् (६।२।१४४) क्ताजवित्रकाणामितुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। सप्तम्येकवचनम्। आद्गुणः (६।१।८७)। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५)। तस्मादभिष्टयेशब्दोऽन्तोदात्तः। (F)

---

(F) हरदत्तमतेऽभिष्टिशब्दस्य चतुर्थ्येकवचनेऽभिष्टय इति। तत्राभिपूर्वादिषेः क्तिन्। शकन्ध्वादित्वात् पररूपत्वम् ( ६।१।९४, वा )। तादौ च निति कृत्यताविति ( ६।२।५० ) पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे निपाता आद्युदात्ता ( फिट्, ४।८१ ) उपसर्गाश्चाभिवर्जमित्यभिशब्दस्यान्तोदात्तत्वम्।

## ३७ । न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ।

सुब्रह्मण्या नाम निगद इति । अपादबन्धे गदतिर्वर्त्तते । अपादबन्धं हि गद्यमुच्यते । निशब्दः प्रकर्षे । यदुच्चैरविच्छिन्नमपादबन्धं मन्त्रवाक्यं निगद इति तस्य व्यपदेशः । तस्य च सुब्रह्मण्योपलक्षणत्वात् सुब्रह्मण्या इति स्त्रीलिङ्ग-निर्देशः । सुब्रह्मण्योमिति । सुब्रह्मणि साधुः । तत्र साधुरिति यत् (४।४।९८) । तित् स्वरितमिति (६।१।१८५) स्वरितत्वम् । प्रणवष्टेरि ( ८।२।८९ ) त्योङ्कार आदेश इति केचित् । तदयुक्तम् । पादस्य वार्द्धर्चस्य वान्त्यमक्षरमुपसंहृत्य तदाद्य-क्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोकारमोङ्कारं वा विदधति तं प्रणवमित्याचक्षत (G) इति वक्ष्यति (H) । न च निगदे पादव्यवस्था । नाप्यर्द्धर्चव्यवस्था । तस्मादों-शब्दोऽस्ति निपातोऽनर्थकः । तस्य स्वरितेन सहैकादेशः (I) स्वरितः । आम-न्त्रितमाद्युदात्तमिति । आमन्त्रितस्य चेत्यनेन (६।१।१९८) षाष्ठिकेन । तस्या-नेनोदात्तः क्रियत इति । ननु चासिद्धोऽसौ स्वरितः । वचनात् तस्यासिद्धत्वं न भवति । ननु च वचनस्य 'सुब्रह्मण्योमिति प्रयोजनं वक्तुं शक्यम् । नहि समस्ते निगदे सुब्रह्मण्याशब्देनोपलक्षिते सतीदमेकमुदाहरणं युक्तम् । आकार उदात्त इति । निपातस्वरेण । ततः परोऽनुदात्तः स्वरित इति । तिङ्ङतिङ इति निघाते ( ८।१।२८ ) कृत उदात्तादनुदात्तस्य ( ८।४।६६ ) स्वरित इत्यनेन । पश्चिम एक इति । छकाराकारः । चत्वार उदात्ता इति । वकारच्छकाराभ्यामन्ये । द्वावनुदात्ताविति । वकारच्छकारौ । द्वितीयमक्षर-मिति । मेधाशब्दाकारः । शेषमनुदात्तमिति । मेधाशब्दे यावचौ ताभ्यामन्यत् । पूर्वेणेति । मेधातिथेर्मेषेत्यनेन । तथैव द्वे आद्ये अक्षरे उदात्ते इति । यदि गौरावस्कन्दिन्निति समस्तमामन्त्रितमाद्युदात्तमिति । अथापि गौरेति शब्दान्तरमामनन्ति तथापि तस्यापि प्रवेशे कृते सकलस्यामन्त्रित-

---

(G) इतिशब्दपरेऽपि प्रणवमिति द्वितीयान्तः पाठो महाभाष्यकाशिकयोरपि स्थितः । निपातेना-भिधाने चेदाग्रहस्तर्ह्योङ्कारं विदधतीति तं प्रणवमाचक्षत इतीत्थमयं नेयः । तं प्रणव इत्याचक्षत इतीदानीं करणं त्वतिमात्रसाहसमेव ।

(H) प्रणवष्टेरिति ( ८।२।८९ ) सूत्रव्याख्यायां वृत्तिकार इति शेषः । तेनाप्येतत् तत्रत्यभाष्याद् गृहीतम् ।

(I) एकादेशस्वरोमाङोश्चेत्यनेन ( ६।१।९५ ) ।

स्याद्युदात्तत्व उदात्तादनुदात्तस्येत्यादिना ( ८।४।६६ ) पूर्वोक्तेन विधिना द्वे उदात्ते भवतः। अहल्यायै जारेति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी बहुलं छन्दसीत्यत्र (२।३।६२) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्येत्युपसंख्यानात्। व्यत्ययो (३।१।८५) बहुलमिति व्यत्ययेन वा। समस्तमामन्त्रितमाद्युदात्तमिति। कौशिकशब्दस्य परामन्त्रितानुप्रवेशात्। एवं गौतमब्रुवाण इति। एतदपि कौशिकब्राह्मणेत्यनेन तुल्यमित्यर्थः। द्वावुदात्ताविति। अनन्तरयोरुदाहरणयोः प्रत्येकमाद्याविलर्थः। स्वःशब्द उदात्त इति। प्रातिपदिकस्वरेण। उदात्त इति वर्त्तत इति। मन्त्रे वृषेत्यादेः (३।३।९६) सूत्रात्। द्वावुदात्ताविति। तौ पुनरादौ आगच्छेत्यत्र दर्शितौ। पदात् परमामन्त्रितं निहन्यत इति। आमन्त्रितस्य ( ८।१।१९ ) चेत्यनेन।

## ३८। देवब्रह्मणोरनुदात्तः।

द्वयोरपि पदयोरामन्त्रिताद्युदात्तत्वे कृत इति। विभाषितं विशेषवचने ( ८।१।७४ ) बहुवचनमिति पूर्वस्याविद्यमानत्वादामन्त्रितस्य ( ८।१।१९ ) चेति पदात् परस्यापि निघातो न भवति। तेन द्वयोरपि पृथगेव षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वं ( ६।१।१९८ ) भवति। शेष निघात इति। अनुदात्तं पदमेकवर्जमित्यनेन ( ६।१।१५८ )।

## ३९। स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्।

अनुदात्तानामिति। जातौ बहुवचनम्। तेन द्वयोरपि भवति। इममित्यन्तोदात्तमिति। इदम्शब्दस्य कमिप्रत्ययान्तत्वात् प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। तस्य त्यदाद्यत्वे ऽतो गुणे ( ६।१।९७ ) पररूपत्वे तस्याप्येकादेश (८।२।५) उदात्तेनोदात्तत्वात्। विधिकाल एवेति। ते मयावेकवचनस्येति ( ८।१।२२ ) विधिकाल एव निघातविधानात्। सर्वे एते आमन्त्रितनिघातेनानुदात्ता इति। यद्यप्यामन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवदिति ( ८।१।७२ ) तथापि मेशब्दापेक्षया सर्वेषां निघातापत्तेः। प्रथममामन्त्रितमाद्युदात्तमिति। आमन्त्रितस्य चेति ( ६।१।१९८ ) षाष्ठिकेन। तस्य द्वितीयमक्षरं स्वरितमिति। उदात्तादनुदात्तस्य ( ८।४।६६ ) स्वरित इति। ततः

परेषामनुदात्तानामिति। नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचन (८।१।७३) मित्यविद्यमानत्वस्य प्रतिषेधे सति माणवकात् परयोरामन्त्रितस्य चेति (८।१।१९) निघातविधानात् परेऽनुदात्ताः। अवग्रहे मा भूदिति। अवग्रहोऽसंहितापाठः। ननु च स्वरितादिति पञ्चमी। तेन तस्मादित्युत्तरस्ये (१।१।६७) त्यत्र निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्यार्थत्वादवग्रहे प्राप्तिरेव नास्ति। यथैव हि वर्णो व्यवधायकस्तथा कालोऽपि। तत् किं संहिताग्रहणम्? पञ्चमीनिर्देशकालो न व्यवधायक इति ज्ञापनार्थम्। तेन तिङ्ङतिङ (८।१।२८) इत्यत्रावग्रहे ऽतिङन्तात् परं तिङन्तं निहन्यते।

## ४०। उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः।

मातर इत्यनुदात्त इति। अनुदात्तत्वं तु विभक्तिस्वरेण। मातर इति मातृ-शब्दाज्जस्। ऋतो (७।१।११०) ङिसर्वनामस्थानयोरिति गुणः। जसः सकारस्य रुत्वम्। तस्याप्यपशब्दे शसन्ते परतोऽतो (६।१।११३) रोरप्लुतादप्लुत इत्युत्वम्। आद्गुणः (६।१।८७)। ऊडिदमित्यादिना (६।१।१७१) विभक्तेरन्तोदात्तत्वे कृत एङः (६।१।१०९) पदान्तादतीति य ओकारः सोऽपि स्थानिवद्भावे-नानुदात्तो भवति। तस्योदात्ते परभूत इति। विभक्त्यकारे। इकारोऽनुदात्त इति। सरस्वतीतिशब्दसम्बन्धी। आमन्त्रितस्य चेति (८।१।१९) सरस्वती-शब्दस्य निघातविधानात्। तस्मान्न निहन्यत इति। अनुदात्तं (८।१।१८) सर्वमपादादावित्यत्रापदादाविति निघातप्रतिषेधात्। प्रथममक्षरमिति। शकारोकार उदात्तः। आमन्त्रितस्य चेति (६।१।१९८) षाष्ठिकेन।

## ४१। अपृक्त एकाल् प्रत्ययः।

घृतस्पृगिति। क्विन्प्रत्ययस्य (८।२।६२) कुरिति कुत्वं शकारस्य खकारः। तस्य जश्त्वं खकारस्य गकारः। अर्द्धभागिति चोः (८।२।३०) कुरिति जकारस्य गकारः। उभयत्र वावसान (८।४।५६) इति चर्त्वं ककारः। तत्रापृक्तसंज्ञायां सत्यां वेरपृक्तस्येति (६।१।६७) वकारलोपो भवति। प्रत्युदाहरणेषु हि तद-भावान्न भवति। दर्विरिति दॄ विदारणे। वृदृभ्यां विन्निति (उण,४।४९२) विन्। जागृविरिति। जागृ निद्राक्षये। जृशॄस्तृजागृभ्यः क्विन्निति (उण,

४।४९३ ) क्विन् । सुरा इति । षुञ् अभिषवे । सुरां सुनोतीत्यन्येभ्योऽपि दृश्यत ( ३।२।१७८ ) इति क्विप् सुरासुत् । ह्रस्वस्य तुक् । तमाचष्ट इति णिच् । णाविष्ठवत् कार्य्यं प्रातिपदिकस्येति टिलोपः । सुरासयतिः पुनः क्विप् । णिलोपः । प्रथमैकवचनम् । हल्ङ्यादिना (६।१।६८) सुलोपः । रुत्व-विसर्जनीयौ । अत्रापि णिलोपे कृतेऽसति प्रत्ययग्रहणे धातुसकारस्यापृक्तसंज्ञा स्यात् । तस्याञ्च सत्यां हल्ङ्याब्भ्य (६।१।६८) इति धातुसकारलोपः स्यात् । ननु चासत्यपि प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति संज्ञा विज्ञास्यते । तत् किमर्थं प्रत्ययग्रहणम् ? तत् क्रियते विस्पष्टार्थम् । अथैक-ग्रहणं किमर्थम् ? अल्समुदायस्य मा भूदिति । नैतदस्ति । अल्ग्रहण-सामर्थ्यान्न भविष्यति । अन्यथा ह्यल्ग्रहणमनर्थकं स्याद् यदि हल्समुदाय-स्यापि संज्ञा स्यात् । एवं तर्ह्यल्ग्रहणेनात्र जातिग्रहणं भवतीति ज्ञापनार्थमेक-ग्रहणम् । तेन हलन्ताच्चेत्यत्र (१।२।१०) यदुक्तं (J) दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जाति-वाचकत्वात् सिद्धमिति तदुपपन्नं भवति ।

## ४२ । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ।

तत्पुरुष इति समासविशेषस्याख्या । स च एक एव शब्दः । अनेकस्य च शब्दस्य भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्यैकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् । ततश्च यत्र वाह्येन पदेन तत्पुरुषस्य सामानाधिकरण्यं तत्रैवेयं संज्ञा स्याद् राजपुरुषः शोभन इत्यादौ । अस्ति ह्यत्र तत्पुरुषस्य सामानाधिकरण्यं शोभन-शब्देन सह । पाचकवृन्दारिकेत्यादौ तु न स्यात् । नह्यत्र तत्पुरुषस्य केनचित् सामानाधिकरण्यमस्ति । शब्दान्तरस्य प्रयोगाभावादिति चोद्यमपाकर्त्तुमाह समानाधिकरणपद इति । समानमभिन्नमेकमधिकरणं वाच्यं येषां पदानां तानि समानाधिकरणानि पदानि । तान्याश्रयभूतानि यस्य तत्पुरुषस्य स समानाधिकरणपदस्तत्पुरुषः । एतेन तत्पुरुषार्थानां पदानां समानाधि-करणत्वादुपचारेण तत्पुरुषोऽत्र सूत्रे समानाधिकरणशब्देनोक्त इति दर्शयति । कथं पुन र्वाह्यान्यपदापेक्षया तत्पुरुषस्य मुख्ये सामानाधिकरण्ये सम्भवति सत्यौपचारिकस्य ग्रहणमुपपद्यते । कर्मधारय इति महत्याः संज्ञायाः

---

(J) वार्त्तिकमनुवदता वृत्तिकारेणेति शेषः ।

करणात् । इह हि लाघवार्थत्वात् संज्ञाकरणस्य लघीयस्यां संज्ञायां कर्त्तव्यायां कर्मधारय इति महतीं संज्ञां कुर्वता ऽन्योऽप्यत्र कश्चिद् विपर्य्ययः संज्ञायामाश्रित इत्येषोऽर्थः सूचितः । तेन गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसंप्रत्यय इति मुख्यस्य समानाधिकरणस्य ग्रहणं न (K) विज्ञायते । अन्ये त्वाहुः । तत्पुरुषार्थानि पदानि तत्पुरुषशब्देनोक्तानीति । तेषामेवैषा संज्ञेत्युक्तं भवति । एतत्तु वृत्तिकारस्यानभिमतम् । यतस्तत्पुरुष इति समासविशेषस्य यस्य संज्ञां वक्ष्यति स तत्पुरुषः समानाधिकरणपदः कर्मधारयसंज्ञो भवतीत्येवं ब्रुवता वृत्तिकारेण समासस्यैवेयं संज्ञा न तदर्थानां पदानामिति स्फुटमेवाख्यातं भवति । समानाभिधेय इति । तदर्थानां पदानां समानाभिधेयत्वात् तत्पुरुषोऽप्युपचारेण समानाभिधेय इत्युक्तः । परमराज्यमुत्तमराज्यमिति । सन्महदित्यादिना (२।१।६१) समासः । कर्मधारये सत्यकर्मधारये (६।२।१३०) राज्यमित्युत्तरपदाद्युदात्तत्वं न भवति । पाचकवृन्दारिकेति । वृन्दारकनागकुञ्जरैरित्यादिना (२।१।६२) समासः । न कोपधाया इति (६।३।३७) प्रतिषेधे प्राप्ते पुंवत्कर्मधारयेति (६।३।४२) पुंवद्भावः । पाचिकाभार्य्य इति बहुव्रीहिरयम् । तेनात्र न कोपधाया इति (६।३।३७) प्रतिषेधो भवत्येव । ब्राह्मणराज्यमिति । षष्ठीतत्पुरुषोऽयम् । तेनात्र समासान्तोदात्तत्वमेव न भवति । अपि तूत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । (L)

## ४३ । प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ।

समास इत्यधिकरणनिर्देशोऽयम् । कष्टश्रितादयः समासाः । तेषु न किञ्चित् प्रथमानिर्दिष्टं शब्दरूपमस्ति । तथाहि समासे कृते तत एव समासाद् विभक्तिरुत्पद्यते । नतु तत्रस्थाच्छब्दात् । नच वाक्यकाले समासार्थात् पदाद् या प्रथमोत्पन्ना तदाश्रयम् प्रथमानिर्दिष्टत्वं समासावयवस्य कल्पयितुं युक्तम् । यतः समास इत्यधिकरणनिर्देशोऽयम् । तत्र

---

(K) मुख्यस्य ग्रहणे प्राप्ते तद्विपरीतस्य ग्रहणं विज्ञायत इति पुनापुस्तके पाठः ।

(L) अकर्मधारये राज्यमित्यनेन (६।२।१३०) ।

समासे कृते यस्मात् प्रथमोत्पद्यते तदेव समासे प्रथमानिर्दिष्टं भवति। नतु यस्माद् वाक्यकाले विभक्तिरुत्पद्यते। तद्धि वाक्य एव प्रथमानिर्दिष्टम्। नतु समासे। प्रागेव समासात् तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्। ततश्च समासे कृते प्रथमानिर्दिष्टस्य संज्ञिनोऽसम्भवात् संज्ञा न सम्भवतीतीतश्चोद्यमपाकर्त्तुमाह प्रथमया विभक्त्या यन्निर्दिश्यत इति। समासार्थं यच्छास्त्रं तत् समासशास्त्रं गृह्यते। तत्र प्रथमानिर्दिष्टस्येयं संज्ञा विधीयते। नतु कष्टश्रितादौ। समासे प्रथमानिर्दिष्टस्याविद्यमानत्वात्। विद्यते च समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टं संज्ञीति कुतः संज्ञाया अप्रसिद्धिः ? कथं पुनः समास इत्युच्यमाने समासशास्त्रे यत् प्रथमया निर्दिश्यते तस्य संज्ञित्वं लभ्यत इतत आह समास इति। समासशास्त्रं गृह्यत इति। कथं पुनः समास इत्युच्यमाने समासशास्त्रं ग्रहीतुं शक्यम् ? तादर्थ्यात् तत्र समासशब्दस्य प्रवृत्तेः। भवति हि तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। यथा प्रदीपार्था मल्लिका प्रदीप इति। इन्द्रार्था स्थूणा (M) इन्द्र इति। कष्टश्रितादिषूपसर्जनसंज्ञायाः कार्य्यमुपसर्जनं पूर्वमिति (२।२।३०) पूर्वनिपातः। तत्रेदं चोद्यते। राज्ञः कुमारीं पश्य राजकुमारीं (२।२।३०) पश्येत्यत्र राजन्शब्दः षष्ठीति ( २।२।८ ) समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टः। द्वितीयाश्रितातीतपतितेति (२।१।२४) द्वितीयासमासशास्त्रे कुमारीशब्दश्च। समासशास्त्रे तत्रोभयोरप्यस्यां संज्ञायां सत्यां पूर्वनिपातानियम उपसर्जनह्रस्वत्वश्चेत्येतद्दोषद्वयं प्राप्नोतीति। इह च राज्ञः कुमार्य्याः स्वं राजकुमारीस्वमिति द्वयोरपि षष्ठ्यन्तयोः समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वादुभयोरप्युपसर्जनसंज्ञायां सत्यां तदेव दोषद्वयं प्राप्नोति। नैष दोषः। यस्मादुपसर्जनमिति महत्याः संज्ञायाः करणस्येतदेव प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेतेति। अप्रधानमुपसर्जनम् प्रधानमनुपसर्जनमिति। अप्रधानञ्च प्रधानमपेक्षते। सम्बन्धिशब्दत्वात्। तच्च सम्बन्धादेतदवगन्तव्यं यत् प्रति यदप्रधानं तत् प्रति तदुपसर्जनमिति। श्रितादींश्चापेक्ष्य द्वितीयान्तमुपसर्जनं भवति। नतु द्वितीयान्तमात्रम्। न चेह श्रितादयः सन्ति। राज्ञः कुमार्य्याः स्वं राजकुमारीस्वमित्य-

(M) इन्द्रार्थेति। इन्द्रोत्सवनिमित्ता इन्द्रपूजानिमित्ता वा। अथवा या यज्ञादिकर्मविशेषे क्वचिदिन्द्राय निवेदिता भवति सा। स्थूणा स्तम्भविशेषः। स्थूणायसः कृता प्रतिमायां गृहस्तम्भ इति विश्वः।

त्राप्येष परीहारः। अत्रापि कुमारीशब्दमपेक्ष्य राजशब्दस्याप्राधान्यम् । नतु राजशब्दमपेक्ष्य कुमारीशब्दस्य। तस्माद् राजन्शब्दस्योपसर्जनसंज्ञा । नतु कुमारीशब्दस्य। यदि ह्यन्वर्थसंज्ञेयम् पाचकवृन्दारिका पुरुषव्याघ्रोऽर्द्ध-पिप्पली पूर्वकाय इत्येतेषु पूर्वपदार्थ एव प्रधानमिति पाचिकादीनामिह प्राधान्यम्। अतो यद्यप्येते वृन्दारकनागकुञ्जरैः ( २।१।६२ ) ज्यमानम्। उपमितं व्याघ्रादिभिः ( २।१।५६ ) सामान्याप्रयोगे। अर्द्धं ( २।२।२ ) नपुंसकम्। पूर्व्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ( २।२।१ ) इत्येतेषु समासशास्त्रेषु प्रथमानिर्दिष्टास्तथापि तेषामुपसर्जनसंज्ञा न प्राप्नोति । कुतः ? तेषां प्राधान्यात्। एवं तर्ह्युत्तरसूत्रेऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वाच्चकारस्य भविष्यतीत्य-दोषः। अन्यस्त्वेवंमन्यते । पाचकवृन्दारिकेत्येवमादिषु पूर्व्वोक्तेषु समासेष्वाद्यौ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ( २।१।५७ ) उपमानानि ( २।१।५५ ) सामान्य-वचनैरित्येताभ्यामेव सिद्धौ । शेषौ तु षष्ठी (२।२।८) त्यनेनैव । तस्माद्वृन्दार कनागकुञ्जरै ( २।१।६२)रित्यादीनां न तदर्थ आरम्भः । किं तर्हि ? उप-सर्जनसंज्ञार्थः । तेनासत्यपि पाचिकादीनामप्रधानत्वे तेषामियं संज्ञा भविष्य-तीति । एतच्चासम्यक्। तथाहि पूज्यमानं सामान्याप्रयोगे नपुंसकमेका-धिकरणमित्येतान् विशेषान् वक्ष्यामीत्येतदर्थं आरम्भः स्यात् । सति चैतदर्थे आरम्भेऽत्राऽप्रधानस्योपसर्जनसंज्ञा विधीयमाना प्रधानस्य न स्यात् ।

## ४४। एकविभक्ति चापूर्वनिपाते।

अप्रथमानिर्दिष्टार्थोऽयमारम्भः। विभक्तिशब्दः सुपां वाचकः। विभाग-वचनो वा। कारकशक्तिर्विभागः। विभज्यते प्रातिपदिकार्थोऽनयेति कृत्वा। समासे विधीयमान इति। समासार्थवाक्यकाले। तदा हि तस्य समासस्य विधीयमानता भवति। एतेन समासग्रहणमनुवर्त्तमानं समासार्थे वाक्ये वर्त्तते न समासशास्त्र इति दर्शयति। समासशास्त्रे हि सर्वमेव शब्दरूप-मेकविभक्तिकमेव भवतीत्येकविभक्तिग्रहणमनर्थकं स्यादिति भावः। सर्व्व-मेव हि प्रातिपदिकं पर्य्यायेणैकया विभक्त्या प्रयुज्यते। तस्मादेकविभक्तिग्रहण-सामर्थ्यादवधारणमत्र विज्ञायत इत्यत आह यन्नियतविभक्तिकमिति। तदेव

स्पष्टीकुर्वन्नाह द्वितीये सम्बन्धिनीत्यादि। पूर्वपदे नानाविभक्तिकेऽपीति। निष्क्रान्तशब्दः कर्तृशक्त्युपसर्जनीभूतं द्रव्यमाह। तच्चानेकसाधनशक्त्युपचितमिति क्रियान्तरसम्बन्धादनेकसाधनविभक्तिकं भवति। उत्तरपदं तु पञ्चम्यन्तमेव भवतीति। निष्क्रमणक्रियापेक्षयाऽविर्भूतापादानशक्तिकत्वात्। निष्कौशाम्बिरित्यत्रोपसर्जनसंज्ञाकार्यं गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति (१।२।४८) ह्रस्वत्वम्। अथ निसोऽत्र केनोपसर्जनसंज्ञा विधीयते यतोऽस्य पूर्वनिपातः? पूर्वसूत्रेणेति चेत्? नैतदस्ति। तेनाप्रधानस्योपसर्जनसंज्ञाविधानात्। निसश्चात्र प्राधान्यात्। एवं तर्हि चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् भविष्यति। अन्ये त्वाहुः। मा भून्निस उपसर्जनसंज्ञा। असत्यामपि तस्यां तस्यैव पूर्वनिपातो भविष्यति। एकविभक्ति चापूर्वनिपात इति (१।२।४४) वचनादिति। एतच्चायुक्तम्। पूर्वनिपाते हि कर्त्तव्य एकविभक्तिकस्योपसर्जनसंज्ञा नास्त्येव। तत्र यदि निस उपसर्जनसंज्ञा न स्यात् तदोदाहरणे द्वयोरप्यसत्यां तस्यां पर्यायेणानियतः पूर्वनिपातः प्रसज्येत। अथ कथमर्द्धपिप्पल्यादीनामुपसर्जनसंज्ञा न भवति? अत्र च विभाषा च्छन्दसीत्यतो (१।२।३६) विभाषाग्रहणं मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते। सा च व्यवस्थित विभाषा। तेनार्द्धं पिप्पल्या अर्द्धपिप्पलीत्यादौ विषये पिप्पल्यादीनामेकविभक्तियुक्तानामप्युपसर्जनसंज्ञा न भवति। यदि हि स्यात् तदा ह्रस्वत्वं स्यात्। (N)

## ४५। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।

अभिधेयवचनोऽयमर्थशब्द इति। एतेन प्रयोजनादिवचनाद्व्यवच्छिनत्ति। अर्थशब्दो हि प्रयोजनवचनोऽप्यस्ति। यथानेनार्थेनागतः। अनेन प्रयोजनेनेति गम्यते। निवृत्तिवचनोऽप्यस्ति यथा मशकार्थो धूम इति। मशकनिवृत्त्यर्थ इति गम्यते। धनवचनोऽप्यस्ति। यथार्थवान् देवदत्त इति। धनवानिति गम्यते।

---

(N) अत्र तु (१।२।४४) वार्त्तिकम्—एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनमिति। भाष्यञ्च—एकविभक्तावषष्ठ्यन्तानामिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्। अर्द्धं पिप्पल्या अर्धपिप्पलीति।

न्यासकारस्त्वनुत्सूत्रपदन्यासो यतस्ततः।
कुरुतेऽत्र समाधानमन्यथा वार्त्तिकं विना॥ १॥

अभिधेयवचनोऽप्यस्ति। यथास्य वचनस्यायमर्थं इति। इदमस्याभिधेयमिति गम्यते। इह त्वभिधेयवचनस्यैव ग्रहणम्। तत् पुनरभिधेयं जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधम्। अतएव चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्भवति। तत्र जातिशब्दानां जातिरभिधेया गौरिति। गुणशब्दानां गुणः शुक्ल इति। क्रियाशब्दानां क्रिया पाचक इति। द्रव्यशब्दानां द्रव्यं डित्थ इति। यद्यर्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञा विधीयते तदाऽभाववचन-शशविषाणादिशब्दानां प्रातिपदिकसंज्ञा नोपपद्यते। अर्थाभावात्। नैतदस्ति। अर्थशब्दोऽभिधेयवचन इत्युक्तम्। अभावोऽप्यभिधेयो भवत्येव। अन्यथा ह्यर्थाभावादितीदं वचनमनुच्चारणीयं स्यात्। अनर्थकत्वात्। नह्यनर्थकं वचनं प्रयोगमर्हति। तस्मादभाववचनानामपि प्रातिपदिकसंज्ञा भवत्येव। नान्तस्यावधेर्मा भूदिति। ननु चाधातुरिति प्रतिषेधो भविष्यति। तथाहि वन सम्भक्तौ। धन धान्य इत्येतयोः धात्वोरेते रूपे। नैतदस्ति। अव्युत्पन्नावपि वनधनशब्दौ स्तः। तयोरेवायं प्रयोगः। अत्र यदि नान्तस्यावधेः प्रातिपदिकसंज्ञा स्यात् तदा सुबुत्पत्तिः स्यात्। ततश्च पदसंज्ञायां सत्यां नलोपः स्यात्। ननु चाधातुरप्रत्यय इति पर्य्युदासावेतौ। ततो नञिवयुक्तन्यायेनार्थवत स्तत्सदृशस्यैवैषा संज्ञा भविष्यति। ततो नार्थोऽर्थवद्ग्रहणेन। नैतदस्ति। अनर्थकस्यापि धातोर्विद्यमानत्वात्। यथेङ् अध्ययने। इक् स्मरण इति। एतयोरधिपूर्वयोरेवार्थवत्त्वम्। न केवलयोः। यस्तु गणपाठेऽनयोरर्थनिर्देशः स समुदायार्थमवयवे ऽध्यारोप्य कृत इति वेदितव्यम्। अध्यारोपितार्थयोरपि तयो र्गणपाठसामर्थ्याद्धि धातुसंज्ञा भवत्येव। एवं प्रत्ययोऽप्यनर्थकोऽप्यस्ति। यथा यावादिभ्यः (५।४।२९) कन्। याव एव यावक इति। नह्यत्र प्रत्ययस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां शक्यते ऽर्थवत्त्वं प्रत्येतुम्। विनापि तेन कन्प्रत्ययेन यावशब्दादेव तदर्थः प्रतीयते। तस्मादर्थवदिति युक्तमुक्तम्। अहन्निति। अदादित्वाच्छपो लुक्। तिपो हल्ङ्यादिना (६।१।६८) लोपः। अट्। स च हन्तिग्रहणेन गृह्यत इति कृतेऽपि तस्मिन् हन्तिर्धातुरेव। अत्र विना धातुग्रहणेन प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेः प्रातिपदिकसंज्ञा स्यात्। नलोपस्तु प्रत्ययोत्पत्तौ पदत्वे सत्युत्तरकालम्। अथवा प्रतिपदिकसंज्ञापि प्रत्ययोत्पत्तेरुत्तरकालमेव

स्यात्। तस्माद् धातुग्रहणं कर्त्तव्यम्। ननु चात्र प्रत्ययलक्षणेनाप्रत्यय इति प्रतिषेधेन भवितव्यम्। तत् किमधातुग्रहणेन? नैतदस्ति। प्रातिपदिकसंज्ञायां नलोपः कार्य्यः। नलोपे च न ङिसम्बुद्ध्योरिति (८।२।८) प्रतिषेधो ज्ञापकः। प्रत्ययलक्षणेनाप्रत्यय इति प्रतिषेधो न प्रवर्त्तत इति। यदि ह्यप्रत्यय इति प्रत्ययलक्षणेन हि राजन्नित्येवमादिषु प्रातिपदिकसंज्ञायाः प्रतिषेधः स्यान् न ङिसम्बुद्ध्योरिति (८।२।८) प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् प्राप्त्यभावात्। अथ भिच्छिल्लूःपूरित्येवमादीनां कथं प्रातिपदिकसंज्ञा? यावता क्विबन्ता धातुत्वं न जहतीति धातव एवैत इति। अत्राधातुरिति प्रतिषेधेन भवितव्यम्। नैष दोषः। मा भूदनेन। कृदन्तत्वादुत्तरसूत्रेण भविष्यति। नचोत्तरस्याः प्राप्तेरयं बाधकः। वाक्यान्तरस्थत्वात्। मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति वा। काण्डे कुड्ये इति। प्रथमाद्विवचनान्ते एते रूपे। नपुंसकाच्चेति (७।१।१८) शीभावः। अत्र च प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहित स्तदादे स्तदन्तस्येति तदन्तस्य प्रतिषेधो भविष्यति। न प्रत्ययमात्रस्य। ननु च सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमित्यत्रान्तग्रहणेनान्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्तीति ज्ञापितत्वादप्रत्यय इति प्रत्ययान्तस्य प्रतिषेधो न लभ्यते। नैष दोषः। संज्ञाविधौ स प्रतिषेधः। नचायं संज्ञाविधिः। किं तर्हि? प्रतिषेधविधिः। अथ किमर्थमप्रत्यय इति प्रतिषेध उच्यते? यावतोत्तरसूत्रे कृत्तद्धितग्रहणं नियमार्थं भविष्यति कृत्तद्धितान्तस्यैव प्रातिपदिकसंज्ञा नान्यप्रत्ययान्तस्य काण्डे कुड्ये इत्येवमादेरिति। नैतदस्ति। असत्यस्मिन् प्रतिषेधेऽन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्तीति कृत्तद्धितयोरेव प्रातिपदिकसंज्ञा स्यात्। न तदन्तस्य। तदन्तस्य चेष्यते भिच्छिल्लूःपूरित्येवमादीनां प्रातिपदिकसंज्ञार्थम्। सत्यप्रत्यय इत्येतस्मिन् प्रतिषेधे प्राप्ते यथा कृत्तद्धितान्तस्य प्रातिपदिकसंज्ञा लभ्यते तथोत्तरसूत्रे प्रतिपादयिष्यामः। ननु च काण्डे कुड्ये इत्येतयोः पूर्वमेव प्रकृतेः प्रातिपदिकसंज्ञा प्रवृत्ता। विभक्त्या च सहैकादेशे कृतेऽन्तादिवद्भावादस्त्येव प्रातिपदिकत्वमिति सत्यप्यप्रत्ययग्रहणे ह्रस्वत्वं प्राप्नोत्येव। नैतदस्ति। अप्रत्ययग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति। अन्यथा ह्यप्रत्ययग्रहणमनर्थकं स्यात्। अधातुरप्रत्यय

इति द्विष्प्रतिषेधः षष्ठीतत्पुरुषाशङ्कानिरासार्थः । (0) अधातुप्रत्यय इत्युच्यमाने षष्ठीतत्पुरुषो ऽप्याशङ्केत । धातो र्यः प्रत्ययस्तस्य न भवतीति ।

## ४६ । कृत्तद्धितसमासाश्च ।

अत्रान्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्तीतिअतन्नोपतिष्ठते यस्मादप्रत्यय इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनमिदम् । अप्रत्यय इति प्रत्ययान्तस्य प्रतिषेध उक्तः । तेन यत्र संज्ञायाः प्रतिषेधस्तत्रेयमारभ्यमाणा तदन्तस्यैव भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाह अप्रत्यय इति । पूर्वसूत्रे पर्य्युदासात् कृदन्तस्येत्यादि । अथ समासग्रहणं किमर्थम् ? यावता समासस्यार्थवत्त्वात् पूर्वेणैव संज्ञा सिद्धेत्यत आह अर्थवत् समुदयानामित्यादि । निर्धारणषष्ठीयम् । अर्थवन्तो ये समुदाया स्तेषां मध्ये समासस्य र्थवतः समुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा यथा स्यादिति नियमार्थं समासग्रहणम् । यद्येवं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यार्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात् । बहुपटव उच्चकैरिति । कोऽत्र दोषः । चित (६।१।१६३) इत्यस्मिन् सूत्रे चितः सप्रकृतेर्बहुजकजर्थमिति वचनादेतद्व्यवस्थाप्यते प्रकृतिमन्तर्भाव्य चित्स्वरो विधीयत इति । बहुपटव इत्यत्र बहुचि विहिते यदि प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात् तदा प्रातिपदिकत्वाभावाद् यथा सुबुत्पत्तिर्न स्यात् तथोत्पन्नाया अपि विभक्तेः सुपो ( २।४।७१ ) धातुप्रातिपदिकयोरिति लुका न भवितव्यम् । ततश्च बहुपटव इत्यत्र जस्विभक्ते रकारस्य स्वरः स्यात् । उकारस्य चेष्यते । प्रातिपदिकत्वे तु सति पूर्वोत्पन्नाया विभक्तेर्लुकि कृते यान्या विभक्तिरुत्पद्यते सा बहुजुत्पत्तेरुत्तरकालभाविनीत्वात् प्रकृतौ नान्तर्भवति । तेन तामुत्सृज्य पूर्वो भागः स्वरभाग् भवति । अत उकारस्य स्वरः सिध्यति । उच्चकैरित्यत्र प्रातिपदिकत्वाभावादकज्वतः समुदायाद्विभक्तिर्न स्यात् । तस्याश्चासत्यां पदत्वं न स्यात् । ततश्चोच्चकैः पठतीति तिङ्ङतिङ इति ( ८।१।२८ ) निघातो न स्यात् । तस्मात् प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या । न वक्तव्या । यस्मात् तुल्य-

---

(0) अधातुप्रत्ययाविति सिद्धे नञ्द्वयोपादानं स्पष्टार्थमिति मनोरमाशब्दकौस्तुभयो र्भट्टोजिवाक्यन्तु न्यासदर्शनमूलकमिव प्रतिभाति । सर्वथा न्यासकारव्याख्यैव साधीयसी ।

जातीयानां नियमः। तेन तुल्यजातीयो नियमेन व्यवच्छिद्यते। तुल्यजातीयश्च समाससुबन्तसमुदायादन्यः वाक्यसमुदाय एव। ननु प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः। तेनायं तस्य नियमेन व्यवच्छेदो न करिष्यते। नैतदस्ति। सुबन्तासुबन्तसमुदायोऽपि समासोऽस्ति यथा प्रकर्त्ता प्रकारक इति। अयं हि गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति कृदन्तेनासुबन्तेन गतिकारकं सुबन्तं समस्यते। तेन सुबन्तासुबन्तसमुदायोऽयं समास इति तुल्यजातीयस्यापि नियमे विज्ञायमाने बहुपटव उच्चकैरित्यत्र प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात्। एवं तर्ह्याचार्य्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति • प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञेति यदयमप्रत्यय इति प्रत्ययान्तस्य प्रतिषेधं शास्ति।

## ४७। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य।

नपुंसकलिङ्ग इति। नपुंसकं लिङ्गं यस्येति बहुव्रीहिः। स पुनर्नपुंसकलिङ्गोऽर्थो द्रव्यभूतो वेदितव्यः। नपुंसकलिङ्गस्य द्रव्यधर्मत्वात्। अलोऽन्त्यस्येति। अलोऽन्त्यस्येति (१।१।५२) परिभाषया। ग्रामणीरिति। सत्सूद्विषेत्यादिना (३।२।६१) क्विप्। अग्रग्रामाभ्यां चेत्युपसंख्यानाण् णत्वम्। काण्डे कुड्ये इत्यत्राप्यप्रत्यय इति प्रतिषेधात् प्रातिपदिकसंज्ञा नास्ति। तेन ह्रस्वत्वं न भवति। ननु च प्रातिपदिकाप्रातिपदिकयोरेकादेशोऽन्तादिवद्भावात् प्रातिपदिकग्रहणेन गृह्यते। ततश्च क्रियमाणे प्रातिपदिकग्रहणे ह्रस्वत्वं प्राप्नोतीत्यत आह प्रातिपदिकग्रहणसामर्थ्यादित्यादि। इह यद्यन्तवद्भावः स्यात् प्रातिपदिकग्रहणमनर्थकं स्यात्। व्यवच्छेद्याभावादिति भावः।

## ४८। गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य।

स्त्रीति स्त्रीप्रत्ययग्रहणमिति। अत्र हेतुमाह स्वरितत्वादिति। स्त्रीग्रहणस्येह स्वरितत्वं क्रियत इति। स्वरितेनाधिकारादवगतिर्भवति। तेन स्त्रियामित्यधिकृत्य ये प्रत्यया विहितास्टाबादयस्तेषां ग्रहणं भवति। न स्त्र्यर्थाभिधायिनः शब्दमात्रस्य। नापि स्त्रीशब्दस्यैव स्वरूपस्य। उपसर्जनग्रहणं द्वयोर्विशेषणमित्यादेः स्पष्टीकरणायाह गोरुपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्योपसर्जनस्येत्यादि। ताभ्यां प्रातिपदिकस्येत्यादेरपि स्फुटीकरणायाह उपसर्जनगोशब्दान्तस्येत्यादि।

उपसर्जनगोशब्दोऽन्तो यस्येति विग्रहः। एवं गोशब्देनोपसर्जनेन स्त्रीप्रत्ययेन च प्रातिपदिकस्य तदन्तविधौ सति गोः कुलं गोकुलं राज्ञः कुमार्याः पुत्रो राजकुमारीपुत्र इत्यत्र गोशब्दस्य कुमारीशब्दस्य च ह्रस्वत्वं न भवति। अन्यथा इहापि स्यात्। भवति ह्यत्र गोशब्दस्य राजकुमारीशब्दस्य चोपसर्जनत्वमित्यभिप्रायः। चित्रगुरिति। प्रथमानिर्दिष्टमित्यादिना (१।२।४३) गोशब्दस्योपसर्जनसंज्ञा। निष्कौशाम्बिरित्यादौ त्वेकविभक्ति चापूर्वेत्यादिना (१ २।४४)। अतितन्त्रीरित्यादि (७।१।८५)। तत्रि कुटुम्बधारणे। इदितो नुम्। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य (उण, ३।४० ) ईतोः। तन्त्रीः। लच दर्शनाङ्कयोः। लक्षेर्मुट् चेति (उण, ३।४४०) मुट्। ईप्रत्ययश्च। लक्ष्मीः। श्रिञ् सेवायाम्। क्विब् वचिप्रच्छीत्यादिना (३।२।१७८, वा) क्विप्। दीर्घः। श्रीः। अत्यादयः क्रान्त्याद्यर्थे (२।१।१८, वा) द्वितीययेति प्रादिसमासः। यदि स्त्रीति स्त्र्यधिकारविहिताः प्रत्यया गृह्यन्ते ततश्च प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्येति तदन्तग्रहणेऽतिराजकुमारिरित्यत्र ह्रस्वत्वं न सिध्यति। नहि राजकुमारशब्दाद् वयसि प्रथम इति (४।१।२०) ङीप्प्रत्ययो विहितः। किन्तर्हि? कुमारशब्दात्। नैष दोषः। एषा परिभाषा यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादीत्यत्र (१।४ १३) सूत्रे प्रतिपादिता। तत्र च वामीत्यतो (१।४ ५) वा ग्रहणमनुवर्त्तते। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन व्यवस्थितविभाषात्वादतोयं क्वचिन्नोपतिष्ठत एव। अथवा कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यत (१।२।४६) चकारोऽनुवर्त्तते। स चानुक्तसमुच्चयार्थः। तेनातिराजकुमारिरित्यत्रापि ह्रस्वत्वं भविष्यतीत्यदोषः। ईयसो बहुव्रीहौ प्रतिषेध इति। ईयसन्ताद् यो विहित स्त्रीप्रत्यय स्तदन्तस्य बहुव्रीहौ प्रतिषेध इति। कथं पुनरसौ लभ्यते? विभाषा च्छन्दसीत्यतो (१।२।३६) विभाषाग्रहणानुवृत्तेः। न चैवं सत्यतिप्रसङ्गः। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्। बहुश्रेयसीति। अतिशयेन प्रशस्येति द्विवचनविभज्योपपदे (५।३।५७) तरबीयसुनावितीयसुन्प्रत्ययः। प्रशस्यस्य श्र इति (५।३।६०) प्रशस्यशब्दस्येयसुनि परतः श्रादेशो भवति। प्रकृत्यैकाजिति (६।४।१६२) प्रकृतिवद्भावः। आद्गुणः (६।१।८७)। उगितश्चेति ङीप् (४।१।६)। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्येति बहुश्रेयसीति।

नद्यृतश्चेति कप् न ( ५।४।१५३ ) भवति। ईयसश्चेति ( ६।४।१५६ ) कपो निषेधात्।

## ४८। लुक् तद्धितलुकि।

अदर्शनं ( १।१।६० ) लुक्। तच्चाभावः। अभावे पौर्वापर्य्यन्नोपपद्यते। तस्माल्लुकीति सतो सप्तमीयं न परसप्तमीति मत्वाह तद्धितलुकि सतीति। पञ्चेन्द्र इति। तद्धितार्थेत्यादिना ( २।१।५१ ) समासे कृते सास्य ( ४।२।२४ ) देवतेत्यण्। तस्य द्विगोर्लुगनपत्ये ( ४।१।८८ ) इति लुक्। इन्द्रवरुणेत्यादिना ( ४।१।४९ ) विहितस्य ङीषो ऽनेन लुक्। तस्मिन्निवृत्ते सन्नियोगशिष्टानामेकतरापाय उभयोरप्यपाय इत्यानुक् निवृत्तिः। पञ्चशष्कुलिरिति। अध्यर्द्धपूर्वाद्द्विगोर्लुगसंज्ञायामित्यार्हीयस्य ( ५।१।२८ ) ठकस्तेन क्रीतार्थे ( ५।१।३७ ) विहितस्य लुक्। आमलकमिति। आमलक्याः फलं विकार इति। नित्यं वृद्धशरादिभ्य ( ४।३।१४४ ) इति मयट्। तस्यापि फले लुगिति ( ४।३।१६२ ) लुक्। वदरं कुवलमिति। विकारार्थेऽनुदात्तादे ( ४।२।४४ ) रञित्यञ्। पूर्ववल्लुक्। शष्कुली। वदरी। आमलकी। कुवली। गौरादिपाठादेते ङीषन्ताः। गार्गीकुलमिति। गार्ग्यशब्दाद् यञश्चेति ( ४।१।१६ ) ङीप्। यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपः। हलस्तद्धितस्येति (६।४।१५०) यकारस्य च लोपः। गार्ग्याः कुलमिति षष्ठीसमासः। षष्ठ्या लुक्। गार्गीशब्दस्य समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वाच्छास्त्रीयमुपसर्जनत्वम्। सूत्रोदाहरणेषु त्विन्द्राणीप्रभृतीनां लौकिकमात्रोपसर्जनत्वम्। उभयगतिरिह शास्त्रे सम्भवतीति लौकिकमप्रधानत्वमुपसर्जनत्वम्। लोके ह्यप्रधानमुपसर्जनमित्युच्यते। गार्गीत्वमित्यत्रापि गार्गीशब्दस्य लौकिकमेवोपसर्जनत्वम्। अवन्ती कुन्ती कुरूरिति। अवन्तेरपत्यं गोत्रं स्त्री। कुन्तेरपत्यं गोत्रं स्त्री। वृद्धेत्कोशलाजादाञ्ञ्य ( ४।१।१७१ ) ञ्यङ्। कुरोरपत्यं स्त्री। कुर्वनादिभ्यो (४।१।१७२) ण्य इति ण्यः। (P) स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्चेति (४।१।१७६)

---

(P) क्वचित् कुर्वादिभ्यो ण्य इति ( 4. 1. 151 ) दृश्यते ( as in my MS. no 13 )। अवन्तिकुन्तिसाहचर्य्यात् तद्राजसंज्ञकस्यैव ग्रहणं युक्तमिति कुर्वनादिभ्यो ण्य इत्येव (4. 1. 172) पाठः। स एव हि बहुषु पुस्तकेषु लभ्यते।

लुक्। अवन्तिकुन्तिशब्दाभ्या मितो मनुष्यजातेरिति (४।१।६५) ङीष्। कुरुशब्दादूङुत (४।१।६६) इतूङ्। अत्र ङीषोङा च तद्धितार्थो गोत्रापत्यं स्त्रीप्रधानमेवाभिधीयत इतुपसर्जनत्वं नास्ति लौकिकम्। शास्त्रीयमपि नास्ति। अप्रथमानिर्दिष्टत्वात् समासशास्त्र इति।

## ५०। इद् गोण्याः।

पञ्चगोणिरिति। तद्धितार्थेति (२।१।५१) समासे कृत आर्हीयष्ठक्। तस्य पूर्ववल्लुक्। इदिति योगविभाग इति। एतस्येद्ग्रहणमेव लिङ्गम्। तथाहि गोण्या इत्येतावति सूत्रे ह्रस्वग्रहणानुवृत्तौ ह्रस्वत्वे कृते पञ्चगोणिरिति सिद्धत्येव। किमिद्ग्रहणेन? तदेतदिद्ग्रहणं क्रियमाणं योगविभागार्थं विज्ञायते। ननु चानन्तरसूत्राल्लुक एवानुवृत्तिः स्यान्न ह्रस्वस्य। नैतदस्ति। लुगनुवृत्तौ हि सूत्रमिदमनर्थकं स्यात्। लुकोऽनन्तरसूत्रेणैव सिद्धत्वात्। तस्माद्ध्रस्वग्रहण मेवानुवर्त्तते। न लुग्ग्रहणम्। पञ्चसूचिरिति। पञ्च-गोणिरित्यनेन तुल्यम्। यदि योगविभागः क्रियते तदातिप्रसङ्गः स्यात्। अन्येषामपि प्रसज्यत इत्यत आह स चेत्यादि। यदि सर्व्वत्रेत्त्वं पूर्वयोगेणैव स्यात् तदा गोण्या इति वचनमनर्थकम्। तस्माद् गोणीग्रहणादस्यासर्व्व-विषयत्वम्। तेन योगविभागः सूचीविषय एव। नान्यविषय इति। तपरकरणं दीर्घनिवृत्त्यर्थम्। दीर्घस्य दीर्घकरणमनर्थकं स्यात्। अतो विना तपरकरणेन दीर्घो न भविष्यतीति चेत्? न। लुग्ह्रस्वबाधनार्थत्वाद् दीर्घकरणस्य। भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णातीति। तस्माद् दीर्घनिवृत्त्यर्थं तपरत्वं नोप-पद्यत इति चेत्? न। तस्याभाव्यमानत्वात्। अपूर्वस्य हि विधानं भाव्य-मानत्वम्। नचात्रापूर्वस्य विधानम्। तथाहि लुग्ह्रस्वयोः प्राप्तयोः पुनः स एव ईकारः प्रतिप्रसूयते। तस्मात् तपरकरणं कर्त्तव्यम्।

## ५१। लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने।

अभिधेयस्य लिङ्गसंख्ययोः प्राप्तयोरयमारम्भः। लुबिति प्रत्ययस्यादर्शनम्। तच्चाभावात्मकम्। नचाभावे व्यक्तिवचनयोः शक्यतेऽतिदेशः कर्त्तुम्। तस्मा-ल्लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थो लुप्छब्देन विवक्षित इति मत्वाह लुपीति।

लुप्संज्ञयेत्यादि। कथं पुनरेतल्लभ्यते ? यावता प्रत्ययादर्शनस्यैषा संज्ञा। नतु प्रत्ययार्थस्य। साहचर्य्यात्। साहचर्य्यन्तु यत्र लुप् तत्रावश्यं प्रत्ययार्थस्य सद्भावात्। युक्तवदिति निष्ठाप्रत्ययेन क्तवतुना प्रकृत्यर्थं उच्यत इति। अत्र कारणमाह स हीत्यादि। युनक्त्यभिसम्बध्नाति विशेषणविशेष्यभावलक्षणसम्बन्धेनात्मसम्बन्धिनं करोतीत्यर्थः। तत्र तस्य निवास इत्यादि। प्रत्ययार्थो विशेष्यः। पञ्चालादिशब्दस्यार्थः प्रकृत्यर्थो विशेषणम्। तेन हि पूर्वं विज्ञातेन स्वाम्यन्तरव्यवच्छेदेन प्रत्ययार्थो विशिष्यते। अथवेत्यादि। पूर्वं युजिर् योग इत्यस्माद्धातोः क्तवतुप्रत्यये सति युक्तवदित्येतद्रूपं प्रदर्शितम्। इदानीं तस्यैव धातोः क्तप्रत्ययाद्वतिप्रत्यये सति युक्तवदित्येतद्रूपं दर्शयति। यद्यपि द्विष्ठत्वात् सम्बन्धस्य यथा प्रत्ययार्थेन प्रकृत्यर्थो युक्तस्तथा प्रकृत्यर्थेनापि प्रत्ययार्थ स्तथापि प्रत्ययार्थसम्बन्धिनोर्व्यक्तिवचनयोः प्रत्ययार्थ एवातिदेशोऽनर्थक इति प्रकृत्यर्थ एवात्र युक्तशब्देन विवक्षित इति मत्वाह युक्तः प्रकृत्यर्थ इति। सप्तम्यर्थे वतिरिति। लुपीति सप्तमीनिर्देशात्। व्यक्तिशब्दः प्रादुर्भावादावप्यर्थे वर्त्तते। वचनशब्दो हि भाषणादिषु। अतस्तत्संप्रत्ययो मा भूदित्यत आह व्यक्तिवचने इति। किं पुनः कारणं पूर्वाचार्य्यनिर्देश आश्रीयत इत्यत आह तदीयमित्यादि। कुत एतदित्यत आह तथाचेत्यादि। नहि स्वकीयस्यैव (Q) प्रत्याख्यानं युक्तमिति भावः। पञ्चालाः क्षत्रिया इति। पञ्चालस्यापत्यानि बहूनीति विवक्षायां जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)। तस्य तद्राजस्य बहुषु (२।४।६२) तेनैवास्त्रियामिति लुक्। तेषां निवासो जनपद इत्यस्य वक्ष्यमाणेन पञ्चालानामित्यनेन सम्बन्धः। पञ्चालानां निवास जनपद इति। तस्य जनपदे लुबिति (४।२।८१) लुक्। कुरुशब्दादपत्यार्थे कुरुनादिभ्यो (४।१।१७२) ण्य इति ण्यप्रत्ययः। मत्स्यादिशब्देभ्योऽप्यपत्यार्थे द्व्यञ्मगधेत्यादिनाण् (४।१।१७०)। शेषं पूर्ववत्। लवणः सूप इति। लवणेन संसृष्ट इति प्राग्वहतीय (४।४।२२) ठक्। तस्य लवणाल्लुगिति

(Q) भट्टोजि's reference to—स्वकीय (vide प्रौढ़मनोरमा under गह्वादिभ्यश्च 4. 2. 138) —"तथाच लुब्योगाप्रख्यानादित्यत्र नहि स्वकीयस्यैव प्रत्याख्यानमिति न्यासः"—is evidently from memory. It is in लुपियुक्तवत् (1. 2. 51) and not in लुब्योग &c. (1. 2. 54.).

(४।४।२४) लुक् । अत्राभिधेयवल्लिङ्गवचने भवतः । शिरीषाणामदूरभवो ग्राम इति शिरीषाः । अदूरभवश्चेति (४।२।७०) शिरीषशब्दादण् । तस्य वरणादिभ्यश्चेति (४।२।८२) लुप् । णत्वन्न भवतीति व्यक्तिवचनग्रहणस्य फलम् । यदि व्यक्तिवचने इति नोच्येत तदा शिरीषेषु यद्वनस्पतित्वं तस्यापि ग्रामेऽतिदेशः स्यात् । एवञ्च शिरीषवनमित्यत्र विभाषौषधिवनस्पतिभ्यश्चेति (८।४।६) णत्वं प्रसज्येत । हरीतक्यः फलानीति । हरीतकीशब्दो गौरादिषु पिप्पल्यादिदर्शनात् ङीषन्तः । ततः फले विकारेऽनुदात्तादेरञितत्रञ् (४।२।४४) । तस्य हरीतक्यादिभ्यश्चेति (४।३।१६७) लुप् । अत्र व्यक्तिरेव युक्तवद्भावेन भवति । वचनन्त्वभिधेयवदिति । एतच्च विभाषाग्रहणानुवृत्तेर्व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाच्च लभ्यते । खलतिकं वनानीति । अदूरभवश्चेत्यण् (४।२।७०) । तस्य वरणादिभ्यश्चेति (४।२।८२) लुप् । अत्र वचनमेव युक्तवद्भावेन भवति । व्यक्तिस्त्वभिधेयवदेवेति । एतदपि पूर्ववदेव लभ्यते ।

## ५२ । विशेषणानाञ्चाजातेः ।

पूर्वं प्रकृत्यर्थगतयोर्लिङ्गसंख्ययोर्लुबर्थेऽतिदेशात् तद्विशेषणानामपि रमणीयादीनां व्यक्तिवचनातिदेशः सिद्ध एव । यद्यपि भिन्नं विशेषणानां प्रवृत्तिनिमित्तं तथापि तेन भिन्नेनापि तत्र प्रवर्त्तमानानां स एव लुबर्थोऽतिदिष्टव्यक्तिवचनस्तेषामभिधेयः । तस्मात् तद्गतेनैव लिङ्गसंख्याभिधाने सिद्धे जातिप्रतिषेधार्थमिदं वचनम् । गोदौ रमणीयाविति । गोदौ नाम ह्रदौ । तयोरदूरभवो ग्राम (४।२।७०) इत्यर्थेऽण् । वरणादिभ्यश्चेति (४।२।८२) लुप् तस्य । पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्राम इति । जनपदग्रामशब्दौ जातिवचनौ । ताभ्यां जातिनिमित्ताभ्यां स एव लुबर्थो जातिरूपेणोच्यत इति तयोरपि व्यक्तिवचने युक्तवत् स्याताम् । ततो जातेरिति प्रतिषेधः । जात्यर्थस्येत्यादि । जातिशब्दस्यार्थो जात्यर्थः तस्यायमजातेरिति युक्तवद्भावप्रतिषेधो न जातिशब्दस्यैवेत्यर्थः । किमेवं सति सिद्धं भवतीत्यत आह तेनेत्यादि । अर्थस्य युक्तवद्भावप्रतिषेधे सति यथा जातिशब्दस्य तत्रार्थे वर्त्तमानस्य तदीये लिङ्गसंख्ये न भवत स्तथा तद्विशेषणानामपि युक्तवद्भावो न भवति ।

यदि पुनर्जातिशब्दस्यायं प्रतिषेधः स्यात् तदा पञ्चाला जनपदो गोदौ ग्राम इत्यत्रैव स्यात्। रमणीयो बह्वन्न इत्यादौ न स्यात्। रमणीयादीनामजातिशब्दत्वात्। द्वारग्रहणं लुबर्थे जातिशब्दस्य प्रवृत्तत्वात् लुबर्थे जातिविशेषणानां साक्षादप्रवृत्तेः। तानि हि साक्षाज्जातिमेव विशेषयन्ति। तस्यां तु विशेषितायां लुबर्थोऽपि विशिष्ट एव प्रतीयत इति जातिद्वारेण तस्य तानि विशेषणानि भवन्ति। मनुष्यलुपीति। मनुष्यलक्षणो यो लुप् तस्य विशेषणानां। युक्तवद्भावप्रतिषेध इति। स च विभाषाग्रहणानुवृत्तेर्व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाल्लभ्यते। चञ्चाऽभिरूप इति। चञ्चेव मनुष्य चञ्चा। इवे प्रतिकृताविति (५।३।९६) कन्। तस्य लुम् मनुष्य (५।३।९८) इति लुप्। अभिरूप इति। विशेषणस्याभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्ति। वध्रिकेति। पूर्ववत् कल्लुपौ।

## ५३। तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्।

तदशिष्यमिति प्रतिज्ञा। संज्ञाप्रमाणत्वादिति हेतुः। यस्मात् संज्ञाभूतानां पञ्चालादिशब्दानां प्रमाणत्वं तस्मात् तदशिष्यम्। प्रमाणत्वं पुनः प्रत्ययलक्षणम्। सर्वेषामेव शब्दानामेवंविधे स्वविषये प्रमाणत्वमस्ति। उच्यते चेदम्। तत्र विशेषो विज्ञायते। स पुनरभिधेयगतलिङ्गसंख्यानपेक्षया भिन्नलिङ्गसंख्यानामपि तेषां स्वार्थे प्रत्यायकत्वम्। अतएवाह संज्ञाशब्दा हि नानालिङ्गसंख्या इति। प्रमाणमिति। प्रमाणं प्रत्यायका वाचका इत्यर्थः। तत्रैतत् स्यात्। संज्ञाशब्दा एवामी पञ्चालादयो न भवन्ति। किं तर्हि? योगनिमित्तका इत्यत आह पञ्चाला वरणा इत्यादि। योगनिमित्तकाः शब्दा योगशब्दाः। नहि पञ्चालादयः शब्दाः क्षत्रियादिसम्बन्धेन जनपदादौ वर्त्तन्ते। किं तर्हि? संज्ञा एता जनपदादीनाम्। यदि संज्ञाशब्दा एते ततः किमिति? तदशिष्यमित्यत आह तत्र लिङ्गं वचनञ्चेत्यादि। कुत एतत्? यत् संज्ञाशब्दानां लिङ्गं वचनञ्च तत्स्वभावसिद्धमित्यत आह यथेत्यादि। एकस्यामपि जलकणिकायां बहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गोऽप्शब्दः प्रयुज्यते। एकस्यामपि योषिति दारशब्दः पुंलिङ्गो बहुवचनान्तः। गृहशब्दश्चैकस्मिन्

वेश्मनि बहुवचनान्तः पुंलिङ्गश्च । एकस्यामपि वालुकायां बहुवचनान्तः सिकताशब्दः स्त्रीलिङ्गः । वर्षा इति । एकस्मिन् विशिष्टकालेऽपि प्रवर्त्तमानः स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च वर्त्तते । तस्माद् यथैवैषामप्प्रभृतिशब्दानां स्वाभाविकं लिङ्गं वचनं च तथा पञ्चालादिशब्दानामपीति नार्थो युक्तवद्भाववचनेन । यद्येवं कस्मात् पूर्वं तदुक्तम् ? प्रतिषेधविषयोपदर्शनार्थम् । नह्यनिर्दिष्टविषयस्य प्रतिषेधः शक्यते कर्त्तुं ज्ञातुं वा ।

## ५४ । लुब्योगाप्रख्यानात् ।

योगाप्रख्यानादिति । योगो जनपदादेः क्षत्रियादिभिः सह सम्बन्धः । तस्याप्रख्यानादनुपलब्धेरित्यर्थः । ये हि योगनिमित्तकाः शब्दा योगमभिधाय तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते तेभ्यो योग उपलभ्यते यथा दण्डिशब्दादिभ्यः । न च पञ्चालादिशब्देभ्यो दण्ड्यादिशब्दवद् योग उपलभ्यते । तस्मान्नैते योगशब्दा इत्यत आह नहीत्यादि । प्रख्यायते कथ्यते प्रकाश्यते बुद्धेर्विषय आपाद्यत इति यावत् । यत एवं पञ्चाला वरणा इति सम्बन्धो न प्रख्यायते ऽतएव नैतदुपलभामहे ह्ययोगान्नगरे वरणा इति । किं तर्हि ? संज्ञा एता अनपेक्षितप्रवृत्तिनिमित्ताः । यदि संज्ञाशब्दा एते ततः किमित्याह तस्मादत्रेत्यादि । गतार्थम् । ननु च संज्ञाशब्दानामपि व्युत्पत्त्यर्थं तद्धित उत्पद्यत एव । यथा हस्ताज्जातौ (५।२।१३३) हस्ती । कम्बलाच्च (५।१।३) संज्ञायां कम्बल्यमिति । तत्किमुच्यते तस्मादत्र तस्य निवासो (४।२।६९) ऽदूरभवश्चेति (४।२।७०) तद्धितो नोत्पद्यत इति ? सत्यम् । संज्ञाशब्दव्युत्पत्त्यर्थं तद्धित उत्पद्यते । स च क्वोत्पद्यते ? यत्र श्रुतिकृतो विशेषो विद्यते । नचेह तद्धितोत्पत्तौ लुपि सति कश्चिद् विशेष इति न तद्धितोत्पत्तिः ।

## ५५ । योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ।

योगप्रमाण इति । योगस्य प्रमाणं योगप्रमाणं येन योगः प्रत्याय्यते । तत् पुनरिह प्रकृतत्वात् पञ्चालादिशब्दः । स हि परमतेन पञ्चालादिसम्बन्धं स्वप्रवृत्तिनिमित्तमभिधायैव जनपदादौ वर्त्तते । नानभिधाय । तेन योगस्य प्रमाणं प्रत्यायको वाचक इत्यर्थः । तदभावेऽदर्शनं स्यादिति । यो हि योग-

निमित्तकः स योगाभावे न प्रयुज्यते दण्ड्यादिशब्दवदित्यभिप्रायः। योगप्रमाणे होत्यादि। हिशब्दं हेत्वर्थं प्रयुञ्जानश्चशब्दो हेत्वर्थवृत्तिः सूत्रे उपात्त इति दर्शयति। स्यादेतत्। भवत्येव योगाभावे पञ्चालादिशब्दस्यादर्शन मित्यत आह दृश्यते चेत्यादि। गतार्थम्।

## ५६। प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।

अन्यप्रमाणत्वादिति। अन्यत् प्रमाणमवगतिहेतुर्यस्यार्थाभिधानलक्षणस्य तदन्यप्रमाणम्। तस्य भावोऽन्यप्रमाणत्वम्। प्रधानं समासे किञ्चित् पदमिति यथा राजपुरुषशब्दे पुरुष इत्येतत्। प्रधानोपसर्जने इत्यादि। राजपुरुष इत्यत्र पूर्वपदमुपसर्जनम्। इतरत् प्रधानम्। ते च प्रधानार्थं सह ब्रूतः। प्रकृतिप्रत्ययावित्यादि। औपगव इत्यत्रोपगुशब्दः प्रकृतिः। अण्प्रत्ययः। तावपत्यलक्षणं प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः। अशक्यत्वादिति। अशक्यत्वन्त्व नन्तप्रकारत्वात्। तथाहि चित्रगुरिति बहुव्रीहौ कृते गुणगुणिभ्यामन्यपदार्थ उच्यते। अत्र गुणपदं चित्रशब्दोऽप्रधानम्। विशेषणत्वात्। गुणिपदं गोशब्दः प्रधानम्। विशेष्यत्वात्। क्वचिदुपसर्जनाभ्यामन्योऽर्थो ऽभिधीयते। प्लक्षन्यग्रोधमिति। अत्र हि समुदायार्थः प्रधानमुपसर्जनाभ्यामभिधीयते। क्वचित् प्रधानाभ्यां प्रधानार्थयोरेव सहाभिधानम्। प्लक्षन्यग्रोधाविति। तथाहि न केवलं प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतो ऽपि तु क्वचित् प्रकृत्यर्थमपि यथा स्वार्थिकेषु शुक्लतरं शुक्लतममिति। तथा केचिदाख्यातेषु स्वभावात् प्रधानमाहुः प्रकृत्यर्थं क्रियाप्रधानमाख्यातमिति। अन्ये तु मन्यन्त आख्यातेषु प्रधानभूतः प्रत्ययार्थ एव शक्तिरूपेणोच्यते। यथा विभक्तिभिः क्वचित् प्रत्यये। न तु शक्तिमान् पदार्थो द्रव्यभावमापन्न उच्यते। अतः क्रियान्तरेण च सम्बन्धे शक्त्यन्तरमाविर्भवति कर्त्तारं पश्येति। एवमाद्य नन्तप्रकारमर्थाभिधानमशक्यं सर्वमुपदेष्टुम्। तस्माल्लोकत एवार्थावगतिः। कथं पुनरेतद् विज्ञायत इत्यत आह येरपीत्यादि। सुगमम्।

## ५७। कालोपसर्जने च तुल्यम्।

अर्थस्यान्यप्रमाणत्वादित्युक्तम्। कथं पुनरत्राप्ययं हेतुर्लभ्यत इति

प्रश्नावसर इत्याह तुल्यशब्दो हेत्वनुकर्षणार्थ इति। कथं पुनस्तुल्यशब्दो हेत्वनुकर्षणार्थो भवति ? एवं मन्यते। तुल्यमिति प्रत्याख्यानक्रियाविशेषणमेतत्। अनन्तरोक्तेन प्रत्याख्यानेन तुल्यमेतत् प्रत्याख्यानमेवञ्च तुल्यम्भवति यदि यस्तस्य हेतुः स एवास्यापि भवति। तस्मात् तुल्यग्रहणसामर्थ्यात् पूर्वको हेतुरत्रानुवर्त्तते। तेन तुल्यशब्दो हेत्वनुकर्षणार्थो भवतीति। अन्याय्यादुत्थानादित्यादि। उत्थानं शयनाद्रात्रेः पश्चिमे यामे न्याय्यमुक्तम्। संवेशनं शयनम्। तदपि रजन्याः प्रथमे यामे न्याय्यम्। तदेवं सकलो दिवसः पूर्वस्याश्च रात्रेः पश्चिमो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतनः काल इत्युक्तं भवति। अहरुभयतोऽर्द्धरात्र मित्यादि। कृत्स्नो दिवस उभयतश्चार्द्धरात्रम्। अतिक्रान्तायाश्च रात्रे रागामिन्याश्च रात्रेरद्यतनः काल इत्यपरे।

## ५८। जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्।

जातिर्नामायमेकोऽर्थ इत्यादिना सूत्रारम्भस्य प्रयोजनमाह। ननु च जातेः संख्या न विद्यते। तस्या द्रव्यधर्मत्वात्। यद्यपि वैशेषिकसिद्धान्तप्रसिद्धा गुणपदार्थसंगृहीता या संख्या सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद् दर्शने भेदमात्रा या संख्या सा विद्यत एवेत्यदोषः। जातेराख्येति। आख्यानमाख्या प्रत्यायनम्। एकस्मिन्नर्थ इति। जात्याख्योऽर्थो जात्यर्थो बहुवद्भवतीति यावदिति। एतेनैतद्दर्शयति। नहि जातिशब्दाज्जसादिबहुवचनं विधीयते। किन्तर्हि बहुवद्भावः। यदि हि जातिशब्दाज्जसादिबहुवचनं विधीयेत जातिविशेषणेभ्यः सम्पन्नादिभ्यस्तन्न स्यात्। तेषामजातिशब्दत्वादित्यभिप्रायः। कथं पुनर्जात्यर्थस्य बहुवद्भावो लभ्यते ? अन्वर्थग्रहणात्। बहुवचनमिह न पारिभाषिकं बहुवचनं गृह्यते। किं तर्हि ? अन्वर्थम्। उक्तिर्वचनम्। बहूनां वचनं बहुवचनम्। न चैकस्मिन्नर्थे बहूनां वचनं सम्भवति। अतः सामर्थ्याद् वत्यर्थो गम्यते। एकस्मिन्नर्थे बहुवदिति। तदनेन प्रकारेण जात्यर्थो बहुवद्भवति। तेनेत्यादि। यत एव जात्यर्थस्य बहुवद्भावो विधीयते तेन जातिविशेषणानामजातौ वर्त्तमानानां

बहुवचनमुपपद्यते जातिशब्दवत्। देवदत्त इति। देवदत्तशब्दो यदृच्छाशब्दः। नानेनैकं वस्त्वनेकव्यक्त्यनुगतमभिधीयते। अनेकव्यक्त्याधारा हि जातिः। ततो न देवदत्तत्वं नाम जातिरस्तीति न भवत्यत्र बहुवद्भावः। ननु चात्रावस्थाभेदेनानेकाधारं देवदत्तत्वमस्ति। नैतदस्ति। एवं हि जातिग्रहण-मनर्थकं स्यात्। सर्वत्र जातेः सम्भवात्। तस्माज् जातिग्रहणसामर्थ्याल् लोके ये जातिशब्दाः प्रतीता स्तदर्था एवात्र जातिशब्देन विवक्षिता इति विज्ञायते। नच देवदत्तशब्दो लोके जातिशब्दः प्रतीतः। काश्यपप्रतिकृतिः काश्यप इति। कश्यपस्यापत्यं। अनृष्यानन्तर्ये (४।१।१०४) विदादिभ्यो-ऽञित्यञ् काश्यप इति। तत इवार्थे इवे प्रतिकृताविति (५।३।९३) कन्। लुम् मनुष्य (५।३।९८) इति लुब् भवति। अयं जातिशब्द इति। गोत्रञ्च चरणैः सहेति (४।१।६१, भा) लक्षणात्। तस्य च गोत्र-प्रत्ययान्तत्वात्। नत्वयं जातिरूपेणोच्यते। किं तर्हि? प्रतिकृतिरिति। एवं तर्हि जातिप्रत्यायने हि चिकीर्षिते बहुवद्भावेन भवितव्यम्। नचेह जातिप्रत्यायनं चिकीर्षितम्। किन्तर्हि? प्रतिकृतिप्रत्यायनम्। व्रीहि-यवाविति। एकस्मिञ्जात्यर्थे बहुवद्भावोऽनेन विधीयते। इह तु द्वौ जात्यर्थौ विवक्षितौ। वक्तव्यशब्दस्य व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। अन्य-तरस्यामिति व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन संख्याप्रयोगे न भविष्यति। अथवै-को व्रीहिः सम्पन्न इत्यत्रैकशब्दः प्रयुज्यमानो जात्यर्थस्यैकत्वमुद्भावयति। तच्च बहुत्वेन विरुध्यते। तस्मादेकत्वबहुत्वयोर्विरोधाद्बहुवद्भावो नेह भविष्यति।

## ५९। अस्मदो द्वयोश्च।

अत्राप्यर्थस्य बहुत्वातिदेशः। अस्मदो योऽर्थः स बहुवद्भवतीति। तेन तिङन्तस्यापि तत्र वर्त्तमानस्य बहुवचनान्तत्वम्भवति। वयं ब्रूम इति। एकत्वे द्वित्वे चेत्यादि। युक्तं यदेकत्वे भवति। द्वित्वे तु कथम्? नहि द्वित्वमस्मदर्थस्य सम्भवति। अस्मच्छब्दस्यात्मविषयत्वात्। आत्मनश्चैकत्वात्। नैष दोषः। आत्मत्वं परत्र यदोपचर्य्यतेऽयं मे द्वितीय आत्मेति तदा

ऽस्मच्छब्दस्य तत्रापि वृत्तेर्द्व्यर्थविषयत्वं सम्भवति। अथवा त्यदादीनां मिथो यद् यत् परं तच्छिष्यत इत्यस्मच्छब्द एव शिष्यमाणो युष्मदर्थमप्याहेति द्व्यर्थतोपपद्यत इति युज्यते द्व्यर्थता। अथ यद्यस्मच्छब्दो बहुवचनान्तः प्रयुज्यते तदैकार्थविषयोऽयं न द्व्यर्थविषय इति। अथ द्व्यर्थविषयोऽयं नैकार्थविषय इति। कुतस्तस्यैकार्थद्व्यर्थविषये वृत्तिरवसीयते? प्रकरणात्। यथा ऽराच्छब्दस्य दूरान्तिकार्थयोर्वृत्तिरिति। अहमिति। ङे (७।१।२८) प्रथमयोरमित्यम्भावः। त्वाहौ (७।२।९४) सावित्यहादेशः। वयमिति। जसि मपर्यन्तस्य (७।२।९१) यूयवयौ जसीति (७।२।९३) वयादेशः। शेषे (७।२।९०) लोपः। आवामिति। औप्रत्यये परतो युवावौ (७।२।९२ द्विवचन इत्यावादेशः। प्रथमायाश्चेत्यादिनात्वम् (७।२।८८)। वक्तव्य इति। व्याख्येय इत्यर्थः। व्याख्यानन्त्वन्यतरस्यांग्रहणं यदनुवर्त्तते तस्य व्यवस्थितविभाषात्वमाश्रित्य कर्त्तव्यम्। युष्मदि गुरावेकेषामिति। एतदपि चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सूत्रेणैव संगृहीतम्।

## ६०। फल्गुनीप्रोष्ठपदानाञ्च नक्षत्रे।

चकारो द्वयोरनुकर्षणार्थ इति। ननु च फल्गुन्यौ नक्षत्रे द्वे एव। तथा प्रोष्ठपदे अपि द्वे। अत्रानयोर्द्वित्वाद्द्वित्व एव बहुवचनम् भविष्यति। तत् किं चकारेण द्वयोरित्यनुकर्षणार्थेन? एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति। नक्षत्रग्रहणं ज्योतिष उपलक्षणार्थमिति। तेनैतदपि सिद्धं भवति। उदिताः पूर्वाः फल्गुन्य उदिते पूर्वे फल्गुन्याविति। यदि नक्षत्रग्रहणं ज्योतिष उपलक्षणार्थमिति न ज्ञाप्यते तदिह तु न स्यात्। यतो ज्योतिषामावस्थिकी नक्षत्रता चन्द्रमसा योगे सति भवति। नान्यदा। अन्यदा तु ज्योतिष्ट्वमेव। नच नक्षत्राभिधायिन उदिताः पूर्वाः फल्गुन्य इत्यत्र फल्गुनीशब्दस्य प्रयोगः। किं तर्हि? ज्योतिर्मात्राभिधायिन इति। अत्र ज्योतिष्ट्वमेकस्याप्यस्तीति तन्निवृत्त्यर्थं द्वयोरित्यनुकर्षणार्थं चकारकरणं युक्तम्। यदि पुनर् ज्योतिष उपलक्षणार्थं नक्षत्रग्रहणं न स्यात् तदा क्व स्यात्? तदेहैव स्यात्। अद्य पूर्वाः फल्गुन्यः। अद्य पूर्वे फल्गुन्याविति। अस्ति ह्यत्र फल्गुन्योर्नक्षत्रता।

चन्द्रमसा युक्तत्वात्। तथाहि नक्षत्रेण युक्तः काल (४।२।३) इत्यण् भवति। श्रवणं तस्य न भवति। लुबविशेष (४।२।४) इति लुप्तत्वात्। फल्गुन्यौ माणविके इति। फल्गुन्योर्जाते इति। फल्गुन्याषाढ़ाभ्यां टानावित्युपसंख्यानाट्ट (४।३।३४ वा) प्रत्ययः। टिड्ढाण् (४।१।१५) ञिति ङीप्।

## ६१। छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्।

## ६२। विशाखयोश्च।

## ६३। तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्।

तिष्यपुनर्वसवो माणवका इति। तिष्यपुनर्वसुशब्दाभ्यां नक्षत्रेण युक्तः काल इत्यण् (४।२।३) भवति। तस्य लुबविशेष इति (४।२।४) लुप्। ततस्तिष्ये जातो माणवकः पुनर्वस्वोर्जातौ माणवकाविति सन्धिवेलादिनाऽण् (४।३।१६)। तस्य श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधेत्यादिना (४।३।३४) लुप्। पर्य्यायाणामपि यथा स्यादिति। नक्षत्रग्रहणे सत्यर्थग्रहणादेतद् भवति। शब्दग्रहणे च स्वं रूपमित्येषा (१।१।६८) परिभाषा भवतीत्युक्तमेतत्। तदभावे पर्य्यायाणामपि भवति। सिध्यपुनर्वसू इति। सिध्यशब्दस्तिष्यपर्य्यायः। यस्तिष्य स्तौ पुनर्वसू एषामित्यवयवेन विग्रहं दर्शयति। समुदायस्तु समासार्थो वेदितव्यः। अथ तिष्यपुनर्वसव इति? बहुव्रीहिणा विपर्य्यस्तमतयः पुरुषा एवैवमुच्यन्ते। ततश्च नक्षत्रसमास एवायन्न भवति। तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन द्वन्द्वग्रहणेनेत्येवं यो देशयेत् तं प्रत्याह तिष्यादय एवेत्यादि। स्वदर्शनापराधादन्यथा तिष्यादीन् दृष्ट्वा प्रतिपत्तृभिस्त एव तिष्यादयो विपर्य्ययेण दृश्यमाना बहुव्रीहिणैवमुच्यन्ते। न तु पुरुषाः। तस्मान्नक्षत्रसमास एवायम्। तिष्यपुनर्वस्विदमिति। केन पुनरत्रैकवद्भावः? जातिरप्राणिनामिति (२।४।६) चेत्? न। संज्ञाशब्दत्वात्। देवदत्तादिशब्दवत्। नायं जातिशब्दः। अनेकाधारा हि जातिर्भवति। न च तिष्यादिस्तथा। किञ्च वक्ष्यति जातिप्रधानपरत्वे च जातिद्रव्याणामयमेकवद्भावो न नियतद्रव्यविवक्षायामिति। नियतद्रव्यविवक्षा चात्र। तस्मान्न जातिरप्राणिना (२।४।६) मित्यनेनैकवद्भाव उपपद्यते। न चान्यदेकवद्भावलक्षणमस्ति। तत्र तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रे द्वन्द्वसमासे बहुत्वाद् बहुवचनेन

भवितव्यम् । एवञ्च बहुवचनग्रहणमनर्थकमित्यत आह सर्वो द्वन्द्वो विभाषेत्यादि । यदयमेकवचननिवृत्त्यर्थं बहुवचनग्रहणं करोति ततोऽवसीयते ऽस्तीयम्परिभाषा सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवतीति । तेनेह बहुवचनग्रहणमेकवचननिवृत्त्यर्थं कृतमित्यभिप्रायः ।

## ६४ । सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।

सरूपाणामिति बहुव्रीहौ कृते ज्योतिर्जनपदेत्यादिना (६।३।८५) समानस्य सभावः । रूपशब्दोऽत्र स्वभावे वर्त्तते । सरूपाणां शब्दानामिति निर्धारणे षष्ठी । तेन स्वरूपाणां मध्ये समानजातीयो यः सरूपः स एक एव शिष्यते । न विरूपः । समानजातीयस्यैव हि निर्धारणं भवति न विजातीयस्य । अथवा समुदायलक्षणैषा षष्ठी । सरूपसमुदायान्तःपाती च सरूप एव भवति । न विरूपः । तेन सरूप एव शिष्यते । एकविभक्ताविति । एकशब्दः समानार्थ एकधनाविति यथा । एका चासौ विभक्तिश्चेति पूर्वकालैकेत्यादिना (२।१।४९) समासः । एवमेकशेष इत्यत्रापि । अत्र त्वेकशब्दः संख्यावचनः । शेषशब्दोऽयं निवृत्त्या विशिष्टमवस्थानमाह । नावस्थानमात्रम् । अतएवाह एकः शिष्यते । अपरे निवर्त्तन्त इति । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षावित्यादि । अविभक्तिकानामयमेकशेषः । अनैमित्तकत्वाद्विभक्तेः । नह्ययं परां विभक्तिमाश्रित्य विधीयते । एकविभक्ताविति सारूप्योपलक्षणमेतत् । न निमित्तनिर्देशः । एकस्यां विभक्तौ परतो यानि रूपाणि दृष्टानि तेषामनुत्पन्नायामेव विभक्तौ प्रातिपदिकानामेकशेषो भवति । ततः कृत एकशेषे विभक्तिरुत्पद्यते । अथवा सविभक्तिकानामेवैकशेषः । कथम् ? विभक्तिशब्देन हि कारकमभिधीयते । विभज्यते प्रातिपदिकार्थोऽनयेति कृत्वा । तदेतदुक्तम्भवति । एकस्मिन् समानेऽभिन्ने कारके यानि सरूपाणि तेषामेवैककारकाणामेकशेषो भवतीति । यद्येवं परत इति वृत्तिग्रन्थो नोपपद्यते । कारकं ह्यर्थसमवायिनी शक्तिः । न च तया शब्दानां पौर्वापर्यं सम्भवति । कथञ्च विभक्तिशब्देन कारकेऽभिधीयमाने सविभक्तिकानामेकशेषो लभ्यते ? उच्यते । वृत्तिग्रन्थस्तावदुपपद्यते । परशब्दो ह्ययमिष्टवाची । एकविभक्तौ परत एकस्यां विभक्ता-

विष्टायामित्यर्थः। विषयसप्तमी चेयम्। सती सप्तमी वा। एकस्मिन् कारके विषयभूत इष्टे सति चेत्यर्थः। किञ्चेष्टं कारकं भवति? यद् विवक्षितम्। अतएव विवक्षितत्वात् कारकं स्वनिमित्तां विभक्तिमुत्पादयतीति सविभक्तिकानामेकशेषो लभ्यते। सहभावविवक्षायाञ्चायमेकशेषो भवति। यद्येकेन युगपत् सर्वेषामर्थोऽभिधातुमिष्यत एवं सति भवति। नान्यथा। ननु च जातिः पदार्थः। जातिश्चैकैव। तत्रैकत्वाज्जातेर्बहूनां शब्दानां प्रसङ्ग एव नास्ति। तत्किमेकशेषारम्भेणेति चोद्यावसरे द्रव्यं पदार्थ इत्येतद्दर्शनमाश्रित्याह प्रत्यर्थमित्यादि। प्रत्यर्थमेकैकस्मिन्नर्थे यस्माच्छब्दानां निवेशप्रवृत्तिस्ततोऽनेकेन शब्देनानेकार्थस्याभिधानम्। तत्रैतद्दर्शनेऽनेकेषामर्थाभिधाने प्रत्येकेनैव कर्त्तव्येऽनेकशब्दत्वं प्रसज्यत इति यावन्तस्तेऽर्थास्तावतां शब्दानां प्रयोगः प्राप्नोति। इष्यते चैकशब्दता। तस्मादेकशेष आरभ्यते। रूपग्रहणं किमिति? एवमन्यते। रूपग्रहणे क्रियमाणे पदद्वयसमनुगम्योऽर्थः प्रतिपत्तव्य इति प्रतिपत्तिगौरवं भवति। समानानामित्युच्यमाने सत्येकपदसमनुगम्योऽर्थः प्रतीयत इति प्रतिपत्तिलाघवं भवति। तस्मात् समानग्रहणमेव कर्त्तव्यमिति। भिन्नेऽप्यर्थे यथा स्यादिति रूपग्रहणम्। यदि रूपग्रहणं न क्रियेत तदा विशेषानभिधानाद् यत्र सर्व्वं समानं शब्दोऽर्थश्च तत्रैव स्याद् वृक्षा इत्यादौ। अक्षा इत्यादौ तु न स्यात्। अर्थभेदात्। तथा ह्यक्षशब्द इन्द्रियाख्ये शकटाङ्गे विभीतकादावर्थे च वर्त्तते। पादशब्दोऽपि कार्षापणश्लोकपादपाणिपादादावर्थे वर्त्तते। माषशब्दोऽपि व्रीह्यादौ। द्विवह्वोः शेषो मा भूदिति। ननु च शेष इतरैकत्वसंख्याविवक्षायां द्वयोर्बहूनाञ्च शेषो न भविष्यति। नैतदेवम्। इह विधीयमानत्वाच्छेष एव प्रधानम्। न च प्रधाने संख्या विवक्ष्यते। तथाहि कर्त्तुरीप्सिततमं कर्मेति (१।४।७९) कर्मसंज्ञा। ईप्सिततमस्य प्राधान्यात्। असत्यां संख्याविवक्षायां द्वयोर्बहूनाञ्च कर्मसंज्ञा भवति। गुणे तु संख्या विवक्ष्यते। यथा ङ्याप् प्रातिपदिकादिति (४।१।१)। स्वादयो विधीयमानत्वात् प्रधानम्। ङ्याप्प्रातिपदिकमप्रधानमिति। तत्र संख्या विवक्ष्यते। तेनैकैकस्मादेव स्वादय उपपद्यन्ते। लक्षणानुरोधाद् गुणेऽपि क्वचित् संख्या न विवक्ष्यते यथेहैव सरूपाणा-

मिति । तेन द्वयोरपि सरूपयोरेकः शिष्यते । आदेशो मा भूदिति । असति शेषग्रहणे सरूपाणामिति स्थानषष्ठीयं स्यात् । ततश्चादेशः स्यात् । एवञ्चाशि-प्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्निति (उण, ११४९) क्वन्प्रत्ययान्तोऽश्वशब्दो नित्स्वरादाद्युदात्त इति द्वयोरश्वशब्दयोराद्युदात्तयोः स्थान आद्युदात्तद्वयवाने-वादेशः स्यात् । आन्तरतम्यात् । पय इत्यादि । एकः पयःशब्दः प्रथमान्तः कर्तृ-पदम् । द्वितीयो द्वितीयान्तः कर्मपदम् । ततो भिन्नविभक्तिकत्वम् । नैक-विभक्तिपरत्वमितिएकशेषो न भवति । ब्राह्मणाभ्यामिति । प्रथमो ब्राह्मणशब्द-स्तृतीयान्तः । द्वितीयस्तु चतुर्थ्यन्तः । तेनात्रापि समानविभक्तिकत्वन्नास्ति ।

## ६५ । वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ।

वृद्धशब्दोऽयमस्ति लौकिको यश्चरमे वयसि वर्त्तते । अस्ति च शास्त्रीयः । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धमिति (१।१।७३) । अस्ति च पूर्वाचार्य्यसंज्ञा । अपत्य-मन्तर्हितं वृद्धमिति । तत्र यदि लौकिको गृह्येत युवशब्दस्यापि तत्साह-चर्य्याल्लौकिकस्यैव वयोविशेषवाचिनो ग्रहणं स्यात् । ततश्चाजश्च वर्करश्चेत्येवमादौ प्रसज्येत । वृद्धावस्थो हि पशुविशेषोऽज इत्युच्यते । युवा तु वर्करः । अथ शास्त्रीय उपादीयत औपगवश्चौपगविश्चेत्यादावपि स्यादित्येतदालोच्याह वृद्धशब्द इत्यादि । एतेन पूर्वाचार्य्यप्रणीतायाः संज्ञाया वृद्धस्येदं ग्रहणमिति दर्शयति । कथं पुनरेतल्लभ्यते ? उपदेशात् । अथवा एवम्मन्यते । युवशब्दो यद्यपि लोके द्वितीये वयसि रूढ़स्तथापि जीवति तु वंश्ये युवेति (४।१।१६३) परिभाषा बलादपत्ये यो वर्त्तते स एव गृह्यते । तेन तत्साहचर्य्याद् वृद्धशब्दस्यापत्यार्थ-वृत्तेरेव ग्रहणं युक्तमिति । गोत्रग्रहणन्तु न कृतम् । वैचित्र्यार्थम् । यूना सह वचन इति सहग्रहणेन यूनेति सहयोग एषा तृतीयेति दर्शयति । अतएव सहयोगे तृतीयाविधानादवगम्यते सहभावविवक्षायामेकशेषो भव-तीति । समानायामित्यादिना यत्र वृद्धयुवनिमित्तमेव वैरूप्यं तद्विषयं दर्शयति । आकृतिः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं गार्ग्यत्वादि । तस्यां समानायामभिन्नायां यत्र वृद्धयुवप्रत्ययावेव केवलं भिद्येते नान्यत् प्रकृत्यादिकं तत्र वृद्धयुवप्रत्ययनिमित्तमेव वैरूप्यं भवतीति भावः । गार्ग्यश्चेत्यादि । गर्ग-

वत्सशब्दाभ्यां गर्गादित्वाद् यञ्। गार्ग्यः। वात्स्यः। ताभ्यां यून्यपत्ये यञिञो श्चेति (४।१।१०१) फक्। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ। प्रकरणादिनात्र युवार्थो गम्यते। गर्गश्चेति। गर्गशब्दोऽयं मूलप्रकृतिः। न वृद्धे वर्त्तते। नापि यूनि। गार्ग्यवात्स्यायनाविति। अत्र न केवलं वृद्ध-युवप्रत्ययनिमित्तको विशेषोऽस्त्यपितु प्रकृतिनिमित्तकोऽपि। भागवित्ति-शब्दो गोत्रापत्ये भगवित्तशब्दादिञन्तः। भागवित्तिकश्चेति। भागवित्ति-शब्दाद् यून्यपत्ये गोत्रस्त्रियाः (४।१।१४७) कुत्सने ण चेत्यतः कुत्सन इत्यनुवृत्तौ वृद्धाट् ठक् सौवीरेषु बहुलमिति (४।१।१४८) ठक्।

## ६६। स्त्री पुंवच्च।

स्त्र्यर्थस्य वैरूप्यकारणस्याधिक्यात् पूर्वेण न सिध्यतीति वचनम्। पुंवच्चेति वचनादतिदेशोऽयम्। स्त्रीति स्त्रीप्रत्ययग्रहणं वेदं स्यात्? स्त्र्यर्थ वृत्तिशब्दस्य वा ग्रहणम्? अर्थग्रहणं वा? यदि स्त्रीप्रत्ययस्य ग्रहणं स्यात् ततोऽनेन तस्यैव निवृत्तिः क्रियते। पुंवत् स्त्रीप्रत्ययो भवतीति। नतु स्त्र्यर्थस्य निवृत्तिः क्रियते। ततो गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्चेति गर्गा इत्यत्रास्त्रिया-मित्यनुवर्त्तमाने यञञोश्चेति (२।४।६४) लुङ् न स्यात्। इह तु गर्गान् पश्यतीति तस्माच्छसो नः (६।१।१०३) पुंसीति नत्वं न स्यात्। द्वितीये तु पक्षे स्त्र्यर्थवृत्तेः शब्दस्यानेन पुंवद्भावः क्रियते। नतु स्त्रीत्वस्य निवृत्तिः। तथापि स एव दोषः स्यात्। अर्थग्रहणे तु न कश्चिद् दोष इत्यतः स्त्र्यर्थस्येदं ग्रहणमिति मत्वाह स्त्र्यर्थः पुंवद्भवतीति। कथं पुनरर्थस्येदं ग्रहणं लभ्यते। उच्यते। स्त्रीप्रत्ययानां तावदेतद् ग्रहणं न भवति। अस्वरितत्वात्। स्त्र्यर्थवृत्तेरपि शब्दस्य ग्रहणं न भवति। अप्राधान्यात्। अप्राधान्यन्तु तस्याभिधेयपार तन्त्र्यात्। अर्थस्य प्राधान्यमपारतन्त्र्यात्। प्रधानगुणसन्निपाते तु प्रधानस्य ग्रहणं न्याय्यम्। अतः स्त्र्यर्थ एव गृह्यते। गार्गी वात्सी चेति। गार्ग्यवात्स्य शब्दानां यञश्चेति (४।१।१६) ङीप्। पूर्ववदकारयकारलोपौ। दाक्षी इति। पूर्ववन् ङीप्। दाक्षायणश्चेति। दाक्षेरपत्यमिति यञिञोश्चेति (४।१।१०१) फक्।

## ६७ । पुमान् स्त्रिया ।

स्त्रीपुंसलक्षणश्चेदेव विशेष इति । यद्येवमिह न स्यात् । गौश्चायं गोश्चेयमित्येतौ गावौ तिष्ठत इति । नह्यत्र स्त्रीपुंसकृतः कश्चिद् विशेषोऽस्ति । मा भूदनेन । सरूपाणामित्यादिना ( १।२।६४ ) भविष्यति । नैतदस्ति । यदि हि तेन स्यात् स्त्रीशब्दस्याप्येकशेषः प्रसज्येत । ततश्च स्त्रीलिङ्गतापि स्यात् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । स्त्रीलिङ्गस्यैकशेषे कृते पुंस्त्वं विवक्षितव्यमित्यदोषः । अथवा पुमानिति योगविभागः क्रियते । तेनेहाप्य सत्यपि स्त्रीपुंसकृते विशेषे पुंस एवैकशेषो भवति । न चैवं सत्यतिप्रसङ्गो भवति । योगविभागादिष्टसिद्धेरिति । ब्राह्मणी । कुक्कुटी । मयूरीति । जातेरस्त्रीविषयादयोपधादिति ( ४।१।६३ ) ङीष् । कुक्कुटमयूर्याविति । अत्र न केवलं स्त्रीपुंसकृतो विशेषः । किं तर्हि ? आकृतिश्रुतिकृतोऽपि । इन्द्राणीति । इन्द्रवरुणेत्यादिना (४।१।४९) ङीप् । आनुगागमश्च । प्राक् च प्राचीति । प्राञ्चतीति प्रपूर्वादञ्चतेर् ऋत्विगित्यादिना (३।२।५९) क्विन् । क्विन् प्रत्ययस्य कुरिति ( ८।२।६२ ) कुत्वम् । क्विन्नन्ताद् दिक्शब्देभ्य ( ५।३।२७ ) इत्यादिना ऽस्तातिप्रत्ययः । तस्याञ्चेश्चेति ( ५।३।३० ) लुक् । प्राचीति । प्राक् शब्दादुगितश्चे ( ४।१।६ ) त्यत्राञ्चतेश्चोपसंख्यानाद् ङीप् । प्रागित्यव्ययमिति । तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यव्ययत्वम् ( १।१।३८ ) ।

## ६८ । भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ।

## ६९ । नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ।

अनपुंसकेनेति । किमित्यादि । ननु च विना नपुंसकेनापि सह वचनेन सरूपाणामित्यादिनैकशेषो भवत्येव । तत् कोऽत्र विशेषो यस्तेनैकशेषो विधीयमानोऽनेनैव चेत्यत आह । एकवच्चेति न भवतीति । यद्यनेनैक-शेषः स्यात् पक्ष एकवद्भावः स्यात् । तेन त्वेकशेषे सति न भवति । अथास्येति किमर्थ मुच्यते ? यद्यस्येति नोच्येतोत्तरत्राप्येकवच्चेत्यनुवृत्तिः स्यात् । तत श्चोत्तरत्र तु यस्यैकशेषः करिष्यते तस्यैकवद्भावः प्रसज्येत ।

तस्मादस्यैव नपुंसकस्यैकवद्भावो यथा स्यात्। उत्तरत्र तु यस्यैकशेषः करिष्यति तस्य मा भूदित्येवमर्थमस्येति वचनम्। अस्येति हि वचने सति माभूदस्य वैयर्थ्यमित्युत्तरत्राप्येकवच्चेति नानुवर्त्तते। ननु चास्वरितत्वादेव नानुवर्त्तिष्यते। एवं तर्हि तदेवास्वरितत्व मनेन प्रकारेणाख्यायते विस्पष्टार्थम्। एवकारोऽत्रानुवर्त्तते। तेन हिमञ्च हिमानी च हिमहिमान्यौ। अरण्यञ्चारण्यानी चारण्यारण्यान्यावित्यत्र न भवति। इन्द्रवरुणादिसूत्रेण (४।१।४९) हिमारण्ययोर्महत्त्व इति वचना ( ४।१।४९ वा ) न्महत्त्वमपरो विशेषः।

## ७०। पिता माता।

पितराविति। ऋतो ङीति (७।३।११०) गुणः। मातापितराविति। आनङ्‌ऋतो द्वन्द्व (६।३।२५) इत्यानङ्। अभ्यर्हितत्वान् मातुः पूर्वनिपातः।

## ७१। श्वशुरः श्वश्र्वा।

श्वश्रूश्वशुराविति। पूर्ववत् पूर्वनिपातः।

## ७२। त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्।

सर्वग्रहणं साकल्यार्थमिति। विना तेनानपुंसकेनेत्यस्यानुवृत्तिराशङ्क्येत। ततश्च नपुंसकेन सह न स्यात्। अथवा तल्लक्षण श्चेदेव विशेष इत्येतदिहानुवर्त्तेत इत्याशङ्क्येत। ततश्च यत्र त्यदादिकृत एव विशेषस्तत्रैव स्यात्। स च यश्च यावित्यादि। इह तु न स्यात्। स च देवदत्तश्च ताविति। अतः सर्वग्रहणम्। स च देवदत्तश्च ताविति। यदा विशेषविवक्षा तदैतदुदाहरणं। यदा तु सामान्यविवक्षा तदा देवदत्तोऽपि तच्छब्देन सम्बध्यत इति सरूपाणामित्यनेनैव (१।२।६४) सिध्यति। यद् यत् परमिति। गणपाठापेक्षं परत्वं वेदितव्यम्।

## ७३। ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री।

ग्राम्याणामिति। ग्रामे भवा ग्राम्याः। ग्रामाद (४।२।९४) यखञाविति

यः । ननु च सङ्घस्य तरुणत्वं न सम्भवति । नापि तद्द्व्यवच्छेद्यं तरुणत्वम् । अतोऽतरुणेष्वित्ययुक्तं विशेषणमित्याह अतरुणग्रहण मित्यादि । उच्यते चेदं विशेषणं । न च सङ्घस्य तत् सम्भवति । तत्र सामर्थ्यादन्येषां संघो विज्ञायते । गाव इमा इति । इमा इत्यनुप्रयोगः स्त्रीत्वाभिव्यक्तये । एतौ गावाविति । कथं पुनरिदं प्रत्युदाहरणम् ? यावता द्वाभ्यामपि सङ्घो भवत्येव । नैष दोषः । यस्मात् सङ्घग्रहणादिह बह्ववयवः संघो विवक्षितः । बहूनां यः संघ इति । अन्यथा यदि द्व्यवयवस्य ग्रहण-मिति मतं स्यात् संघ-ग्रहण मनर्थकं स्यात् । व्यवच्छेद्याभावात् । अनेक शफेष्वित्यादि । अनेकानि शफानि खुरा येषां तेष्वयमेकशेषो भवतीतत्र-तदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । अन्यतरस्यांग्रहण-मिहानुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेनानेकशफेष्वेव भवति । नान्यत्रेति ।

इति श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥१।२॥

---

अथ

न्यासापरनाम्नी

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

## प्रथमाध्यायः।

### तृतीयः पादः।

**१। भूवादयो धातवः।**

भूरादिर्येषां ते भूवादयः। भूवादयो दशगणीपरिपठिता गृह्यन्ते। भवतीत्यादि। अत्र धातुसंज्ञायां सत्यां धातोरित्यनुवर्त्तमाने वर्त्तमाने लड़िति (३।२।१२३) लट्प्रत्ययः। भू इत्येवमादयः शब्दा धातुसंज्ञका भवन्तीत्यनेन गणपाठेनैवेयं धातुसंज्ञा विधीयत इति दर्शयति। तेनाणपयति कण्डूपयतीत्येवमादीनां धातुसंज्ञा न भवतीत्युक्तं भवति। यद्येवं यावादिव इत्येवमादीनां सर्वनाम-विकल्प-स्वर्गाभिधायिनां धातुसमानशब्दानामक्रियावचनानामपि धातुसंज्ञा प्राप्नोतीति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्याद्। अतस्तान्निराकर्त्तुमाह धातुशब्द इत्यादि। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणमिच्छन्त्याचार्य्या इत्येकाक्षरायां संज्ञायां कर्त्तव्यायां महत्याः पूर्व्वाचार्य्यसंज्ञाया यदाश्रयणं तस्यैतत्प्रयोजनम्। यथाविधानां ते धातुसंज्ञां कृतवन्तस्तथाविधानामेवैषा संज्ञा यथा स्यादिति। ते च क्रियावचनानामेव धातुसंज्ञां विहितवन्तः। तदिहापि पूर्व्वाचार्य्यसंज्ञाश्रयणात् क्रियावचनानामेव धातुसंज्ञा विधीयते। तेन यावादिव इत्येवमादीनां धातुसमानशब्दानामक्रियावचनानान्न भवतीति भावः। ननु च भूरादिर्येषामिति बहुव्रीहौ कृत आदिशब्दे परतो यदि

संहितया निर्देशस्तदेको यणचीति (६।१।७७) यणादेशे कृते भ्वादय इति भवितव्यम्। अथाऽसंहितया निर्देशस्तथा भू आदय इति। तत् कुतोऽयं वकारो यस्मिन् सति भूवादय इति निर्देशो भवतीत्यत आह भूवादीनामित्यादि। भूवादीनां संज्ञिनां निर्देशे ऽयं वकारो मङ्गलार्थः प्रयुज्यते। मङ्गलमर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः। स मङ्गलशब्दो धर्म्मपर्य्यायः। धर्मार्थ इति यावत्। यथा वेदे त्रियम्बकं यजामह इत्यत्र यकारस्य दृष्टप्रयोजनं नास्तीत्यदृष्टार्थो धर्म्मार्थ एव पाठस्तस्य तथेहापि वकारस्य। अथवा ऽपूर्वस्य वस्तुनो लाभो लोके मङ्गलं सम्मतं यथा प्रातर्दध्यादीनाम्। तथेहापि वकारस्यापूर्वस्य लाभो मङ्गलं प्रशस्तम्। प्रशस्तार्थो मङ्गलशब्दः। तथाचोक्तं मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चेति। इह चादौ (१।१।१) वृद्धिशब्दो मङ्गलम्। मध्ये (१।३।१) चायं वकारः। अन्ते (८।४।६७) च स्वरितोदयमित्युदयशब्दः। भुवो वार्थमित्यादि। अथवा भूवादय इत्यत्र निर्देशेनायमादिशब्दस्य प्रयोगः। नापि मङ्गलार्थस्य वकारस्य। किं तर्हि? वादिशब्दस्यौणादिकस्य। वदन्तीति वादयो वाचका इत्यर्थः। वदेर्धातोर्वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य (उण् ५।५६३) इञीति कर्त्तरीञ्प्रत्ययः। यद्यपि वादीति सूत्रे (उण्, ५।५६४) ण्यन्तस्योपादानं तथापि बहुलवचनादण्यन्तादपि भवति। भ्वर्था इति। तेषां वादीनामिदं विशेषणं भवनं भूः। सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। भवतेरर्थः क्रियासामान्यम्। भूरर्थो येषां ते भ्वर्थाः। कस्मात् पुनस्ते भ्वर्थाः? भुवो वार्थं वदन्तीति। इतिकरणो हेतौ। यस्माद् भुवो धातोरर्थं वदन्त्यभिदधति तस्मात् ते भ्वर्थाः। एवंविधा वादयो वाचकाः शब्दा भवत्यर्थाभिधायिन इतीह सूत्रे संज्ञिनः स्मृता अभिमता अभिप्रेता इत्यर्थः। तदेवं क्रियावचनाः शब्दा भूवादयो धातुसंज्ञा भवन्तीत्युक्तम् भवति। तेन यावादिव्प्रभृतीनां धातुसमानशब्दानामक्रियावचनानां धातुसंज्ञा न भवति। गणपाठसामर्थ्यात् पाठोऽप्यङ्गीक्रियते। तेनाणपयतीत्येवमादीनां क्रियावचनानामपि धातुसंज्ञा न भवतीत्युक्तम्भवति। अस्मिन् व्याख्याने भूवादय इति षष्ठीसमासो वेदितव्यः। भुवो वादयो भूवादय इति। अथवादिशब्दस्यैवात्र वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् परस्य

प्रयोगः। वा आदि येषां ते वादयः। आदिशब्दः प्रकारवाची। वाप्रकारा इत्यर्थः। प्रकारस्तु सादृश्यम्। तत् पुनः क्रियात्मकतया। यदाऽह भ्वर्था इति। भ्वर्थता तु भुवोऽर्थं वदतीति हेतोः। एवंविधा वाप्रकारकाः शब्दा इह सूत्रे संज्ञिनः स्मृताः। तदनेन प्रकारेण क्रियावचनानामेव भूवादीनां धातुसंज्ञा भवतीत्युक्तम्। तेन धातुसमानशब्दानां यावादिव्प्रभृतीनां धातुसंज्ञा न भवति। नहि ते क्रियावचनाः। निष्पन्नवस्त्वभिधायित्वात्। साध्यमानस्वरूपा हि क्रिया निरवयवा क्वचित् पूर्वापरीभूतावयवाऽनिष्पन्नवस्तुस्वभावा। गणपाठस्तु पूर्ववदेवाङ्गीक्रियते। तेनाणपयतीत्येवमादीनां शब्दानां धातुसंज्ञा न भवतीति। अस्मिन्नपि व्याख्याने भूवादय इति षष्ठीसमासोऽयम्। षष्ठी च वाच्यवाचकसम्बन्धलक्षणा वेदितव्या।

## २। उपदेशेऽजनुनासिक इत्।

उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेश इति। अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति (३।३।१९) करणे घञ्। ननु च संज्ञायामित्युच्यते। नचेयं संज्ञा। नैतदस्ति। कृत्यल्युटो बहुलमिति (३।३।११३) बहुलवचनादसंज्ञायामपि भवतीत्यदोषः। शास्त्रवाक्याणीति। अस्येदं विवरणम्। सूत्रपाठः खिलपाठश्चेति। खिलपाठो धातुपाठः। चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च। अथ रगिलगिप्रभृतीनां कथमानुनासिक्यम्? नहि तेषामानुनासिक्यं गणे पठ्यते। अथापरिपठितानामपि भवति तदा भूइत्येवमादीनां कस्मान्न भवतीत्याह प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीया इत्यादि। प्रतिज्ञया ऽनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः। यत्रैवानुनासिक्यं पाणिनीयाः प्रतिजानते तत्रैव तदपठ्यमानमपि भवति। नान्यत्र। एतदपि प्रतिज्ञानं नानियमेन भवति। किं तर्हि? यत्रैवाचार्य्याः स्मरन्ति तत्रैव तेन भवितव्यम्। यथा स्वरितत्वमनुदात्तत्वञ्च स्मरणेन विज्ञायते तथानुनासिक्यमपि। यदि तर्ह्यानुनासिक्यं प्रतिज्ञामात्रभावि तत् किमर्थं तत् क्वचित् पठ्यते डुपचँष् पाक इत्यादौ? एवंविधोऽर्थो ऽनुनासिकः प्रतिज्ञेय इत्यर्थस्य प्रदर्शनार्थम्। अत्र आँ अप इति। अत्रोपदेशात्तूत्तरकाल माङोऽनुनासिकश्छन्दसीत्यनेनानुनासिको

(६।१।१२६) विहितः। तेनेत्संज्ञा न भवति। ननु चानुनासिकविधान-सामर्थ्यादेव न भविष्यति। तत् किमुपदेशग्रहणेन ? इत्संज्ञायां हि सत्यां तस्य लोप इति (१।३।९) लोपः स्यात्। ततश्चानुनासिकविधानमनर्थकं स्यात्। सत्यमेतत्। एवमन्यते। उत्तरार्थमवश्यमुपदेशग्रहणं कर्त्तव्यम्। उत्तरार्थं क्रियमाण मिहापि विस्पष्टार्थं भविष्यति। अथवा प्रत्युदाहरणदिगियं वृत्तिकृता दर्शिता। इदन्त्वत्र प्रत्युदाहरणम्। अणोऽप्रगृह्यानुनासिकः (८।४।५७)। दधिँ ब्राह्मणकुलम्। यद्यत्रेत्संज्ञा स्यादिदितो नुम् धातो (७।१।५८) रिति नुम् स्यात्। ननु च धातोरित्युच्यमाने धातोर्नुम् विधीयते। नचायं धातुः। किं तर्हि प्रातिपदिकम्। तत् कथं नुम् स्यात्? नैतदस्ति। क्विबन्ता धातुत्वं न जहतीति क्विबन्तत्वाद्धातुत्वं भवति। आत्मनो दधीच्छति। सुप आत्मनः (३।१।८) क्यच्। दधीयति। दधीयतेः क्विप्। दधिँ ब्राह्मणकुलमिति। अतो लोप (६।४।४८) इत्यकारलोपः। लोपो व्योर्वली (६।१।६६) त्यत्रादौ लोपग्रहणात् पूर्वं यकारस्य लोपो भवति। वेरपृक्तस्येति लोपाद् पूर्वं वलि लोपो भवति। पश्चाद्वेरपृक्तस्येति (६।१।६७) वकारस्य। प्रत्ययलोपलक्षणेनाकृत्सार्वधातुकयोरिति (७।४।२५) दीर्घः। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येति (१।२।४७) ह्रस्वत्वम्। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक (८।४।५७) इत्यनुनासिके कृते क्विबन्ता धातुत्वं न जहतीति नुम् स्यात्। अश्मा भस्मेति। आतो मनिन्नित्यत्र (३।२।७४) मकारस्येत् संज्ञा न भवति। यदि हि स्यादन्येभ्योऽपि दृश्यन्त (३।२।७५) इति हलन्तेभ्यो विधीयमानो मनिन्नचोऽन्त्यात् परः स्यात्। सर्वस्याचो मा भूदिति। दरिद्रा प्रभृतिसम्बन्धिनोऽपि।

## ३। हलन्त्यम्।

अन्ते भवमन्त्यमिति दिगादित्वाद् यत्। अन्तशब्दोऽयं समाप्तौ वर्त्तते। यथैतदन्तं वन मिति। येन च समाप्यते समुदायः सोऽन्तः। तत्रान्ते समाप्तौ भवमन्त्यम्। हलिति हल्शब्दस्योभयलिङ्गत्वादन्त्यमिति नपुंसकेन निर्देशः। धात्वादेरित्यादि। आदिशब्देन सूत्रप्रातिपदिकप्रत्ययागमादेशानां ग्रहणम्।

तत्र धातोर् डुकृञ् इति ञकारः। सूत्रस्य अइउण्निति ( प्र, १ ) णकारः। प्रातिपदिकस्य नदड़िति टकारः। नदड़िति पचादिषु पठ्यते। प्रत्ययस्य गुप्तिज्किद्भ्यः (३।१।५) सन्निति नकारः। आगमस्य त्रपुजतुनोः (४।३।१३८) षुगिति ककारः। आदेशस्य च चक्षिङः (२।४।५४) ख्याञिति ञकारः। अग्निचित् सोमसुदिति। चिनोतेः सुनोतेश्चाग्निं चितवान् सोमं सुतवानिति क्विप्। तुक्। ननु च हलिति प्रत्याहारपाठे योऽन्त्यो लकार स्तस्येत् संज्ञा न प्राप्नोति। इतरेतराश्रयत्वात्। तथाहीत्संज्ञायामादिरन्त्येन सहेतेति (१।१।७१) हलिति प्रत्याहारग्रहणं भवति। तस्मिंश्च तस्य लकारस्य हलन्त्यमितीत्संज्ञा। तदिदमितरेतराश्रयत्वं स्फुटतरमेव। इतरेतराश्रयाणि कार्य्याणि शास्त्रे न प्रकल्पयन्त इत्यत आह हस्य ल् हलित्यादि। यदेकमावृत्तिभिदमन्तरेणाप्यनेकेषामुपकारं करोति तत् तन्त्रम्। यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितो बहूनां छात्राणामुपकारं करोति। इह तु प्रयत्नविशेषस्तन्त्रशब्देन विवक्षितः। तेन तन्त्रेण द्वितीयमत्र हल्ग्रहण मुपात्तं परिगृहीतं वेदितव्यम्। यथा श्वेतो धावतीत्येकेन प्रयत्नेन द्वे वाक्ये उच्चारिते भवतस्तथेहाप्येकेनैव प्रयत्नेन द्वौ हल्शब्दावुच्चारिताविल्यभिप्रायः। हस्य ल् हलिति समीपिसामीप्यसम्बन्धे षष्ठी। तेनेत्यादि। यतस्तन्त्रेण न्यायेन द्वितीयं हल्ग्रहणं कृतं तेन प्रत्याहारपाठे हलित्यस्य लकारस्य हकारसमीपवर्त्तिनः साक्षादेव संज्ञित्वेनोपात्तस्येत्संज्ञा क्रियते। नतु प्रत्याहारसमाश्रयणेन। एवञ्च सति हलन्त्यमित्यत्र प्रत्याहारपाठ इतरेतराश्रयदोषो न भवति।

## ४। न विभक्तौ तुस्माः।

इत्यादित्यत्र तकारस्येत्संज्ञायां सत्यां तित्स्वरितमिति (६।१।१८५) स्वरितत्वं स्यात्। अपचताम्। अपचतमिति। पचेर्लङ्। तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम इति (३।४।१०१) तान्तमादेशौ भवतः। किमोऽदित्यत्राच्छब्दस्य (५।३।१२) प्राग् दिशो (५।३।१) विभक्तिरिति विभक्तिसंज्ञा। इटोऽदित्यत्रापि (३।४।१०६) स्थानिवद्भावेन। ततश्चेत्संज्ञाप्रतिषेधः प्राप्नोति। स कस्मान्न भवतीत्याह अनित्यत्वादित्यादि। अनित्यत्वमस्य विधेरिदमस्थमुरित्यस्य ( ५।३।२४ )

मकारस्येत्संज्ञापरित्राणार्थादुकारानुबन्धाद् विज्ञायते । नित्यत्वे हि सत्येतस्मादेव प्रतिषेधान् मकारस्येत्संज्ञा न भविष्यतीत्युकारानुबन्धग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

### ५ । आदिर्ञिटुडवः ।

अत्र टुग्रहणेनाणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययस्येति ( १।१।६९ ) टवर्गस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति ? उकारस्यानुनासिकत्वाप्रतिज्ञानात् । चुटू इत्यत्र (१।३।७) टुग्रहणाच्च । यद्यत्र टवर्गस्य ग्रहणं स्यात् तदानेनैव प्रत्ययादेरपि सिद्धत्वाट् टुग्रहणमनर्थकं स्यात् । मिन्न इति । ञीतः (३।२।१८७) क्तः । आदित-(७।२।१६) श्चेतीट्प्रतिषेधः । वेपथुरिति । ट्वितोऽथुच् (२।३।८९) । पक्त्रिम मिति । ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) । पाकेन निर्वृत्तम् । क्त्रेर्मम् (४।४।२०) नित्यमिति मप् । उप्त्रिममिति । वच्यादि (६।१।१५) सूत्रेण संप्रसारणम् । पटूयतीति । सुप आत्मनः (३।१।८) क्यच् । अकृत्सार्वधातुकयोरिति (७।४.२५) दीर्घः । कण्डूयतीति । कण्ड्वादिभ्यो (३।१।२७) यक् । कथं पुनरत्रेत्संज्ञाप्राप्तिः ? यावता सूत्रे टुडुंशब्दौ ह्रस्वान्ता वुपात्तौ । दीर्घान्ताविमौ । नैतत् । यद्यपि दीर्घत्वे कृते दीर्घान्तावेतौ भवतस्तथाप्युपदेशे ह्रस्वान्तावेव । उपदेश इति चेहानुवर्त्तते । तत्र पटुशब्दस्य पृथ्वादिपाठाट् टुशब्दस्योपदेशे ह्रस्वान्तता सिद्धा । कण्डुशब्दस्य कण्ड्वादिभ्यो (३।१।२७) यगित्यत्र पाठाड् डुशब्दस्यापि । द्विविधा हि कण्ड्वादयो धातवः प्रातिपदिकानि च । तत्र धातुः कण्डुशब्दो ह्रस्वान्तः । प्रातिपदिकन्तु कण्डूशब्दो दीर्घान्तः । अथवा यद्यप्युपदेश इति नानुवर्त्तते तथापि दीर्घत्वे कृतेऽप्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादस्त्येव प्राप्तिः । ञिकारीयतीति । पूर्ववत् क्यच् । ञिकारशब्दो न क्वचित् पठ्यत इति । तेनात्रेत्संज्ञा न भवति । यदि स्याल्लोपे कृते रूपं न सिद्ध्येत् ।

### ६ । षः प्रत्ययस्य ।

रजकीति । षित्त्वात् षिद्गौरादिभ्यश्चेति ( ४।१।४१ ) ङीष् । अथ केनात्रानुनासिकलोपः ? अनिदितामिति ( ६।४।२४ ) चेत् ? न । तत्र क्ङितीत्युच्यते । न चात्र क्ङित्प्रत्ययोऽस्ति । नैष दोषः । जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्चेति मित्संज्ञाकरणं रञ्जेर्ज्ञापकमक्ङित्यपि तस्यानुनासिक-

लोपो भवति। अन्यथा णौ रञ्जेरकारस्यानुपधात्वादत उपधाया (७।२।११६) इति वृद्ध्या न भवितव्यमिति मित्संज्ञाकरणमनर्थकं स्यादित्येके। घञि च भावकरणयोरित्यत्र (६।४।२७) चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादक्ङित्यपि क्वचिद् रञ्जेरनुनासिकलोपो भवतीत्यपरे। षोढ़ इति। षट् दन्ता अस्येति बहुव्रीहिः। वयसि दन्तस्य दतृ (५।४।१४१) इति दत्रादेशः। ऋकार उगित्कार्य्यार्थः। षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वञ्च ( ६।३।१०९-, वा ) पृषोदरादिपाठात्। षषोऽन्त्यस्योत्त्वमाद्गुणः ( ६।१।८७ )। उत्तरपदादिष्टुत्वमिति दकारस्य डकारः। षोढ़त् इति स्थिते षोढ़न्तमाचष्ट इति तत्करोति तदाचष्ट इति णिच्। णाविष्ठवत् कार्य्यम् प्रातिपदिकस्येतीष्ठवद्भावाट्टिलोपः षोढ़यतीति। ततः पचाद्यच्। णिलोपः। षण्ड इति। षणु दाने। ञमन्ताड्डः (उण्, १।१११)। उणादयो बहुलमिति (३।३।१) बहुलवचनाद् धात्वादेः षः स इति (६।१।६४) सत्वं न भवति। अथवा षण्ड इत्येतदव्युत्पन्नं प्रतिपदिकमिति। षड़िक इति। षड़ङ्गुलिदत्तशब्दादनुकम्पायां बह्वचोऽमनुष्यनाम्न ठज्वेति (५।४।७८) ठच्। ठाजादावूर्द्ध्वं द्वितीयादच इति ( ५।३।८३ ) ङ्गुलिदत्तस्य लोपः। ठस्येक ( ७।३।५० ) इतीकादेशः। षड़शब्दस्य यस्येति ( ६।४।१४८ ) चेत्यकारलोपः। तस्य स्थानिवद्भावे सति व्यवधानात् षट्शब्दस्य यचि (१।४।१८) भमिति भसंज्ञा न भवति। अन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वाज् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) इति जश्त्वं षकारस्य डकारः। यद्येषां षकारस्येत्संज्ञा स्यात् स्त्रीविवक्षायां षिद्गौरादिभ्यश्चेति ( ४।१।४१ ) ङीष् स्यात्। षण्डशब्दोऽयं यद्यपि बलीवर्दे वर्त्तते तथापि स्त्रीगवीष्वपि षण्डधर्मयोगाद् वृत्तिरस्य सम्भवत्येव। यद्यप्येते षोढ़ादयो लाक्षणिका स्तथाप्युपदेशग्रहणेन षकारो विशिष्यत इति भवन्त्येतानि प्रत्ययग्रहणस्य प्रत्युदाहरणानि। भवति ह्येतान्युपदेशे षकारः। अविषो महिष इति। अव रक्षणे। मह पूजायाम्। अविमह्योष्टिषच् (उण्, १।४५)। ननु चोणादयो बहुलमिति (३।३।१ ) बहुलवचनात् प्रत्ययसंज्ञैवात्र न भवति। सत्यामपि तस्यामित्संज्ञा न भविष्यति। बहुलवचनात्! तत् कस्मादादिग्रहण मेतदनुवर्त्तते? एवं मन्यते। उत्तरार्थमवश्यमादिग्रहणमनुवर्त्तनीयम्। उत्तरार्थमनुवर्त्तमानमिहापि स्पष्टार्थं भविष्यति।

## ७। चुटू।

कौञ्जायन्य इति। चूफञन्ताद् ञ्यातचूफञोरस्त्रियामिति (५।३।११३) स्वार्थे ञ्यः। छस्येयादेशं वक्ष्यतीति। इत्संज्ञापवादम्। शाण्डिक्य इति। शण्डिकादिभ्यो (४।३।९२) ञ्य इति शण्डिकोऽभिजनोऽस्येत्यर्थे ञ्यः। तत्र हि सोऽस्याभिजन इति वर्त्तते। मन्दुरज इति। ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलमिति (६।३।६२) मन्दुराशब्दस्य ह्रस्वत्वम्। अन्नात् णः (४।४।८५)। आन्न इति। अन्नं लब्धा इत्यर्थे णः। तत्र हि धनगणं लब्धेत्यतो (४।४।८४) लब्धेत्यनुवर्त्तते। अथ किमर्थं पृथग्योगः क्रियते? चुटुषः प्रत्ययस्येत्येक एव योगः क्रियतामित्यत आह पृथग्योगकरणमित्यादि। तेन विस्त इत्यादिनाऽस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनस्य प्रयोजनं दर्शयति।

## ८। लशक्वतद्धिते।

प्रियंवद इति। प्रियवशे वदः (३।२।३८) खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्येति (६।३।६७) मुम्। जिष्णुरिति। ग्लाजिस्थश्च क्स्नु (३।२।१३९) रिति। ये तु क्स्नुप्रत्ययं गितमिच्छन्ति तन्मतेनेदं गकारस्योदाहरणम्। ये तु कितमिच्छन्ति तन्मतेनेदमपि ककारस्योदाहरणम् भवति। चूड़ाल इति। मत्वर्थे प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्यामिति (५।२।९६) लच् प्रत्ययः। ननु च प्रयोजनाभावादत्रेत्संज्ञा न भविष्यति। लित्प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वं प्रयोजनमिति चेत्? न। चित्स्वरस्य हि सर्वस्वरस्यापवादत्वात् प्रत्ययस्वरेण ह्यन्तोदात्तत्वे सिद्धे चित्करणस्यैतत् प्रयोजनं चित्स्वर एव यथा स्यात्। योऽन्यः स्वरः प्राप्नोति स मा भूदिति। इदन्तु प्रत्युदाहरणम्। लोमान्यस्य सन्तीति लोमादिपामादीत्यादिना (५।२।१००) शः। लोमशः। एतदपि नास्ति। अत्रापि प्रयोजनाभावादेवेत्संज्ञा न भविष्यति। इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम्। कर्णललाटात् कनलङ्कार (४।३।६५) इति भवार्थे कन्। कर्णिका। यद्यत्रेत्संज्ञा स्यात् किति (७।२।११८) चेत्यादिवृद्धिः स्यात्। ततश्च रूपमेव न सिद्ध्येत्। यद्येव मिदमेवोपन्यसनीयम्। नेतरे। एवं मन्यते। एतदर्थं मतद्धित

इति क्रियमाणमिहापि मन्दधियां प्रतिपत्तिगौरवं परिहर्त्तुं चूडालो लोमश इत्येवमर्थमपि भवितुमर्हतीति ।

## ९। तस्य लोपः ।

अथ किमर्थं तस्येत्युच्यते ? यावतेत्संज्ञायाः प्रकृतत्वाद् यस्येत्संज्ञा विहिता सामर्थ्यात् तस्यैव लोपो भविष्यतीत्यत आह तस्य ग्रहणमित्यादि। कः पुनरित्संज्ञको योऽलोऽन्त्यस्य निवृत्त्यर्थं तस्य ग्रहणं प्रयोजयतीत्याह आदिर्ञिटुडव इति। असति तस्य ग्रहण एषामपि ञिप्रभृतीना मलोऽन्त्यस्येति (१।१।५२) वचनादन्त्यस्य लोपः स्यात्। तस्य ग्रहणेन तु प्रकृत इत्संज्ञके सन्निधापिते सर्व्वस्य लोपो भवति। नान्त्यस्य। अन्यथा हि तस्य ग्रहणमनर्थकं स्यात्। यदि तु नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरित्येषा परिभाषाऽश्रीयते तदा तस्य ग्रहणमकर्त्तुं शक्यते। तत् क्रियते विस्पष्टार्थम्।

## १०। यथासंख्यमनुदेशः समानाम्।

संख्याशब्देनात्र क्रमो लक्ष्यत इति। यत्रानेक उद्देशिनोऽ नुदेशिनश्च तत्रानियमेन सम्बन्धे प्राप्ते नियमार्थ मिदमारभ्यते। यत्रोद्देशिनोऽ नुदेशिनोऽनेकसंख्या स्तत्रावश्यं संख्याभेदेन भवितव्यम्। यत्र च संख्याभेदस्तत्र नियतभावी क्रमः। संख्याभेदवतां युगपदुच्चारयितुमशक्यत्वात्। अतः साहचर्य्यात् संख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यते। अर्थधर्मत्वन्तु शब्दे समारोप्य संख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यत इत्युक्तम्। यथाक्रमग्रहणं कथं न कृतम् ? वैचित्र्यार्थम्। यथासंख्यमिति। यथाऽसादृश्य (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावः। अनुदिश्यत इत्यनुदेश इति। अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति (३।३।१९) घञ्। पश्चादुच्चार्य्यत इति। अनुशब्दस्य पश्चादर्थवृत्तित्वाद्दिशेश्चोच्चारणक्रियत्वात्। समसंख्यानामिति। समसंख्यतया समानत्वं दर्शयति। समगणनपरिपठितानामिति। तमेवार्थं शब्दान्तरेण व्यक्तीकरोति। उद्देशिनामनुदेशिनाञ्चेति। यथाक्रममितीतदपेक्षया षष्ठी। उद्देशिनो यद्यपि सूत्रे न श्रूयन्ते तथापि सम्बन्धित्वात् पश्चाद्भावस्यानुदेशग्रहणाल्लभ्यन्ते। यथाक्रममिति। पूर्ववद् वीप्सायामव्ययीभावः। तृतीयान्तश्चैतत्। तदयमत्रार्थः। उद्देशिना-

मनुदेशिनाञ्च योऽयं क्रमस्तेन क्रमेणानुदेशिनः सम्बध्यन्त उद्देशिभिः सहेति। यद्यप्युद्देशिनामिति षष्ठ्यन्तं प्रकृतं तथाप्यर्थाद्विभक्तेर्विपरिणामो भविष्यतीति तृतीयान्तं सम्पद्यते। प्रथमात् प्रथम इत्यादिना यथाक्रमसम्बन्धं दर्शयति। आदिशब्दस्तृतीयात् तृतीयश्चतुर्थाच्चतुर्थ इत्यादि परिग्रहाय। तौदेय इत्यादौ सोऽस्याभिजन (४।३।९०) इत्यत्रार्थे तद्धितः। इहेत्यादि। वेशोयश (४।४।१३१) आदेर्भगादिति द्वे प्रकृती। यल्खाविति प्रत्ययावपि द्वावेव। अतो यथासंख्येन भवितव्यमित्यभिप्रायः। इह केनचिदाचार्येण शिष्याः प्रतिग्राहिता वेशो यश आदेर्भगाद्यल् ख चेत्येको योगः। अन्ये तु द्वावेतौ योगाविति। वेशोयश आदेर्भगादित्येको (४।४।१३१) योगः। यल् ख चेति द्वितीयः। तत्र य एक एवायं योग इत्येवं शिष्या ग्राहितास्तान् प्रत्ययं प्रश्नः। वृत्तिकारेणापि तन्मतमेवाश्रित्य स्वरितेनेत्यादिना परीहार उक्तः। ये तु द्वावेतौ योगावित्येवं ग्राहितास्तान् प्रतीत्रष प्रश्नो नास्ति। योगविभागेनैव यथासंख्यस्य निरस्तत्वात्। तथाच तत्र वक्ष्यति। योगविभागो यथासंख्यस्य निरासार्थः। यदि योगविभागे सति यथासंख्यं स्याद् योगविभागकरणमनर्थकं स्यादित्यभिप्रायः। कथं पुनः स्वरितेन लिङ्गेन यथासंख्यं लभ्यते? यावता नेह स्वरितग्रहण मस्तीत्याह स्वरितेनाधिकार इत्यादि। स्वरितेनाधिकार इति योगं विभज्य स्वरितेनेत्येको योगः। अधिकार इति द्वितीयः। तत्र प्रथमो योगः पूर्वेणापि यथासंख्यमित्यादिना सम्बध्यते। अपिशब्दात् परेणाप्यधिकार इत्यनेन। यदि तर्हि स्वरितेन लिङ्गेन यथासंख्यम् भवत्येवं हि सति सन्देहः स्यात्। तथाहि यथासंख्यमिति स्वरितेनाधिकारोऽपि। तत्र न ज्ञायते किमधिकारार्थः स्वरितानुषङ्गोऽथवा यथासंख्यार्थ इति। सन्देहमात्रमेतत्। सर्वसन्देहेष्विदमुच्यते। भवति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति।

## ११। स्वरितेनाधिकारः।

इत्थम्भूतलक्षणे तृतीयेति। स्वरितेन चिह्नेनाधिकारस्योपलक्षणीयत्वात्। यदि पारिभाषिकस्येह स्वरितस्य ग्रहणं स्याद् रषाभ्यां नो णः समानपद इत्यत्र (८।४।१) णकाराण् णकारस्याधिकारता न स्यात्। पारिभाषिकस्याज्-

धर्म्मत्वात्। णकारस्यानच्कत्वादिति मत्वा सर्वेषां वर्णानामचां हलाञ्च स्वरिताख्यो यो वर्णधर्मो गुणस्तस्येदं ग्रहणं न परिभाषिकस्येति दर्शयन्नाह स्वरितो नाम स्वरदोषो (A) वर्णधर्म इति। वर्णधर्मस्य तु ग्रहणमधिकारावगमाय। स इह हल्यपि स्वरितासञ्जनाद् विज्ञायते। अधिकारो विनियोग इति। व्यापारकरणम्। अधिकृतत्वादुत्तरत्रोपतिष्ठत इति। यथा पुरुषो यत्राधिकृतो नगरादौ तत्रैवोपतिष्ठते तथा स्वरितगुणयुक्तं शब्दरूपं नियुक्तं सूत्रकारेण तत्र तत्रोपतिष्ठते। उत्तरत्रेति वचनमुपलक्षणार्थम्। क्वचित् पूर्वत्राप्युपतिष्ठत एव। क्व पुनरस्य सद्भावो भवति? क्व च वा न भवतीत्याह। प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीया इति। प्रतिज्ञया स्वरितो येषां ते तथोक्ताः। तदेतदुक्तं भवति। यत्रैव त आचार्य्याः स्वरितत्वं प्रतिजानते तत्रैवास्य सद्भावो भवति। नान्यत्रेति। तदपि प्रतिज्ञानं नानियमेन भवति। किं तर्हि? यत्राचार्य्याः स्मरन्ति तत्रैव भवति। स चायं धर्म्मः कलाद्युपम इति वेदितव्यः। कार्य्यार्थमुपादीयते। कृतकार्य्यस्तु निवर्त्तते। नतु प्रयोगसमवायी भवति। प्रत्यय इत्यादिना येऽधिकाराः स्वरितेनावच्छिद्यन्ते तेषामुदाहरणानि दर्शयति। अथ किमर्थोऽयमधिकारः क्रियते? प्रतियोगं तस्य ग्रहणं माकार्षीदित्येवमर्थमिति चेत्? न। यथा देवदत्ताय गौर्दीयतां कम्बलश्चेत्युक्ते न च पुनरुच्यते देवदत्तायेति। अथच प्रस्तुतत्वाद्देवदत्तस्य कम्बलश्चेत्यस्य साकाङ्क्षत्वात् तेनैव सम्बन्धो भवति। तथाच स्थ स्थिरे (३।३।१७) भाव (३।३।१८) इत्येवमादीनामपि वाक्यानां साकाङ्क्षत्वाद् घञादीनाञ्च प्रस्तुतत्वात् तैरेव सम्बन्धो भविष्यति। तत् किमधिकारेण? सत्यमेतत्। यत्रान्यनिर्देशो नास्ति तत्रोपतिष्ठते। यत्र त्वन्यनिर्देशस्तत्रासौ प्रकृतस्य निवर्त्तक एव स्यात्। तथाहि गौर्दीयतां

---

(A) स्वरभेद इत्यर्थः। दोषा स्त्री रजनी प्रोक्ता दोषो दूषणभेदयोरिति। In the printed काशिका the reading is स्वरितो नाम स्वरविशेषो वर्णधर्मः। (वर्णधर्मो न स्वरधर्म इति क्वचित् पाठः।) But the पदमञ्जरी admits क्वचित् तु स्वरितो नाम स्वरदोषो वर्णधर्म इति पाठः। तत्र स्वरदोष उच्चारणदोषः, though हरदत्त takes the variant स्वरितो नाम वर्णधर्म इति। Says नागेश—"स्वरितत्वञ्चेदं दोषविशेषरूपमज्झलसाधारणम्। स्वररूपमधिक्रियमाणपदघटकाज्निष्ठं वा। तच्चानुनासिक्यवत् प्रतिज्ञागम्यम्।" The poona copy has the reading as in the printed काशिका।

यज्ञदत्ताय कम्बलो विष्णुमित्रायेत्युक्तेऽन्यनिर्देशेन प्रस्तुतो देवदत्तो निवर्त्तते। एवञ्चान्यनिर्देशेनास्य निवर्त्तकत्वे सत्यभिविधौ (३।३।४४) भाव इनुण् णित्यस्ये-नुणो निर्देशेन प्रस्तुतस्य घञो निवर्त्तितत्वादाक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः (३।३।४५) इत्यत्रा-नन्तरेणेनुणा सम्बन्धः स्यान्न पुनर्व्यवहितेन घञा। घञ् लिप्यते। ननु च दृष्टानु-वृत्तिसामर्थ्याद् घञेवानुवर्त्तिष्यते। तेनैवाभिसम्बन्धो भविष्यति। तथाच तत्र वक्ष्यति दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्यात् तत्र घञेवानुवर्त्तते। नानन्तर इनुणिति। नैत-दस्ति। यदि दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्याद् घञ (३।३।५७) एवानुवृत्तिः स्यात् तदा ऋदोरबित्यत्रोत्तरेष्वपि (३।३।५७) योगेषु घञेवानुवर्त्तेत। नाप्प्रत्ययः। यत् पुनर्वक्ष्यति दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्यादिति तत्र दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्यशब्देन स्वरितत्व-मेवोक्तं दृष्टमनुवृत्तौ सामर्थ्यमधिज्ञतस्य शब्दरूपस्य यस्मादिति बहुव्रीहिं कृत्वा। तस्मात् स्वरितत्वादित्ययमत्रार्थः। यद्येषोऽर्थः सूत्रकाराभिमतः स्यात् स्वरि-तत्वादिति कस्मान्नोक्तमिति चेत्? न। स्वच्छन्दतो हि वचसां प्रवृत्तिरर्थस्तु परीक्षणीय इत्यचोद्यमेतत्। तदेवं यतोऽन्यनिर्देशः प्रस्तुतस्य निवर्त्तको भवति तस्मादधिकारः कर्त्तव्यः। तस्मिंश्च क्रियमाणे तदवगमोपायदर्शनाय स्वरिते-नाधिकार इतीत्यतदपि कर्त्तव्यः।

## १२। अनुदात्तङित आत्मनेपदम्।

तत्रायन्नियमः क्रियत इति। विधीयमानत्वात् प्रधानस्य प्रत्ययस्य नतु प्रकृतेरिति विज्ञायते। अत एवाह अनुदात्तेतो ये धातवो ङितश्च तेभ्य इति। यदि पुनरयं प्रकृतिनियमः स्यात् तदा किं स्यात्? अनुदात्त-ङिद्भ्यः प्रत्ययान्तरं न स्यात्। कामं वचनसामर्थ्यात् प्रत्ययान्तरमपि भविष्यतीतीत्येष दोषः शक्यते परिहर्त्तुम्। यस्तु वचनसामर्थ्यद्वारेणाभीष्टेऽर्थे प्रतीयमाने प्रतिपत्तिगौरवदोषः स्यात् सोऽपरिहार्य्य एव। यदि तर्हि प्रत्ययनियमोऽयं तदा प्रकृतीनामनियतत्वात् ताभ्यः परस्मैपदमपि स्यात्। न भविष्यति। शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदमिति (१।३।७८) द्वितीयनियमविधानाच् शेषादेव परस्मैपदम्। नान्यस्मादिति। आस्त इत्यादि। आस उपवेशने। वस आच्छादने। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। शीङ् स्वप्ने। अदादित्वाच्छपो लुक्। शेत इति। शीङः सार्वधातुके गुणः (७।४।२१)।

## १३। भावकर्मणोः।

भाव इति धात्वर्थः क्रियात्मक उच्यते। कर्म तु पारिभाषिकमेव। तत्रेदमुच्यते नियमार्थं इति विशेषः। अयमपि पूर्ववत् प्रत्ययनियमः। भावकर्मणोरेवात्मनेपदं भवति। नार्थनियमः। अर्थनियमे सति को भवता दायो दत्तः को भवता लाभो लब्ध इति कर्मणि घञादिर्दुर्लभः स्यात्। सुप्यत इति। ञिष्वप् शये। वचादिना (६।१।१५) संप्रसारणम्। क्रियत इति। रिङ्शयग्लिङ्क्ष्विति (७।४।२८) रिङादेशः। लूयते केदारः स्वयमेवेति। कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय (३।१।८७) इत्यत्र व्यपदेशातिदेशशास्त्रातिदेश-पक्षयोः कर्मकर्त्तरि परस्मैपदेन परत्वाद् भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तान्निराकर्त्तुमाह कर्मकर्त्तरीत्यादि। द्वितीयं कर्त्तरि ग्रहणमु-पतिष्ठत इति। कर्त्तरि कर्मव्यतीहार (१।३।१४) इत्यतः। तेन कर्त्तैव यः कर्त्ता शुद्धः केवलः कर्मवद्भावरहितस्तत्र परस्मैपदं भवति। यत्र कर्मवद्भाव-स्तत्रात्मनेपदं भवति। कार्य्यातिदेशपक्षे कर्मवत् कर्मणा (३।१।७८) तुल्यक्रिय इत्यनेनैवात्मनेपदं भवति।

## १४। कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे।

कर्मशब्दः क्रियावाची। एतेन लौकिकमिह कर्म क्रियात्मकं गृह्यते। न पारिभाषिकमिति दर्शयति। कुत एतल्लभ्यते? प्रत्यासत्तेः। क्रिया हि धातोः प्रत्यासन्ना। तत्र साक्षाद्वृत्तेः। साक्षाद्वृत्तिस्तु धातुवाच्यत्वात् क्रियायाः। पारिभाषिके तु साधनात्मके कर्मणि धातुः साक्षान्न वर्त्तते। तस्याधातुवाच्यत्वात्। तस्माद् धातुं प्रति न तस्य प्रत्यासत्तिरिति न गृह्यते। तेन साधनकर्मव्यतीहारे न भवत्यात्मनेपदम्। देवदत्तस्य धान्यं व्यति-लुनन्तीति। लुनातिरुपसंग्रहार्थे लवने वर्त्तते। देवदत्तेन यद् धान्यं संगृहीतं पुरस्ताल्लवनेनोपसंगृह्णन्तीत्यर्थः। ततश्चान्यसम्बन्धिनो धान्यस्यान्येन संग्रहणाद् भवति साधनकर्मव्यतीहारः। अन्यसम्बन्धिनीमिति। अन्यस्य कर्त्तुरभीष्टा या क्रियेमां क्रियां करिष्यामीति सेहान्यसम्बन्धिन्यभिप्रेता। अन्यथा यद्यन्येन निष्पादिता या क्रिया सेहान्यसम्बन्धिन्यभिप्रेता स्यात् तदा व्यतीहारो नोप-

पद्येत। नह्यन्येन निष्पादितायाः पुनर्निष्पादनमुपपद्यते। व्यतिलुनत इति। आत्मनेपदेष्वनत (७।१।५) इत्यदादेशः। श्नाभ्यस्तयोरात (६।४।११२) इत्याकारलोपः। अथ कर्त्तृग्रहणं किमर्थम्? भावकर्मनिवृत्त्यर्थमिति चेत्? न। अभीष्टत्वाद् भावकर्मणोरात्मनेपदम्। व्यतिभूयते सेनया। व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः। व्यतिहन्यन्ते दस्यव इति। भावकर्मणोरित्यनेनैव यथा स्यात्। अनेन मा भूदित्येवमर्थमिति चेत्? न। विशेषाभावात्। नहि तेनात्मनेपदे सत्यनेन वा कश्चिद् विशेषोऽस्ति। यद्यनेन स्यात् तदा न गतिहिंसार्थेभ्य इति (१।३।१५) प्रतिषेधः स्यात्। तेन चात्मनेपदे विधीयमाने (B) न भवतीत्यव दोष इति चेत्? सत्यम्। एषोऽस्तु विशेषः। तथापि न कर्त्तृग्रहणं कर्त्तव्यम्। यस्मादनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेत्यनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। न पूर्वा। तेन भावकर्मणोरात्मनेपदं भविष्यति। अत आह कर्त्तृग्रहणमुत्तरार्थमिति। कः पुनरसावुत्तरो योगो यत्रास्य प्रयोजनमित्याह शेषादित्यादि।

## १५। न गतिहिंसार्थेभ्यः।

व्यतिगच्छन्तीति। इषुगमियमाञ्छः (७।३।७७) इति च्छत्वम्। छे चेति (६।१।७३) तुक्। व्यतिसर्पन्तीति। गस्तृ सृप्लृ गतौ। लघूपधगुणः। व्यतिहिंसन्तीति। हिहि हिसि हिंसायाम्। व्यतिघ्नन्तीति। हन हिंसागत्योः। गमहनेत्युपधालोपः (६।४।९८)। हो हन्तेर् ञ्णिन्नेष्विति (७।३।५४) कुत्वम्। प्रतिषेध इत्यादि। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। उपसंख्यान शब्दोऽवानेकार्थत्वाद्धातूनां प्रतिपादने वर्त्तते। तच्च प्रतिपादनं प्रकृतत्वात् प्रतिषेधस्येति गम्यते। तदयमर्थः। प्रतिषेधे कर्त्तव्ये हसादीनामप्यात्मनेपदप्रतिषेधस्य प्रतिपादनं कर्त्तव्यमिति। तत्रेदं प्रतिपादनम्। नेति योगविभागः क्रियते। तेन हसादीनामपि भविष्यतीति। ततो गतिहिंसार्थेभ्य इति द्वितीयो योग स्तत्र नेति वर्त्तते। किमर्थं पुनरयम्? पूर्वयोगस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन नेति योगविभागेन हसादीनामेव प्रतिषेधो भविष्यति। नान्येषामिति।

---

(B) विधीयमाने सति प्रतिषेधो न भवतीत्येषोऽस्ति विशेष इति चेदिति १३श पुस्तके पाठः।

## १६। इतरेतरान्योन्योपपदाच्च ।

उपोच्चारितं पदमुपपदम्। इतरेतरान्योन्यशब्दावुपपदे यस्य स तथोक्तः। अथोपपदग्रहणं किमर्थम् ? नेतरेतरान्योन्याभ्यामित्युच्यताम् ? अशक्यमेवं वक्तुम्। एवं ह्युच्यमाने पञ्चमीनिर्देशात् तस्मादित्युत्तरस्ये (१।१।६७) त्युत्तरस्यैव स्यात्। इतरेतरस्य व्यतिलुनन्तीति। इह तु न स्याद् व्यतिलुनन्तीतरेतरस्येति। परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यमिति। परस्परशब्द उपपदं यस्य तस्मात् प्रतिषेधो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। चकारोऽत्र क्रियते। स चानुक्तसमुच्चयार्थः। तेन परस्परोपपदादपि प्रतिषेधो भविष्यतीति।

## १७। नेर्विशः।

निविशत इति। विश प्रवेशने। तुदादित्वाच्छः। न्यविशतेति। अड़ागमेन व्यवधानमित्यात्मनेपदेन न भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तान्निराकर्त्तुमाह अड़ागम इत्यादि। मधुनि विशन्तीति। अत्र नेः परस्य विशतेरात्मनेपदं प्राप्नोति। तत् कस्मान्न भवतीत्याह नेरुपसर्गस्येत्यादि। मधुशब्दस्य सप्तम्येकवचन इकोऽचि विभक्ताविति (७।१।७३) नुमि कृते मधुनीति रूपं भवति। तस्य चावयवो निशब्दोऽनर्थकः।

## १८। परिव्यवेभ्यः क्रियः।

परिक्रीणीत इति। ई हल्यघोरितीत्त्वम् (६।४।११३)। पर्य्यादय उपसर्गा गृह्यन्त इति। कथम् ? क्रिय इति सम्बन्धलक्षणा षष्ठी। न पञ्चमी। क्रियो ये सम्बन्धिनः पर्य्यादय इति। अर्थद्वारकश्च तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः। स चोपसर्गैरेव पर्य्यादिभिः सम्भवति। नान्यैरिति सामर्थ्यादुपसर्गग्रहणं भवति। बहुवि क्रीणातीति। बहवो वयो यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। विशब्दोऽत्र पक्षिणि वर्त्तते।

## १९। विपराभ्यां जेः।

साहचर्य्यादिति। उपसर्गग्रहणे हेतुः। नेर्विश इत्यत्र नेरुपसर्गस्य ग्रहणम्।

अनन्तरसूत्रेऽपि पर्य्यादीना मुपसर्गाणामेव ग्रहणम् । अतः प्रकरणसाहचर्य्याद् विपराशब्दावुपसर्गौ गृह्येते इत्येके । अपरे तु वर्णयन्ति साहचर्य्यं प्रत्यासत्त्युपलक्षणम् । येषां साहचर्य्यं तेषां नियोगतः प्रत्यासत्त्या भवितव्यमिति । अतः साहचर्य्यस्य प्रत्यासत्त्याऽविनाभावित्वात् तेन प्रत्यासत्तिर्लक्ष्यते । तदेतदुक्तं भवति प्रत्यासत्तेर्विपराशब्दावुपसर्गौ गृह्येते इति । प्रत्यासत्तिश्च जयते र्विपराशब्दाभ्यामुपसर्गाभ्यामेव । नानुपसर्गाभ्याम् । तथाहि ताभ्यामेव जयत्यर्थो विशिष्यते । नेतराभ्यामिति ।

## २० । आङो दोऽनास्यविहरणे ।

ददातेरेवास्यविहरणे वृत्तिः सम्भवति । नान्येषां दारूपाणां धातूनामिति । अतस्तत्प्रतिषेधेन तस्यैव ग्रहणं विज्ञायत इत्यत आह आङ्पूर्वाद्दाञ इति । आदत्त इति । पूर्ववदाकारलोपः । खरि चेति (८।४।५५) चर्त्वम् । आस्यविहरणसमानक्रियादपि प्रतिषेधो वक्तव्य इत्युपसंख्यानव्याजेनास्यविहरणविषयं दर्शयति । कथम् ? विहरणग्रहणं न कर्त्तव्यम् । इहाङो दोऽनास्य इत्येतदवक्तव्यम् । तत्रास्येदाञो वृत्तिर्न सम्भवतीति सामर्थ्यादास्यसमवायिन्यां क्रियायां वृत्तिर्विज्ञास्यते । तत्रैव प्रतिषेधः । तत् किं विहरणग्रहणेन ? ननु चाङो दोऽनास्य इत्येतावत्युच्यमाने स्वं मुखमादत्ते देवदत्त इत्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैष दोषः । या ह्यास्यविषयैव क्रिया तस्यां वर्त्तमानो ददातिरास्यवृत्ति र्भवति । विहरणमेवास्यविषयम् । ग्रहणन्त्वास्यविषयं ग्रहीतृविषयञ्च । तदेवं विहरणमन्तरेणापि सिद्धे यद्विहरणग्रहणं क्रियते तस्यैतत् प्रयोजनम् । आस्यविहरणसमानक्रियादपि प्रतिषेधोऽयं यथा स्यादित्येवमित्येके । इतरेतरान्योन्योपपदाच्चेत्यत (१।३।१६) श्चकारोऽनुवर्त्तते । स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेनास्यविहरणसमानक्रियादपि प्रतिषेधो भवतीत्यपरे । स्वाङ्गकर्मकाच्चेति । वक्तव्यमिति शेषः । न चात्राद्रवमूर्त्तिमल्लक्षणं पारिभाषिकं स्वाङ्गं विवक्षितम् । किं तर्हि ? स्वमङ्गं स्वाङ्गमिति । तत् कर्म यस्य स स्वाङ्गकर्मकः । तस्मात् स्वाङ्गकर्मकात् प्रतिषेधो भवतीत्येतदर्थरूपं वक्तव्यमित्यर्थः । तेन परसम्बन्धिना मुखेन यदा सकर्मको भवति तदा भवत्येवात्मनेपदम् । व्याददते पिपीलिकाः

पतङ्गस्य मुखमिति। वन्नाव्यशब्दस्य व्याख्येय मित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। कर्त्तरीति वर्त्तते। आस्यमिति च सम्बन्धिशब्दः। तत्रैवं विज्ञायते यस्मिन् कर्त्तर्य्येवात्मनेपदं भवति तस्य चेदास्यमिति। आङ इति योगविभागः क्रियते। आगमयस्व तावन्माणवक आनुते शृगाल आपृच्छते गुरूनितिएवमर्थः। तेनागमेः क्षमायामित्याङि नुप्रच्छ्योरिति च (१।३।२१, वा) नोपसंख्येयं भवति।

## २१। क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च।

समा साहचर्य्यादिति। यद्यप्यन्वादिरुपसर्गत्वं व्यभिचरति सम्शब्द स्तु न व्यभिचरति। अतस्तत्साहचर्य्यादन्वादिरुपसर्ग एव गृह्यते। माणवकमनुक्रीड़तीति। माणवकेन सह क्रीड़तीत्यर्थः। तृतीयार्थे इत्यनुशब्दस्य (१।४।८५) कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। आगमेरिति। आङ्पूर्वस्य गमेर्ण्यन्तस्य ग्रहणम्। क्षमा उपेक्षा कालहरणमिति। कालप्रतिपालनं प्रतीक्षणमितत्यर्थः। आगमयस्वेति। जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्चेति मित्संज्ञायां मितां ह्रस्व (६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम्। लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम्। थासः से (३।४।८०)। सवाभ्यां (३।४।९१) वामाविति वादेशः। शिक्षेरिति। शकिः सन्नन्तो गृह्यते। विद्यासु शिक्षत इति विद्यां जिज्ञासितुं घटत इत्यर्थः। शकेः सन्। सनि मीमाघुरभलभेत्यादिनेस् भावः (७।४।५४)। अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८) त्यभ्यासस्य लोपः। स्कोः संयोगाद्योरन्ते (८।२।२९) चेति सकारलोपः। शिक्ष इति स्थिते लट्। यस्तु शिक्ष विद्योपादान इति पठ्यते ततोऽनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदं सिद्धमेव। आशिषि नाथ इति। नाथृ नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्य्याशीःष्वित्यनुदात्तेत् पठ्यते। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदे सिद्ध आशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं भवति। याच्ञादिषु मा भूदिति नियमार्थमेतत्। सर्पिष इति। आशिषि नाथ इति (२।३।५५) कर्मणि षष्ठी। हरतेर्गतिताच्छील्य इति। गतेस्ताच्छील्यं गतिताच्छील्यम्। ताच्छील्यं तत्स्वभावता। पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावोऽनुहरन्त इति। पितृवन् मातृवद् गमनमेषां स्वभाव इत्यर्थः। मातुरनुहरति पितुरनुहरतीति। मातुराकारं पितुराकारमनुकरोतीत्यर्थः। मातृसदृशः पितृसदृश इत्यर्थः। पैतृकमिति। पितुरागतमिति ऋत(४।३।७८)ष्ठञ्। इसुसुक्तान्तात् (७।३।५१)

कः । मातुरनुहरतीत्यत्र गतताच्छील्यं न विवक्षितम् । किरतेरित्यादि । कॄ विक्षेपे. अस्य विक्षेप एवार्थः । हर्षादयस्तस्य विषयभूताः । अत्र हर्षो विक्षेपस्य कारणम् । जीविकाकुलायकरणञ्च तत् फलम् । एतेष्वेवार्थेषु किरते रात्मनेपदं भवति । अपस्किरत इति । अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६।१।१४२) सुट् । आनुते इति । नु स्तुतौ । अदादिः । अयञ्चात्रोत्कण्ठापूर्वकशब्दने वर्त्तते । आपृच्छन्त इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । तौदादिकः । ग्रह्यादिना ( ६।१।१६ ) संप्रसारणम् । वाचा शरीरस्पर्शनमुपलम्भनमिति । शपथविशेषः । तथाहि देवदत्तस्य शरीरं स्पृशामीति शपथं कुर्वाणो देवदत्ताय शपत इति प्रयुज्यते । श्लाघह्नुङ्स्थाशपामित्यादिना (१।४।३४) सम्प्रदानसंज्ञायां देवदत्तायेति सम्प्रदाने चतुर्थी । शपतीत्याक्रोशतीत्यर्थः । समोऽकूजन इत्यादिग्रन्थस्य शप उपलम्भनपर्य्यन्तस्य योऽर्थः स इह चकारेणानुक्तसमुच्चयार्थेनोपात्तः । तस्यैवार्थस्य चकारोपात्तस्य स्पष्टीकरणायास्य ग्रन्थस्योपन्यासः कृतः ।

## २२ । समवप्रविभ्यः स्थः ।

सन्तिष्ठते इति । पाघ्रादिसूत्रेण ( ७।३।७८ ) तिष्ठादेशः । अस्तिं सकारमातिष्ठत इति । सकारमात्रमस्तिं धातुमापिशलिराचार्य्यः प्रतिजानीते । तथाहि न तस्य पाणिनेरिवास भुवीति गणपाठः । किं तर्हि ? स भुवीति स पठति । आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठत इति । स त्वागमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते । एवं हि स (C) प्रतिजानीत इत्यर्थः ।

## २३ । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ।

तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेय इति । कृत्यल्युटो बहुलमि (३।३।११३) त्यधिकरणेऽचो (३।१।९७) यत् । ईद् यतीतीत्त्वम् (६।४।६५) । गुणः । विवाद इति ।

(C) स इति । आपिशलिरित्यर्थः । आपिशलिमते सकारमात्रस्यास्धातोः स्तः स्थः सन्तीत्यादीन्युदाहरणानि । अस्त्यासीदित्यादिसिद्धये तु सोऽडाटावागमौ प्रतिजानीते । तावड़ाटावेव पाणिनीयशास्त्रेऽकाराकारस्वरूपत्वाद् गुण (१।१।२) वृद्धी (१।१।१) इति । अतः स गुणवृद्धी आगमौ प्रतिजानीत इति न्यासकृदाशयः । आपिशलि maintains गुणवृद्धी ( अ and आ ) as आगम in order to form the terms अस्ति, अस्तु, आसीत् &......from his root स ( which is अस in the पाणिनीय धातुपाठ ) । and this is referred to by the न्यासकार in explaining the two examples cited here by the वृत्तिकार to illustrate the वार्त्तिक attached to the Rule 1. 3. 22.

सन्देहविषये । निर्णेतेति निश्चेता प्रमाणभूत इत्यर्थः । कथं पुनः स्थेयशब्दात् तस्य प्रतीतिर्भवति ? यावता स्थेयशब्दो भावसाधनोऽप्यस्ति गतिनिवृत्ति-वचन इत्याह तस्येत्यादि । यस्य स्थेयइत्याख्या लोके तस्य प्रतीतिर्यथा स्यादित्येवमर्थमाख्याग्रहणम् । तेनाख्याग्रहणेन तस्य प्रतीति र्भवतीति दर्शयितुमाख्या-ग्रहणं कृतम् । तिष्ठते कन्या छात्रेभ्य इति । पूर्ववत् संप्रदानसंज्ञायां सत्यां छात्रेभ्य इति चतुर्थी । प्रकाशयत्यात्मान मित्यर्थ इति । अनेकार्थत्वाद्धातूनां तिष्ठतिरत्र प्रकाशने वर्त्तते । संशय्येति ।

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः ।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥१॥ इति ।

अस्य श्लोकस्यायमेकदेश इहोपन्यस्तः । संशय्येति । विवादपदभूते वस्तुनि संशयितो भूत्वा कर्णादिषु तिष्ठत इति । कर्णशकुनिप्रभृतिषु निर्णेतृत्वेनाभिमतेषु सत्सु पक्षान्तरं परित्यज्य तिष्ठते । तदुपदर्शितस्यैव पक्षस्याश्रयणात् ।

## २४ । उदोऽनूर्द्ध्वकर्मणि ।

अनूर्द्ध्वकर्मणि वर्त्तमानादित्युक्ते य स्चोदयति ननुच तिष्ठतेरकर्मकक्रिया-वचनत्वान्न कर्मणि वृत्तिरुपपद्यते । तत् किमुच्यतेऽनूर्द्ध्वकर्मणि वर्त्तमाना-दिति तं प्रत्याह क्रियावाचीति । यदुक्तमनूर्द्ध्वकर्मणि वर्त्तमानादिति तस्यार्थं विस्पष्टीकर्त्तुमाह । अनूर्द्ध्वकर्मविशिष्टात् क्रियावचनादिति । उद ईहायामिति वक्तव्यमिति । उत्पूर्वात् तिष्ठते रीहायां परिस्पन्दने वर्त्तमाना-दात्मनेपदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । अन्तरेणापि कर्मग्रहणं क्रियामात्रवृत्तित्वे तिष्ठतेः सिद्धे यत् कर्मग्रहणं तल् लोके या क्रिया कर्मत्वेन प्रसिद्धा तस्याः प्रतिपत्त्यर्थं कृतम् । सा तु परिस्पन्दनात्मिकैव घटनभ्रमणादिका । तथाहि तां कुर्वाणः सक्रिय इत्युच्यते । स्थानासनादिकां त्वपरिस्पन्दनात्मिकां कुर्वाणोऽपि निष्क्रिय इति । तस्मादात्मनेपदमिदं कर्म-ग्रहणादीहायामेव वर्त्तमानाद् भविष्यति । उद ईहायामित्युक्त ईहाग्रहण-मनूर्द्ध्वकर्मणोऽपवाद इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात् । अतस्तन्निराकर्त्तुमाह ईहाग्रहणमितग्रादि । विशेषणं व्यक्तीकरणमिहाभिप्रेतम् । एतदुक्तम् भवति ।

यदिदमुक्तं मुद ईहायामिति वक्तव्यमिति तत्र यदीहाग्रहणं तदनूर्ध्वकर्म्मण एव विशेषणं सूत्रोपात्तस्य व्यक्तीकरणार्थम् । ईहात्मकमिहानूर्ध्वकर्म विवक्षितमिति प्रतिपादनार्थमित्यर्थः ।

## २५ । उपान्मन्त्रकरणे ।

मन्त्रकरण इति । मन्त्रः करणं साधकतमं यस्य धात्वर्थस्य स तथोक्तः । उपादित्यादि । अत्र वक्तव्यशब्दस्य व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । उत्तरसूत्रे चकारोऽनुवर्त्तते । स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन उपपूर्वात्तिष्ठतेर्देवपूजादिष्वर्थेष्वप्यात्मनेपदं भवति । वा लिप्सायामिति । लब्धुमिच्छा लिप्सा । लिप्सायां गम्यमानायामितेयषोऽर्थो वेदितव्यः । न तु तत्र वर्त्तमानात् तिष्ठतेरिति । न लिप्सा तिष्ठतेरर्थः । तथाहि भिक्षुको ब्राह्मणकुलमुपतिष्ठत इत्यत्र तिष्ठतिरुपसंक्रमणे वर्त्तते । लिप्सा तूपसंक्रमणस्य हेतुभूता गम्यते । लिप्सायां हेतुभूतायां ब्राह्मणकुलमुपसंक्रामतीत्यर्थः ।

## २६ । अकर्मकाच्च ।

अकर्मकादिति । नास्य कर्मास्तीति बहुव्रीहिः । डुकृञ् करणे । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति (३।२।७५) मनिन् । धातोर्गुणः । शेषाद् विभाषेति (५।४।१५४) कप् । ननु धातोः क्रियावचनादकर्मकत्वं न सम्भवतीति तस्मादयुक्तमकर्मकादिति विशेषणं व्यवच्छेद्याभावादित्यत आह अकर्मकक्रियावचनादिति । अकर्मिका चासौ क्रिया चेत्यकर्मकक्रिया । तस्या वचनो यस्तां वक्ति सोऽकर्मकक्रियावचनः । एतेनार्थद्वारकं विशेषणमिदं दर्शयति । अकर्मको यो धात्वर्थस्तत्साहचर्य्यादभिधेयधर्मस्याभिधान उपचाराद् धातुरकर्मक इति । अर्थस्य च युक्तमेतद् विशेषणम् । तस्य सकर्म्मकत्वाकर्मकत्वसम्भवात् । यावद्भुक्तमिति । यावच्छब्दो निपातोऽव्ययम् । तस्य यथार्थे वीप्सायामव्ययीभावः । सप्तम्यन्तश्चैतत् । अतएवाह भोजने भोजने सन्निधीयत इति । भावे क्त इति । नपुंसके भावे क्त (३।३।११४) इत्यनेन ।

## २७ । उद्विभ्यां तपः ।

स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्य मिति । स्वाङ्गं कर्म यस्य तस्मात् तपतेरात्मने-

पदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्त्तते। तस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् स्वाङ्गकर्मकादपि भविष्यति। स्वाङ्गञ्चेह न पारिभाषिकम्। किं तर्हि? स्वमङ्गं स्वाङ्गमिति। आत्मीयमङ्गमित्यर्थः। निष्टपतीति। निसस्तपतावनासेवन इति (८.३।१०२) मूर्धन्यः।

## २८। आङो यमहनः।

आहत इति। अनुदात्तोपदेशेत्यादिनानुनासिकलोपः (६।४।३७)। आघ्नत इति। गमहनेत्युपधालोपः (६।४।९८)। हो (७।३।५४) हन्तेरित्यादिना कुत्वम्। स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यमिति। अस्य पूर्ववदर्थः। व्याख्यानमपि पूर्ववदेव।

## २९। समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्त्तिश्रुविदिभ्यः।

संस्वरत इति। स्वृ शब्दोपतापयोः। समरन्त इति। अर्त्तेः सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्चेत्यत्र (३।१।५६) पुषादिसूत्रात् (३।१।५५) परस्मैपदग्रहणानुवृत्तेरात्मनेपदेष्वङादेशेन न भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तान्निराकर्त्तुमाह तत्र हीत्यादि। संशृणुत इति। श्रु श्रवणे। श्रुवः शृ चेति (३।१।७४) श्नुप्रत्ययः शृभावश्च। ऋच्छेरनादेशस्य ग्रहणमिति। ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेष्वित्यस्य समृच्छिष्यत इति लृट्। स्यप्रत्ययः। यद्यादेशस्य ग्रहणं स्यात् तदेतन्न सिध्येत्। पाघ्रादिसूत्रे (७।३।७८) णार्त्तेर्ऋच्छादेशस्य शितीत्येवं विधानात्। अथार्त्यादेशस्यापि ग्रहणं कस्मान्न भवतीत्याह। अर्त्यादेशस्य अर्त्तीत्येवमित्यादि। अथवा यद्यनादेशस्य ग्रहणं स्यादादेशस्यात्मनेपदं न सिध्यतीत्यत आह अर्त्यादेशस्य त्वर्त्तीत्येवमित्यादि। स्थानिवद्भावेनेत्यभिप्रायः। न लाभार्थस्येति। विदॢ लाभ इत्यस्य। अथ नतु सत्तार्थस्य नापि विचारणार्थस्येत्येवमपि कस्मान्नोक्तम्? एवं मन्यते। नित्यात्मनेपदित्वादनयोरात्मनेपदार्थं ग्रहणं नाशङ्केरतैवेति। दृशेश्चेति वक्तव्यमिति। दृशिर् प्रेक्षण इत्यस्मात् संपूर्वादात्मनेपदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। व्याख्यानन्तु पूर्ववदेव। संपश्यत इति। पाघ्रादिना (७।३।७८) पश्यादेशः।

## ३०। निसमुपविभ्यो ह्वः।

ह्व इति ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दने चेत्यस्य कृतात्त्वस्यातो (६।४।११४) धातो-

रित्याकारलोपं कृत्वा निर्देशः । निह्नयत इति । ननु च कृतात्त्वस्य निर्देशा-दत्रात्मनेपदेन न भवितव्यम् । नहि विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति । अन्यत्वात् । नैष दोषः । क्वचिद्विकृतिरपि प्रकृतिं गृह्णात्येव । कथं ज्ञायते ? यदयं न व्यो (६।१।४६) लिटीति कृतात्त्वस्य व्येञो निर्देशेनात्त्वप्रतिषेधं शास्ति ततो ज्ञायते विकृतिरपि प्रकृतिं गृह्णातीति । अन्यथा व्य इति निर्देशेन व्येञो ग्रहणा-भावात् कस्यायं प्रतिषेधः स्यात् ? उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनमिति । वक्तव्य-मित्यर्थः । असु क्षेपणे । ऊह वितर्के । अस्यतीति श्यना निर्देशाद्दैवादिकस्य ग्रहणम् । नत्वादादिकस्यास भुवीत्यस्य ।

## ३१ । स्पर्द्धायामाङः ।

स्पर्द्धायां विषय इति । स्पर्द्धेह धात्वर्थस्य विषयोऽभिमतो न धातोः । अतएवाह स्पर्द्धा संघर्षः । पराभिभवेच्छेति । स्पर्द्धायाः स्वरूपं दर्शयित्वा धात्वर्थस्य विषयं दर्शयितुमाह स विषयो धात्वर्थस्येति । कः पुनर्धातो-रर्थो नाम यस्यैवं विषय इत्याह ? धातुस्तु शब्दक्रिय एवेत्यादि । शब्दनं शब्दः । सा क्रिया यस्य स तथोक्तः । शब्दनक्रियावाचीति यावत् । यद्यपि ह्वयतिः स्पर्द्धायामपि पठ्यते तथाप्याङ्पूर्वस्तत्र न वर्त्तते । यथा तिष्ठतिर्गतिनिवृत्तौ पठ्यते । अथच प्रपूर्वो गतावेव वर्त्तते । न गतिनिवृत्तौ । तथाहि प्रतिष्ठत इत्युक्ते गच्छतीत्यर्थः । तस्मादाङ्पूर्वस्य ह्वयतेः स्पर्द्धायां वृत्त्यभावात् स्पर्द्धा धात्वर्थस्य विषयः । धात्वर्थविषयत्वन्तु तद्धेतुभावेन वेदितव्यम् ।

## ३२ । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ।

अपकारप्रयुक्तमिति । तृतीयासमासोऽयम् । अपकारमुद्दिश्य यत् प्रवर्त्तते तदपकारप्रयुक्तं वेदितव्यम् । हिंसात्मकमिति । हिनस्तीति हिंसः । पचाद्यच् । हिंस आत्मा यस्य तत् तथोक्तम् । पीड़ाकरणमित्यर्थः । सूचनमिति दोषा-विष्करणम् । कथमेतद् विज्ञायत एवंविधं सूचनं गन्धनमित्याह तथाहीत्यादि । वस्तेत्यादिना गन्धयति धातुरर्दयतेरर्थे वर्त्तत इति दर्शयति । अर्द हिंसाया-मित्यादिनाऽर्दयते हिंसात्मकत्वम् । एवञ्च हिंसार्थेनार्दयतिना गन्धयतेः

समानार्थतां दर्शयता गन्धनशब्दवाच्यस्यार्थस्य हिंसात्मकत्वं दर्शितम् भवति। भर्त्सनं तिरस्करणम्। अनुवृत्तिः परचित्तावधारणम्। साहसिक्यं साहसं कर्म इति। ओजःसहोऽम्भसा (४।४।२७) वर्त्ततइति ठक् साहसिकः। तस्य कर्मेति तस्माद् गुणवचनब्राह्मणादित्वात् (५।१।१२४) ष्यञ् साहसिक्यम्। उपयोगो धर्मादिप्रयोजनो विनियोग इति। धर्मादिषु प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः। आदिशब्दः कामादिपरिग्रहाय। एधोदकस्योपस्कुरुत इति। उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेष्विति (६।१।१०८) सुट्। कृञः प्रतियत्न (२।३।५३) इति षष्ठी।

## ३३। अधेः प्रसहने।

तमधिचक्र इति। कृञो लिट्। तस्य चैशादेशः। द्विर्वचनेऽचीति (३।१।५९) स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनम् (७।४।६६)। उरदित्यत्त्वम् (७।४।६६)। रपरत्वञ्च। हलादिः (७।४।६०) शेषः। कुहोश्चुरिति (७।४।६२) चुत्वम्।

## ३४। वेः शब्दकर्मणः।

कर्त्तरि (१।३।१४) कर्मेत्येवमादौ क्वचित् कर्मशब्दस्य क्रियावाचिता दृष्टा। इहापि तस्य क्रियावाचिता मा विज्ञायीत्याह कर्मशब्द इह कारकाभिधायीति। अथ क्रियाभिधायी कस्मान्न भवति? विपूर्वस्य करोतेः शब्दनक्रियायां वृत्त्यसम्भवात्। शब्दकर्मण इति। धातोरर्थद्वारकं चेदं विशेषणम्। शब्दः कर्मास्येति शब्दकर्मा धात्वर्थः। तदर्थस्य शब्दकर्मत्वाद् तद्द्वारेण धातुरपि शब्दकर्मेति। अन्यथा हि क्रियावाचित्वाद्धातोः कथं शब्दः कर्मास्येति सम्बन्ध उपपद्यते?

## ३५। अकर्मकाच्च।

ओदनस्य परिपूर्णा इति। सुहितार्थयोगे षष्ठी। पूरणगुणसुहितार्थ (२।२।११) इत्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधेन ज्ञापितमेतत् सुहितार्थयोगे षष्ठी भवतीति। सुहितार्थास्तृप्त्यर्थाः। पूर्णास्तृप्ता इत्यर्थः।

## ३६। सम्माननोत्सञ्जनाचार्य्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः।

सम्माननादिषु विशेषणेष्विति। किं स्विदत्र विशिष्यते नयत्यर्थोऽनेनेति

विशेषणम् ? किं स्विन्नयत्यर्थ एव विशेषणम् ? विशिष्यते व्यावर्त्त्यतेऽर्थान्तरादिति कृत्वा । तत्र सम्माननमाचार्य्यकरणं भृतिश्चेति पूर्वेणैवार्थेनैतानि विशेषणानि । परिशिष्टानि तु नयत्यर्थस्वभावानि द्वितीयेन विशेषणानि । नयते चार्वी लोकायत इति । अत्र नयतेः प्रापणमर्थो विशेष्यः । शिष्यसम्माननन्तु तस्य फलभावेन विशेषणम् । तत्सम्बन्धादाचार्य्योऽपि चार्वीत्युच्यत इति । यथा कुन्तान् प्रवेशयेत्युक्ते कुन्तशब्दः कुन्तसम्बन्धात् पुरुषेष्वपि वर्त्तते तथेहापि चार्वीशब्द श्चार्वीसम्बन्धादाचार्य्येऽपि । स्थिरीकृत्येति निश्चलीकृत्येत्यर्थः । निश्चलत्वन्तु तेषामनन्यार्थभावः । स्थाप्यमाना इति । लोकायते शास्त्रे पदार्थान् प्रतिपाद्यमाना निश्चाय्यमाना इत्यर्थः । पूजिता भवन्तीति । अभिलषितार्थसम्पादनमेव तेषां पूजा । अभिलषितोऽर्थस्तु लोकायते शास्त्रे पदार्थानां सम्यगवबोधः । उत्क्षिपतीत्यर्थ इति । एतेनोत्सञ्जनं नयतेरर्थो नतु तस्य विशेषणमिति दर्शयति । एवं निश्चिनोतीत्यर्थ इत्यादिभिरपि ज्ञानादीनां यथासम्भवं नयत्यर्थतां दर्शयतीति वेदितव्यम् । ईदृशेनेति । यादृशः शास्त्रोक्तो विधिस्तादृशेनेत्यर्थः । अत्राप्याचार्य्यकरणं नयत्यर्थस्य फलभावेनैव विशेषणम् । कर्मकरानुपनयत इति । अत्र हि भृतिहेतुभावेन नयत्यर्थस्य समीपकरणस्य विशेषणम् । ऋणादेरिति । आदिशब्देन करशुल्कदण्डादीनां ग्रहणम् । करो नाम राजग्राह्यो भागः कर्षकैं रक्षार्थं परिकल्पितः । धर्म्मादिष्विति । आदिशब्देन कामादिष्वपि ।

## ३७ । कर्त्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि ।

नयतेः कर्त्तेति । अर्थद्वारकः सम्बन्धो वेदितव्यः । तदेकदेशोऽपि शरीरमिति । समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दाः क्वचिदवयवेष्वपि वर्त्तन्त इति भावः । कथं पुनर्मुख्ये सति गौणस्यापि ग्रहणं लभ्यते ? शरीरग्रहणात् । इह लघुत्वात् कायग्रहणे कर्त्तव्ये यच्छरीरग्रहणं करोति तच्छरीरैकदेशोऽपि शरीरश्रुत्या नाम गृह्यतेत्येवमर्थम् । क्रोधं विनयत इति । अत्र नयतेर्यः कर्त्ता स हि बुद्धीन्द्रियदेहसमुदायस्वभावो देवदत्तादिः । तत्रैव कर्म क्रोधो वर्त्तत इति कर्त्तृस्थं कर्म्माशरीरं भवति । एवं गडुं विनयतीत्यादौ गड्वादेः

शरीरैकदेशस्य कर्म्मणः कर्त्तृस्थभावो वेदितव्यः। अत्र च क्रोधाद्यपगमः क्रियाफलं कर्त्रभिप्राय एवेति स्वरितञितः (१।३।७२) कर्त्रभिप्राय इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थमेतद् वचनं वेदितव्यम्। कर्त्तृस्थे कर्मण्यशरीर एव। नान्यत्रेति।

## ३८। वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः।

शेषलक्षणेन क्रमेः परस्मैपदे प्राप्त आत्मनेपदं विधीयते। वृत्त्यादयोऽर्था अप्रतिबन्धोत्साहस्फीततासु प्रसिद्धाः।

## ३९। उपपराभ्याम्।

संक्रामतीति। क्रमः (७।३।३६) परस्मैपदेष्विति दीर्घः।

## ४०। आङ उद्गमने।

आक्रामति माणवकः कुतपमित्ति। अवष्टभ्नातीत्यर्थः। ज्योतिरुद्गमन इति वक्तव्यमिति। ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रादीनामुद्गमन एवात्मनेपदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमितर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। अनुपसर्गाद्वेत्यतो (१।३।४३) वाग्रहणमनुवर्त्तते सिंहावलोकितन्यायेन। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन ज्योतिरुद्गमन एव भविष्यति। नान्यत्रेति। यदि तर्हि वा ग्रहणमनुवर्त्तत उत्तरयोरपि योगयोरनुवर्त्तेत। मण्डूकप्लुतिन्यायेन नानुवर्त्तिष्यत इत्यदोषः।

## ४१। वेः पादविहरणे।

विक्रामत्यजिनसन्धिरिति। द्विधा भवति। स्फुटतीत्यर्थः।

## ४२। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्।

प्रक्रमत उपक्रमत इति। आरभत इतर्थः।

## ४३। अनुपसर्गाद्वा।

अप्राप्तविभाषेयमिति। वृत्त्यादीनां निवृत्तत्वात्।

४४ । अपह्नवे ज्ञः ।

शतमपजानीत इति । ज्ञाजनोर्जा इति ( ७।३।७९ ) जादेशः । श्ना । पूर्व्ववदी हल्यघोरितीत्त्वम् ( ६।४।११ ) ।

४५ । अकर्म्मकाच्च ।

कथञ्चायमकर्मक इति । एवम्मन्यते । सर्पिरादि ज्ञेयत्वेन विवक्षितं कर्म । अतस्तेन कर्मणा सकर्मक एवायमित्यभिप्रायः । कथमिति । न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाचेत्यादिना नात्र सर्पिरादि कर्मत्वेनापितु करणत्वेन विवक्षित मित्यत्र युक्तिमाह सर्पिषोपायेनेत्यादि। यस्य सर्पिःष्वभिष्वङ्गो (D) विना तेन भुजिक्रियायामभिलाषो न भवति तस्य भोजने प्रवृत्तिं प्रति सर्पिरुपायभावं प्रतिपद्यत इति तेनोपायेन स प्रवर्त्तत इति । अकर्म्मकादिति किमिति ? नात्र सर्पिरादि ज्ञेयत्वेन विवक्षितम् । किं तर्हि ? करणत्वेनेति ब्रुवता वृत्तिकृता साक्षाच्छब्दोपात्तेन करणेन सकरणादात्मनेपदं भवतीत्युक्तं भवति । एवञ्च सकरणादित्येवं वाच्यम् । किमकर्मकग्रहणेनेति भावः । एवमुच्यमाने करणयुक्तात् सकर्मकादपि स्यादिति दर्शयितु माह स्वरेण पुत्त्रं जानातीति ।

४६ । संप्रतिभ्यामनाध्याने ।

उत्कण्ठास्मरणमिति । उत्कण्ठापूर्व्वकस्मरणमिति । मातुरिति । अधीगर्थदयेशां कर्मणीति ( २।३।५२ ) षष्ठी ।

४७ । भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ।

भासनादिष्वर्थेषु विशेषणेष्विति । अत्रापि किंस्विद्विशिष्यते वदत्यर्थोऽनेनेति विशेषणम् ? किंस्विद्वदत्यर्थ एव विशेषणं ह्यर्थान्तराद् विशिष्यते व्यवच्छिद्यत इति कृत्वा । तत्रोपसम्भाषोपसान्त्वन मुपमन्त्रणञ्च द्वितीयेनार्थेन वदत्यर्थ एव विशेषणम् । परिशिष्टानि तु भासनादीनि प्रथमेनार्थेन विशेषणानि । भासमानेत्यादिना भासनं वदत्यर्थस्य लक्षणभावेन हेतुभावेन वा विशेषणमिति दर्शयति । तथाह्यत्र भासमान इति लक्षणहेत्वोः क्रियाया

(D) यस्य सर्पिषो विन्दुमपि विनेति पुनापुस्तकी पाठः ।

(३।२।१२६) इत्यनेन शानजादेशो विहितः। जानातीत्यादिना ज्ञानं वदत्यर्थस्य विषयिभावेन विशेषणमिति दर्शयति। ज्ञानेन ह्यसौ वदितुं जानाति। अत्र येन ज्ञानेन वदनं वदत्यर्थं जानाति तत्र तेनैव विषयेण परिच्छेद्येन विषयीभवति। तद्विषय मित्यादिना यत्न आविष्करणस्य वदत्यर्थस्य हेतुभावेन विशेषणमित्याचष्टे। उत्साहो ह्याविष्क्रियमाण आविष्करणक्रियायाः कर्माख्यं साधनं भवति। साधनञ्च हेतुः। कारकाणां क्रियानिमित्तत्वात्। विमति पतिता इत्यादिना विमतिर्भाषणस्य वदत्यर्थस्य हेतुभावेन विशेषणमिति दर्शयति। सत्यां विमतौ विचित्रं नानाप्रकारं भाषन्ते। यदि ह्यभिन्ना मतिः स्यादभिन्नमेव भाषेरन्। उपच्छन्दयतीति। भद्रे भजस्व मा मिदं ते दास्यामीत्येवमादिभिरभीष्टेऽर्थे प्रवर्त्तयतीत्यर्थः।

## ४८। व्यक्तवाचां समुच्चारणे।

प्रसिद्ध्युपसंग्रहार्थमिति। यदि तदर्थं व्यक्तवाचामिति नोच्येत वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटा (E) इत्यत्रापि स्यात्। कुक्कुटा अपि व्यक्तवाच एव। तथाहि

---

(E) In my second and thirteenth MSS. only this line is given. In the 1st, the stanza is quoted as :—

> अयि विजहीहि दृढोपगूहनं
> त्यज नवसङ्गमभीरु वल्लभम्।
> अरुणकरोद्गम एष वर्त्तते
> वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः॥ १॥

But हरदत्त in his पदमञ्जरी completes the stanza thus:—

> अपनय पादसरोजमङ्कतः
> शिथिलय बाहुलतां गलाहताम्।
> क्व च वदनेंशुकमाकुलीकृतं
> वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः॥१॥"

and remarks क्वचित् तु कृत्स्न एव श्लोकः पठ्यते। हलायुध in his पिङ्गलवृत्तिसञ्जीवनी, गङ्गादास in his छन्दोमञ्जरी and नारायणभट्ट in his वृत्तरत्नाकरटीका give it as in my 1st MS. Some assign this stanza (viz : अयि विजहीहि &c.) to भारवि and some including the गणरत्नमहोदधिकार, to कुमारदास the author of the poem जानकीहरण। As the last line stands also in the महाभाष्य, neither भारवि nor कुमारदास could obviously be the author of the Stanza, in the form in which it had been before the

कुक्कुटेनापि लपिते विशेषपरिच्छेदादुच्यते कुक्कुटा लपन्तीति। वरतन्विति तनूशब्दस्याम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (७।३।१०७) इति ह्रस्वः। ह्रस्ववचनसामर्थ्याद् ह्रस्वस्य गुण इति गुणो (७।३।१०८) न भवति। नृणामिति न कृतं वैचित्र्यार्थम्।

## ४९। अनोरकर्म्मकात्।

अनुवदतीति। अनुशब्दः पुनरित्यस्यार्थे वर्त्तते। पुनर्वदतीत्यर्थः। यजुषात्र कर्मणा सकर्मकत्वम्।

## ५०। विभाषा विप्रलापे।

विप्रलापात्मक इति। परस्परप्रतिबन्धेन विरुद्धः प्रलापो विप्रलापः। स यस्यात्मा स्वभावः स तथोक्तः। प्राप्तविभाषेय मिति। व्यक्तवाचां समुच्चारण इत्यस्यानुवृत्तेः।

## ५१। अवाद्ग्रः।

अवगिरत इति। ऋत (७।१।१००) इद्धातोरितीत्त्वम्। रपरत्वञ्च।

## ५२। समः प्रतिज्ञाने।

## ५३। उदश्चरः सकर्मकात्।

गेहमुच्चरत इति। चरिर्गत्यर्थः। गुरुवचनमुच्चरत इति। अत्रोत्क्रमणात्मिकायां गतौ वर्त्तमानश्चरति गुरुवचनेन कर्मणा सकर्मकः। वाष्प उच्चरतीति। उपरिष्टाद् गच्छतीत्यर्थः। नात्र किञ्चित् कर्म विवक्षितमितऽ्यकर्मकत्वम्।

## ५४। समस्तृतीयायुक्तात्।

यद्यत्र तृतीयेति तृतीयार्थो गृह्यते तदेहापि स्यात्। उभौ लोकौ सञ्चरसि इमञ्चामुञ्च देवलेति। (F) अत्रापि तृतीयार्थो गम्यत एव। स तपसा श्रुतेन

---

महाभाष्यकार। The Deccan MS. also does not give the full stanza in the text, but there is a note in the margin in which a scribe completes it as अयि विजहीहि & c.

(F) नारदेति पाठान्तरम्। देवलस्योभयलोकचरणमयुक्तम् पतितत्वादिति नारदेति युक्तः पाठ इति केचित्।

वा विद्यत एवेत्येतच्चेतसि कृत्वाह तृतीयेति। तृतीयाविभक्ति र्न्नैद्यत इति। यद्येवं तया सह धातोः सम्बन्धो नोपपद्यते। नहि तृतीया धातुवाचेत्याह तदित्यादि। अर्थों द्वारं मुखमुपायो यस्य स तथोक्तः। तृतीयार्थेन धात्वर्थस्य युक्तत्वादौपचारिको धातो स्तृतीयार्थेन योग इति दर्शयति। यद्यप्यत्र तदर्थेन योगः सम्भवतीति विना करणेन क्रियानिष्पत्तेरभावात् तथापि न भवति। तृतीया त्वित्यादि। तृतीयायुक्तग्रहणं ह्येवमर्थं क्रियते। श्रूयमाणतृतीया-युक्ताद् यथा स्यादिति। अन्यथा सम इत्येवं वक्तव्यं स्यात्। अनुक्तेऽपि सिद्धत्वात् तृतीयाप्रयोगस्य। नहि तेन विना क्रियानिष्पत्ति रुपपद्यते। तस्माद् यत्र तृतीया श्रूयते तन्मूलोदाहरणम्। यत्र तु न श्रूयते तत् प्रत्युदा-हरणम्।

## ५५। दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे।

कथं पुन स्तृतीया चतुर्थ्यर्थे स्यादिति? न कथञ्चिदित्यर्थः। तद्वि-धायिनः शास्त्रस्याभावादिति भावः। वक्तव्यमेतदिति। व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। तदेव संप्रदानं यदा साधकतमत्वेन विवक्ष्यते तदा चतुर्थ्य-र्थेऽपि तृतीया भवति विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति कृत्वा। नतु स्वभावतः। सा च विवक्षा लौकिकी समाश्रीयते। नतु प्रायोगिकीति। लोके चाशिष्टव्यवहार एव सा सम्भवति। नान्यत्र। लौकिकविवक्षात्र समा-श्रीयत इति। अस्यैवार्थस्य द्योतनाय चेच्छब्दः प्रयुक्तः। दास्या मालां संप्रयच्छत इति। यो हि धर्मशास्त्रविरुद्धां दासीं कामयितुं तस्यै मालां ददाति तस्यासावशिष्टव्यवहारो भवतीत्यस्यत्राशिष्टव्यवहारः। संप्रयच्छत इति पाघ्रादिसूत्रेण (७।३।७८) दाणो यच्छादेशः। कथमात्मनेपदं भवतीति? न कथञ्चिदित्यर्थः। तस्मादित्युत्तरस्येत्यत्र (१।१।६७) निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्यार्थ-त्वादिति। एवं मन्यते। सम इति विशेषणे षष्ठीत्यादि। यदि समइति पञ्चमी स्यान् न षष्ठी तदा प्रशब्देन व्यवधानादात्मनेपदं न स्यात्। तस्मान्नेयं पञ्चमी। किं तर्हि? षष्ठी। समो विशेषणस्य सम्बन्धी यो विशेष्यो दाणिति ततश्च व्यवहितोऽपि विशेषणविशेष्यभावो भवतीति तेन व्यवधानेऽपि भवत्यात्मनेपदम्।

### ५६ । उपाद्यमः स्वकरणे ।

यदि स्वकरणमात्र आत्मनेपदं भवति शाटकादिस्वीकारेऽपि स्यादिति चोद्यमपाकर्त्तुमाह पाणिग्रहणमित्यादि । एवं मन्यते । प्रतिनियतविषया हि शब्दशक्तयो भवन्ति यस्मादुपपूर्वो यमिरात्मनेपदान्त एवंविध एव स्वीकारे वर्त्तते । नतु सर्वस्मिन् । तस्मात् पाणिग्रहणात्मकमेव स्वीकरणं गृह्यते । उपयच्छत इति पूर्ववद् यच्छादेशः ।

### ५७ । ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ।

त्रिभिः सूत्रैरिति । अपह्नवे ज्ञ इत्यादिभिः । धर्मं जिज्ञासत इति । ज्ञा अवबोधने । सन् । द्विर्वचनम् । अभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् । सन्यत (७.४।७९) इतीत्त्वम् । शुश्रूषत इति । श्रु श्रवणे । इको झलिति (१।२।९) सनः कित्त्वम् । श्र्युकः किति (७।२।११) तीट् प्रतिषेधः । अज्झनगमां सनीति (६।४।१६) दीर्घः । सुस्मूर्षत इति । स्मृ आध्याने । पूर्ववत् कित्त्वादुदो (७।१।१०२) ष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्त्वम् । रपरत्वम् । दिदृक्षत इति । हलन्ताच्चेति (१.२।१०) कित्त्वम् । ततश्च व्रश्चादिना (८।२।३६) षत्वम् । षढोः कः (८।२।४१) सीति कत्वम् ।

### ५८ । नानोर्ज्ञः ।

पूर्वेणेति । अनन्तरसूत्रप्राप्तं यत् तत् प्रतिषिध्यते । अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति कृत्वा । तथाचेत्यादि । यस्मादनन्तरसूत्रेणात्मनेपदं यत् प्राप्नोति तस्यायं प्रतिषेधः सम्पद्यत एवं सति सकर्मकस्यैवायं प्रतिषेधः । अनन्तरसूत्रेण सकर्मकादात्मनेपदविधानात् । अकर्मका च्चकर्मकाच्चेत्यनेन (१।३।४५) प्रागेवात्मनेपदं विहितमिति । अनन्तरातीतो योगः सकर्मकार्थो विज्ञायते । यतश्चैवं तेनाकर्मकात् पूर्ववत् सन (१।३.६२) इत्यात्मनेपदं भवत्येव । औषधस्यानुजिज्ञासत इति ।

### ५९ । प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ।

उपसर्गग्रहणञ्चेदमिति । कथं श्रुव इति ? विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धे षष्ठी । तेनायं सम्बन्धो भवति शृणोति यौ विशेषणभूतौ प्रत्याङौ तत्-

वाच्छुव: सम्बन्धात् सन्नन्तादात्मनेपदं न भवति। उपसर्गादिवार्थद्वारेण शृणोतेर्विशेषणभूताविति सामर्थ्यादुपसर्गयोर्ग्रहणम्। देवदत्तं प्रतिशुश्रूषत इति। प्रतिशब्दस्य लक्षणेत्थम्भूताख्यानेत्यादिना (१।४।९०) लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। तेन प्रतिना देवदत्त एव सम्बध्यते। न धात्वर्थ इति।

## ६०। शदेः शितः।

यदि शदेः शित इति व्यधिकरणे एते पञ्चम्यावित्यभ्युपगम्यैवं व्याख्यायते शदेः परो यः शित् तस्मादात्मनेपदं भवतीति तदा सार्वधातुकाश्रयत्वाच्छितः प्रागेव तदुत्पत्तेर् धातोः शेषत्वादस्य लावस्थायां परस्मैपदं स्यात्। ततस्तन्निमित्तकः शिद्विकरणः। तथाच विहितमिदानीं परस्मैपदमशक्यं निवर्त्तयितु मित्यात्मनेपदाभावः स्यादित्यालोच्यान्यथा व्याचिख्यासुराह शदिर्यः शिदिति। एतेन शदेः शित इति समानाधिकरणे एते पञ्चम्याविति दर्शयति। कथं पुनः शदिः शिद्भवति? यावता विकरणस्य शकार इत्संज्ञक इत्संज्ञासम्बन्धी नतु शदेरित्यत आह शिद्भावीति। भाविशब्दोऽयं भुविष्यति (३।३।३) गम्यादय इति भविष्यत्कालविषयः। शिद्भावीति। यतः शिद् भविष्यति स शिद्भावी। एतदुक्तं भवति। शिन्निमित्तत्वादुपचारेण शदिः शिदित्युक्तमिति। भवति हि कारणे कार्य्योपचारात् तथा व्यपदेशः। यथा नड्वलोदकं पादरोग इति। शितो वा सम्बन्धीति। एतेन शित इत्यस्य षष्ठ्यन्ततां दर्शयति। कः शदेः शित् सम्बन्धी? य स्तस्य प्रकृतिः। प्रागपि शितः शदेस्तत्प्रकृतित्वमस्त्येवेति शित्प्रकृतेः शदेरात्मनेपदं भवति। शीयते इति। पाघ्रादिसूत्रेण (७।३।७८) शीयादेशः।

## ६१। म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च।

नियमार्थं वचनमिति। म्रियतेर्लुङ्लिङोः शित एव यथा स्यात्। यद्येवं ङिद् ग्रहणं किमर्थम्? यावतान्यत्रात्मनेपदेन न भवितव्यमिति? उच्यते। स्वरार्थं सुपदिश्यते। मा हि मृतेति लुङि तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्ल सार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे (६।१।१८६) कृते धातोरन्तोदात्तत्वं भवति। तिङ्ङतिङ (८।१।२८) इति निघातोऽत्र हि चेति (८।१।३४) प्रतिषिध्यते।

अड़ागमोऽपि न माङ्योग इति (६।४।७४)। अमृतेति। ह्रस्वादङ्गादिति (८.२।२७) सिचो लोपः। मृषीष्टेति। आशिषि लिङ्। तस्य लिङाशिषी (३।४।११६) तत्रार्द्धधातुकत्वाद्विकरणाभावः। सुट् तिथोरिति (३।४।१०७) सुट्। वलि (६।१।६६) यलोपः। म्रियत इति। तुदादित्वाच्छः। रिङ् (७।४।२८) शयग्लिङ्क्ष्विति रिङादेशः। अचि श्नुधात्वितयादिना (६।४।७७) यङ्। मरिष्यतीति। ऋद्धनोः (७।२।७०) स्य इतोट्।

## ६२। पूर्ववत् सनः।

पूर्ववदिति। तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरिति (५।१।११५) वतिः। पूर्वशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वादवधिमपेक्षते। स चावधिः श्रुतत्वात् सन्नेव विज्ञायत इत्याह सनः पूर्वो यो धातुरिति। यद्येवमवधिभावोपगम एव सन्ग्रहणस्योपयुक्तत्वात् सन्नन्तादात्मनेपदं भवतीति। न तन्नैतल्लभ्यते। कुतस्तर्हि स्यात्। धातुमात्रात्। नैतदस्ति। एवं ह्यात्मनेपदं परस्मैपदानुक्रमणमनर्थकं स्यात्। अथ प्रत्ययान्तात् स्यात्? एवमपि सन्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। पूर्ववत् प्रत्ययादिति वाच्यं स्यात्। तस्मात् प्रत्यासन्नं सनं त्यक्त्वा न युक्तान्यस्याश्रुतस्य परिकल्पनेति सन्नन्तादेव भवतीति विज्ञायते। येनेत्यादिना वत्यर्थमाचष्टे। तदेव निमित्तमिति। अनुदात्तेत्त्वं ङित्त्वञ्च धात्वन्तरावस्थायामपि सन्नन्ताद् वचनसामर्थ्यान् निमित्तम् भवति। आसिसिषत इति। इटि कृते ऽजादेर्द्वितीयस्येति (६।१।२) सिशब्दस्य द्विर्वचनम्। निविविक्षत इति। विश प्रवेशने। पूर्ववत् कित्त्वषत्वकत्वानि। आचिक्रंसत इति। आत्मनेपदनिमित्तत्वात् स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (७।२।३६) इतीण् न भवति। शिशत्सति। मुमूर्षतीति। अत्र सनो यः पूर्वो भाग स्तस्यात्मनेपदनिमित्तत्वमस्ति। शीयते म्रियत इत्यात्मनेपददर्शनात्। तत आत्मनेपदेन भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यादतस्तां निराकर्त्तुमाह इह न भवतीत्यादि। किं कारणमित्याह नहीत्यादि। किं तर्हि? शिदाद्यपीतीति। शिच्छब्देनात्र शित्त्वाविलं शित्सम्बन्धित्वञ्चोक्तम्। आदिशब्देन लुङ्लिङोर्ग्रहणम्। तच्चेह नास्तीति न ह्यत्र सनः पूर्वभागस्य शित्त्वाविलं शित्सम्बन्धित्वं वास्ति। शित्प्रत्ययस्यास्मिन् विषये ऽतयन्तासम्भवात्। नापि म्रियतेः परौ लुङ्लिङौ स्तः।

तस्मान्नेह शदिम्रियत्योरात्मनेपदनिमित्तत्वमस्तीति न भवत्यात्मनेपदम्। इह तर्हि कस्मान्न भवति? अनुचिकीर्षति। पराचिकीर्षतीति? करोतेर्हि गन्धनादिष्वर्थेष्वात्मनेपदं विहितम्। अतस्तद्विवक्षायां सन्नन्तादपि तेन भवितव्यमित्यत आह यस्य चेत्यादि। गन्धनादिष्वर्थेषु पूर्वत्वात्सन्नन्तावस्थाया-मनुपराभ्यां कृञ (१।३।७९) इत्यनेन परस्मैपदविधानात् करोतेरात्मनेपदाभावः क्रियते। तस्मादाभ्यां सन्नन्तादप्यात्मनेपदनिमित्ताभावान्न भवति। अथ जुगुप्सते मीमांसत इत्यत्र कथमात्मनेपदम्? यावता पूर्ववत् सन इत्युच्यते। न च गुपादिषु सनः प्रागेवात्मनेपदं भवतीति। अतः पूर्ववदित्यतिदेशाभावान्न भवितव्यमात्मनेपदेनेत्यत आह इहेत्यादि। जुगुप्सत इति गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति (३।१।५) सन्। मीमांसत इति मानबधेत्यादिना (३।१।६) सन्। अभ्यासस्य सन्यत (७।४।७९) इतीत्वे दीर्घः। कथं पुनरिहानुदात्तङित (१।३।१२) आत्मनेपदम्? यावता गुपादाववयवे ऽनुदात्तेत्त्वं लिङ्गं न जुगुप्सादौ समुदाय इत्यत आह अवयवे कृतमित्यादि। यथा गोः कर्णादाववयवे कृतं लि[ङ्गं] समुदायस्य विशेषकं भवति तथा गुपादाववयवे कृत मनुदात्तेत्त्वं समुदायस्य जुगुप्स इत्येवमादेर्विशेषकं भवति। यद्येवं गोपयति तेजयति सङ्केतयतीत्येवमादावपि प्राप्नोति। सत्यम्। स्यादेतत्। अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य गोर्विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति। सन्नन्तं पुनर्न व्यभिचरति। णिजन्तन्तु व्यभिचरतीत्यतोऽत्रात्मनेपदेन न भवितव्यम्। वार्त्तमेतत्। सन्नन्तमपि व्यभिचरतीति। विनापि तेन गोपयतीत्यादौ सम्भवात्। तस्मात् समुदायं यं गुपादिर्न व्यभिचरति तस्यासम्भवात् सर्वस्य गुपादाववयवे कृतमनु-दात्तेत्त्वं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भविष्यति। ततश्च गोपयतिप्रभृतिभ्यो-ऽप्यात्मनेपदं प्राप्नोतीत्येव। एवं तर्हि निगरणचलनार्थेभ्यश्चेत्यत्र (१।३।८७) चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः क्रियते। तेन गुपादिभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदमात्मने-पदापवादो भविष्यति।

## ६३। आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य।

आम्प्रत्ययवदिति। तत्र तस्येवेति (५।१।११६) षष्ठीसमर्थाद्वतिः।

कृञोऽनुप्रयोगस्येति समानाधिकरणे षष्ठी। ईक्षाञ्चक्र इत्यादि। ईक्ष दर्शने। ईह चेष्टायाम्। ऊह वितर्के। लिट्। इजादेरित्यादिनाम् (३।१।३६)। आम (२।४। १) इति लेर्लुक्। प्रातिपदिकत्वात् सुप् प्राप्तः। सुः। स्वरादित्वादव्ययत्वम्। अव्ययत्वात् सुब्लुक्। कृञ्चेत्यादिना (३।१।४०) कृञो लिट्परस्यानुप्रयोगः। अकर्त्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भ इति ब्रुवता विध्यर्थमेतदित्युक्तं भवति। तत्रास्मिन् विध्यर्थे यो दोषस्तमुद्भावयितु माह यदीत्यादि। उदुब्जाञ्चकारेति। उब्ज आर्जवे। (३।४।८२) उत्पूर्वाल् लिट्। पूर्ववदाम्। परस्मैपदानामित्यादिना (३।४।८२) तिपो णल्। उदुम्भाञ्चकारेति। उभ उन्भ पूरणे। उभयमित्यादिना परिहारः। कथमिति? एकेन प्रयत्नेनाशक्यमेतदुभयं कर्त्तुमित्यत आह पूर्ववदित्यादि। नैवात्रैको यत्नः। किन्तर्हि? द्वौ। आम्प्रत्ययवदित्येको यत्नः। पूर्ववद्ग्रहणमनुवर्त्तमानं द्वितीयः। तत्र पूर्वेण यत्नेन विधिः क्रियते। इतरेण नियमः। यद्यनुप्रयोगस्य कृञ आत्मनेपदं भवति पूर्ववदेव। नान्यथा। तेनोदुब्जाञ्चकारेत्येवमादौ न भवति। नह्युब्जादीनामात्मनेपदं सम्भवति परस्मैपदित्वात्। ईक्षामासेति। आम्। अस्तेरनुप्रयोगः। ईक्षाम्बभूवेति। भवतेरः (७।४।७३)। कृञ्चेत्यत्र (३।१।४०) करोतेरिव ग्रहण मित्यभिप्रायेणाह कथं पुनरित्यादि। कृञिति। प्रत्याहारग्रहणमित्यादि। तत्र प्रत्याहारेऽस्तिभवत्योरपि सन्निवेशः। अतस्तयोरप्यनुप्रयोगो भवतीति भावः। यद्येवं सम्पदोऽप्यनुप्रयोगः प्राप्नोति। तस्यापि तत्र सन्निवेशोऽस्त्येव। अभिविधौ सम्पदा चेति (५।४।५७) वचनात्। सत्यपि सन्निवेशे नासौ प्रत्याहारग्रहणेन गृह्यत इत्यदोषः। यथा तस्याग्रहणं तथोत्तरत्र प्रस्तावान्तरे प्रतिपादयिष्यामः। अथाम्प्रत्ययवदिति किम्? असति हि तस्मिन्ननुप्रयोगमात्रस्यात्मनेपदं स्यात्। देवदत्तः करोतीति। अत्रापि 'पूर्ववदित्यनुवर्त्तते। तथापीह स्यात्। ईहते। करोतीति। आम्प्रत्ययवदित्युच्यमाने प्रत्यासत्तेराम एवानुप्रयोगस्येति गम्यते। नानुप्रयोगमात्रे। तेनातिप्रसङ्गो न भवति।

## ६४। प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु।

युज समाधावित्यस्यानुदात्तेत्त्वात् सिद्धमात्मनेपदमित्यत स्तस्येह ग्रहणम-

युक्तमित्यभिप्रायेणाह युजिर् योग इति। प्रयुङ्क्त इति। रुधादित्वात् श्नम्। श्नसोरल्लोप (६।४।१११) इत्यकारलोपः। चोःकुरिति (८।२।३०) कुत्वं जकारस्य गकारः। खरि चेति (८।४।५५) चर्त्वं ककारः। नश्चेत्यादिनाऽनुस्वारः (८।३।२४)। अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण इति (८।४।५८) ङकारः। स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यमिति। स्वरोऽज् आदिरन्तो वा यस्य स स्वराद्यन्तः। तदुपसृष्टात् तत्सम्बन्धाद् युजेरात्मनेपदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। इह सूत्रे प्रशब्दोऽजन्तोपसर्गलक्षणार्थः। उपशब्दोऽजाद्युपलक्षणार्थः। तेन सर्वेणाजन्तेनाजादिना चोपसर्गेण च युक्ताद् युजेरात्मनेपदं भवतीति। स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति किम्? निर्युनक्ति।

## ६५। समः क्ष्णुवः।

अकर्मकादिति तत्रानुवर्त्तत इति। सकर्मकादपि क्ष्णुव आत्मनेपदमिष्यत इति मन्यते। अतएव सकर्मकस्योदाहरणमुपन्यस्तम्। संक्ष्णुते शस्त्रमिति। अदादित्वाच्छपो लुक्। संक्ष्णुवाते इति। अचि श्नुधात्वित्यादिनोवङ् (६।४।७७)। संक्ष्णुवत इति। पूर्ववददादेशः।

## ६६। भुजोऽनवने।

अवनप्रतिषेधेनेत्यादि। अवनं पालनम्। तत्प्रतिषेधेन रौधादिकस्य भुजेर्ग्रहणं विज्ञायते। न तौदादिकस्य भुज कौटिल्य इत्यस्य। यथैव हि सवत्सा धेनुरानीयतामित्युक्ते यस्या हि वत्सेन सह सम्बन्धः सम्भवति सैव गोधेनुरानीयते न महिष्यादिधेनु स्तथैहाप्यवनप्रतिषेधेन यस्य भुजोऽनवने वृत्तिः सम्भवति स एव रौधादिकः प्रतीयते। तस्मात् तस्यैव ग्रहणं विज्ञायते। तेन निर्भुजति विभुजतीति तौदादिकस्यात्मनेपदं न भवति।

## ६७। णेरणौ यत् कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने।

आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका इति। अणौ कर्मप्रदर्शनार्थमेतदुक्तम्। इदं त्वत्रोदाहरणम्। आरोहयते हस्ती स्वयमेवेति। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका इत्यत्राङ्पूर्वस्य तु रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भाव इत्यस्य द्वे क्रिये

वाच्ये । न्यग्भवनं न्यग्भावनञ्च । तत्र न्यग्भवनस्य हस्ती कर्त्ता । न्यग्भावनस्य हस्तिपका इति । न्यग्भवन्तं हस्तिनं न्यग् भावयन्तीत्यर्थः । स यदा तु सुशिक्षितत्वात् सुविधेयत्वाच्च न्यग्भावनक्रियायामत्यन्तमानुकूल्यं प्रतिपद्यते हस्ती स्वयमेव तदासौ हस्ती हस्तिपकान् प्रति प्रयोजकत्वेन विवक्ष्यते । हस्तिपकास्तु प्रयोज्यत्वेन । हस्ती हस्तिपकान् प्रयुङ्क्ते मामारोहतेति ततश्च प्रयोज्यप्रयोजकभावे विवक्षिते हेतुमण्णिच् । एवमुत्तरत्रापि कर्मणः कर्त्तृत्वस्य विवक्षितत्वात् प्रयोजकभावविवक्षायां णिज् विधेयः । तत स्तस्मिन्नुत्पन्ने यदा निर्ज्ञातस्वरूपत्वाच्चरितार्थत्वात् प्रयोज्या न विवक्ष्यन्ते तदा निवृत्तत्वात् प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य न्यग्भवनमात्रे वृत्तिर्वर्त्तते । अत्रेदमुदाहरणमारोहयते हस्ती स्वयमेवेति । तथाहि यदेवाण्यन्ते कर्मासीत् स एव ण्यन्ते हस्ती कर्त्ता भवति । न च प्रयोज्यप्रयोजकभावे निवृत्तेऽपि णिचो निवृत्ति र्भवति । निवृत्तिकारणाभावात् । यथैव हि देवदत्तस्य व्यापारे निवृत्तेऽपि पचिः पाकान्न निवर्त्तते पच्यत ओदनः स्वयमेवेति तथेहापि निवृत्ते प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारे णिचो निवृत्तिर्न भवतीति वेदितव्यम् । सिञ्चन्तीत्यादि । अत्रापि सिच्यमानो हस्ती कर्म यदा सुशिक्षितत्वात् सुविधेयत्वाच्च सेचनक्रियां प्रति प्रकृष्टमानुकूल्यं भजते तदा तस्य प्रयोजकत्वे विवक्षिते हस्तिपकानाञ्च प्रयोज्यत्वे णिच् । तत्र कृते पूर्ववत् प्रयोज्येष्वविवक्षितेषु यदेवाण्यन्ते कर्म स एव ण्यन्ते कर्त्ता भवति । पश्यन्तीत्यादि । अत्रापि दृश्यमानस्य राज्ञः दर्शनक्रियाया मतिशयेनानुकूल्यभावोपगमनात् प्रयोजकत्वे विवक्षिते भृत्यानाञ्च प्रयोज्यत्वे णिच् । तत्र विहिते पूर्ववत् प्रयोज्याविवक्षायां यदेव दृशेरण्यन्ते कर्म राजा स एव ण्यन्ते कर्त्ता । क्रियापि च सर्वेष्वेतेषूदाहरणेषु यैवाण्यन्तावस्थायां सैव ण्यन्तेऽपि । सत्यपि च णिचि प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य निवर्त्तितत्वात् क्रियान्तरस्य चानुत्पत्तेः । गणयतीत्यादि । गण संख्याने चुरादावदन्तः पठ्यते । ततो णिच् । अतो लोप (६।४।४८) इत्यकारलोपः । तस्य पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावादत उपधाया (७।२।११६) इति वृद्धिर्न भवति । गणयति गोगणं गोपालकः । गणयति गणः स्वयमेवेति । अत्र स गण्यमानो यदा गणनं प्रत्यानुकूल्यं भजमानः प्रयोजकत्वेन विवक्ष्यते गोपालकस्य

प्रयोज्यत्वेन तदा हेतुमण्णिच्। तस्मिन् सति पूर्ववत् प्रयोज्याविवक्षायां यदेव कर्म स एव कर्त्ता भवति। तथाप्यणाविति वचनादात्मनेपदं न भवति। नहि गणः प्रागणौ कर्मासीत्। किं तर्हि ण्यन्त एव। ननु चाणावकर्म्मकाच्चित्तवत् (१।३.८८) कर्त्तृकादित्यत्राणाविति किम् ? चेतयमानं प्रयोजयति चेतयत इति केचित् प्रत्युदाहरन्तीत्युक्त्वा वृत्तिकारो वक्ष्यति तदयुक्तम्। हेतुमण्णिचो विधिः। प्रतिषेधोऽपि प्रत्यासत्त्या तस्यैव न्याय्य इति। तच्चेत् सत्यं। गणयति गोगणं गोपालको गणयति गोगणः स्वयमेवेत्येतदपि प्रत्युदाहरणमयुक्तमेव स्यात्। नैतदस्ति। भेदस्याविवक्षितत्वात्। यदि हि भेदो विवक्ष्यते तदा हेतुमण्णिचो विधिरिति प्रतिषेधोऽपि प्रत्यासत्ते स्तस्यैव स्यात्। नहि विप्रकृष्टस्य चुरादिणिचः। नचेह भेदो विवक्षितः। णेरिति जातिनिर्देशात्। तस्माण् णिज्मात्राद्विधिः। अतः प्रतिषेधोऽपि णिज्मात्रस्यैव स्यादिति युक्तमेतत् प्रत्युदाहरणम्। अणावकर्मकादित्यादौ (१ ३।८८) सूत्रे ऽणाविति हेतुमण्णिच् एव ग्रहणम्। अतएव हेतुमण्णिच एव विधिरिति प्रत्यासत्तेस्तस्यैव प्रतिषेधो युक्तः। यथा तत्र हेतुमण्णिचो ग्रहणं तथा तत्रैव प्रतिपादयिष्यामः। न चात्र तथाविधं किञ्चिन्निबन्धनमस्ति यतो णेरिति हेतुमण्णिच एव ग्रहण मवसीयते। चौरादिकानामप्यनित्यण्यन्तत्वात्। विभाषितणिचां च केषाञ्चिद् विद्यमानत्वात्। येषामण्यन्तानामेव यत् कर्म तेषामेव चुरादिणिजन्तानां तस्यैव कर्त्तृत्वसम्भवात्। तस्मादिह णेरिति णिज्मात्रस्य ग्रहणं सूत्रकारस्याभिमतमिति लक्ष्यते। अथ गणयति गोगणः स्वयमेवेत्यत्र कर्मवत् कर्म्मणा तुल्यक्रिय (३।१।८७) इत्यतिदेशात् कस्मादात्मनेपदं न भवति ? कर्त्तृस्थभावकत्वात्। अत्र हि गणयतिरयं संख्यानिमित्ते परिच्छेदे ज्ञानविशेषे वर्त्तते यस्य हि संख्यानमित्याख्या। स च ज्ञानविशेषः कर्त्तरि वर्त्तते। तत्र तस्य समवेतत्वात्। न कर्म्मणि। तस्मात् कर्त्तृस्थभावकत्वादिहात्मनेपदं न भवति। कर्मस्थक्रियाणां कर्मस्थभावकानाञ्च कर्म्मवद्भावातिदेशेनात्मनेपदमिष्यते। नेतरेषाम्। लुनाति दात्रेणेत्यादि। दात्रस्य तीक्ष्णतया करणस्यापि सतो विशिष्टव्यापारभूतत्वाल्लावकपुरुषान् प्रति प्रयोजकत्वविवक्षायां णिच्। णौ चेद् ग्रहण मित्यादि। इह णौ चेदिति न वक्तव्यम्। णेरणौ यत्

कर्म स कर्त्तेत्येतावत्युच्यमाने ऽणौ यत् कर्म तस्य सामर्थ्याण् णावेव कर्त्तृत्वं विज्ञायत इति किं णौ चेदित्यनेन ? तदेतण्णौ चेद्ग्रहणं क्रियमाणं समानक्रियार्थं विज्ञायते यदि यैव कर्मावस्थायां क्रिया सैव कर्त्रवस्थायां भवतीति । एतदुक्तं भवति । यस्यैव धात्वर्थस्य यत् कर्म्म तस्यैव यदि तत् कर्त्तृत्वेन विवक्ष्यत एवमात्मनेपदं भवति नान्यथेति । तेनारोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः । आरोहयमाणो हस्ती भीतान् सेचयति मूत्रेणेत्यत्र सेचयते रात्मनेपदं न भवति । भिन्नत्वात् क्रियायाः : तथाहि न्यग्भावनक्रियायां प्राग् घस्ती कर्मत्वेन विवक्षितः । सेचनक्रियायां तूत्तरकालं कर्त्तृत्वेन । यत्सग्रहणमनन्यकर्मार्थमिति । ण्यन्ते यत् कर्म ण्यन्तेऽपि यदि तदेव कर्म कर्त्ता भवति न कर्म्मान्तरमेवमात्मनेपदं भवति । नान्यथा । ननु विप्रतिषिद्धमेतत् । एकस्यैवैकदा कर्मत्वं कर्त्तृत्वञ्च । नैतद् विप्रतिषिद्धम् । एको हि वस्तुधर्म ऽपरश्च विवक्षाधर्मः । स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्त्तृत्वस्य विवक्षाधर्मत्वात् । वस्तुधर्म्मत्वाच्चारुह्यमाणतया कर्मत्वम् । स्थलमारोहयति मनुष्यानिति । अत्र कर्मान्तरमप्यस्ति । मनुष्यानिति न केवलं हस्त्येवेति न भवत्यात्मनेपदम् । यद्येवं भीतान् सेचयति मूत्रेणेत्यत्र कर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भविष्यति । अस्ति ह्यत्रापि कर्मान्तरम् । भीतानिति । अतो न वक्तव्यं समानक्रियार्थं णौ चेदित्येतत् । नैतदस्ति । नहि भीतानिति सेचयतेः कर्म । किं तर्हि ? आरोहयतेः । भीतानारोहयमाणः सन् मूत्रेणात्मानं सेचयतीत्यर्थः । अयुक्तमेतत् । एवं ह्यारोहयमाण इत्यत्रात्मनेपदं शानच् न स्यात् । कर्मान्तरसद्भावात् । नैवं तर्हि शानजेवात्र विहितः । किं तर्हि ? ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु (३।२।१२८) चानश्प्रत्ययः । तत्र यदि समानक्रियार्थं णौचेद्ग्रहणं न क्रियेत तदा यदेवारोहयतेरण्यन्ते कर्म स एव हस्ती सेचयतेर्ण्यन्ते कर्त्ता भवतीति तदेव कर्म स एव कर्त्तेति स्यादेवात्मनेपदम् । तस्माण् णौ चेद् ग्रहणं समानक्रियार्थं कर्त्तव्यम् । कर्त्तेति किमिति ? कर्त्तर्य्येवात्मनेपदमनेन विधीयते । भावकर्मणोस्तु भावकर्मणोरित्यनेनैव सिद्धत्वात् । तस्मात् सामर्थ्यलब्धः कर्त्तेत्यभिप्रायः । कर्त्तृग्रहणं यदेवाण्यन्ते कर्म तस्मिन्नेव ण्यन्ते कर्त्तृत्वेन विवक्षिते सत्येवात्मनेपदं भवति नान्यथेत्येवमर्थं क्रियत

इति दर्शयितुमाह आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। तानारोहयति महामात्र इति। अत्र यदेवाख्यन्ते हस्ती कर्म न तदेव ण्यन्ते कर्तृत्वेन विवक्षितम्। किं तर्हि महामात्रः। तेनात्मनेपदं न भवति। एतच्च कर्तृग्रहणाल् लभ्यते। तस्यानन्यार्थत्वात्। ननु च यत्सग्रहणमनन्यकर्मार्थमित्युक्तम्। इहच कर्मान्तरं हस्तिपकाख्यमस्त्यतो यत्सग्रहणादेव न भविष्यति तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन कर्तृग्रहणेन ? नैतदस्ति। एवं सति हि कर्तृग्रहणे ऽणौ यत् कर्म णौ चेत् स कर्त्ता तदेव कर्म कर्त्ता भवतीत्यस्यार्थस्य च प्रतिपादनाय क्रियमाणं यत्सग्रहणमर्थवद् भवतीति। असति तु कर्तृग्रहणे तत्र कर्त्तव्यमेव स्यादिति कुतः समानकर्मता प्रतीयते ? स्मरति वनगुल्मस्येति। अणौ कर्मप्रदर्शनार्थमेतत्। कर्मविषयेण शेषत्वेन विषयिणा विषयं दर्शयितुमुक्तम्। नन्वत्र न कर्मास्ति तस्य शेषत्वेन विवक्षितत्वात्। तथाहि शेष इत्यनुवर्त्तमाने ऽधीगर्थेत्यादिना (२।३।५२) कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठीयं विहिता। तस्मादेवं दर्शयितव्यं स्मरति वनगुल्ममिति। अथवा यद्यपि तच्छेषत्वेन विवक्षितं तथापि स्मर्यमाणत्वात् तस्य कर्मत्वं वस्तुतोऽस्त्येवेति। स्मरयतीति। स्मृ आध्याने। वनगुल्मस्य प्रयोजकत्वे विवक्षिते णिच्। घटादित्वान् मित्संज्ञा। मितां ह्रस्व (६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम्। एनमिति। गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थेत्यादिना (१।४।५२) कर्मसंज्ञायां सत्यां द्वितीया (२।४।३४) टौस्स्वेनेत्येनादेशः। ननुच यत् सग्रहण मनन्यकर्मार्थमिह च कर्मान्तरमस्ति कोकिलः ततश्च कर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भविष्यतीति किमेतन्निवृत्त्यर्थेनाध्यानग्रहणेन ? नैतदस्ति। आध्यानमात्रं विवक्षित्वेदं प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्। एनमिति तु वचनं वनगुल्मः कर्त्ता न कोकिल इत्यर्थोपदर्शनपरं वेदितव्यम्। अथवैनमित्यनेन स एव वनगुल्मः परामृश्यते। यदेव कर्म स एव कर्त्तेत्यर्थस्य प्रदर्शनार्थमेनमित्युक्तम्। एनं वनगुल्मं वनगुल्मो स्मरयति। आत्मानमात्मना स्मरयतीत्यर्थः। णिच्युत्पन्ने कोकिलस्य प्रयोज्यस्य विवक्षितत्वान् निवृत्ते प्रयोज्यप्रयोजकभावे स्मरयतेर्ण्यन्तस्य प्रकृत एवार्थो भवति। ननुच स्मरणं चेतनावतां धर्मः। वनगुल्मश्चाचेतनः। तत् कथमसौ स्मरेत् ? नैतदस्ति। अचेतनेष्वपि चेतनावद्धर्मोपचारो यथा नदीकूलं पिपतिषतीति। रुचिः कर्तृस्थक्रिय

इति । तदर्थस्य न्यग्भावनात्मनो हस्तिपक्षेषु समवेतत्वात् । दृशिश्च कर्त्तृस्थ भावक इति । तदर्थस्य दर्शनस्य कर्त्तृषु भृत्येषु व्यवस्थितत्वात् ।

६८ । भीस्म्योर्हेतुभये ।

हेतुभय इति । हेतोर्भयं हेतुभयमिति । पञ्चमी भयेनेति (२।१।३७) समासः । भीतिर्भयं त्रासः । अनिष्टापाताशङ्का । ततश्चेद् भयं भवति । यदि ततो हेतुसंज्ञकात् प्रयोजकाद् भयं भवतित्रवमात्मनेपदं भवति । नान्यथेति । यद्येवं स्मयत्यर्थो न विशेषितः स्यात् । यस्माद् भयं बिभेतेरेवार्थो न स्मयतेः । ततश्च रूपेण विस्माययतीत्येवमादावप्यात्मनेपदं स्यात् । मुण्डो विस्मापयत इत्यादौ न स्यादित्यत आह भयग्रहणमित्यादि । भयग्रहणं हि धात्वर्थोप-लक्षणार्थम् । धात्वर्थश्चेद् प्रयोजकाद् भवतीत्ययमर्थो विवक्षितः । तेन विस्म-योऽपि यदि तत एव हेतो भवति । यद्येषोऽर्थो लभ्यत इति स्मयतरर्थोऽपि विशेषित एव । विस्मय आश्चर्यम् । मुण्ड इति मुण्डगुणोपेतत्वान् मुण्डः । भीषयते इति । ञिभी भये । विभाषा लीयतेरित्यतो (६।१।५१) विभाषाग्रहणानुवृत्ते बिभेतेर्हेतुभय (६।१।५६) इति पक्ष आत्वम् । भियो हेतुभये (७।३।४०) षुगिति षुक् । विस्मापयत इति । स्मिङ् ईषद्धसने । नित्यं (६।१।५७) स्मयतेरितयात्त्वम् । अर्त्तिह्रीतयादिना (७।३।३६) पुक् । कुञ्चिकयैनं भाययतीति । करणादत्र भयम् । न हेतोः प्रयोजकात् । तेनात्मनेपदन्न भवति । षुगप्यत्र न भवति । स हीकारान्तस्यैवेष्यते । भियो-हेतुभये (७।३।४०) षुगितयत्र भीई इतीकारप्रश्लेषनिर्देशात् । रूपेण विस्माययतीति । अत्र करणादेव विस्मयः । न हेतोः ।

६९ । गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ।

७० । लियः सम्मानशालीनीकरणयोश्च ।

विशेषाभावादिति । कथं पुनर्विशेषाभावः ? यावता निरनुबन्धकत्वं सानु-बन्धकत्वञ्चानयो र्विशेषोऽस्त्येव । ततश्च निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्येत्य-नया परिभाषया न लीङो ग्रहणेन भवितव्यम् । तदयुक्तं मुक्तं विशेषा-भावाद् द्वयोरपि ग्रहणमिति । नैष दोषः । उत्सृष्टानुबन्धको हि लीङ्

त्यन्तो भवति । उत्सृष्टे चानुबन्धे द्वयमेवाभेदकं भवति । अर्थः शब्दान्तरत्वञ्च । तत्रार्थं स्तावदनयोरेक एव । शब्दान्तरत्वमपि नास्ति । शब्दान्तरत्वञ्च प्रकृतिभेदविकरणभेदाभ्यां भवति । नचानयोर्ण्यन्तयोः प्रकृतिभेदः । नापि विकरणभेदोऽस्ति । शब्विकरणत्वात् । यदपि विभाषा लीयते (६।१।५१) रित्यात्वं तदप्युभयो र्भवति । तथाच वक्ष्यति किमिदं लीयते रिति ? लीनातिलीयत्योरागन्तुकेन यका निर्देश इति । न्यग्भावनमिति । अभिभवनमित्यर्थः । जटाभिरिति । हेतौ तृतीया । जटा हि पूजाद्यधिगमहेतुभूताः । तथाहि यस्य जटाः सन्ति लोके महानयं तपस्वीत्युपजातसंप्रत्ययैः पूज्यते ।

## ७१ । मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे ।

मिथ्योपपदादिति । उपोच्चारितं पदमुपपदं मिथ्याशब्द उपपदं यस्य स तथोक्तः । पदं मिथ्या कारयत इति । अत्रात्मनेपदेनाभ्यासस्य द्योतितत्वान्नित्यवीप्सयोरिति (८।१।४) द्विर्वचनं न भवति । सापचारमिति । सदोषम् । अनेन मिथ्याशब्दस्यार्थमाचष्टे । स्वरादिदुष्टमिति । पूर्वस्यैवार्थं व्यक्तीकरोति । आदिशब्देन रूपस्य परिग्रहः । असकृदिति । अभ्यासशब्दार्थमुदाहरणेन दर्शयति ।

## ७२ । स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।

कर्त्रभिप्राय इति । कर्त्तारमभिप्रैतीति कर्मण्यण् (३।२।१) । यदि सामान्येन यत्र क्रियाफलं कर्त्तारमभिप्रैति तत्रात्मनेपदं तदेहापि स्यात् पचन्ति पाचका यजन्ति याजका इति । तथाह्यत्र क्रियाफलं दक्षिणा याजकान् कर्त्तॄनभिप्रैति । भृतिश्च पाचकानित्यत आह क्रियायाः फलमित्यादि । प्रधानभूतं यत् फलं क्रियाया स्तदिह गृह्यते । न च दक्षिणादिकं क्रियाफलं प्रधानभूतम् । ततो न भवत्यतिप्रसङ्गः । किं पुनस्तत्प्रधानभूतमित्यत आह यदर्थमित्यादि । एतेन यदुद्दिश्यासौ यागादिक्रियारभ्यते तत् प्रधानभूतमिति दर्शयति । तत् पुनः स्वर्गादि । नतु दक्षिणादि । तथाहि

स्वर्गाद्यर्थं यागादिक्रियारभ्यते । नतु दक्षिणाद्यर्थम् । यदर्थमिति । क्रियाविशेषणमेतत् । यच्छब्देन क्रियायाः प्रधानभूतं फलं निर्द्दिश्यते । यदर्थः प्रयोजनं यस्य क्रियारम्भस्य तत् तथोक्तम् । कथं पुनः सामान्योक्तौ प्रधानस्य क्रियाफलस्य ग्रहणं शक्यते विज्ञातुम् ? फलग्रहणात् । यदीह फलमात्रस्य ग्रहणमभिप्रेतं स्यात् तदा फलग्रहणमनर्थकं स्यात् । व्यवच्छेद्याभावात् । नास्त्येव हि स विषयो यत्र क्रियाफलं कर्त्तारं नाभिप्रैति । ततश्च कर्त्रभिप्राये क्रियाया इत्येवं ब्रूयात् । एवमप्युक्ते षष्ठ्या क्रियायाः सम्बन्धिनि कर्त्रभिप्राये प्रत्यायिते सामर्थ्यात् फलमेव क्रियायाः कर्त्रभिप्रायं गम्यते । नहि फलादन्यत् क्रियासम्बन्धि कर्त्तारमभिप्रैति । तस्मात् फलग्रहणसामर्थ्यात् प्रधानं फलं गृह्यते । अथवा प्रधानत्वादेव प्रधानं फलं गृह्यते । तथाचोक्तं प्रधाने कार्य्यसंप्रत्ययात् सिद्धमिति । अस्मिन् व्याख्याने फलग्रहणं स्पष्टार्थम् । कर्त्तर्य्यात्मनेपदविधानात् । प्रत्यासत्तेर्यस्तस्य वाच्यः कर्त्ता यदि तस्यैव तत् फलं भवतीति विज्ञायत इत्याह तच्चेत्यादि । गतार्थम् । स्वर्गादीति । आदिशब्देनौदनादिकमपि गृह्यते । तथापीत्यादिना दक्षिणादेः फलस्याप्राधान्यं दर्शयति । यदर्थं सा क्रियारभ्यते तत्प्रधानमिहोपात्तं फलम् । स्वर्गाद्यर्थञ्च यागादिक्रियारभ्यते । न दक्षिणाद्यर्थम् । अतोऽप्रयोजकत्वात् तदप्रधानम् । तेन यद्यपि तत् कर्त्तारमभिप्रैति तथाप्यात्मनेपदं न भवति । अथाभिप्रग्रहणं किमर्थम् ? विप्रकृष्टेऽपि फले यथा स्यात् । द्विविधं हि क्रियाफलम् । आसन्नं विप्रकृष्टञ्च । तत्रासन्नं यस्य व्यापारानन्तरमेव निष्पत्तिः । विप्रकृष्टन्तूपरतेषु व्यापारेषु यन्निमित्तान्तरमपेक्ष्य कालविप्रकर्षकृतं संस्कारपरिपाकाच्चिराद् भवति । तत्राद्यमासन्नत्वाद् दृष्टत्वादुत्पत्तिं प्रत्यव्यभिचाराच्च प्रधानम् । इतरत् पुनर्विप्रकृष्टत्वादनुमेयत्वात् सम्भवव्यभिचाराच्चाप्रधानम् । सम्भवति हि विप्रकृष्टस्य कालान्तरसम्बन्धिनः फलस्य सहकारिवैकल्याद् विरुद्धप्रत्ययोपनिपाताच्चोत्पत्तिं प्रति व्यभिचारः । यद्यपि तदुद्दिश्य क्रियारम्भात् तदपि प्रधानं तथाप्यविप्रकृष्टफलापेक्षया तस्याप्राधान्यमस्त्येव । तत्र यद्यभिप्रग्रहणं न क्रियेत तदा लुनीत पुनीत इत्यादावेव स्याद् यत्राविप्रकृष्टं क्रियाफलम् । यजत इत्यादौ तु न स्याद्

यत्र विप्रकृष्टं स्वर्गादिकं क्रियाफलम्। प्रधाने कार्य्यसंप्रत्ययात्। अभिप्रग्रहणे तु न दोषः। यस्मादभिराभिमुख्ये वर्त्तते। प्रशब्दस्त्वारम्भे। तेन प्रारम्भमात्रस्याभिमुख्ये फलनिष्पत्तौ बुद्ध्यावाश्रीयमाणायां सर्वत्र सिद्धं भवति। ननु चासत्यभिप्रग्रहणे प्रकृतीनां यजिप्रभृतीनामनुबन्धविशेषासञ्जनादेव विप्रकृष्टेऽपि फले भविष्यति। अन्यथा हि तस्य वैयर्थ्यं स्यात्। न। अभिचारादौ यत्राविप्रकृष्टं फलं दृष्टमस्ति तत्र तस्य सार्थकत्वात्। तस्माद् विप्रकृष्टेऽप्यप्रधाने फले यथा स्यादित्येवमर्थमभिप्रग्रहणं कर्त्तव्यमेव।

## ७३। अपाद्वदः।

न्यायापवादेनेत्यादिना येनाभिप्रायेण धनकामो न्यायमपवदते तं दर्शयति।

## ७४। णिचश्च।

## ७५। समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे।

उद्यच्छतीति। चिकित्सां वैद्य इति। चिकित्साशास्त्रमधिगन्तुमुद्यमं करोतीत्यर्थः।

## ७६। अनुपसर्गाज् ज्ञः।

नास्योपसर्गाः सन्तीति बहुव्रीहिः। सकर्मकार्थञ्चेदम्। अन्यत्राकर्मकाच्चेत्येवं ( १।३।४५ ) सिद्धत्वात्।

## ७७। विभाषोपपदेन प्रतीयमाने।

तत्र स्वरितञित (१।३।७२) इत्यादीनि पञ्च सूत्राण्यनुवर्त्तन्ते। कर्त्रभिप्राये क्रियाफले द्योत्य इति। केन द्योत्ये ? प्रकृतत्वादात्मनेपदेनेति विज्ञेयम्। तदुपपदेन द्योतिते न प्राप्नोतीति। उक्तार्थानामप्रयोगात्। एतेनाप्राप्तविभाषेयमिति दर्शयति। ननु च स्वं यज्ञं यजत इत्यत्र स्वशब्दस्योपपद-

त्वत्रोपपद्यते ? यतस्तत्रोपपदं सप्तमीस्थमिति (३।१।९२) द्वितीयधात्वधिकारे यत् सप्तमीनिर्दिष्टं तदुपपदसंज्ञं भवति । न च स्वशब्द एवंविध इत्याह समीपे श्रूयमाणमित्यादि । एतेनोपोच्चारितं पदमुपपदमित्यन्वर्थस्योपपदस्य ग्रहणं न पारिभाषिकस्येति दर्शयति । एतच्च पारिभाषिकस्यासम्भवाल्लभ्यते । स्वं यज्ञमित्यादिना पञ्चसूत्र्यां यदाद्यं सूत्रं तत्रोदाहरति । स्वं पुत्रमित्यादिना यद् द्वितीयं तत्र । एवं पञ्चसूत्र्यामुदाहार्य्यमिति । अन्यत्रापीति शेषः । पञ्चसूत्र्यन्तर्गते सूत्रे यदुदाहृतं ततोऽन्यत्राप्युदाहार्य्यमित्यर्थः । स्वं कटं कारयते कारयति वा । स्वं व्रीहिं संयच्छते संयच्छति वा । स्वं भारमुद्यच्छत्युद्यच्छते वा । स्वं वस्त्रमायच्छत आयच्छति वा । स्वं गां जानीते जानाति वेति । एतानि णिचश्चेत्यादिषु ( १।३।७४ ) सूत्रेषु यथायोगमुदाहरणानि ।

## ७८ । शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ।

पूर्वेणेति । अनुदात्तङित ( १।३।१२ ) इत्यादिना सर्व्वत्र प्राप्नोतीति । अशेषेभ्योऽपि । तदर्थमिद मुच्यत इति । सर्वत्र परस्मैपदे प्रसक्ते तन्निवृत्त्यर्थम् । अर्थशब्दस्य निवृत्तिवचनत्वात् । यथा मशकार्थो धूम इति । तदेतेनैतन् नियमार्थ मित्युक्तं भवति । येभ्यो धातुभ्य इत्यादिना शेषत्वं दर्शयति । येन विशेषणेनेति । अनुबन्धादिना । याति वातीत्यनुबन्धशेषस्योदाहरणम् । आविशति प्रविशतीत्युपसर्गशेषस्यार्थशेषस्यापि । एवं गन्धनादिभ्योऽन्यत्र करोतीत्येवमादिकमुदाहरणं वेदितव्यम् । ननु शेषादित्यनेन पञ्चम्यन्तेन धातुसमानाधिकरणेन धातुरेव विशिष्यते । नार्थः । ततश्चाशेषेषु गन्धनादिष्वर्थेषु परस्मैपदं प्राप्नोति । नैतदस्ति । गन्धनादयो हि प्रकृतेरेवार्थाः । तत्रासौ शेषग्रहणान्निवर्त्तमानस्तानपि निवर्त्तयति । पच्यते गम्यत इति । ननु च यद्यत्र परस्मैपदं स्यात् तदा भावकर्मणोरिति (१।३।१३) वचन मनर्थकं स्यात् । अनवकाशत्वात् । नैतदस्ति । अस्ति हि तस्यावकाशः । कः पुनरसौ ? यो न शेषः । आस्यते शय्यते क्रियत इति । अनुदात्तत्वं ङित्त्वञ्चाशेषः । शेषात् कर्त्तरीत्यत्र कर्तृग्रहणं सामान्यमुपात्तमिति यो देशयेत् तं प्रत्याह कर्मकर्त्तरीत्यादि । कर्त्तरि कर्मव्यतीहार ( १।३।१४ )

इत्यादिना परिहरति। कर्त्तैव यः कर्त्तेति। शुद्धो यः कर्त्ता। कर्मवद्भाव-रहितो यः कर्त्तेत्यर्थः।

७९। अनुपराभ्यां कृञः।

८०। अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः।

अभिक्षिपतीति। तुदादित्वाच्छः।

८१। प्राद्वहः।

८२। परेर्मृषः।

परिमृष्यतीति। दिवादित्वाच्छ्यन्।

८३। व्याङ्परिभ्यो रमः।

८४। उपाच्च।

उपाच्चेति। चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः। उपरमति देवदत्तमिति। ननु चोपपूर्वो रमिरकर्मक एव भवति। तथाह्युपपूर्वस्यास्य विनाशोऽर्थो भवति यथोपरतानि धनानि। नष्टानीति गम्यते। निवृत्तिर्वा भवति स्वाध्याया-दुपरमते। निवर्त्तत इति गम्यते। न चास्मिन्नर्थे वर्त्तमानस्य सकर्मकत्व-मुपपद्यते। तत् कथं सकर्मकस्योदाहरणं युज्यत इत्याह उपरमयतीति यावदिति। एतेन ण्यर्थवृत्तिता मुपरमते र्दर्शयन् सकर्मकतामुपपादयतीति। अकर्मको हि धातुर्ण्यर्थे वर्त्तमानः सकर्मको भवति। अथ पुनरण्यन्तस्य ण्यर्थवृत्तितोपपद्यते कथम्? अत आह अन्तर्भावितण्यर्थो रमिरित्यादि। अन्तर्भावितो बुद्ध्यानुवेशितो ण्यर्थः प्रयोज्यप्रयोजकभावो यस्य स तथोक्तः। एवं विधस्य तस्य प्रयोज्येन कर्मणा सकर्मकत्व मुपपद्यत एव। अथ किमर्थं पृथग् योगः क्रियते? न व्याङ्पर्य्युपेभ्यो रम इत्येक एव योगः क्रियतामि-त्याह पृथग्योगकरण मित्यादि। गतार्थम्।

## ८५ । विभाषाऽकर्मकात् ।

यावद्भुक्तमिति । यावदवधारणे (२।१।८) इत्यव्ययीभावः । भुक्तमिति नपुंसके भावे क्त इति (३।३।११४) क्तप्रत्ययः । यावन्ति भोजनानि तावद्भ्यो निवर्त्तत इत्यर्थः । अथवा यावद्भुक्तमिति यथार्थे वीप्सायामव्ययीभावः । भोजनाद् भोजनाद् निवर्त्तत इत्यर्थः ।

## ८६ । बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ।

बुध अवगमने । युध संप्रहारे । णश अदर्शने । जनी प्रादुर्भावे । इङ् अध्ययने । च्युङ् ज्युङ् ज्रुङ् प्रुङ् प्लुङ् गतौ । दु द्रु गतौ । सु स्रु गतौ । जनयतीति । जनीजॄषित्यादिना (गणसूत्र १८८) मित्संज्ञा । मितां (६।४।९२) ह्रस्वत्वम् । अध्यापयतीति । क्रीङ्जीनाणाविल्यात्त्वम् (६।१।४८) । पूर्ववत् पुक् । एतद्विषयाण्युदाहरणानीति । प्राप्तिविलयनस्यन्दनविषयाण्ये-तानि प्रावयतीत्याद्युदाहरणानि यथाक्रममित्यर्थः । स्यन्दनं चलनमिति लोके प्रसिद्धम् । ततोऽन्यत्र स्यन्दयतीति बोद्धव्यम् । प्रावयति प्रापयति । द्रावयति विलापयति । स्रावयति स्यन्दयतीत्यर्थः ।

## ८७ । निगरणचलनार्थेभ्यश्च ।

निगारयतीति । गॄ निगरणे । आशयतीति । अश भोजने । भोजय-तीति । भुज पालनाभ्यवहारयोः । चलतीति । चल कम्पने । घटादित्वा-न्मित्त्वम् । पूर्ववद्ध्रस्वः । चोपयतीति । चुप मन्दायां गतौ । कम्पयतीति । कपि चलने । अयमपि योगः सकर्मकार्थः । अचित्तवत्कर्तृकार्थश्चेति । तद्विपरीतेभ्योऽणावकर्मकाच्चित्तवत् (१।३।८८) कर्तृकादित्यनेनैव सिद्धत्वात् । तत्र येषामुदाहरणान्युपन्यस्तानि तेषु चलिकम्पी अकर्म्मकौ द्वौ । तयोरचित्त वत्कर्तृकार्थोऽयं योगः । शेषाणान्तु सकर्मकार्थः । वक्तव्य इति व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । विभाषाऽकर्मकादित्यतो (१।३।८५) विभाषा-ग्रहणं मण्डूकप्लुत्यानुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेनादेरन्येभ्यो नित्यं परस्मैपदम् । अदेस्तु न भवत्येव । आदयते देवदत्तेनेति । अत्र

गतिबुद्धीत्यादिना ( १।४।५२ ) कर्मसंज्ञा न भवति। आदिखादिनीवहीनां प्रतिषेध ( १।४।५२, वा ) इति वचनात्।

## ८८। अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्त्तृकात्।

चेतयमानमिति। चिती संज्ञाने। चौरादिकः। अयञ्चाकर्मकश्चित्त-वत्कर्त्तृकश्च। हेतुमण्णिचो विधिरिति। बुधादेः ( १।३।८६ ) सूत्रादिह णिज्ग्रहण मनुवर्त्तते। स च हेतुमण्णिजेव। बुधादिभ्योऽन्यस्य णिचोऽसम्भवात्। यतश्च हेतुमण्णिचो विधिः प्रत्यासत्तेस्तस्यैव प्रतिषेधो युक्तः। यथाभूत एव विधिभाक् तथाभूतेनैव प्रतिषेधभाजा भवितव्यम्। प्रत्यासत्तेः। तथाहि ब्राह्मणाः प्रविश्यन्तामन्यत्रानधीयानेभ्य इत्युक्ते यथाजातीयकानां प्रवेशो विहित स्तथाजातीयकानामेव प्रत्यासत्तेः पर्य्युदासो विज्ञायते। आरोहयमाण इति णेरणादिसूत्रे ( १।३।६७ ) णात्मनेपदम्। यद्यप्यत्र हस्तिपकान् प्रति हस्तिनः प्रयोजकत्वे विवक्षिते णिज् विहित स्तथापि ण्यन्तावस्थायां हस्तिपकाः प्रयोज्यत्वेन न विवक्ष्यन्ते। अन्यथा ह्यणौ यत् कर्म तदेव णौ कर्त्ता न स्यात्। तत्र प्रयोज्यत्वाविवक्षायामारोहयमाण इत्यस्य स्वयमेवारोहयतीत्येषोऽर्थो भवति। तमारोहयमाणं यदान्यः प्रयुङ्क्ते तदा द्वितीयो हेतुमण्णिच्। तदन्ताण्णिच ( १।७.७४ ) श्चेत्यात्मनेपदं भवति। तेनारोहयत इति युक्तमेव प्रत्युदाहरणम्।

## ८९। न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः।

पा इति। लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणमित्यनेन पा पान इत्यस्यैव ग्रहणम्। न पा रक्षण इत्येतस्य। दमु उपशमे। यम उपरमे। यसु प्रयत्ने। आङ् पूर्वावेतौ। मुह वैचित्त्ये। परिपूर्वः। रुच दीप्तौ। नृती गात्रविक्षेपे। वद व्यक्तायां वाचि। वस निवासे। आच्छादनार्थस्य वसेर्ग्रहणं पूर्वोक्तादेव हेतोर्न भवति। पूर्वेण योगद्वयेनेति। अनन्तरेणेत्यर्थः। नृति श्वलनार्थोऽपीति। अपिशब्दाच्चित्तवत्कर्त्तृकार्थश्च। पाययत इति। शाच्छासाह्वाव्यावेपां ( ७।३।३७ ) युक्। पातेस्त्वकर्मकत्व-

विवक्षायां परस्मैपदं भवति । पालयतीति । पातेर्लुग् ( ७।३।३७, वा ) वक्तव्यइत्युपसंख्यानाल्लुगागमः । दमयत इति । पूर्ववन् मितां ह्रस्वः । आयामयत इति । ननु चात्रापि मित्त्वे सति ह्रस्वेन भवितव्यमित्यत आह यमोऽपरिवेषण इति । तत्र हि न कम्यमिचमामित्यतो ( गणसूत्र १८१ ) नेत्यनुवर्त्तते । आङिति । ङिद्विशिष्टस्याकारस्योपादानमुपसर्गप्रतिपत्त्यर्थम् । तेनोपसर्गप्रतिरूपको य आकार स्तस्य ग्रहणं न भवति । पादिषु धेट उपसंख्यानमिति । पादिष्विति विषयसप्तमी । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । धेटः पादिविषयस्य परस्मैपदप्रतिषेधस्य प्रतिपादनं कर्त्तव्यम् । योऽयं पादिविषयः परस्मैपदप्रतिषेधः स धेटोऽ पि भवतीत्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । नेति योगविभागः क्रियते । तेन धेटोऽपि प्रतिषेधो भविष्यति । यद्येवं नेत्यनेनैव सिद्धत्वात् पादीनां ग्रहणमनर्थकम् । नानर्थकम् । पूर्वयोगस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थत्वात् । धापयेते इति । धेट् पाने । आदेच ( ६।१ ४५ ) इत्यादिनात्वम् । पूर्ववत् पुक् । शिशुमिति । गतिबुद्धीत्यादिना ( १।४।५२ ) कर्मसंज्ञायां द्वितीया ।

## ९० । वा क्यषः ।

लोहितायतीति । अलोहितो लोहितो भवतीत्यत्रार्थे लोहितादि डाज्भ्यः ( ३।१।१३ ) क्यषिति क्यष् । अकृत्सार्वधातुकयोरिति ( ७।४।२५ ) दीर्घः । पटपटायतीति । पटच्छब्दस्य डाचि विषयभूते डाचि बहुलं द्वे ( ८।१।१२, वा ) इत्युपसंख्यानाद्द्विर्वचनम् । अव्यक्तानुकरणेत्यादिना (५।४।५७) डाच् । नित्यमाम्रेड़िते डाचीति ( ६।१।१०० ) पटच्छब्दस्य योऽन्त्यस्तकारो यश्च तस्माद् परः पकार स्तयोः पूर्वपरयोः पररूपत्वमेकादेशः । कथमिति । न कथञ्चिदित्यर्थः । किं कारणं न लभ्यत इत्यत आह यावतेत्यादि । आत्मनेपदं ह्यनुदात्तङित इत्यादि ( १।३।१२ ) नियतम् । अतो न शक्यते क्यषन्ताद् विज्ञातुमिति । एवं तर्हीत्यादिना परिहरति । विकल्पित मिति । विभाषितं पाक्षिक मित्यर्थः । ननु चात्मनेपदं परस्मैपदेन व्यवच्छिन्नम् । अतोऽसन्निहितत्वान्न शक्यते विज्ञातु मित्याह तच्चेत्यादि ।

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विवक्षित आत्मनेपदे प्राप्ते तदपवादोऽणावकर्मकादित्यादिना ( १।३।८८ ) योगद्वयेन परस्मैपदं विहितम्। तस्यापवादस्यानन्तरसूत्रेण यः प्रतिषेधो विहित स्तेनापवादेन परस्मैपद मपनयतात्मनेपदं सन्निधापितम्। अपवादे ह्यपनीते नियोगत एवोत्सर्गेण भवितव्यम्। तदेवं प्रतिषेधेन सन्निधापित मिहात्मनेपदं सम्बध्यते। यदि तर्ह्यनेन कर्त्तर्य्यात्मनेपदमेव विकल्पेन विधीयते पक्षे परस्मैपदं कथं लभ्यत इत्याह तेनेत्यादि।

## ९१। द्युद्भ्यो लुङि।

ननु च द्युतेरेकत्वाद् बहुवचननिर्देशो नोपपद्यत इत्याह तत्साहचर्य्यादित्यादि। यथैकेन छत्रिणा साहचर्य्यादन्येऽपि तत्सहचारिण श्छत्रिण इत्युच्यन्ते छत्रिणो गच्छन्तीति तथेहापि द्युतिना साहचर्य्याच् श्वितादयोऽपि द्युत इति व्यपदिश्यन्ते। कथं पुनरेकस्य व्यपदेशे सत्ययमभिप्रेतोऽर्थः सम्पद्यत इत्याह बहुवचननिर्देशादित्यादि। एवं हि विनाप्यादिशब्देन तदर्थो लभ्यत इत्येषोऽर्थः सम्पद्यत इति दर्शयति। कृपूपर्य्यन्ता इति। अनेन कृपेः परे ये पठ्यन्ते ते द्युतादयो न भवन्तीत्याचष्टे। एतच्च तदनन्तरं वृत्करणाद् गणपरिसमाप्तेर्लिङ्गाद् विज्ञायते। व्यद्युतदिति। पुषादित्वादङ्। यद्येवं तत एवाङ्विधानात् परस्मैपदं तेभ्यो भविष्यति। किमनेन योगेन? नैतदस्ति। ज्ञापकाद्धि नित्यं लुङि परस्मैपदं विज्ञायते। किञ्च लुङोऽन्यत्रात्मनेपदं न भवतीति सम्भाव्येत। ननु चानुदात्तेत्करणसामर्थ्यादन्यत्र न भविष्यति। नैतत्। अनुदात्तेत्करणमनुदात्तेतश्च हलादेरिति (३।२।१४९) युजर्थं स्यात्। तस्मात् कर्त्तव्योऽयं योगः। अलुठत्। रुठ लुठ प्रतीघाते।

## ९२। वृद्भ्यः स्यसनोः।

स्यसनोरिति। सती सप्तमीयम्। वर्त्स्यतीत्यादौ सेऽसिचीत्यादेः (७।२।५७) सूत्रादसिचि स इत्यनुवर्त्तमाने गमेरिट् परस्मैपदेष्वित्यतः (७।२।५८) परस्मैपदे च न वृद्भ्यश्चतुर्भ्य (१।२।५९) इतीट्प्रतिषेधः। आत्मनेपदेष्विड् भवत्येव। विवृत्सतीति। हलन्ताच्चेति (१।२।१०) कित्त्वाद् गुणाभावः।

## ९३ । लुटि च क्लृपः ।

चकारस्तर्हीत्यादि । स्यसनोर्वृतादित्वादेव सिद्धे विकल्प इत्यभिप्रायः । एवं तर्हीत्यादिना विशेषविधानं सामान्यविधानस्य बाधकं भवतीति विज्ञायते । ननु च यदीयं प्राप्तिः क्लृपेः पूर्वां प्राप्तिं बाधते वृतादिषु पाठस्य तस्यानर्थक्यं प्रसज्येत । नैतदस्ति । अङर्थत्वात् । ननु च स्यसनोरिति स्वरितत्वमिष्यते । तेन तस्य बाधा न भविष्यतीति । सत्यमेतत् । सूत्रकारस्तु चकारं वैचित्र्यार्थं चकार । न स्वरितत्वार्थम् । कल्प्तेति । पूर्ववदधिकारद्वयानुवृत्तौ सत्यां तासि च क्लृप इतीट्प्रतिषेधः (७।२।६०) । लुटः प्रथमस्य डारौरस (२।४।८५) इति डादेशः । कृपो रो ल (८।२।१८) इति लत्वम् । चिक्लृप्सतीति । पूर्ववत् किलाद् गुणाभावः ।

इति श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां काशिकाविवरणपञ्जिकायां प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ १ ॥ ३ ॥

---



अथ

न्यासापरनाम्नी

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

प्रथमाध्यायस्य।

चतुर्थः पादः।

## १। आ कडारादेका संज्ञा।

० या परेति। यत्र विप्रतिषेधस्तत्र विप्रतिषेधे परमिति (१।४।२) वचनात् परा भवति। अनवकाशा च येति। यस्याः संज्ञायाः क्वचिदवकाशो नास्ति साप्यपवादभूतत्वात् संज्ञान्तरं बाधित्वा प्रवर्त्तते। यद्येव मत एव संज्ञा समावेशो न भविष्यति। तत् किमेकसंज्ञाधिकारेण? नैतदस्ति। विरोधे हि सत्यपवादभूतत्वं भवति। विप्रतिषेधस्तु विरोध एव। स च विरोध एकसंज्ञाधिकारे सति भवति। नासति। तथाहि यत्रैकसंज्ञाधिकारो नास्ति तत्र विप्रतिषेधो नास्त्येव। यथा प्रत्ययादीनां संज्ञानाम्। तस्मादस्मिन्नधिकारे सति विरोधो भवति। तस्मिंश्च सति विरोधे परमिति वचनात् परा भवति। अपवादभूतत्वादनवकाशा च। तस्मात् कर्त्तव्योऽयमधिकारः। यद्येव मङ्गसंज्ञायां भपदसंज्ञयोः समावेशो वक्तव्यः। बाभ्रव्यो धानुष्क इति। बभ्रुशब्दान्मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोरिति (४।१।१०६) यञ्। तत्र भत्वादोर्गुणः (६।४।१४६)। अङ्गत्वादादिवृद्धिः। तत्र वान्तो यि (६।१।७९) प्रत्यय इत्यवादेशः। धनुःशब्दाच्च धनुः प्रहरणमस्य तदस्य प्रहरणमिति

(४।४।५७) ठक्। इसुसुक्तान्तात्कः (७।३।५१) इति कादेशः। अत्र पदत्वादिणः ष इति (८।३।३९) षत्वम्। अङ्गत्वादादिवृद्धिर्न वक्तव्यः। वा क्यष इत्यतो (१।३।९०) वाग्रहणमनुवर्त्तते। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन क्वचित् संज्ञासमावेशो भविष्यतीति। अन्यत्रेति। लोके च शास्त्रे च। लोके ताव दिन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति संज्ञायाः समावेशो दृष्टः। शास्त्रेऽपि प्रत्ययः कृत् कृत्यप्रत्ययः। एव मन्यत्र संज्ञासमावेशादिहापि स्यात्। अतएवैका संज्ञा यथा स्यादिति नियमार्थमेतत्। भिदिच्छिदिरिति। लघुसंज्ञाया अवकाशः। प्रयोजनन्तु भेत्ता छेत्तेति। पुगन्तलघूपधस्येति (७।३।८६) गुणः। शिक्षि-भिक्षिरिति गुरुसंज्ञायां अवकाशः। प्रयोजनन्तु शिक्षा भिक्षेति गुरोश्च हल (३।३।१०३) इत्यकारप्रत्ययः। लघुसंज्ञा त्वत्र प्रयोजनाभावान्न भवति। इहोभयं प्राप्नोति। अततक्षत्। अररक्षदिति। परत्वाद् गुरुसंज्ञैव भवति। तक्षू त्वक्षू तनूकरणे। रक्ष पालने। हेतुमणिच्। लुङ्। च्लेश्चङ्। णिलोपः। चङीति (६।१।११) द्विर्वचनम्। यद्यत्र लघुसंज्ञा स्यात् सन्वल्लघुनीत्यादिना (७।४।९३) सन्वद्भावादित्वं स्यात्। तदभावान्न भवतीत्याह सन्वल्लघुनीत्यादि। एष विधिरिति : सन्वद्भावविधिः। परस्या इदमुदाहरणमुक्तम्। अनवकाशाया-स्तूच्यते। अयन्ते योनिर्ऋत्विय इति। ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋतोरण् (५।१।१०५)। छन्दसि घसिति (५।१।१०६) घस्। तस्येयादेशे कृते सिति चेति (१।४।१६) पदसंज्ञा प्राप्नोति। यचि भमिति (१।४।१८) भसंज्ञा च। अनवकाशत्वात् पदसंज्ञैव भवति। यदि भसंज्ञा स्यात् तदोर्गुण (६।४।१४६) इति गुणः स्यात्। भसंज्ञायास्त्वौपगवादिष्ववकाशः। आ कडारादितीयतोऽवधेर्ग्रहणं वैचित्र्यार्थम्। अन्यथा द्वा द्वन्द्वादित्येवं ब्रूयात्। नहि द्वन्द्वसंशब्दनात् परेणा कडारादेकसंज्ञाविधानस्य प्रयोजनमस्ति यत एतावतोऽवधेर्ग्रहणमर्थवद् भवति।

## २। विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्।

विरोधो विप्रतिषेध इति। विप्रतिषेधशब्दस्य लोके विरोधवाचित्वेन प्रसिद्धत्वात्। तथाहि विरुद्धेऽभिहिते वक्तारो वदन्ति विप्रतिषिद्धमिदमुच्यत इति। विरुद्धमिति गम्यते। तस्य विप्रतिषेधस्य विषयं दर्शयितु माह यत्रेत्यादि।

प्रसज्येते विधीयेते इति प्रसङ्गौ विधी। अन्यार्थाविति। अन्यत्र विषयेऽर्थः प्रयोजनं ययो स्तौ तथोक्तौ। अन्यत्र विषयान्तरे कृतार्थावित्यर्थः। एकस्मिन्निति। अभिन्ने। युगपदेककालम्। स इत्यस्य विप्रतिषेध इत्यनेन सम्बन्धः। स विप्रतिषेधो विप्रतिषिद्धो विप्रतिषेधस्य विषय इत्यर्थः। विप्रतिषेधविषयत्वाद्विप्रतिषेधविषयो ह्यत्र विप्रतिषेधशब्देनोक्तः। विषयिणा विषयं दर्शयितुम्। यस्मान्न प्रसङ्गो विप्रतिषेध उपपद्यते नापि तदाधारः। तुल्यबलविरोध इति। तुल्यबलयोर्विरोधोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः। इदं जातिपक्षमाश्रित्य विवरणं कृतम्। द्रव्यपदार्थपक्षे त्वयं विशेषः। अन्यो भिन्नोऽर्थः प्रयोजनं ययोस्तावन्यार्थाविति। शेषं समानम्। विप्रतिषेध इति च सती सप्तमीयम्। उत्सर्गापवाद इत्यादि। विप्रतिषेधो यत्रास्ति सोऽस्य योगस्यावकाशः। विप्रतिषेधश्च तुल्यबलयोरेव भवतीति नातुल्यबलयोः। एतत् तु यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावित्यादिग्रन्थेन तस्य विषयं दर्शयता व्याख्यातम्। नचोत्सर्गापवादादिषु तुल्यबलतास्तीति। ततो नासावुत्सर्गापवादादिरस्य योगस्य विषयः। तेन बलवानेव तत्र भवति। तत्र सामान्येनोत्सर्गः प्रवर्त्तते। यथाऽऽर्धधातुकस्येड् वलादेरिति (७।२ ३५) वलादिसामान्यस्येड् विधानात्। विशेषोऽपवादः। यथा नेड् वशि कृती (७।२।८) तीट्प्रतिषेधस्य वलादिविशेषे वशादौ कृति विधानात्। यस्य च विशेषे विधिः स बलवान् भवति। तथाहि ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति विशेषविहितं तक्रदानं सामान्यविहितस्य दधिदानस्यैव बाधकं भविष्यति। तस्माद् वशादौ कृति परेऽपीड़ागमो न भवति। प्रतिषेध एव भवति। स्थेशभासपिसकसो वरच् (३।२।१७५)। ईश्वर इति। नित्यानित्ययो र्नित्यं बलवत्। यथा भिस (७।१।९) ऐसित्यैस्त्वम्। तद्धि बहुवचने झल्येदित्येत्त्वे (७।३।१) कृते प्राप्नोति। अकृतेऽपि। भूतपूर्वगत्याश्रयणादकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् विहित इति कृत्वा। यस्य कृताकृतप्रसङ्गो विधिः स नित्य इति। तथाच तत्र (७।१।९) वक्ष्यति

एत्त्वं भिसि परत्वाच्चेदत ऐस् क्व भविष्यति।

कृतेऽप्येत्त्वे भौतपूर्व्यादैस्तु नित्यस्तथा सति॥१॥ इति।

स नित्यः । ऐस्त्वे कृत एत्वं न प्राप्नोति । निमित्तस्य भलादेर्विहतत्वात् । बहुवचनेष्वित्यादावेत्वस्यावकाशः । अस्मिंश्च सति भूतपूर्वगत्याश्रयणस्यायुक्तत्वात् तस्मात् तदनित्यम् । यच्चानित्यं तत् परस्य भावाभावमपेक्षत इति दुर्बलम् । विप्रर्य्ययात् तु नित्यं बलवत् । तेन बहुवचनेरिति परमप्येत्त्वं न भवति । ऐस्भाव एव तु भवति । अन्तरङ्गवहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवदिति । लोकत एव दृष्टत्वात् । लोको हि प्रातरुत्थायान्तरङ्गाणि मुखप्रक्षालनादीनि कार्य्याणि करोति । पश्चाद्बहिरङ्गाणि राजगृहगमनादीनि कार्य्याणि कर्त्तुमारभते । शास्त्रेऽप्येवं वेदितव्यम् । दिवि कामोऽस्य द्युकामः । तस्यापत्यमतइञ् (४।१।९५) द्यौकामिः । यद्यपि द्युकामशब्दादिञ् विहित स्तथाप्यकृतव्यूहाः पाणिनीयाः कृतमपि शास्त्रं निवर्त्तयन्तीति प्रविभज्यान्वाख्याने दिव् काम इञिति स्थिते दिव उदि (६।१।१३१) त्युत्वे कृते यणादेशः प्राप्नोति । तद्धितेष्वचामादेरिति (७।२।११७) परत्वाद्वृद्धिः प्राप्नोतु । अन्तरङ्गत्वाद् यणादेशः पूर्वो विधिः क्रियते । पश्चाद्वृद्धिरुकारस्य । अन्तरङ्गत्वन्तु यणादेशस्य वर्णाश्रयत्वात् । वृद्धेस्तु वाह्यतद्धिताश्रयाद् वहिरङ्गत्वम् । वार्णादाङ्गं बलीय इत्येतदिह न प्रवर्त्तते । व्यांश्रयत्वात् । अप्रवृत्तावित्यादि । यदाकृतिः पदार्थ इत्येष पक्ष स्तदान्यत्र कृतार्थत्वाच्छास्त्रयोर्विप्रतिषेधे सति परस्परप्रतिबन्धादप्रवृत्तिरेव प्राप्नोति । यथा यदिह द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति तौ च युगपत् प्रेषयतः । नानादिक्षु च तयोः कार्य्ये भवतः । ततो यद्यसावविरोधार्थी भवति तदोभयोरपि कार्य्ये न प्रवर्त्तते । द्रव्ये पदार्थे तु प्रतिव्यक्ति लक्षणं प्रवर्त्तत इत्यकृतार्थत्वाल् लक्षणयोः पर्य्यायेण प्रवृत्तिः प्राप्नोति । यथा ब्राह्मणक्षत्रियादीनामसहभुजामेकस्मिन् भाजने भुजिक्रियायां पर्य्यायः स्यात् । तत्र जातौ पदार्थे कृतार्थत्वाद् वृत्तौ प्राप्तायां विध्यर्थ मिदमारभ्यते विप्रतिषेधे सति परं कार्य्यं भवतीति । तत्र कृते यदि पूर्वमपि प्राप्नोति तदपि भवत्येव । तत्रेद मुच्यते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धमिति । व्यक्तौ तु पदार्थेऽकृतार्थत्वाच् शास्त्रयोः पर्य्यायेण प्रवृत्तौ प्राप्तायां नियमार्थमिदम् । विप्रतिषेधे परमेव भवति न पूर्वमिति । तत्रेदमुच्यते । सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेवेति ।

## ३। यू स्त्र्याख्यौ नदी।

ई च ऊ च यू इति। ननु च दीर्घाज्जसि (६।१।१०५) चेति प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वप्रतिषिद्धे यणादेशे सति य्वाविति भवितव्यम्। तत् कथं यू इति निर्देश इत्यत आह अविभक्तिकोऽयं निर्देश इति। सुपां सुलुगिति (७।१।३९) विभक्ते र्लुप्तत्वात्। नास्माद्विभक्तिर्विद्यत इत्यविभक्तिकः। स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्याविति। ननु च कर्मण्यधिकरणे च (३।२।१) क्त आतो युक् चिण् (७।३।३३) कृतोरिति युकि च स्त्र्याख्यायाविति भवितव्यम्। तत् कथं स्त्र्याख्याविति। आतोऽनुपसर्गे क इति (३।२।३) कप्रत्यये कृत एतद्रूपमिति चेत्? न। चक्षिङोऽत्र सोपसर्गत्वादित्यत आह। मूलविभुजादिदर्शनादिति। मूलविभुजादिष्वपि कप्रत्यय इष्यते। तथाच वक्ष्यति तृतीयेऽध्याये कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य (३।२।५, वा) उपसंख्यानमिति। तेन स्त्र्याख्याविति शब्दस्य मूलविभुजादिषु दर्शनात् कप्रत्ययः। इहेदूतोरेवेयं संज्ञा विधीयते तदन्तयोर्वा? तत्र यद्याद्यः पक्ष आश्रीयेत तत्स्त्रियां न स्यात्। हे लक्ष्मि हे यवाग्विति। समुदायो ह्यत्र स्त्र्याख्यौ। न त्वीदूताविति। इममाद्ये पक्षे दोषं दृष्ट्वा द्वितीयं पक्षमाश्रित्याह। ईकारान्तमूकारान्तमित्यादि। ननु च सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमित्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न लभ्यते। नैष दोषः। यदयं नेयङुवङ्स्थानाविति (१ ४।४) प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयति भवतीह प्रकरणे तदन्तविधिरिति। अन्यथा प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। नह्यीकारोकारमात्रं स्त्र्याख्यमियङुवङ्स्थानमस्ति। किं तर्हि? तदन्तम्। कुमारीति। वयसि प्रथमे (४।१।२०) इति ङीप्। गौरीति। षिद्गौरादिभ्यश्चेति (४।१।४१) ङीष्। शार्ङ्गरवीति। शार्ङ्गरवाद्यञो (४।१,७३) ङीन्। लक्ष्मीरिति। लक्ष दर्शनाङ्कयोः। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य (उण् ४३८) ईरित्यनुवर्त्तमाने लक्षेर्मुट् (उण, ४४०) च। चकारादीकारश्च। ब्रह्मबन्धूरिति। ऊङुत (४।१।६६) इत्यूङ्प्रत्ययः। ङकारो नोङ्धात्वोरिति (६।१।१७५) विशेषणार्थः। यवागूरिति। यु मिश्रणे। स्यूवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुजि (उण, ३३१) त्यागूच्

प्रत्ययः । रूपोदाहरणान्येतानि । कार्यन्त्वम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (७।३।१०७) इत्येवमादिः । मात्रे दुहित्र इत्यत्र नदीसंज्ञाया अभावादाण् नद्या (७।३।११२) इत्याण् न भवति । ग्रामण्योः । खलप्वोरिति । पुंस्येतौ वर्त्तेते । तेन नदीसंज्ञाया अभावादम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (७।३।१०७) इति ह्रस्वो न भवति । ग्रामं नयतीति सत्सूद्विषेत्यादिना (३।२।६१) क्विप् । अग्रग्रामाभ्याञ्चेति णत्वम् । खलं पुनातीत्यन्येभ्योऽपि दृश्यत इति (३।२।१७८) क्विप् । ग्रामण्ये स्त्रिया इति । एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्येति (६।४।८२) यणादेशः । खलप्वे स्त्रियै । अत्राप्योः (६।४।८३) सुपीति । अत्र स्त्रीशब्देन पदान्तरेण स्त्रीत्वं द्योत्यत इति नदीसंज्ञा न भवति । तेनाण् न भवति । इष्वशनिप्रभृतीनान्तूभयलिङ्गानां शब्दार्थ एव स्त्रीत्व मिति भवत्येव नदीसंज्ञा । इष्वै । अशन्या इति । यदि पदान्तरद्योत्ये स्त्रीत्वे नदीसंज्ञा न भवतीह पट्व्यै स्त्रिया इति पटुशब्दस्य पुरुषेऽपि दृष्टत्वात् पदान्तरद्योत्यमत्र स्त्रीत्वमिति नदीसंज्ञा न स्यात् । नैतदस्ति । पदान्तरं हि द्विविधम् । क्वचित् सामान्येन प्रवृत्तिमाशङ्कमानस्य शब्दस्य सामान्यस्याभिधेयान्तरं व्यवच्छिनत्ति । यथा गोशब्दस्य गवादिषु गौर्वाहीकमिति । क्वचित् प्रवृत्तिमेव करोति । यथा वाहीकादौ गौर्वाहीक इति । अत्र यत् सामान्यस्य शब्दस्य पट्वादेः पदान्तरसम्बन्धेन विशेषेऽवस्थानं तत् पदेऽन्तर्भूतमेवेत्याख्याग्रहणेन नापनीयते । ग्रामणीशब्दस्य तु स्त्रीत्वप्रवृत्तिः पदान्तरेण क्रियते । नतु व्यवच्छिद्यते । तेनासावाख्याग्रहणेनापसार्य्यते । एतयोस्तु क्रियाशब्दत्वेन रूढः पुंसि मुख्या वृत्तिः । पटुशब्दस्य पाटवोपादायिनः परत्र मुख्येऽपीत्यस्ति भेदः ।

## ४ । नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ।

इयङुवङ्स्थानौ यौ यू तौ नदीसंज्ञकौ न भवत इति । यूद्वारेण यून्तस्यायं प्रतिषेधो विज्ञायते । न केवलयोः । प्राप्त्यभावात् । नहि यू केवलावियङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ विद्येते । हे श्रीः । हे भ्रूरिति । अत्र नदीसंज्ञाया अभावात् तन्निबन्धनोऽम्बार्थनद्योर्ह्रस्व (७।३।१०७) इति ह्रस्वो न भवति । श्रिञ् सेवायाम् । क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसंप्रसारणञ्चेति

(३।२।१७८) क्विपि दीर्घत्वे कृते श्रीरिति भवति। भ्रमु अनवस्थान इत्यस्माद् भ्रमेर्डूरिति (उण्, २२६) डूप्रत्यये टिलोपे भ्रूरिति भवति। उभयोर- चिश्नुधात्वित्यादिने (६।४।७७) यङुवङोर्विधानादियङुवङ् स्थानौ यू भवतः। हे स्त्रि इति। ष्टैग्र स्त्यैग्र शब्दसंघातयोः। आदेच उपदेशेऽशितीत्यात्त्वम् (६।१।४५)। स्त्यायते ड्रट्। टेरिति (६।४।१५५) टिभागलोपः। लोपो व्योर्वलीति (६।१।६६) यकारस्य लोपः। टिड्ढादिना (४।१।१५) ङीप्। अत्र नदीसंज्ञायाः प्रतिषेधाभावाद् ह्रस्वत्वं भवत्येव। स्त्रीशब्दस्य स्त्रिया इतीयङ् (६।४।७९) विधानादियङ्स्थान ईकारः। अथ स्थानग्रहणं किमर्थम्? इयङुवङ् स्थानयोः प्रतिषेधो यथा स्यादिति चेत्? न। यद्येतत् प्रयोजन मभिमतं स्यादियङुवङोरित्येवं वाच्यम्। एवमप्ययमेवार्थ इयङुवङोः सम्बन्धिनौ यौ यू तयोर्नदीसंज्ञा न भवतीति। कौ च तयोः सम्बन्धिनौ यू? यौ तयोः प्रकृतिभूताविय‌ङुवङ्स्थानावित्यन्तरेणापि स्थानग्रहण मियङु- वङ् स्थानयोः प्रतिषेधो विज्ञास्यते। इदं तर्हि स्थानग्रहणस्य प्रयोजनम्। यत्रेयङुवङोः स्थिति रभिनिर्वृत्ति स्तत्र प्रतिषेधो यथा स्यात्। यत्र त्वपवादेन तयोर्बाधा तत्र मा भूदिति। आध्यै वर्षाभ्वा इति। ध्यै चिन्तायाम्। अन्येभ्योऽपि दृश्यत (३।२।१७८) इति क्विप्। सम्प्रसारणञ्च। सम्प्रसारणन्तु दृशिग्रहणाल्लभ्यते। तथाहि तत्रैव (३।२।१७८) दृशिग्रहणं विध्यन्तरोपसंग्रहार्थम्। क्वचिद्दीर्घः क्वचिद्द्विर्वचनमित्युक्त्वा ध्यायतेः संप्रसारण- ञ्चेति वक्ष्यति। कृतसम्प्रसारणस्यैव चतुर्थ्येकवचन एरनेकाच (६।४।८२) इत्यादिना यणादेशः। वर्षाभूशब्दस्यापि वर्षाभ्वश्चेति (६।४।८४)।

## ५। वाऽमि।

संहितासाम्येऽपि षष्ठीबहुवचनस्यामो ग्रहणम्। न तु द्वितीयैकवचनस्य। तत्र नदीसंज्ञाकार्य्याभावात्। नापि सप्तम्यादेशस्यामो ग्रहणम्। तस्य नदीसंज्ञोत्तरकालं ङेराम्नद्याम्नीभ्य (७।३।११६) इत्याम्विधानात्। श्रीणामिति नदीसंज्ञापक्षे ह्रस्वनद्यापो नुडिति (७।१।५४) नुट्। इह स्त्र्याख्याविति वर्त्तते। विभक्तिसम्बन्धेन चेयं नदीसंज्ञा विधीयत इति। विभक्तिसम्बन्धिन एव शब्दरूपस्य स्त्र्याख्यस्य नदीसंज्ञा युक्ता। तेन यत्रावयव-

स्त्र्याख्यस्तत्र नदीसंज्ञा न भवति। अतिश्रियां ब्राह्मणानाम्। अतिभ्रूवां ब्राह्मणानामिति।

### ६। ङिति ह्रस्वश्च।

यद्यत्र ह्रस्वविशेषणार्थं यू इति नानुवर्त्तते तदेहापि स्यान् मात्रे दुहित्र इति। तस्मात् तदिहानुवर्त्तते। अनुवर्त्तमानमपि यदि प्रथमान्तमनुवर्त्तते तदा प्रथमान्तयोर्ह्रस्वत्वं प्रति विशेषणविशेष्यभावो नोपपद्यते। तस्मात् तदिहार्थात् षष्ठ्यन्तमुपजायत इत्यत आह ह्रस्वश्च य्वोः सम्बन्धीति। कः पुनस्तयोः सम्बन्धी ह्रस्वः? य स्तयोर्ह्रस्वः सवर्णः। तेन सामर्थ्यादिकारोकारयोर्ग्रहणम्। नहि ताभ्यामन्यो ह्रस्व ईदूतोः सवर्णः सम्भवति। कृत्यै कृतय इति। यदा नदीसंज्ञा तदा पूर्ववदाट्। अन्यदा तु शेषो घ्यसखिरिति (१।४।७) घिसंज्ञकत्वाद् घेर्ङिति गुणः (७।३।१११)। अत्रापि यत्र विभक्तिसम्बन्धिनः शब्दरूपस्यावयवः स्त्र्याख्यस्तत्र पूर्वोक्तया रीत्या नदीसंज्ञा न प्राप्नोति। अतिकृतये ब्राह्मणाय। अतिश्रिये ब्राह्मणायेति।

### ७। शेषो घ्यसखि।

सख्येति। घिसंज्ञाया अभावादाङो नास्त्रियामिति (७।३।१२०) नाभावो न भवति। सख्ये सख्युरित्यत्रापि घेर्ङिति (७।३।१११) न गुणः। सख्यावित्यत्राच्च (७।३।११९) घेरित्यत्वन्न भवति। इदुद्भ्यामौदित्यौत्त्व (७।३.११८) भवति। सख्युरित्यत्रापि ख्यत्यात् परस्येत्युत्त्वम् (६।१।११२)। इह शोभनः सखा ऽस्येति सुसखिरिति। सुसखेरागच्छतीत्यत्र तदन्तविधिना प्रतिषेधः प्राप्नोति। स च ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति प्रतिषेधान्न भवति। इह द्विविधा घिसंज्ञा। अवयवाश्रया समुदायाश्रया च। तत्र याऽवयवाश्रया सा प्रतिषिध्यते। या पुनः समुदायाश्रया सा च भवत्येव। तस्या अप्रतिषेधात्।

### ८। पतिः समास एव।

पतिशब्दस्य सिद्धायां घिसंज्ञायामिति। अनन्तरसूत्रेणैवेति शेषः।

प्रजापतिनेति षष्ठीसमासः। यदि सिद्धायां घिसंज्ञायामिदमारभ्यते तदा सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति विनाप्येवकारेण लभ्यत एव नियमः। तत् किमर्थमेवकारकरणमित्यत आह एवकारकरणमित्यादि। विना ह्येवकारेण विपरीतमप्याशङ्क्येत। पतिरेव समास इति। ततश्च इङ्मुष्टिनेत्यादौ न स्यात्। एवकारे तु सति भवतीति। तथाह्यत्र समासशब्दादनन्तरं प्रयुज्यमानं यत एवकारकरणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति पतिशब्द एव नियम्यते। न समासः।

## ९। षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा।

अत्र यदि पतिशब्दः षष्ठीविभक्त्यन्तो घिसंज्ञो भवतीत्येषोऽर्थोऽभिमतः स्यात् तदा युक्तग्रहणमनर्थकं स्यात्। षष्ठीत्येवं ब्रूयात्। तस्माद् युक्तग्रहणे सति षष्ठ्यन्तशब्दान्तरेण युक्त इत्येषोऽर्थो विज्ञायत इत्यत आह षष्ठ्यन्तेनेत्यादि। यदि पुनः पतिशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य घिसंज्ञा स्यात् तदा किं स्यात्? पत्युरित्यत्रैव स्यात्। इह तु न स्यात्। क्षुत्रानाम्पतये नम इति। मया पत्येति। तृतीयायुक्तोऽत्र पतिशब्दः। अस्मदो मपर्य्यन्तस्य (७।२।९१)। त्वमावेकवचन (७।२।९७) इति मादेशः। योऽचीति (७।२।८९) यकारः।

## १०। ह्रस्वं लघु।

भेत्तेति। पुगन्तलघूपधस्य (७।३।८६) चेति गुणः। अचीकरदिति कृञो णिच्। लुङ्। अडागमः। च्लेश्चङ्। णिलोपः। णौ चङ्युपधाया इति (७।४।१) ह्रस्वः। ओः पुयण्ज्यपर (७।४।८०) इति वचनं ज्ञापकं णौ कृतं स्थानिवद् भवतीति। चङीति (६।१।११) कृशब्दो द्विरुच्यते। उरदित्वम् (७।४।६६)। रपरत्वम्। सन्वल्लघुनीति (७।४।९३) लघुसंज्ञायां सत्यां सन्वद्भावादित्वम्। दीर्घो लघोरिति (७।४।९४) दीर्घत्वम्।

## ११। संयोगे गुरु।

कुण्डा। हुण्डा। कुडि दाहे। हुडि सङ्घाते। नुम्विधावुपदेशिवद्वचनादुपदेशावस्थायामेव नुम्। शिक्षा भिक्षेति। शिक्ष विद्योपादाने।

भिच्च याच्ञायाम्। तयोर्गुरुसंज्ञायां सत्यां गुरोश्च हल (३।३।१०३) इत्यकारप्रत्ययः। अजाद्यतष्टाप् (४ १ ४)।

## १२। दीर्घञ्च।

ईहाञ्चक्रे ऊहाञ्चक्रे इति। आम्प्रत्ययवदित्यादौ सूत्र (१।३।६३) एते व्युत्पादिते। गुरुसंज्ञायान्त्वत्र कार्य्यमिजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ (३।१।३६) इत्याम्प्रतत्ययः।

## १३। यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्।

कर्त्तेति लुट्। करिष्यति। अकरिष्यदिति। लृट्लृङौ। अङ्गसंज्ञायाः कार्य्यमत्र सार्वधातुकार्द्धधातुकयोरिति (७।४।८४) गुणः। ऋद्धनोः स्यइतीड़ागमं (७।२।७०) यथायोगम्। यस्मादिति संज्ञिनिर्देशार्थमिति संज्ञिनो निर्देशः। संज्ञिनिर्देशः सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथोक्तम्। ननुच तदादीत्यनेनात्र संज्ञी निर्दिष्टः। तत् कथं संज्ञिनिर्देशार्थमिति पर्य्यनुयोगमाशङ्क्य येन हेतुना यस्मादित्यस्य संज्ञिनिर्देशार्थत्वं भवति तं दर्शयितुमाह तदादिसम्बन्धादिति। यस्मादित्येतस्मिन् सत्यनेन प्रकृतेन तदादीत्यस्य सम्बन्धो भवति। यस्मात् प्रत्ययो विधीयते स आदिर्यस्य तत् तदादीति। अनुच्यमाने ह्येतस्मिंस्तदित्यनेन सर्व्वनाम्ना प्रकृतप्रत्यवमर्शिना किं सम्बध्येत? नह्यत्र किञ्चित् प्रकृतमस्तीत्यसम्बन्धमेव तदादीति। असम्बन्धे कथं शक्यते संज्ञी निर्देष्टुम्? स्यादेतत्। स प्रत्यय विधिरेव तदादीत्यनेन सम्बध्येतेत्यसदेतत्। एवं हि सति प्रत्ययादेः प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञा स्यात्। ततश्च करिष्यावः करिष्याम इत्यत्र धातोर्गुणो न स्यात्। तस्माद्विशिष्टस्य संज्ञिनो निर्देशार्थं यस्मादिति वक्तव्यम्। अनेन हि सम्बन्धे सति तदादीत्यनेन योऽत्र विशिष्टः संज्ञी विवक्षितः स शक्यते निर्देष्टुम्। नान्यथा। नेर्विंश (१।३।१७) इत्युपसर्गाद्विधिरस्तीति नियमस्य। नतु प्रत्ययस्य। तस्य लक्षणान्तरेण विहितत्वात्। नेर्विंश (१।३।१७) इत्युपलक्षणमात्रम्। परिव्यवेभ्यःक्रिय (१।३।१८) इत्येतदपीहोपात्तं द्रष्टव्यम्। तदादेरङ्गसंज्ञा स्यात्। ततश्चोपसर्गात् प्रागड़ागमः स्यादिति भावः। स्त्री इयतीति। इदं परिमाणमस्या इति किमिदंभ्यां वो (५।२।४०) घ इति वतुप्। वस्य च

त्वम्। इयादेशः। इदम्किमोरीश्की (६।३।९०) इतीदम ईश्। यस्येति (६।४।१४८) चेतीकारलोपः। उगितश्चेति (४।१।६) ङीप्। इयती। स्त्रीशब्दात् सुः। तस्य हल्ङ्याब्भ्यो (६।१।६८) लोपः। स्त्री इयती इति स्थिते यदि विधिग्रहणं न क्रियेत तदेयच्छब्दे प्रत्यये परतः स्त्रीशब्दस्याङ्गसंज्ञा स्यात्। ततश्च यस्येति (६।४।१४८) चेतीकारलोपः प्रसज्येत। ननु चासिद्धवदत्रा (६।४।२२) भादित्यसिद्धत्वादीकारलोप एवासिद्धः। तत् कुतोऽयं लोपप्रसङ्गः? प्राग् भाधिकारादसिद्धत्वमित्यभिप्रायः। नैषोऽस्त्यभिप्रायः। वक्ष्यति हि तत्र (६।४।२२) वृत्तिकारोऽसिद्धवदित्यधिकारोऽयं यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आ ऽध्यायपरिसमाप्तेस्तदसिद्धवद्भवतीति। तथाह्या भादित्यभिविधावाङ्। तेन भाधिकारेऽप्यसिद्धत्वम्भवतीति। एवं तर्हि विधिग्रहणेनैतज्ज्ञाप्यते भाधिकारीयमसिद्धत्वमनित्यमिति। तेन वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ (६।४।२२, वा) वाच्यावित्येतन्न वक्तव्यं भवतीति। वुक्। बभूव। युट्। उपदिदीय इति। नन्वेवमचः परस्मिन् (१।१।५७) पूर्वविधावितीकारलोपस्य स्थानिवत्त्वात् स्त्रीशब्देकारलोपाप्रसङ्ग एव। नैतदस्ति। यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवतीत्रादिष्टादचः पूर्वः स्त्रीशब्देकारः प्राक् संस्कृतस्य सत इयतीशब्दस्योत्तरकालं स्त्रीशब्देन सम्बध्यते। अथ क्रियमाणेऽपि विधिग्रहणे कस्मादेवाङ्गसंज्ञा न भवति यावता स्त्रीशब्दाद् विभक्तेः प्रत्ययस्य विधिरस्त्येव? प्रत्ययोऽपि चास्मात् पर इयच्छब्दो विद्यत एव। नैष दोषः। विधिग्रहणे सति यस्मात् प्रत्ययो विधीयते प्रत्यासत्तेस्तस्मिन् परतोऽङ्गसंज्ञा विधीयते। इह तु यः स्त्रीशब्दाद्विहितः प्रत्ययो नासौ परो लुप्तत्वात्। यश्च पर इयच्छब्दो विहितो नासौ ततो विहितः। अथ तदादिग्रहणं किमर्थम्? यावता विनापि तेन यस्मात् प्रत्ययविधिः प्रत्ययेऽङ्गमित्येतावत्युच्यमाने यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् यस्मात् प्रत्ययो विधीयते तत् प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञा भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यत इत्यत आह तदादिवचनमित्यादि। असति तदादीत्येतस्मिन् यस्मादेव प्रत्ययो विधीयते तस्यैवाङ्गत्वं स्यात्। न तु सर्वस्य सहस्रादेः। नापि सनुमकस्य समुदायस्य। ततः प्रत्ययस्याविहितत्वात्। तदादिग्रहणे सति यस्मात्

प्रत्ययो विधीयते स आदिर्यस्य शब्दरूपस्य तत् तदादीति बहुव्रीहिराश्रितो भवति। तेन सर्वस्य स्यादेः सनुम्कस्य समुदायस्याङ्गसंज्ञा सिध्यतीति तदादिवचनं स्यादिनुमर्थम्। आदिग्रहणेन प्रकृतिप्रत्यययस्य मध्यवर्त्तिनां प्रत्ययागमानां ग्रहणम्। नुम आगमोपलक्षणत्वात्। करिष्याव इत्यत्र यस्मात् प्रत्ययो विहित स्तदादेः सहस्यप्रत्ययस्य समुदायस्याङ्गसंज्ञायां सत्यामतो दीर्घो यञीति (७।३।१०१) दीर्घत्वं भवति। अन्यथा क्व तर्हि स्यात्। वावावो वावाम इत्यादौ। अय वय मय पय तय चय णय गतौ। यङ्लुक्। अभ्यासस्य दीर्घोऽकित इति (७।४।८३) दीर्घत्वम्। वस्मसोर्लोपो व्योर्वलीति (६।१।६६) यलोपः। इह विना विकरणेन धातोर्दीर्घत्वम्। विकरणस्य शपोऽदिप्रभृतिभ्यः शप (२।४।७२) इति लुप्तत्वात्। अदादित्वं चर्करीतञ्चेत्यदादिषु पाठात्। चर्करीतमिति यङ्लुकः पूर्वाचार्यसंज्ञा। कुण्डानीति। जसि जश्शसोः शिरिति (७।१।२०) शिभावः। नपुंसकस्य झलच (७।१।७२) इति नुम्। यदायं नुम् परादिरिति पक्षस्तदा सुगि चेति (७।३।१०२) दीर्घत्वं विनापि सनुम्कस्याङ्गसंज्ञया सिद्धम्। यदापि पूर्वान्तस्तदाप्यङ्गैकदेशत्वान्नोपधाया (६।४।७) इत्यनुवर्त्तमाने सर्वनामस्थाने (६।४।८) चासम्बुद्धाविति दीर्घत्वं सिद्धम्। यदात्वभक्तस्तदाङ्गस्यानेकदेशत्वान् न सिध्यति। अभक्तश्चायं नुमिति सूत्रकारस्य पक्षः। तेन नुमर्थमपि तदादिवचनं कृतम्। श्र्यर्थम्। भ्र्वर्थमिति। श्रिय इदं भ्रुव इदमिति चतुर्थी तदर्थार्थेत्यादिना (२।१।३६) समासः। अस्त्यत्र चतुर्थ्येकवचनस्य विधिरिति। असति हि पुनः प्रत्ययग्रहणे श्रीभ्रूशब्दयोरर्थशब्दे परतोऽङ्गसंज्ञा स्यात्। ततश्चेयङुवङौ स्याताम्। सप्तमीनिर्दिष्टे तु पुनः प्रत्ययग्रहणे सति न दोष इति। तथाहि ततो विहिते प्रत्यये परत इत्येवं विज्ञायते। यस्मातो विहितः प्रत्ययः स लुप्तः। यद्यपि लुप्तेऽपि तस्मिन् प्रत्ययलक्षणेनाङ्गसंज्ञा लभ्यते कार्य्यं तु न लभ्यते। न लुमताङ्गस्येति (१।१।६३) प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात्।

## १४। सुप्तिङन्तं पदम्।

सुप् तिङिति प्रत्याहारग्रहणमिति। युक्तं हि तिङिति प्रत्याहारग्रहणम्। अन्यस्य तिङ्शब्दस्याभावात्। कथं सुबिति प्रत्याहारग्रहणम्?

सप्तमीबहुवचनस्य विद्यमानत्वात्। तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवतीति ? नैष दोषः। न ङिसम्बुद्ध्योरिति (८।२।८) प्रतिषेधात्। सप्तमीबहुवचनस्य सुपो ग्रहणे ङिसम्बुद्ध्योः पदत्वाभावान्नलोपस्य प्राप्तिरेव नास्तीति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। ब्राह्मण इति पदत्वे च सति ससजुषो रुः (८।२।६६)। खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)। पठन्तीति। अत्र पदत्वे सति तिङ्ङतिङ इति (८।१।२८) निघातः। ननु च प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्येत्यनेन येन विधिस्तदन्तस्येत्यनेन वा ऽन्तरेणाप्यन्तग्रहणं तदन्तस्यैव संज्ञा भविष्यति। तत् किमर्थ मन्तग्रहणमित्यत आह पदसंज्ञाया मित्यादि। यदीहान्तग्रहणेनाप्यन्यत्र" संज्ञाविधौ तदन्तविधिर्नास्तीत्येषोऽर्थो न ज्ञाप्यते तदा तरप्तमपौ (१।१।२२) घ इत्यत्र तरबन्तस्य घसंज्ञा स्यात्। न प्रत्ययमात्रस्य। तस्मादेतास्मिन्नर्थेऽन्तग्रहणेन ज्ञाप्यते ऽन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थ मन्तग्रहणम्। तेन तरप्तमपो रेव घसंज्ञा भवति। नतु तदन्तस्य। गौरी ब्राह्मणितरेति। अत्र गौरीशब्दस्य तरबन्ते ब्राह्मणितराशब्दे परतो घरूपकल्पेत्यादिना (६।३।४३) ह्रस्वो न भवति। तरबन्तस्याघसंज्ञकत्वात्। प्रत्ययमात्रस्य घसंज्ञायां तत्र परतो ब्राह्मणीशब्दस्य ह्रस्वो भवत्येव।

## १५। नः क्ये।

राजीयतीति। आत्मनो राजान मिच्छतीति सुप आत्मनः (३।१।८) क्यच्। क्यचि (७।४।३३) चेतीत्त्वम्। राजायत इति। राजेवाचरतीति कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति (३।१।११) क्यङ्। अकृत्सार्वधातुकयोरिति (७।४।२५) दीर्घः। वर्मायत इति। अवर्म वर्म भवतीति लोहितादिडाज्भ्यः (३।१।१३) क्यषिति क्यष्प्रत्ययः। वा क्यष (१।३।९०) इत्यात्मनेपदम्। पदसंज्ञाया मिह नलोपः कार्य्यः। ननु चैते क्यजादयः सुबन्तादेव विधीयन्ते। प्रत्ययलक्षणेन ततश्च सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमित्यनेनैवात्र पदसंज्ञा सिद्धा। तत् किमर्थोऽयमारम्भ इत्यत आह सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। सिद्ध इति सिद्धावित्यर्थः। सिद्धत्वन्तु प्रकृतत्वात् पदसंज्ञाया एव नपुंसके भावे क्तः (३।३।१०४)।

विज्ञायते । अथवा सिद्ध इत्यकर्मकत्वात् कर्त्तरि क्तप्रत्ययः । सिद्धे निष्पन्ने पदसंज्ञाकार्य्यं इत्यर्थः । नान्तमेवेति नियमस्य स्वरूपं दर्शयति । नान्तं क्य एवेत्येष विपरीतनियमो नाशङ्कनीयः । न ङिसम्बुद्ध्यो (८।२।८) रिति प्रतिषेधात् । विपरीतनियमे हि सति ङिसम्बुद्ध्योः पदसंज्ञाया अभावान् नलोपो न भविष्यतीति किं तत्प्रतिषेधेन ? वाच्यतीति । सुप (३।१।८) आत्मनः क्यच् । क्यचि पदत्वाभावाच् चोः कुरिति (८।२।३०) कुत्वं न भवति ।

## १६ । सिति च ।

भवदीय इत्यादि । तत्र जात (४।३।२५) इत्यादौ शैषिकेऽर्थे तद्धितः । पदत्वाज् झलाञ्जशोऽन्त (८।२।३९) इति जश्त्वम् । ऊर्णायुरिति । ऊर्णाया युसिति (५।२।१२३) युसि कृते पदसंज्ञया भसंज्ञायां निरस्तायां यस्येति (६।४।१४८) चेत्याकारलोपो न भवति । ऋत्विय इति । ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋतोरण् (५।१।१०५) । छन्दसि (५।१।१०६) घस् । ऋत्वियः । पदत्वाद् भत्वाभावे तदाश्रय ओर्गुणो (६।४।१४६) न भवति ।

## १७ । स्वादिष्वसर्व्वनामस्थाने ।

अत्र यदि सप्तमीबहुवचनादारभ्य आ कपः प्रत्यया गृह्येरं स्तदाऽसर्वनामस्थान इति प्रतिषेधं न कुर्य्यात् । प्राप्त्यभावात् । कृतश्चासावतोऽवसीयते प्रथमैकवचनादारभ्या कपः प्रत्ययाः स्वादयो गृह्यन्त इत्यत आह स्वादिष्विति । सुशब्दादेकवचनादारभ्य इति । राजत्वं राजता इति । तस्य भाव (५।१।११९) स्त्वतलौ । राजतर इति । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनाविति (५।३।५७) तरप् । राजतम इति । अतिशायन (५।३।५५) इत्यादिना तमप् । राजानौ राजान इति । अत्र पदसंज्ञाया अभावान्नलोपो न भवति । यद्येवं राजेत्यत्रापि न स्यात् । प्रत्ययलक्षणेनासर्वनामस्थान इति पदसंज्ञाया अभावात् । नैष दोषः । आचार्य्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । भवति सौ परतः पदसंज्ञेति यदयं न ङिसम्बुद्ध्योरिति (८।२।८) प्रतिषेधं शास्ति । अत्र सम्बुद्धिशब्दोऽनर्थकः स्यात् । तत्र पदत्वाभावादेव नलोपस्याप्राप्तेः । अथवा

ऽसर्वनामस्थान इति पर्युदासोऽयम्। न प्रसज्यप्रतिषेधः। तेन सर्वनामस्थानादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते। नतु सर्वनामस्थानं प्रतिषिध्यते। तेन तत्र पूर्वसूत्रेण सौ परे पदसंज्ञा भविष्यति। अथवा प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि न दोषः। यस्मादनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वेतत्रनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। न व्यवहिता। तेन सुप्तिङन्तं पदमितत्रनेन (१।४।१४) सौ भवत्येव पदसंज्ञेति।

## १८। यचि भम्।

यचीति वर्णग्रहणं सप्तमीनिर्दिष्टम्। अतो यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहण इति तदादिविधिनात्र भवितव्यमित्यत आह यकारादावित्यादि। गार्ग्य इत्यादौ भसंज्ञायां सत्यां यस्येति (६।४।१४८) चेतत्रकारलोपः। नभोङ्गिरोमनुषां वतुग्रपसंख्यानं कर्त्तव्यमिति। भसंज्ञाया स्त्वत्र पदसंज्ञाबाधः फलम्। नभ इवेति तुल्यार्थतोपदर्शनमेतत्। नतु प्रथमासमर्थाद्वतिः। स तु नभसा तुल्यं वर्त्तत इति तेन तुल्यमित्यादिना (५।१।११५) तृतीयासमर्थाद्वतिः। नभस्वदिति भसंज्ञया पदसंज्ञायां निरस्तायां तन्निबन्धनं रुत्वं न भवति। अङ्गिरस्वदिति। पूर्वेण तुल्यम्। मनुष्वदिति। जनेरुसिरित्यत्र (उण्, २७२) बहुलग्रहणानुवृत्तेर्मन ज्ञान इतेग्रतस्मादुसिप्रत्ययः। आदेशप्रत्यययोरिति (८।३।५९) षत्वम्। मनुष् इति स्थिते पूर्ववद्वतिः। मनुष्वदिति। यद्यत्र पदसंज्ञा स्यात् तदा षत्वस्यासिद्धत्वादिह रुत्वं स्यात्। ततश्च मनुर्वदित्यनिष्टं रूपं स्यात्। उपसंख्यानशब्दस्य चेह प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। स्विति (१।४.१६) चेत्यतश्चकारोऽनुवर्त्तते। स चानुक्तसमुच्चयार्थः। तेन नभोङ्गिरोमनुषां वतौ भसंज्ञा भविष्यति। वृषण्वस्वश्वयोरिति। अन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञायां प्राप्तायां भसंज्ञा विधीयते। तस्याश्च विधिश्चकारानुवृत्तेरेव लभ्यते। वृष्णो वसुः वृषण्वसुः। वृष्णोऽश्वः वृषणश्वः। अत्र भत्वे सति यद्यपि णत्वस्यासिद्धत्वं तथापि नलोपः पदनिबन्धनो न भवति। पदान्तस्येति (८।४।३७) णत्वप्रतिषेधश्च।

## १९। तसौ मत्वर्थे।

तसाविति वर्णग्रहणम्। न च वर्णमात्रान्मत्वर्थीयः सम्भवति। अतः सामर्थ्यात् तदन्तविधिर्विज्ञायत इत्याह तकारान्तमित्यादि। मत्वर्थे प्रत्यय

इति व्यधिकरणे पदे षष्ठीसमासः। मतोरर्थो मत्वर्थ इति। तत्र यो वर्त्तते प्रत्ययस्तस्मिन्नित्यर्थः। अथवा समानाधिकरणे पदे। मतुशब्देन साहचर्य्यान् मतुप्सहचरितार्थ उच्यते। मतुबर्थो यस्य तस्मिन्। ननु मतोरर्थो यस्मिन्निति मत्वर्थे प्रत्यय इति। अर्थग्रहणं मतुपोऽन्यत्रापि यथा स्यात्। इतरथा हि मतावित्युच्यमाने मतावेव स्यात्। नान्येषु। मत्वर्थग्रहणे क्रियमाणे मतुपि न स्यात्। तस्यार्थविशेषणत्वात्। विशेषणस्य च कार्य्येण सम्बन्धानुपपत्तेः। नहि चित्रगुरानीयतामित्युक्ते विशेषणभूता गावोऽप्यानीयन्ते। नैष दोषः। विशेषणमपि क्वचित् कार्य्ये विशिष्यते। तथाहि देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तः शालायां विशेषणभूतो यदि ब्राह्मणो भवति तदा सोऽप्यानीयत एव। उदश्वित्वानिति। भत्वात् पदसंज्ञाऽभावे जश्त्वं न भवति। झय इति (८।२।१०) वत्वम्। उगिदचामिति (७।१।७०) नुम्। अत्वसन्तस्य (६।४।१४) चाधातोरिति दीर्घः। पयस्वी यशस्वीति। अस्मायामेधास्रजो विनिः (५।२।१२१)। भत्वाद्रुत्वं न भवति। इन्हन्पूषार्य्यम्णां (६।४।१२) शावितयनुवर्त्तमाने सौ (६।४।१३) चेत्यनेन दीर्घः।

## २०। अयस्मयादीनि च्छन्दसि।

यद्यत्र भसंज्ञा विधीयेत तदा पदसंज्ञा न स्यात्। अथ यदि पदसंज्ञा विधीयेत तदात्र भसंज्ञा न स्यात्। तदा भपदसंज्ञयोः समावेशो न स्यात्। एकसंज्ञाधिकारात्। साधुत्वविधाने त्वेष दोषो न भवति। तद्धि केषाञ्चिद्भसंज्ञा विधीयते पदसंज्ञकानां केषाञ्चिदुभयसंज्ञकानाम्। तस्मात् साधुत्वमेव विधातुं युक्तमित्यत आह अयस्मयादीनीत्यादि। कथं पुनरेषां साधुत्वं विधीयत इत्याह भपदसंज्ञाधिकार इत्यादि। द्वारं मुखमुपाय इत्यनर्थान्तरम्। अयस्मयमिति। अयसो विकारो मयड्वैतयो र्भाषायामिति (४।३।१४३) मयट्। यद्यपि तत्र (४।३।१४३) भाषाग्रहण मस्ति तथाप्ययस्मयशब्दस्यास्मादेव साधुत्वविधानाच्छन्दस्यपि मयड् भवतीति। भत्वाद्रुत्वं न भवति। स ऋक्वतेति। ऋचोऽस्य सन्तीति मतुप्। पदत्वाचोः कुरिति

(८।२।३०) कुत्वम्। भलाज् भलां (८।२।३९) जशोऽन्त इति जश्त्वन्न भवति। आकृतिगणोऽयमिति। आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात्।

## २१। बहुषु बहुवचनम्।

तस्यानेन बहुत्वसंख्या वाच्यत्वेन विधीयत इति। एतेन विध्यर्थतामस्य योगस्य दर्शयति। इह केषाञ्चित् स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकर्माद्यात्मकः पञ्चकः प्रातिपदिकार्थ इति दर्शनम्। केषाञ्चित् स्वार्थद्रव्यलिङ्गात्मकस्त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इति। तत्र स्वार्थो विशेषणं स्वरूपजातिगुणद्रव्याणि। द्रव्यन्तु विशेष्यम्। तत्तु पुनर्जातिगुणद्रव्याणि। तत्र यदा शब्दस्वरूपेण विशिष्टा जातिरभिधीयते गौरिति तदा शब्दस्वरूपं विशेषणत्वात् स्वार्थो भवति। जातिस्तु विशेष्यत्वाद् द्रव्यम्। यदा तु जात्या विशिष्टो गुणोऽभिधीयते पटस्य शुक्लो गुण इति तदा जातिर्विशेषणत्वात् स्वार्थो भवति। गुणस्तु विशेष्यत्वाद् द्रव्यम्। यदा तु गुणैर्विशिष्टं पटादिकं द्रव्य मुच्यते शुक्लः पट इति तदा विशेषणभूतो गुणः स्वार्थो भवति। विशेष्यभूतं पटादिकं द्रव्यमेव। यदा पुनर्द्रव्यमपि द्रव्यान्तरस्य विशेषणभूतं भवति यष्टीः प्रवेशय कुन्तान् प्रवेशयेत्यादौ तदा यष्ट्यादिकं द्रव्य विशेषणभावापन्नं स्वार्थः। द्रव्यान्तरं विशेष्यभावापन्नं पुरुषादिकं द्रव्यमेव। क्वचित् सम्बन्धोऽपि स्वार्थो भवति यत्र सम्बन्धनिमित्तकः प्रत्यय उत्पद्यते यथा दण्डी विषाणीति। अत्र दण्डपुरुषसम्बन्धो विशेषणम्। दण्डीति द्रव्यम्। क्वचित् क्रियापि स्वार्थो भवति यत्र क्रियानिमित्तकः प्रत्यय उत्पद्यते यथा पाचकः पाठक इति। क्रियाकारकसम्बन्धोऽत्र स्वार्थ इत्यपरे। लिङ्गं स्त्रीत्वादि। संख्यैकत्वादि। कर्मादयो वक्ष्यमाणाः कारकविशेषाः। तत्र पूर्वोक्तयोदर्शनयोर्द्वितीयं यद्दर्शनं तदिह वृत्तिकारेणाश्रितम्। धातोस्तु क्रियैव वाच्येत्यत्राचार्य्याणामविवाद एव। तत्र प्रातिपदिकस्य पूर्वोक्ते त्रिकेऽर्थे सति धातोश्च क्रियात्मकत्वे यदीदं सूत्रं नोच्येत ततोऽनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति प्रातिपदिकाज्जसादिबहुवचनं विधीयमानं त्रिक एवार्थे स्यात्। न बहुत्वसंख्यायाम्। धातोरपि झिप्रभृति बहुवचनं विधीयमानं क्रियायामेव

स्यात् । नतु बहुत्वसंख्यायाम् । तस्मादनेनैव तस्य बहुत्वसंख्या वाच्यत्वेन विधीयत इति विध्यर्थमेतद् भवति । यथा चानेन योगेन बहुत्वसंख्या बहुवचनस्य वाच्यत्वेन विधीयते तथा कर्मणि (२।३।२) द्वितीयेत्येवमादिभिर्योगैर्द्वितीयादीनां कर्म्मादि च । लः कर्मणि च भावे चाकर्म्मकेभ्य (३ ४।६९) इत्यनेनापि लकाराणां कर्म्माद्येव । तस्मादेतेऽपि योगा विध्यर्था एव वेदितव्याः । येषाञ्च पञ्चकः प्रातिपदिकार्थ इति मतं तेषां प्रातिपदिकस्यैव पञ्चाप्यर्था वाच्याः । विभक्तयस्च तद्द्योतिका भवन्ति । तत्रानिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति विनापि वचनेनानेन प्रातिपदिकाद् बहुवचनं जसादि बहुत्वे सिद्धमेव । तत्र त्वनियमेनान्यत्राप्येकत्वादौ प्राप्तमनेन नियम्यत इति नियमार्थमेतद् भवति । कस्मात् पुनर्वृत्तिकारेण त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इति दर्शनमाश्रितम् ? युक्तत्वात् । तथाहि वृक्षं पश्येत्यादौ नहि विना विभक्तिभिः संख्याकर्मादयश्चार्थाः प्रतीयन्ते । यद्यपि पयः पयो जरयतीत्यादौ विनापि विभक्त्या संख्या कर्मादेरर्थस्य प्रतीतिर्भवतीति तथापि पयसी पयांसि पयसेत्येवमादौ संख्याकर्मादिप्रतीत्यर्थं नियोगतो विभक्तिरपेक्ष्यत एव । नहि यथा गर्गा इत्यत्र बहुवचनेन यञ्प्रत्ययमन्तरेणापत्यार्थः प्रतीयते तथा गार्ग्य इत्यत्र प्रकृतिरेवापत्यार्थमभिधत्त इति शक्यते वक्तुम् । अपिच पयः पयो जरयतीत्येवमादौ विभक्तिविशेषोत्पत्तिसामर्थ्यादेव संख्याकर्माद्यर्थस्य प्रतीतिर्भवति । तथाहि यतः स विभक्तिविशेष उत्पन्नस्तत एवासावर्थविशेषः प्रतीयते । नान्यस्मादिति त्रिक एव प्रातिपदिकार्थो युक्तः । यदि तर्हि बहुत्वसंख्या बहुवचनस्य वाच्यत्वेन विधीयते तदा सूत्रे भावप्रत्ययेन बहुत्वनिर्देशः कर्त्तव्यः । अन्यथा बहुत्वसंख्या न प्रतीयेत । न कर्त्तव्यः । अन्तरेणापि भावप्रत्ययं भावप्रधानो निर्देशो भविष्यतीति यथा पटस्य शुक्ल इति । नन्वेवमपि भावस्यैकत्वाद् बहुष्विति बहुवचनं नोपपद्यते । नैष दोषः । यस्माद् बहुत्वसंख्याधारस्य द्रव्यस्य यो भेद स्तं बहुत्वे गुणेऽध्यारोप्य बहुष्विति बहुवचनेन निर्देशः कृतः (A) । संख्यावाचयं बहुशब्दो न वैपुल्यवाचीति ज्ञापनार्थश्च । तेन वैपुल्यं बहु-

---

(A) एतेनारोपितबहुत्वसंख्याका आपो दारा इत्यादौ च बहुत्वं भवतीत्यत्र क्वचिदधिकः पाठः ।

वचनस्य वाच्यं न भवतीति बहुरोदनो बहुः सूप इति वैपुल्यवाचिनो बहुशब्दादेकवचनमेव भवति। न बहुवचनम्। यदि बहुत्वसंख्या बहुवचनस्य वाच्यत्वेन विधीयत इह वृत्तं पश्येत्यत्र बहुवचनं प्राप्नोति। द्वे ह्यत्र संख्ये। समुदायसंख्या चैकत्वम्। अवयवसंख्या च फलमूलशाखाद्यवयवसमवेता बहुत्वम्। अस्यापि प्रातिपदिकार्थेनैकार्थसमवायलक्षणः सम्बन्धोऽस्त्येव। तथाहि येष्ववयवेषु समवेता बहुत्वसंख्या प्रातिपदिकार्थोऽपि समुदाय स्तत्रैव समवेतः। ततश्च तस्माद्बहुवचनं प्राप्नोतीत्यत आह कर्मादय इत्यादि। कर्मादयो ह्येकविभक्तिशब्दवाच्यत्वात् प्रत्यासन्ना बहुत्वसंख्यायाः। ततः प्रत्यासत्ते स्तदीय एव बहुत्वे बहुवचनं भवति। समुदाय एव हि वृत्तं पश्येत्यत्र दृशिक्रियया व्याप्तुमिष्टतम इति स एव कर्मभावमापद्यते। नावयवाः। तत् कुतो बहुवचनस्य प्रसङ्गः? कर्मादिष्वित्यादि। कर्मादयो बहुवचनस्य वाच्याः। तदीयं बहुत्वं बहुष्वेव कर्मादिषु सम्भवति। अतः सामर्थ्यात् कर्मादिषु बहुष्वित्येषोऽर्थः सम्पद्यते। यदि तर्हि विभक्तीनां बहुवचनस्य बहुत्वसंख्या वाच्यत्वेन विधीयते तदा निःसंख्येभ्योऽव्ययेभ्यः स्वादयो न स्युः। ततश्च पदसंज्ञा तेषां न स्यादित्याह यत्र चेत्यादि। ननु स्वादिविधानसूत्रे (४।१।२) संख्याकर्मादयः स्वादीनामर्थाः शास्त्रान्तरेण विहिताः। तेन सहास्यैकवाक्यतेति वक्ष्यति। तत् कुतः स्वादीनां सामान्यविहितत्वम्? नहि बहुषु बहुवचनं कर्मणि (३।२।२) द्वितीयेत्यादिना शास्त्रान्तरेण स्वौजसादेः (४।१।२) सूत्रस्यैकवाक्यतायां स्वादीनां सामान्यविहितत्वमुपपद्यते। एवं तर्हि ज्ञापकेन। अव्ययेभ्यः सामान्येन स्वाद्युत्पत्ते र्ज्ञापितत्वात् सामान्यविहिता इत्युक्तमित्यदोषः। किं पुनस्तज् ज्ञापकम्? अव्ययादाप्सुप (२।४।८२) इत्यव्ययादुत्पन्नानां सुपां लुग्वचनम्। न ह्यनुत्पन्नानां लुगुपपद्यते।

## २२। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने।

द्व्येकयोरित्ययमपि भावप्रधानो निर्देशः। अन्यथा हि बहुत्वाद् बहुवचनं स्यात्। भावप्रधाने तु निर्देशे द्वित्वमेकत्वञ्च द्वावेतावर्थाविति युक्तं

द्विवचनम् । एतदपीत्यादिनाऽस्यापि योगस्य विध्यर्थतां दर्शयति । अर्थाभिधानमिति । अर्थो वाच्योऽभिधीयते येन तदर्थाभिधानम् ।

## २३ । कारके ।

कारक इति विशेषणमपादानादिसंज्ञाविषयमिति । अपादानादयः संज्ञाविषयो यस्य तत् तथोक्तम् । आदिशब्देन सम्प्रदानादीनां ग्रहणम् । अथ वच्यमाणानां ध्रुवादीनामियं संज्ञा कस्मान्न भवति ? एवं मन्यते । यदीयं ध्रुवादीनां संज्ञा स्यात् तदा कारकशब्दः प्रथमान्त एव निर्दिश्येत यथान्ये प्रत्यय (३।१।१) इत्येवमादयः संज्ञाशब्दा निर्दिश्यन्ते । अयन्तु सप्तम्या निर्दिष्टः । तस्मान्नेयं ध्रुवादीनां संज्ञेति । कारक इति निर्द्धारणे सप्तमी । निर्धारणं तु बहूनां सम्भवति । तत् कथमेकवचनेन निर्देशः ? सामान्यापेक्षया त्वेकवचनम् । अथवा छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति । ततो व्यत्ययो बहुलमिति (३।१।८५) बहुवचने प्राप्त एकवचनम् । कारकेषु मध्ये यद् ध्रुवं कारकं तदपादानसंज्ञं भवति । एवमन्यत्रापि वेदितव्यमिति । कारकशब्दोऽयमस्त्येव व्युत्पन्नो ण्वुलन्तः कर्त्तृपर्य्याय इति । अस्ति च संज्ञाशब्दोऽव्युत्पन्नो निमित्तपर्य्याय इति । तत्रेह यदि पूर्वोक्तस्य ग्रहणं स्यात् तदापादानादिषु कारकशब्दो न वर्त्तेत । यथा कर्त्तृशब्दो ण्वुल्तृचाविति (३।१।१३३) कर्त्तरि व्युत्पादित स्तथा कारकशब्दोऽपि । कर्त्ता च स्वतन्त्रः । अपादानादयश्चास्वतन्त्राः । तत् कथं तेषु कारकव्यपदेशः स्यात् ? असति हि कारकव्यपदेशे कारकसंशब्दनेषु तेषां ग्रहणं न स्यात् । अथ तेषामपि कथञ्चित् स्वतन्त्रताभ्युपेयेतैवञ्च तत्र कर्त्तृसंज्ञा प्रसज्येत । ततश्च ग्रामादागच्छत्युपाध्यायाय गां ददातीत्यादौ ग्रामादिभ्यस्तृतीया प्रसज्येत । इतरेतराश्रयश्चापि दोषः स्यात् । तथाहि कर्त्तृसंज्ञोत्तरकालं कारकशब्दस्य व्युत्पत्तिस्तस्यां सत्यां कारकशब्दोपक्रमेण कर्त्तृसंज्ञा स्यात् । बह्वेवं प्रतिविधेयं स्यात् । प्रतिविधाने च प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । निमित्तपर्य्यायस्य तु कारकशब्दस्य ग्रहणे न दोषः स्यात् । ततः स एव गृह्यत इति मत्वाह कारकशब्दोऽयं निमित्तपर्य्याय इति । ग्रामादागच्छतीति । ग्रामस्य ध्रुवस्यागमनक्रियां प्रति

निमित्तभावोऽस्ति। यदीह ग्रामोऽवधिभावेन नावतिष्ठेत तत आगमनं न निष्पद्येत। तस्माद् ग्रामः कारकम्। वृक्षस्य पर्णं पततीति। वृक्षः सम्बन्धित्वेनात्र विवक्षितः। न तु निमित्तत्वेन। अपायस्य कारकग्रहणान् निमित्तत्वेनाविवक्षितस्यापादानसंज्ञा न भवति। नैतत् कारकग्रहणस्य प्रत्युदाहरणं युक्तम्। ध्रुवग्रहणेनैवात्रापादानसंज्ञाया निवर्त्तितत्वात्। ध्रुवं हि तद् यदवधिभूतमपाये साध्ये। तथाहि वृत्तिकारो वक्ष्यति अपाये साध्ये यदवधिभूतमिति। न चेह वृक्षोऽवधित्वेन विवक्षितः। किं तर्हि सम्बन्धित्वेन। नैतदस्ति। विवक्षितावधिभावस्यैव वृक्षस्य सम्बन्धिभावेन विवक्षितत्वात्। अवधिभूतस्य वृक्षस्य सम्बन्धिनः पर्णं पततीत्यर्थः। नहि सम्बन्धित्वेन विवक्षा ऽवधिभावविवक्षया विरुध्यते। तस्माद्विवक्षितावधिभावस्यैव वृक्षस्य सम्बन्धित्वमात्रं विवक्षितम्। ननु विद्यमानमप्यपायं प्रति निमित्तत्वमिति कात्रायुक्तता? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छतीति। अकथितञ्चे(१।४।५१)त्यकथितस्य कर्मसंज्ञा विधीयमाना कारक इत्येतस्मिन्नसति माणवकस्यापि स्यात्। कथम्? अकथितशब्दोऽयमकीर्त्तितपर्य्यायः। स च कस्यचिद् विशेषस्याप्रकृतत्वाद् विशेषानुपादाने सति प्रयुज्यमानः सर्वत्राविशेषेणाकीर्त्तितमात्रे स्यात्। ततश्चाकथितमित्युच्यमाने कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितमिति गम्यते। यथा पिताऽपादानादिभि र्विशेषकथाभिर्न कथित स्तथा माणवकोऽपि। अतस्तस्यापि कर्मसंज्ञा स्यात्। कारक इत्यस्मिंस्तु सति प्रश्नक्रियानिमित्तस्य पितुरेव भवति। ननु माणवकस्य। नह्यसौ प्रश्नक्रियां प्रति निमित्तभावेन विवक्षितः। किं तर्हि? पितुः सम्बन्धित्वेन। यदि विशेषणमिदं ध्रुवादीनां—न संज्ञा—ततश्च कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषीत्येवमादिषु (६।२।१४८) प्रदेशेषु यत्र कारकशब्दः संशब्द्यते तदा तत्रापादानादीनां कारकग्रहणेन ग्रहणं न स्यात्। संज्ञापक्षे तु न दोषः। संज्ञा ह्यावर्त्तमाना संज्ञिनं प्रत्याययतीत्यत आह कारकसंशब्दनेत्यादि। यच्च कारकशब्दस्य संशब्दनं तत्राप्यनेनैव विशेषणेन विवक्षितार्थप्रत्यायन लक्षणो व्यवहारोऽयं विज्ञायते। प्रदेशान्तरेऽपि कारकशब्दस्य निमित्तपर्य्यायस्यैवोपादानात्। तच्च निमित्तमपादानाद्येव। नहि ततोऽन्यत् क्रिया-

निमित्तं भवति । तस्मात् कारकग्रहणेनापादानादीनां ग्रहणं भवति । अन्ये त्वाहुः । साहचर्य्यात् कारकविशेषणसहचरिता अपादानादयः कारकशब्देनोच्यन्त इति तद्ग्रहणेनैव तेषां ग्रहणम् । कारकग्रहणं वा स्वरयितव्यम् । तेन स्वरितेनाधिकार (१।४।११) इत्येष विधिर्भवति । तस्मात् कारकग्रहणेनापादानादीनां ग्रहणं भविष्यति ।

## २४ । ध्रुवमपायेऽपादानम् ।

अपायो विश्लेषो विभाग इत्यर्थः । तस्य च द्विष्ठत्वाद् यथा तेन विभागेन योऽपैति सोऽपाययुक्त स्तथा यतोऽपैति सोऽप्यपाययुक्तः । तस्मादुभयत्र पञ्चम्या भवितव्यमित्यतएवाह एवं यदपाययुक्तमिति । अपाये साध्य इति । विषयसप्तमीयम् । अपायस्य साध्यत्वेन विषयभूत इत्यर्थः । यद्यपि ध्रुवशब्दो लोक एकरूपतामाचष्टे ध्रुवमस्य शीलं ध्रुवमस्य रूपमिति तथाप्यपाये साध्ये ऽभिहितया तया न कश्चिदर्थः सम्पद्यत इति नात्र ध्रुवता ऽपायं प्रत्युपयुज्यते । सैवोपादीयते । सा चावधिभाव एव । तस्मादपायशब्दस्य सन्निधौ ध्रुवशब्दः सम्बन्धात् संश्लेषलक्षणात् प्रच्यवमानस्यावधिभावमाचष्टे इत्यत आह अवधिभूतमिति । अतएवापाये साध्येऽवधिभूतं यत् तदिह ध्रुवशब्देनोच्यते । तेन धावतोऽश्वात् पतित इत्येवमादावप्यपादानसंज्ञाश्वादेः सिद्धा भवति । अस्ति ह्यत्रापि सत्यपि चलत्वे ऽश्वादेरप्यपायेऽवधिभावः । अथेह कथमपादानसंज्ञा ? अधर्माज्जुगुप्सते । अधर्माद्विरमति । धर्म्मात् प्रमाद्यतीति । न ह्यत्रापायोऽस्ति । कथम् ? कायसम्प्राप्तिपूर्वको ह्यपायो भवति । नचेह कायसंप्राप्ति रस्तीत्यत आह जुगुप्सेत्यादि । जुगुप्साद्यर्थानां धातूनां प्रयोगेऽपादानसंज्ञाया उपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । अपादानमिति महती संज्ञा क्रियते महाविषयेयं संज्ञेति सूचनार्थम् । एवञ्च महाविषया भवतीयं यदि सूत्रोपात्तात् संज्ञिनोऽन्योऽप्यस्या विषयो भवति । नान्यथा । तेन जुगुप्सादीनां प्रयोगेऽसत्यप्यपायेऽपादानसंज्ञा भविष्यतीति । अथवास्त्येवात्रापायः । नहि कायसंप्राप्तिपूर्वक एवापायो भवतीति । किं तर्हि ? चित्तसंप्राप्तिपूर्वकोऽपि भवति । इह

तावदधर्म्माज्जुगुप्सते ऽधर्माद्विरमतीति य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स एवं पश्यति दुःखहेतुरयमधर्मो नाम। अतो नार्हत्येनं सचेताः कर्त्तुमिति। एवं विचारयंस्तं बुद्ध्या प्राप्नोति। प्राप्य च ततो निवर्त्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येवमपादानमिति संज्ञा सिद्धा भवति। धर्म्मात् प्रमाद्यतीत्यत्रापि यो नास्तिकः पुरुषो भवति स एवं पश्यति। नास्माद्धर्मात् किञ्चिदिष्टं सम्पद्यते। दुःखमेव केवलं तदारम्भनिमित्तकं भवति। स एवं विचारयं स्तं बुद्ध्या प्राप्नोति। प्राप्य च ततो निवर्त्तते। तथाच ध्रुवमपायेऽपादानमित्येवं सिद्धम्। प्रमाद्यतीति। मदी हर्षे। शमामष्टानां दीर्घः श्यनीति (७।३।७४) दीर्घः। अथेह कथमपादानसंज्ञा ग्रामान्नागच्छतीति? कथञ्च न स्यात्? ग्रामस्यापायेनायुक्तत्वात्। यस्यां सत्यामपायो भवति सा प्रतिषिध्यते चापादानसाधनागमनक्रिया। तदसत्यां तस्यां कुतोऽपायः। नैष दोषः। अत्र ह्यपादानसंज्ञायां समुपजातायां पश्चात् प्रतिषेधेन सम्बन्धः क्रियते। अन्यथा हि प्रतिषेधस्य विषयो न दर्शितः स्यात्। तथाह्यपादानसाधनागमनक्रिया प्रतिषेद्धुमिष्टा। तत्र यदि चादावेव निषेधः स्यादपायाभावात् तदसम्बद्धस्य ग्रामस्यापादानसंज्ञा सिद्धा न स्यात्। ततश्च या प्रतिषेध्यापादानसाधनागमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषयभूता सा न शक्यते प्रदर्शयितुम्। न चात्राप्रदर्शितविषये प्रतिषेधः शक्यते वक्तुम्। तस्मात् पूर्वमपादानसंज्ञा भवति। पश्चात् प्रतिषेधेन योग इत्येष क्रमः।

## २५। भीत्रार्थानां भयहेतुः।

भीति भीः। त्राणं त्राः। सम्पदादित्वात् क्विप्। भीश्च त्राश्च भीत्रौ। भीत्रावर्थौ येषां ते भीत्रार्थाः। बिभेत्यर्थानामित्यादि। बिभेतित्रायतिशब्दाविह साहचर्याद् बिभेतित्रायत्यर्थयोर्वर्त्तेते। बिभेतिरर्थो येषां ते बिभेत्यर्थाः। त्रायतिरर्थो येषां ते त्रायत्यर्थाः। बिभेतीति। ञिभी भये। जौहोत्यादिकः। उद्विजत इति। ओविजी भयचलनयोः। तौदादिकोऽनुदात्तेत्। त्रायत इति। त्रैङ् पालने भौवादिकः। अरण्ये बिभेतीति। नात्रारण्याद्भयम्। किं तर्हि। तत्रस्थेभ्यश्चौरादिभ्यः। ननु चात्राधिकरणत्वारण्यस्य

संज्ञा परत्वाद् बाधिका भविष्यति । अपि च ध्रुवमित्यनुवर्त्तते । ध्रुवश्चावधिभूतमित्युक्तम् । न चारण्यमवधिभावेन विवक्षितम् । तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन भयहेतुग्रहणेन ? एवन्तर्हि पूर्वस्यायं प्रपञ्चः । नहि कायसम्प्राप्तिपूर्वक एवापायो भवति । किन्तर्हि ? बुद्धिसंप्राप्तिपूर्वकोऽपि । अस्ति चेह बुद्धिसंप्राप्तिपूर्वकोऽप्यपायः । तथाहि चौरेभ्यो बिभेतीत्यत्र यस्तावत् पुरुषः प्रेक्षावान् भवति स एवं पश्यति । यदि मां चौराः पश्येयुर्ध्रुवं मे मृत्युरिति विचारयं स्तान् बुद्ध्या प्राप्नोति । प्राप्य च ततो निवर्त्तते । तत्र ध्रुवमित्यादिनैव सिद्धम् । तस्मात् पूर्वस्यायं प्रपञ्चः । नच प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते । एवमुत्तरेऽपि योगाः पूर्वस्यैव प्रपञ्चा वेदितव्याः । तदुदाहरणानामध्ययनात् पराजयत इत्येवमादीनां पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । यथाच तेषां सिद्धत्वं तथा भाष्य एव प्रतिपादितम् । तस्मात् तत्रापि गुरुलाघवं न चिन्तनीयम् ।

## २६ । पराजेरसोढः ।

सोढुं न शक्यत इति । अभिभवितुं न शक्यत इत्यर्थः । अध्ययनात् पराजयत इत्यध्ययनमभिभवितुं न शक्नोति न पारयतीत्यर्थः । विपराभ्याञ्जेरित्यात्मनेपदम् (१।३।१९) । शत्रून् पराजयत इत्यभिभवतीत्यर्थः । ननु च परत्वात् कर्मसंज्ञयैवात्र बाधितत्वादपादानसंज्ञा न भविष्यति । तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेनासोढग्रहणेन ? सत्यमेतत् । प्रपञ्चे गुरुलाघवं नहि चिन्त्यते । प्रपञ्चश्चायम् । अस्ति ह्यत्राध्ययनाद् बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः । तथाहि य एष पुरुषो ऽलसो भवति स एवं मन्यते दुःखायैवैतदध्ययनमिति । पश्यन् बुद्ध्या तत् प्राप्नोति । प्राप्य च ततो निवर्त्तते । तस्मात् पूर्वेणैव सिद्धम् ।

## २७ । वारणार्थानामीप्सितः ।

वारणमर्थो येषां ते वारणार्थाः । यवेभ्यो गा वारयतीति । गा इति गवामीप्सिततमत्वेन विवक्षितत्वात् कर्मसंज्ञा । गोशब्दाच्छस् । औतोम् (६।१।९३) शसोरित्यात्त्वम् । रुत्वे कृते भोभगोअघोअपूर्वस्येति (८।३।१७) यत्वम् । हलि

सर्वेषामिति (८।३।२२) यलोपः। वारयतीति। वृञ् आवरणे। चुरादिणिच्। निवर्त्तयतीति। वृतु वर्त्तने। हेतुमण्णिच्। यवेभ्यो गा वारयति क्षेत्रे। अत्र क्षेत्रस्यानीप्सितस्य न भवति संज्ञा। ईप्सितग्रहणात्। ननु चात्र परत्वादधिकरणसंज्ञयैव बाधितत्वादपादानसंज्ञायाः क्षेत्रस्यापादानसंज्ञा न भविष्यतीत्यतो न कर्त्तव्यमीप्सितग्रहणमित्येतन्नाशङ्कनीयम्। उक्तोत्तरत्वात्।

## २८। अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति।

अन्तर्द्धाविति निमित्तसप्तमीयम्। निमित्तात् कर्मसंयोग इति (२।३।३६,वा) सप्तमी यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति। एतदेव ज्ञापकं निमित्तात् कर्मसंयोगेऽस्ति सप्तमीति। अस्ति ह्यत्रादर्शनेन कर्मणा संयोगः। येनेति कर्त्तरि तृतीया। ननु च कर्त्तृकर्मणोः (२।३।६५) कृतीति षष्ठ्या भवितव्यमिति? नैतदस्ति। उभयप्राप्तौ कर्मणीति (२।३।६६) नियमात् कर्मण्येव। न कर्त्तरि। कर्म त्वत्रादर्शनस्यात्मा। तस्यान्तरङ्गत्वात् स एव कर्म विज्ञायते। तत् कारकमिति। यद्यप्यत्र सूत्रे तच्छब्दो नोपात्तस्तथापि स यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाल्लभ्यते। उपाध्यायादन्तर्धत्त इत्यत्रोपाध्यायेन कर्त्रा शिष्य आत्मनः कर्मभूतस्यादर्शनमिच्छति। अन्तर्द्धिनिमित्तम्। अन्तर्धत्त इति। दधातेर्लट्। स्वरितञितेत्यात्मनेपदम् (१।३।७२)। शपः श्लुः। श्लाविति (६।१।१०) द्विर्वचनम्। श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) इत्याकारलोपः। अभ्यासस्य जश्त्वम्। दधस्तथोश्चेति (८।२।३८) दकारस्य धकारः। परस्य धकारस्य खरि चेति (८।४।५५) चर्त्वं तकारः। निलीयत इति। लीङ् श्लेषणे। दैवादिकः। चौरान्न दिदृक्षत इति। अत्र यश्चौरान् न दिदृक्षत इति स तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति। न त्वन्तर्द्धिनिमित्तम्। किन्तूपघातनिवृत्त्यर्थम्। विस्पष्टार्थं चान्तर्द्धिग्रहणम्। परत्वात् कर्मसंज्ञयैव बाधितत्वाच्चौराणामिहापादानसंज्ञा न भविष्यति। प्रपञ्चार्थोऽयं योगः। न च प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यत इत्युक्तम्। दिदृक्षत इति। ज्ञाश्रुस्मृदृशां (१।३।५७) सन इत्यत्र व्युत्पादितम्। अथ येनेति किमर्थम्? उपाध्यायादन्तर्धत्ते शिष्य इति शिष्यस्यान्तर्द्धातुर्मा भूत्। नैतदस्ति। ध्रुवमित्यनुवर्त्तते। ध्रुवश्चावधिभूतमित्युक्तम्। न चान्तर्द्धातावधिभूतः। एवं तर्ह्यसति

येनेत्येतस्मिन् वचने सत्यामपि ध्रुवमित्यस्यानुवृत्तौ सूत्रस्यावाचकत्वं स्यात् । अतस्तन्मा भूदिति येनेत्युक्तम् ।

२९ । आख्यातोपयोगे ।

नियमपूर्वकं विद्याग्रहणमिति । विद्याग्रहणार्थं शिष्य(B)प्रवृत्तिर्नियमः । स पूर्वो यस्य तत् तथोक्तम् । शेषाद्विभाषेति (५।४।१५४) कप् । नटस्य गाथां शृणोतीति । सम्बन्धलक्षणा षष्ठी । नियमपूर्वकमिह विद्याग्रहणं नास्ति ।

३० । जनिकर्त्तुः प्रकृतिः ।

जनिशब्दोऽत्र साहचर्य्याज्जन्यर्थे वर्त्तते । अतएवाह जन्यर्थस्येति जन्मन इति । एतेन जन्यर्थं दर्शयति । तथाहि जनी प्रादुर्भाव इति पठ्यते । प्रादुर्भावो जन्म एव । कः पुनस्तस्य कर्त्तेत्यत आह जायमान इति । ज्ञाजनोर्जा इति (७।३।७१) जादेशः । अथ प्रकृतिग्रहणं किमर्थम् ? यावता ध्रुव मित्यनुवर्त्तते । ध्रुवञ्चावधिभूतमित्युक्तम् । जनिकर्त्तुश्चावधिः कारणमेव भवति । तत्रान्तरेणापि प्रकृतिग्रहणं प्रकृतेरेव भविष्यति । नैतदस्ति । पुत्रात् प्रमोदो जायत इत्यादौ पुत्रादेरप्यपादानसंज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थं प्रकृतिग्रहणम् । द्विविधं हि कारणम् । उपादानकारणं सहकारिकारणञ्च । तत्र यत् कार्य्येणाभिन्नदेशं तदुपादानकारणम् । यथा घटस्य मृत्पिण्डः । सहकारिकारणं यत् कार्य्येण भिन्नदेशम् । यथा तस्यैव दण्डचक्रादि । तत्रासति प्रकृतिग्रहणे प्रत्यासत्तेरुपादानकारणस्यैव स्यात् । नेतरस्य । प्रकृतिग्रहणे तु सति सर्वस्यैव कारणमात्रस्य भवति ।

३१ । भुवः प्रभवः ।

भवनं भूरिति सम्पदादित्वात् क्विप् । प्रभवत्यस्मादिति प्रभव इत्यपादान ऋदोरबित्यप् (३।३।५७) । ननु च हिमवतो गङ्गा प्रभवतीत्येतत् पूर्वेणैव सिद्धम् । तथा ह्यय मत्रार्थो हिमवतो गङ्गा जायत इति । तत् किमर्थमिद मारभ्यत इत्याह प्रथमत उपलभ्यत इति । एष चार्थोऽनेकार्थत्वाद्धातूनां वेदितव्यः ।

---

शिष्यवृत्तिरिति क्वचित् पाठान्तरम् ।

जन्यर्थस्वत्र न सम्भवत्येव। नहि हिमवान् गङ्गायाः कारणम्। सा ह्यन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पन्ना। हिमवति तु केवलं प्रथमत उपलभ्यत इति।

## ३२। कर्म्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्।

कर्मणा करणभूतेनेति। ननु च कथं कर्म्म करणं भवति? क्रियाभेदसम्बन्धात्। तथाहि ददातिक्रिययाऽऽप्तुमिष्टतमत्वात् तस्याः कर्मत्वम्। अभिप्रायणक्रियां प्रति तस्य साधकतमत्वात् करणत्वम्। अभिप्रैतीति। अभिसम्बध्नातीत्यर्थः। यदि कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञो भवत्येवमजां नयति ग्राममित्यजादिभिर्नयनक्रियाकर्मभिः सम्बध्यमानस्य ग्रामस्य सम्प्रदानसंज्ञा प्रसज्येतेत्यत आह अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानादित्यादि। सम्प्रदानमिति महत्याः संज्ञायाः करणस्यैतत् प्रयोजन मन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत सम्यक् प्रकर्षेण दीयते यस्मै तत् सम्प्रदानमिति। तेन ददातेः कर्मणा यमभिप्रैति तत् सम्प्रदानमिति विज्ञायते। नन्वेवमपि रजकस्य वस्त्रं ददाति घ्नतः पृष्ठं ददातीत्यत्र प्राप्नोति। नैतदस्ति। दानं हि नाम पूजानुग्रहकाम्यया स्वकीयद्रव्यपरित्यागः परस्वत्वापत्तिः। तच्चेह नास्ति। अतो न भविष्यति। कर्मणेति किमर्थम्? यमभिप्रैति स सम्प्रदान मित्युच्यमाने यमभिप्रैति तस्य कर्म्मण एव सम्प्रदानसंज्ञा स्यात्। कर्मसंज्ञायास्तु ददातिकर्मणोऽन्यत्रावकाशः स्यादोदनं पचतीति। यंसग्रहणं किमर्थम्? कर्मणाभिप्रैति संप्रदानमित्युच्यमाने योऽभिप्रैति तस्य संप्रदानसंज्ञा स्यात्। ततश्च कर्त्तुः संप्रदानसंज्ञा स्यात्। कर्त्तृसंज्ञायास्तु यत्र कर्मसम्बन्धो नास्ति सोऽवकाशः स्यादास्ते शेत इति। अथाभिप्रग्रहणं किमर्थम्? कर्मणा यमेति स सम्प्रदानमित्युच्यमाने कालविशेषविवक्षा स्यात्। वर्त्तमान एव स्यात्। ततश्चोपाध्यायाय गामदादुपाध्यायाय गां दास्यतीत्यत्र न स्यात्। अभिप्रग्रहणे तु सति भवति। अभिराभिमुख्ये वर्त्तते। तच्चाप्यतीतेऽप्यस्ति। प्रशब्द आदिकर्म्मणि प्रारम्भे। स चासन्निहितायां भाविन्यामपि क्रियायां सम्भवतीति सर्वत्र संज्ञा सिद्धा भवति। नैतदभिग्रहणस्य प्रयोजनमुपपद्यते। यथैव कर्मणीत्यत्रैकत्वसंख्याया विवक्षा न भवति यथाच यं स इत्यत्र लिङ्ग-

संख्ययोर्विवक्षा न भवति तथा कालस्यापि न भविष्यति । किं कारणम् ? उपलक्षणार्थत्वात् । यथा सोऽर्थो योऽनर्थं बाधत इत्युक्ते योऽपि बाधितवान् योऽपि बाधिष्यति सोऽप्यर्थ एव । एवन्तर्हि ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यं यथा स्यादित्येवमर्थमभिप्रग्रहणम् । एतेन क्रिययापि यमभिप्रैति तस्यापि सम्प्रदानसंज्ञा सिद्धा भवति । अन्यथा हि यद्यपि क्रिया प्रार्थनाध्यवसानाभ्यां व्याप्तुमिष्टतमत्वात् कर्म्म तथापि ददातिकर्म्मसम्बन्धाभावान्न सिद्ध्येत् । कथं पुनरेतदवसितं क्रियया यमभिप्रैति स सम्प्रदानमित्ययमर्थोऽत्र प्रतिपादयितुमिष्टतम इति ? अभिप्रग्रहणात् । अस्ति ह्यत्राचार्य्यस्य कश्चिदर्थोऽधिकोऽभिमतो यस्यावभासनायाधिकं शब्दान्तरं प्रयुक्तमिति गम्यते । नन्वर्थविशेषः । नहि तत् तस्य वाचकम् । यद्यप्यवाचकं स्यात् तथापि लक्ष्यदर्शनवशादविच्छिन्नाचार्य्यपारम्पर्य्योपदेशाच्च विशेषावगतिर्भविष्यतीत्यदोषमेतत् । क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यमिति । क्रियाया ग्रहणं क्रियाग्रहणम् । येन क्रिया गृह्यते । तद्व्याख्यानं कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तद्व्याख्यानम् ? तच्चास्माभिरभिप्रग्रहणस्य प्रयोजनं वर्णयद्भिः कृतमेव । का पुनरिह क्रिया ययाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानसंज्ञेष्यते ? सा विवक्षिता । अत आह क्रियया यमभिप्रैतीत्यादि । निगृह्णते इति । गर्ह गह्व कुत्सायामनुदात्तेत् । युद्धाय सन्नह्यत इति । नह बन्धने दिवादौ स्वरितेत् । स चेह निश्चये वर्त्तते । युद्धे निश्चयं करोतीत्यर्थः । पत्ये शेत इति । शीङत्रोपसर्पणपूर्वके शयने वर्त्तते । पतिमुपसृप्य (C) शेत इत्यर्थः । कर्मणः करणसंज्ञेत्यादि । एतत् पशुना रुद्रं यजत इत्येतद्विषयमेव वेदितव्यम् । यजिः स्वरितेत् । एतच्च व्यत्ययो (३।१।८५) बहुलमिति सुब्व्यत्ययेन सिद्धमेवेति न वक्तव्यम् ।

## ३३ । रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।

रुचिना समानार्था रुच्यर्था इति । रुच्यर्थानामित्यस्मादेव निपातनात् मयूरव्यंसकादित्वात् मध्यपदलोपी समासः । समानार्था इति । एकार्था

---

(C) शयनेन पतिमभिप्रैति । पतिमाभिमुख्येनारभ्य शेत इति पुनापुस्तके पाठः ।

इत्यर्थः। यद्यपि रुचिर्दीप्तौ पठ्यते तथापीच्छाभिलाषे वर्त्तते। अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। तत्रैव प्रीयमाणार्थस्य सम्भवात्। यस्य ह्यभिलाषः स प्रीयमाणः। यस्त्वभिलषति स प्रीणाति। प्रीयमाण इति तृप्यमाण इत्यर्थः। प्रीञ् तर्पण इत्येतस्मात् कर्मणि विहितस्य लस्य शानच्। अन्यकर्त्तृक इत्यादिना तमभिलाषविशेषं दर्शयन् रुचिशब्दस्यार्थमाचष्टे। प्रीयमाणापेक्षया ऽन्योऽर्थो वेदितव्यः। प्रीयमाणादन्यः कर्त्ता यस्य सोऽन्यकर्त्तृकः। रोचते स्वदत इति। रुच दीप्तौ। स्वद आस्वादने। अनुदात्तेतौ। देवदत्तस्येत्यादिना ऽन्यकर्त्तृकतामभिलाषस्य दर्शयति। देवदत्ताय रोचते मोदकः पथीति। प्रीयमाणग्रहणादिहाधिकरणस्य पथः सम्प्रदानसंज्ञा न भवति। अथ देवदत्तो मोदकमभिलषतीत्यत्र देवदत्तस्य सम्प्रदानसंज्ञा कस्मान्न भवति? रुच्यर्थाभावात्। अन्यकर्त्तृको ह्यभिलाषो रुचिरित्युक्तम्। न चेहान्यकर्त्तृकोऽभिलाषः। किं तर्हि? प्रीयमाणो देवदत्तो यस्तस्योऽभिलाषस्तत्कर्त्तृकः।

## ३४। श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः।

ज्ञीप्स्यमान इति। मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा इति घटादिषु पठ्यते। तस्मान् निशामने ज्ञाने वर्त्तमानाद् हेतुमण्णिच्। अथवा ज्ञप मिच्चेति चुरादौ पठ्यते। तस्माच्चुरादिणिच्। मित्त्वाद् ह्रस्वत्वम्। सन्। द्विर्वचनम्। आप्ज्ञप्यृधामिदितीत्वम् (७।४।५५)। अत्र (७।४।५८) लोपोऽभ्यासस्येत्यभ्यासलोपः। कर्मणि लकारः। शानच्। यक्। अतो (६।४.४८) लोपः। श्लाघत इति। श्लाघृ कत्थने ऽनुदात्तेत्। अपह्नुत इति। ह्नुङ् अपनये। अदादिकः। तिष्ठत इति। प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चेति (१।३।२७) तङ्। शपत इति। शप उपलम्भन (१।३।२१, वा) इत्यनेनोपसंख्यानेन तङ्।

## ३५। धारेरुत्तमर्णः।

उत्तमर्ण इति। ऋणे उत्तम उत्तमर्णः। अतएव निपातनात् समासः। सप्तमीसमासे ऋणस्य पूर्वनिपातात्। ननु चोत्तमर्णे ऋणशब्देन न भवितव्यम्। ऋणमाधमर्ण्ये (८.२।६०) इत्याधमर्ण्ये तस्य निपातनात्। नैतदस्ति।

कालान्तरे देयनियमोपलक्षणार्थं हि तत्राधमर्णग्रहणम् । अत उत्तमर्णेऽपि भवत्येव । शतं धारयतीति । धृङ् अवस्थाने । शतं ध्रियते स्वरूपेणावतिष्ठते । स्वभावान्न प्रच्यवते । तदन्यः प्रयुङ्क्त इति हेतुमति (३।१।२६) चेति णिच् । ग्राम इति ग्रामस्याधिकरणस्यानुत्तमर्णस्य न भवति ।

३६ । स्पृहेरीप्सितः ।

स्पृहयतीति । अतो (६।४।४८) लोपस्याचः परस्मिन् (१।१।५७) पूर्वविधाविति स्थानिवद्भावाद् गुणो न भवति । यदा तु पुष्पादीनामीप्सिततमत्वं विवक्ष्यते तदा परत्वात् कर्मसंज्ञैव भवति । पुष्पाणि स्पृहयतीति ।

३७ । क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ।

क्रुधद्रुहावकर्म्मकौ । तत्र षष्ठ्यां प्राप्तायामयमारम्भः । इतरौ सकर्म्मकौ । तत्र द्वितीयायां प्राप्तायाम् । कथं पुनरेषां भिन्नार्थत्वे सति यं प्रति कोप इति सामान्येन तद्विशेषणमुपपद्यत इत्याह । क्रोधस्तावदित्यादि । सुगमम् । क्रुध्यति द्रुह्यतीति । क्रुध कोपे । द्रुह जिघांसायाम् । दैवादिकौ । ईर्ष्यतीति । ईर्क्ष्य ईर्ष्य ईर्ष्यार्थाः । असूयतीति । असूयशब्दः कण्ड्वादियगन्तः । भार्य्यामीर्ष्यतीति । अस्ति भार्य्यायामीर्ष्या । न तु तां प्रति कोपः । केवलं परैर्दृश्यमानां तां न क्षमते । अथास्मान् द्वेष्टीत्यत्र कथं न भवति सम्प्रदान-संज्ञा ? द्विषेरक्रोधाद्यर्थत्वात् । अप्रीतौ ह्येनं स्मरन्ति । तथाचाचेतनेष्वपि प्रयुज्यते । औषधं द्वेष्टीति । नाभिनन्दतीति गम्यते ।

३८ । क्रुधद्रुहो रुपसृष्टयोः कर्म ।

३९ । राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ।

राध्यतीति । राध साध संसिद्धौ । दैवादिकः । दैवमिति शुभाशुभं कर्म । यस्येति ग्रहणं विस्पष्टार्थम् । तथाहि यं प्रतीत्यनुवर्त्तते । तत्र यं प्रति विप्रश्न इत्येवमभिसम्बन्धे क्रियमाणे यस्येत्यस्यार्थोऽप्रयुज्यमानस्यापि गम्यत एव ।

## ४० । प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ।

परेणेत्यादि । अन्येन केनचिदिदं मे क्रियतामिति प्रयुक्तो व्यापारितः सन् प्रतिजानीते । अतः प्रतिज्ञातुरन्येन प्रयुक्तस्याभ्युपगमो भवति । प्रयोक्तेति व्यापारयिता । सूत्रे पूर्वस्येत्यर्थापेक्षया पुंलिङ्गेन निर्देशः । स त्वर्थो विचार्य्यमाणः क्रियैव भवति । यस्मात् कर्त्तेति क्रियाया एव भवति नान्यस्यार्थस्येतराह पूर्वस्याः क्रियाया इति । यश्चासौ पूर्वस्याः क्रियायाः कर्त्ता भवति स प्रतिज्ञातुः प्रयोजको भवतीति हेतुसंज्ञायां प्राप्तायामिदं वचनम् । देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति । अत्र पूर्वस्या याचनक्रियाया देवदत्तः कर्त्ता । देवदत्तेन हि मह्यं गां देहीति याचितः स यदा ददामीति प्रतिजानीते तदेवं प्रयुज्यते देवदत्ताय गां प्रतिशृणोतीति । पूर्वस्य कर्त्तेति किम् ? विना तेन गवादेरभ्युपेयमानस्य कर्मण एव स्यात् । ननु च परत्वात् कर्म्मसंज्ञा तस्य बाधिका भविष्यति । नैतदस्ति । नाप्राप्ते हि संज्ञान्तर इदमारभ्यत इति । इहापि च देवदत्ताय गामाशृणोतीति देवदत्तस्य हेतुसंज्ञा प्राप्नोति । तत्र पूर्वस्य कर्त्तेत्यस्मिन्नसति यथा देवदत्तस्य हेतुसंज्ञां बाधते तथा कर्मसंज्ञामपि बाधेत । अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति कर्मसंज्ञामेव बाधेत । पूर्वस्य कर्त्तेत्यस्मिंस्तु सति हेतुसंज्ञामेव बाधते । न कर्मसंज्ञाम् ।

## ४१ । अनुप्रतिगृणश्च ।

अनुप्रतिगृण इति श्नाप्रत्ययेन निर्देशात् क्र्यादिपठितस्य गॄ शब्द इत्यस्य ग्रहणम् । न गॄ निगरण इत्यस्य तौदादिकस्य । होता प्रथमं शंसतीति । एतेन स्तुतिक्रियायाः पूर्वस्या होता कर्त्तेति दर्शयति । प्रोत्साहयतीत्यनेनानुगृणातिप्रतिगृणातिशब्दयोरर्थमाचष्टे । कथं पुनर्ज्ञायते ऽनुपूर्वः प्रतिपूर्वश्च शंसितुर्गृणातिः प्रोत्साहने वर्त्तत इत्याह अनुगरः प्रतिगर इति । अनुगीर्य्यते होता प्रथमं प्रशस्यते येन शब्देन सोऽयमनुगरः । एवं प्रतिगीर्य्यते येन स प्रतिगरः । पूर्वस्य कर्त्तेत्येव । होत्रेऽनुगृणाति सदसीत्यधिकरणस्य मा भूत् ।

## ४२ । साधकतमं करणम् ।

ननु च सामग्र्यधीना हि क्रियासिद्धि रेकस्याप्यभावेन न भवति। तत् कस्मात्र प्रकर्षो यत्परिग्रहाय साधकतमशब्दस्य ग्रहणमिति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह क्रियासिद्धावित्यादि। प्रकृष्टमत्यन्तमुपकारकम्। अथवा प्रकर्षः प्रकृष्टम्। नपुंसके भावे (३।३।११४) क्तः। प्रकृष्टेन प्रकर्षेणोपकारकं प्रकृष्टोपकारकम्। यत् क्रियासिद्धिविषये प्रकर्षेणोपकारकं विवक्षितं तत् साधकतमम्। विवक्षितग्रहणं यदा प्रकृष्टोपकारकत्वेन विवक्ष्यते तदा साधकतमव्यवहारो विज्ञायते ,नान्यदेति ज्ञापनार्थम्। तथाहि विवक्षावशाद् यदेव कदाचित् करणम्भवति धनुषा विध्यतीति तदेव कदाचित् स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वमनुभवति धनु र्विध्यतीति। लुनातीति प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)। तमब् ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोष इति। यदि तमब्ग्रहणं न क्रियेत ततोऽत्राधिकरणसंज्ञा न स्यात्। इह हि द्विविध आधारः। गौणो मुख्यश्च। तत्र मुख्यो य आधेयेन व्याप्यते यथा तिलेषु तैलमस्ति। अत्र तैलेनाधेयेनाधारभूता स्तिला व्याप्ताः। अव्याप्तो गौणो यथा गङ्गायां घोष इति। अत्र हि सामीप्याद् गङ्गाया आधारत्व मुपचरितम्। न मुख्यम्। व्याप्त्यभावात्। तत्रासति तमब्ग्रहणे गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसंप्रत्यय इति मुख्यस्यैवाधिकरणसंज्ञा स्यात्। नेतरस्य। तमब्ग्रहणात् तस्यापि भवति। तथापीह तमब्ग्रहणं न कर्त्तव्यम्। कथम् ? विनापि तेन प्रकर्षावगतेः। यथैव ह्यनभिरूपाय कन्यादानस्य प्रवृत्ति र्नास्तीत्यभिरूपाय कन्या देयेत्युक्ते विनापि प्रकर्ष प्रत्ययेनाभिरूपतमायेति गम्यते तथेहापि कारकाधिकारादसाधके संज्ञायाः प्रवृत्तिर्नास्तीति साधकं करणमित्युक्ते ऽन्तरेणापि तमब्ग्रहणं साधकतममिति गम्यते। तत् किं तमब्ग्रहणेन ? तदेतत् तमब्ग्रहणं ज्ञापनार्थं कृतम्। एतदनेन ज्ञाप्यत इह कारकाधिकार इतः सूत्रादन्यत्र विना तमब्ग्रहणेन प्रकर्षो नाश्रीयत इति। तेनाधारोऽधिकरण मित्यनेन गङ्गायां घोष इत्यादावमुख्यस्यापि गङ्गादेराधारस्याधिकरणसंज्ञा सिद्धा भवति

## ४३ । दिवः कर्म्म च ।

दीव्यतीति। हलि (८।२।७७) चेति दीर्घः।

## ४४। परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम्।

परिक्रीतिः परिक्रयणम्। नियतकालमिति। नात्यन्तिकम्। वेतनादिनेति। आदिशब्देन बन्धकादीनां ग्रहणम्। नात्यन्तिकः क्रय एवेति नियतकालत्वं स्पष्टीकरोति। परिशब्दोऽत्र प्रत्यासत्तिं द्योतयति। क्रयो हि नामात्यन्तिकः। वेतनादिना केवलं यत्तु नियतकालं तदात्यन्तिकस्य क्रयस्य समीपमिति परिशब्देनाख्यायते।

## ४५। आधारोऽधिकरणम्।

आध्रियन्ते क्रियागुणा अस्मिन्नित्याधार इति। अध्यायन्यायोद्यावेत्यादिना-(३।३।१२२) ऽधारशब्दोऽधिकरणे घञन्तो व्युत्पादितः। क्रियापेक्षत्वात् कारकस्येति क्रियाग्रहणम्। यद्याध्रियन्ते क्रिया यस्मिन् स आधार इत्येवं हि सति कर्त्तृकर्मणो रेवाधिकरणसंज्ञा प्रसज्येत। तयोरेव हि क्रिया आध्रियन्ते। तथाहि कर्त्तृस्था वा क्रिया भवति कर्मस्था वा। अनवकाशत्वात् कर्त्तृकर्मणोः संज्ञा न भविष्यत्येष दोषप्रसङ्ग इति। एतच्चानुत्तरम्। सत्यपि ह्यनवकाशत्वे तयोः पर्य्यायः स्यात्। एकदाधिकरणसंज्ञा। अन्यदा कर्मसंज्ञा कर्त्तृसंज्ञेति यश्चोदयेत् तं प्रत्याह कर्त्तृकर्मणोरित्यादि। एतेन यादृशस्याधारस्याधिकरणसंज्ञया भवितव्यं तन्दर्शयति। प्रतिराभिमुख्ये। क्रियां प्रति य आधार इति। क्रियाया अभिमुखो य आधार इत्यर्थः। यश्च क्रियां धारयति स क्रियाया अभिमुखो भवति। क्रियायास्तु धारणं साक्षाद्व्यवधानेन वा। कर्त्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोर्धारणात्। तत्र पूर्वस्य व्यवच्छेदार्थं कर्त्तृकर्मणोरित्युक्तम्। तदेतदुक्तं भवति। कर्त्तृकर्मणोः क्रियाधारभूतयोर्धारणात् क्रियाया अभिमुखो य आधारस्तस्याधिकरणसंज्ञा भवतीति। तदेवं क्रियाधारभूतकर्त्तृकर्मधारणद्वारेण क्रियाया अभिमुखो य आधारस्तस्याधिकरणसंज्ञा यतोऽनेन विधीयते ततो न भवति पूर्वस्य दोषस्य प्रसङ्गः। नहि कर्त्तृकर्मणोरनेन प्रकारेण क्रियां प्रत्याधारत्वम्। अपितु साक्षादेव क्रियाधारणात्। नन्वेवमपि कर्त्तृकर्मणोर्मुख्यं क्रियाधारत्वं साक्षादेव क्रियाधारणात्। कर्त्तृकर्माधारस्य तु कटादेर्गौणत्वं क्रियाश्रयभूतकर्त्तृकर्मधारणद्वारेण क्रियाधारणात्। तत्र मुख्य

आधारे सति गौणस्याधिकरणसंज्ञा न प्राप्नोतीति स दोष स्तदवस्थ एव। नैतदस्ति। तमब्ग्रहणेन ज्ञापित मेतत्। गौणस्याप्याधारस्याधिकरणसंज्ञा भवतीति। भवतु गौणस्याधिकरणसंज्ञा। मुख्यस्यापि कर्त्तुः कर्मणश्च कस्मान्न भवतीति चेत्? न। परत्वादनवकाशत्वाच्च कर्त्तृकर्म्मसंज्ञाभ्यां बाध्यमानत्वात्। अधिकरणसंज्ञा हि पूर्वा गौण आधारे सावकाशा। तद्विपरीते तु कर्त्तृकर्मसंज्ञे इति ताभ्यां बाध्यमाना नोत्सहते तयोर्विषय मवगाहितुम्। कट आस्त इति। कर्त्तृस्था क्रिया यत्र पूर्वेण प्रकारेणाभ्रियते तस्योदाहरण मासनक्रियायाः कर्त्तृस्थत्वात्। स्थाल्यां पचतीति। कर्मस्था क्रिया यत्राभ्रियते तस्योदाहरणं विक्लेदनक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। तत् पुनरधिकरणं त्रिप्रकारम्। औपश्लेषिकं वैषयिकमभिव्यापकञ्च। तत्राद्ये कट आस्ते स्थाल्याम्पचतीति कटादे रप्याधारस्य ह्याधेयेन सहोपश्लेषः संयोगलक्षणोऽस्तीत्यौपश्लेषिकं तद् भवति। वैषयिकं गुरौ वसति गङ्गायां घोष इति। प्रतिवसतीति। विषयो ह्यनन्यत्रभावः। यथा चक्षुष्प्रभृतीनां रूपादिभ्योऽनन्यत्रभावाच् चक्षुरादीनां रूपादयो विषया इत्युच्यन्त एवं शिष्यादीनां गुर्वादिभ्योऽनन्यत्रभावादेषां ते विषया इति। ननु चाधारोऽधिकरण मित्युक्तम्। आधारश्च को भवति? य आश्रयः। आश्रयः संयोगतः समवायतो वा भवति। न च शिष्यादीनां गुरुप्रभृतिभिः सह संयोगः समवायो वाऽस्ति। तदयुक्तं तेषामधिकरणत्वम्। नैतदस्ति। यदायत्ता हि यस्य स्थितिः स विनापि संयोगसमवायाभ्यां तस्याश्रयो भवति यथा राजायत्तस्थितित्वात् पुरुषस्य राजेति। न च राज्ञा सह पुरुषस्य संयोगसमवायौ स्तः। तथाहि तदधीनस्थितित्वाद् राजाश्रयः पुरुष इति लोके व्यपदिश्यते। तथा शिष्यादीनां गुर्वाद्यायत्ता स्थितिरिति युक्तास्तान् प्रति गुरुप्रभृतीनामाश्रयभावः। अभिव्यापकं यथा तिलेषु तैलं दध्नि सर्पिरिति। तिलादिकं तैलादिकमाधेयं व्याप्यावतिष्ठत इति तिलादिकमभिव्यापकमधिकरणम्। यद्यप्यत्र तिलादीनां तैलादिभिः सह संयोगोऽस्ति तथापि देशविभागाभावादत्र संश्लेषव्यवहारो नास्तीत्यौपश्लेषिकात् तत् पृथगेवापस्थाप्यते।

## ४६ । अधिशीङ्स्थासां कर्म ।

अध्यास्तइति । आस उपवेशने । अदादिरनुदात्तेत् ।

## ४७ । अभिनिविशश्च ।

## ४८ । उपान्वध्याङ्वसः ।

लुग्विकरणालुग्विकरणपरिभाषया वस निवास इत्यस्य भौवादिकस्य ग्रहणम् । न वस आच्छादन इत्यस्यादादिकस्य । वसेरश्यर्थस्येत्यादि । उपोष्य रजनीमेकामिति त्रिरात्रमुपवसतीत्यत्र च कालाध्वनोरिति (२।३।५) द्वितीया । अथवा कालभावाध्वगन्तव्येति (१।४।५, वा) कर्मत्वे । अत्रार्थशब्दो निवृत्तिवचन इति भोजननिवृत्तिवाचिन इत्यर्थः । वक्तव्यमिति व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । इहाप्यन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेन वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो भविष्यति ।

## ४९ । कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म ।

कर्त्तुः क्रिययेति । एतेन कर्त्तुरिति नेप्सिततमापेक्षया क्तस्य च (२।३।६७) वर्त्तमान इत्यनेनेयं षष्ठी । अपितु क्रियापेक्षया शेषलक्षणैवेति दर्शयति । ननु च नेह क्रियोपात्ता । तत् कथं तदपेक्षया षष्ठी प्रयुज्यते ? यद्यपि नोपात्ता तथापि कर्त्तुः क्रियापेक्षत्वात् कर्त्तृशब्दोऽयं सम्बन्धिशब्द इति कर्त्तृसम्बन्धिनीं क्रियामुपस्थापयतीत्यदोषः । ईप्सितशब्दो ह्यस्ति रूढ़िशब्द ईप्सितोऽभिप्रेत इति । अस्ति च क्रियाशब्द आप्तुमिष्ट ईप्सित इति । तत्रेह क्रियाशब्दो गृह्यते । नेतरः । नहि रूढ़िशब्दस्य क्रियया कर्त्तृसाध्यया सम्बन्ध उपपद्यते । ईप्सित इति । आप्लृ व्याप्तौ । सन् । द्विर्वचनम् । आप् ज्ञप्यृधामीदितीत्त्वम् (७.४।५५) । इति । आप्लृ व्याप्तौ । सन् । द्विर्वचनम् । आप् ज्ञप्यृधामीदितीत्त्वम् (७.४।५५) । अत्र (७।४।५८) लोपोऽभ्यासस्येत्यभ्यासलोपः । ईप्स इति स्थिते क्तप्रत्यये कृते इटि चातो लोप (६।४।४८) इत्यकारलोपे चेप्सितशब्दः सम्पद्यते । तेनार्थद्वयमिहोपात्तम् । प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थश्च । तत्राप्तुमित्यनेन प्रकृत्यर्थं दर्शयति । इष्टतममित्यनेन प्रत्ययार्थम् । कर्मण इति । अश्वस्य । तस्य बन्धनक्रियया

आप्तुमिष्टतमत्वात् कर्मत्वम्। स हि भक्षणक्रियया माषानाप्तुमिच्छति। पयसौदनं भुङ्क्ते इति। असति हि तमब्ग्रहणे पयसोऽपि स्यात्। तदपि कर्त्तुर्भुजिक्रियया व्याप्तुमिष्टम्भवति। तमब्ग्रहणे तु सति न भवत्यतिप्रसङ्गः। प्राधान्यादोदनस्यैवेप्सिततमत्वात्। प्राधान्यं त्वोदनस्य संस्कार्य्यत्वात्। पयसस्त्वप्राधान्यं संस्कारकत्वात्। कर्मइत्यनुवर्त्तमान इति। अधिशीङ्स्थासां कर्मेत्यतः (१।४।४६)। पुनरित्यादि। पूर्वं कर्मग्रहण माधारेण सम्बद्धम्। अतस्तदनुवृत्तौ तस्यानुवृत्तिः स्यादत आधारनिवृत्त्यर्थं पुनः कर्मग्रहणं क्रियते। यदि पुन राधारोऽनुवर्त्तते ततः किं स्यादित्यत्राह आधारस्यैव हि स्यादिति। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मादाधारस्यानुवृत्तौ तस्यैव स्यात् तस्मात् तन्निवृत्त्यर्थं पुनः कर्मग्रहणमिति सम्बन्धः। क्व पुनराधारस्यैव स्यादित्याह गेहमित्यादि। आधारानुवृत्तौ तु यत्र न भवति तद्दर्शयितुमाह ओदनं पचतीत्यादि। आदिशब्देनौदनं भुङ्क्ते इत्येवमादे र्ग्रहणम्। अथ नदी कूलं कर्षतीत्यादौ कथं कर्मसंज्ञा? कथञ्च नस्यात्? नद्यादेरचेतनत्वात्। अचेतनानामीप्साया असम्भवात्। नैतदस्ति। अत्र नदीति पदान्तरसम्बन्धादीप्साया अभावोऽचेतनस्यापि भावः प्रतीयते। नच पदसंस्कारे पदान्तरसम्बन्धगम्योऽर्थ उपयुज्यते। तेन कूलं कर्षतीत्यादाविच्छामात्रमाश्रिता व्याप्तिः। कर्म च संस्क्रियते। यद्यपि पश्चान्नद्या सह सम्बन्धादचेतनत्वमिच्छाया अभावश्च प्रतीयते तथापि च तद्बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गसंज्ञाकार्य्यं न शक्नोति निवर्त्तयितुम्। अनेनैव न्यायेन यत्र व्याप्तिर्नास्तीच्छामात्रञ्च केवलं तत्रापि कर्मसंज्ञा भवति यथा ग्रामं गन्तुमिच्छामि नच मे गमनशक्तिरस्तीति। तच्च कर्म त्रिविधम्। निर्व्वर्त्त्यं विकार्य्यं प्राप्यञ्च। तत्र निर्वर्त्त्यं यदसदेवोत्पाद्यते। यस्य जन्म क्रियते तन्निर्वर्त्त्यम्। यथा कटं करोति। कटो ह्यसन्नेव क्रियते। विकार्य्यं यल्लब्धसत्ताकमवस्थान्तरमापाद्यते यथा काष्ठानि भस्मीकरोति। नात्र काष्ठान्यसन्त्येव जन्यन्ते कारणान्तरेभ्यः प्रागेवोत्पन्नत्वात्। उत्पन्नानि तु केवलं भस्माख्यामवस्थामापाद्यन्ते। प्राप्यं यत्र व्याप्तिव्यतिरेकेण क्रियाकृता विशेषा न विभाव्यन्ते यथाऽदित्यं पश्यतीति। नहि दृशिक्रियया व्याप्यमानस्य सवितुः प्राप्तेरन्यः क्रियाकृतविशेष उपलभ्यत इति प्राप्यमेतत् कर्म।

## ५० । तथा युक्तञ्चानीप्सितम् ।

चकारोऽवधारणे । अतएव वृत्तावाह तेनैवेति । अनीप्सितमिति यद्यप्ययं प्रसज्यप्रतिषेधः स्यात् तदा ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पतीत्यादौ वृक्षमूलादीनां कर्म्मसंज्ञा न स्यात् । तथाहि प्रसज्यप्रतिषेधे सत्यनेन योगेनानीप्सितस्यैव कर्मसंज्ञा विधीयते । वृक्षमूलानि च न तावदीप्सितानि । पूर्व मनभिसन्धाय प्रवृत्तेः । नाप्यनीप्सितानि । अप्रतिकूलत्वात् । ततश्चानीप्सितस्य कर्मसंज्ञा विधीयमाना तेषामीप्सितादन्यत्वेनानीप्सितानान्न स्यात् । पर्य्युदासे तु सत्यनेन योगेनेप्सितादन्यस्य कर्मसंज्ञा विधीयते । भवन्ति च यथोक्तप्रकाराणि वृक्षमूलानीप्सितादन्यानि । अतस्तेषामपि कर्मसंज्ञा सिध्यतीत्येतदालोच्य पर्य्युदासोऽयमिति दर्शयितु माह ईप्सितादन्यदित्यादि । किं पुनस्तदित्यादि । द्वेष्यमित्यादि । द्वेष्यं प्रतिकूलं यथा विषचौरादि । इतरदप्रतिकूलं यथोक्तप्रकाराणि वृक्षमूलानि । भक्षयतीति । भक्ष अदने । चौरादिकः ।

## ५१ । अकथितञ्च ।

अपादानादिभिर्विशेषकथाभिरिति । कारकसामान्यकथाया व्यवच्छेदार्थमेतत् । यदि हि केनाप्यकथितस्य कर्मसंज्ञा स्यात् तदा माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छतीत्यत्राकारकस्यापि माणवकस्य कर्मसंज्ञा स्यात् । परिगणनमिति । अन्यधातुव्यवच्छेदार्थमेतत् । तेन दुह प्रपूरणे इत्येवमादीनामेव धातूनां प्रयोगेऽकथितस्य कर्मसंज्ञा विधीयते । नान्येषाम् । उपयुज्यत इत्युपयोग इति कर्मसाधनो घञन्तः । उपयुज्यत इति । इष्टार्थसिद्धौ व्यापार्य्यत इत्यर्थः । पयःप्रभृतीति । प्रभृतिशब्देन भिक्षादीनां ग्रहणम् । तस्योपयुक्तस्य निमित्तं गवादीति । अत्राप्यादिशब्देन पौरवादे र्ग्रहणम् । तस्योपयुज्यमानपयःप्रभृतिनिमित्तस्येति । उपयुज्यमानञ्च तत् पयःप्रभृति चेति विशेषणसमासं कृत्वोपयुज्यमानपयःप्रभृते र्निमित्त मिति षष्ठीसमासः । गवादेरिति । आदिशब्देन पौरवादे र्ग्रहणम् । ननुच पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्त मिति । तेन विनोपयोगस्य पयसोऽसम्भवात् । आदि-

शब्देन कांस्यपात्रादे र्ग्रहणम् । विहितात्र करणादिसंज्ञेति । आदिशब्देनाधिकरणसंज्ञाया ग्रहणम् । तदर्थमिति । करणादेः कर्म्मसंज्ञानिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अर्थशब्दस्य निवृत्तिवचनत्वात् । अपूर्वविधाविति । पूर्वग्रहणमत्रान्यविधे रुपलक्षणार्थम् । एतदुक्तं भवति यस्मान्यो विधिर्नोक्त स्तस्य कर्म्मसंज्ञेति । तेन यत्रापि वक्ष्यमाणे हेतुकर्त्तृसंज्ञे इति तत्राप्येषा संज्ञा न भवतीति दोग्धाप्युपयोगस्य निमित्तं तस्य कर्म्मसंज्ञा न भवति । सूत्रेऽप्यकथित मिति ,कथननिवृत्तिपरायां चोदनायां भूतकालो न विवक्ष्यते । उपलक्षणत्वात् । तेन योऽपि कथयिष्यमाणो हेतुकर्त्तृसंज्ञाभ्यां तस्यापि कर्म्मसंज्ञा न भवतीत्युक्तं भवति । त्रविशासिगुणेनेति । कः पुनर्गुण इत्याह साधनमिति । साधनं हि क्रियाया उपकारकम् । यच्चोपकारकं तदुपकार्य्यम् प्रधानमपेक्ष्य गुणो भवति । कतरत् पुनः साधन मित्याह । प्रधानं कर्म्मेति । किं पुनस्तदित्याह । धर्म्मादिकमिति । आदिशब्देन पथ्यादे र्ग्रहणम् । प्रधानत्वन्तु धर्मादे स्तदर्थत्वाच् शिष्यादिप्रवृत्तेः । सम्बध्यत इति सचत इत्यस्यार्थकथनम् । तथाहि षच समवाय इति पठ्यते । समवायस्य सम्बन्ध एव । सचते तेन गुणेन सम्बन्धमुपैति । यच्च येन सम्बन्धमुपैति तत् तेन सम्बध्यते । उक्त मित्याचरित मित्यस्य विवरणम् । सूत्रकारेणेत्येतदपि कविनेत्यस्य । गां दोग्धि पय इति । दुह प्रपूरणे । आदादिकः । दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) । झषस्तथो (८।४।४०) र्धोधः । झलाञ्जश् झशीति (३।४।४३) जश्त्वम् । ननुचात्र विहिता ऽपादानसंज्ञा । अस्ति ह्यत्रापायो गोः । दुहेः क्षरणार्थत्वात् । क्षरति गौः क्षीरम् । तद् गो र्दोग्धा क्षारयति । एवञ्च तत् क्षार्य्यमाणं ततोऽपक्रामतीति स्पष्ट एवापायः । ततो नेदमुदाहरणमुपपद्यते । नैतदेवम् । सत्यपि ह्यपाये नात्र गोरवधित्वं विवक्षितम् । किं तर्हि ? क्षीरं प्रति निमित्तभावमात्रम् । यद्येवं गोः कारकत्वं न स्याद् यथा वृक्षस्य पर्णं पततीत्यत्र वृक्षस्य न । क्षरणक्रियां प्रति निमित्तभावेनाविवक्षितत्वात् । नैतत् । अवधित्वं ह्यत्र गो र्न विवक्षितम् । क्षरणं प्रति निमित्तभावस्तु विवक्षित एव । वृक्षस्य पर्णं पततीत्यत्र तु पतनं प्रति वृक्षस्य निमित्तभावमात्रमपि न विवक्षितं न केवलमवधिभाव

इत्यसमानम्। पौरवं गां याचत इति। ननु चात्र कथितापादानादिसंज्ञा ह्यसौ पौरवाद् गामादत्त इति। अस्त्येवापायः। नैतदस्ति। नहि याचनादेवापायो भवति। किन्तर्हि याचितो ऽसौ यदि ददाति तदापायेन युज्यते। गामवरुणद्धि व्रजमिति। ननु च कथितात्र व्रजस्य कर्मसंज्ञा ऽधिकरणसंज्ञा वा। यदा प्रवेशयतीत्यर्थस्तदा कर्मसंज्ञा विहिता। अथ स्थापयतीत्यर्थस्तदाधिकरणसंज्ञा प्रसज्येत। सत्यमेतद् यदा व्रजस्य कर्मत्वमधिकरणत्वं वा विवक्ष्यते। न चैतदिह विवक्षितम्। किं तर्हि? अवरोधनक्रियां प्रति निमित्तभावमात्रम्। अस्याञ्चावस्थायां कर्माधिकरणसंज्ञे निरवतारे। व्रजेन हेतुना गामवस्थापयत्ययमत्रार्थो वेदितव्यः। न तु क्वावस्थापयतीत्येतदिह क्रियत एव। माणवकं पन्थानं पृच्छतीति। प्रच्छ ज्ञीप्सायां तुदादिः। ग्रहिज्यादिसूत्रेण (६।१।१६) सम्प्रसारणम्। ननु च कथितात्रापादानसंज्ञा। अस्ति ह्यत्रापायः। स हि तस्मादुपदेशमादित्सते। नैतदस्ति। नहि प्रश्नमात्रेणापायो भवति। किं तर्हि? पृष्टः सन् यद्यसावाचष्टे तदापायेन युज्यते। सत्यप्यपाये नात्र माणवकोऽवधिभावेन विवक्षितः। किं तर्हि? प्रश्नक्रियां प्रति निमित्तभावमात्रेण। पौरवं गां भिक्षत इति। भिक्ष याच्ञायामनुदात्तेत्। अथ किमर्थं याचिभिक्ष्योर्द्वयोरुपादानम्? यावताऽनयोरर्थभेदो नास्ति। न चेयं संज्ञा शब्दाश्रया। किं तर्हि? अर्थाश्रया। तथाहि याचिना समानार्थस्यान्यस्यापि ग्रहणं भवति। देवदत्तं शतं प्रार्थयते देवदत्तं शतं मृगयत इति। तस्मात् सत्यपि शब्दभेदे न युक्तं तयोः पृथग् ग्रहणम्। एवं तर्हि याचिरत्रानुनये वर्त्तते। तेन क्रुद्धं याचतेऽविनीतं याचत इति। तदर्थं पृथग् ग्रहणं स्यात्। वृक्षमवचिनोति फलानीति। ननु चात्र विहितापादानसंज्ञा। तथाहि वृक्षात् फलान्यादत्त इत्यपायोऽत्रार्थः। नैतदस्ति। नह्यत्र वृक्षोऽवधित्वेन विवक्षितः। किन्तर्हि फलावचयनस्य हेतुभावमात्रेण। वृक्षेण हेतुना फलावचयनं करोतीत्यर्थः। तस्य वृक्षस्य हेतुभावः किमवधिभूतस्याधिकरणभूतस्य वेत्येवमादिका चिन्ता न कृता। एवं माणवकं धर्मं ब्रूते। माणवकं धर्ममनुशास्तीति। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। शासु अनुशिष्टौ। अदादी। ननु च कथितात्र सम्प्रदान-

संज्ञा । अस्ति ह्यत्र सम्प्रदानत्वम् । संप्रदेयेन धर्मेणाभिप्रेयमाणत्वात् । नैतदस्ति । ददातिकर्मणाभिप्रेयमाणस्य संप्रदानसंज्ञा विहिता । न चात्र धर्मो ददातिकर्म । ब्रूविशास्योरदानार्थत्वात् । अथापि दानार्थता स्यात् ? एवमपि माणवकेन निमित्तेन धर्मं ददातीत्ययमर्थः स्यात् । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षितत्वात् । धर्मदाननिमित्तत्वेन विवक्षितत्वात् । ब्रूविशासिगुणेन चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन नयतिप्रभृतीनां प्रयोगेऽप्यकथितस्य कर्मसंज्ञेष्यते । तथाचोक्तं—

नीवह्योर्हरतेश्चैव गत्यर्थानां तथैव च ।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥१॥ इति । (D)

अत्रापि श्लोके चकारो जयतिप्रभृतीनां प्रयोगेऽकथितस्य समुच्चयार्थः । किमुदाहरणम् ? अजां नयति ग्रामं देवदत्तः । अजां वहति ग्रामं देवदत्तः । अजां हरति ग्रामं देवदत्तः । शतं जयति देवदत्तं यज्ञदत्तः । शतं गर्गान् दण्डयतीति । ननु चोभयेषामपि कर्तुरीप्सिततमं कर्मेत्यनेनैव (१।४।४९) कर्मसंज्ञा सिद्धा । यदि तर्ह्यजादीनामीप्सिततमत्वं विवक्ष्यते न ग्रामादीनां तदा कथं कर्मसंज्ञा ? तथापि तथायुक्तमित्यनेन (१।४।५०) सिद्धा । यदा तर्हि ग्रामादीनामीप्सितत्वं प्रकर्षरहितं विवक्ष्यते तदा न सिध्यति । अकर्मकाणाञ्च धातूनां कालभावाध्वगन्तव्यदेशानां कर्मसंज्ञेष्यते । तथाचोक्तं—

कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ।
देशश्चाकर्मकाणाञ्च कर्मसंज्ञा भवन्ति च ॥१॥ (E) इति वक्तव्यम् ।

इति । तस्मात् तदर्थोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः कृतः । कालो—मासमास्ते मासं स्वपितीति । भावो—गोदोहमास्ते गोदोहं स्वपितीति । अध्वा गन्तव्यः—क्रोशमास्ते क्रोशं स्वपितीति । अध्वा चासौ गन्तव्यश्चेति

---

(D) इदमकथितञ्चेति (१।४।५१) सूत्रस्थं श्लोकवार्त्तिकम् ।

(E) इदमप्यकथितञ्चेति (१।४।५१) सूत्रस्थं वार्त्तिकम् । इदानीन्तनपुस्तकेषु त्वस्य शेषांशो देशश्चाकर्मणां कर्मसंज्ञो भवतीति वक्तव्यमित्येवं दृश्यते ।

विशेषणसमासः। कडाराः कर्मधारय इति (२।२।३८) विशेष्यस्य पूर्वनिपातः। देशः—कुरूनास्ते कुरून् स्वपितीति। सर्वं एते कालादयोऽकथिताः। पूर्वविधेः कस्यचिदप्रवृत्तत्वात्।

## ५२। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्म्माकर्म्मकाणामणि कर्त्ता स णौ।

यापयतीति। अर्त्तिह्रीत्यादिना (७।३।३६) पुक्। वक्तव्य इति व्याखेयय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणमुभयोर्योगयोः शेषभूतो विज्ञायते। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन नीवह्योर्न भविष्यति। वहेरित्यादि। नियच्छति विशिष्टे विषयेऽवस्थापयतीति नियन्ता सारथिः। अविद्यमानो नियन्ता कर्त्ता यस्य स तथोक्तः। तस्य। नीवह्योः प्रतिषेधो वक्तव्य इति योऽनन्तरोक्तः स वहेरनियन्तृकर्तृकस्य भवतीत्येतदर्थरूपं व्याखेययमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। तस्यैवान्यतरस्यांग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषात्वान् नियन्तृकर्तृकस्य वहेः कर्मसंज्ञा भविष्यतीति। आदिखाद्योरित्यादि। अत्रापि वक्तव्यशब्दस्य पूर्ववदेवार्थः। व्याख्यानमपि पूर्ववदेव कर्त्तव्यम्। भक्षयति पिण्डीं देवदत्त इति। चुरादिणिच्। भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेनेति हेतुमण्णिच्। भक्षयति बलीवर्दान् शस्यमिति। भक्षिरत्र हिंसार्थः। सर्वे सचेतना भावा इत्यस्मिन् दर्शने हिंसितं शस्यमिति शस्यस्य भक्षणेन देवदत्तो हिंसितो भवति। यस्य हि तच् शस्यं तस्य हिंसा गम्यते। ननु शब्दकर्मणामिति। शब्दग्रहणेनेह पारिभाषिकं कर्म गृह्यते। ननु क्रिया। क्रियाग्रहणे हि कर्मग्रहणमनर्थकं स्यात्। कारकाधिकारादेव कारकस्य क्रियापेक्षत्वाच् शब्दात्मिकायां क्रियायां वर्त्तमाना धातवो ग्रहीष्यन्त इति। तत् किं कर्मग्रहणेन? यदि तर्हि पारिभाषिकं कर्म गृह्यते विलपति देवदत्तो विलापयति जल्पति देवदत्तो जल्पयति देवदत्तम्। आभाषते देवदत्त आभाषयति देवदत्तम्। पश्यति देवदत्तः कार्षापणम्। दर्शयते देवदत्तं कार्षापणमित्यत्र न प्राप्नोति। शब्दादन्यस्य पारिभाषिकस्य कर्मणो विवक्षितत्वात्। नैष दोषः। बुद्ध्यर्थत्वाद् भविष्यति।

अत्र हि जल्पतिप्रभृतयस्त्रयस्तावच् शब्दसाधने बोधने वर्त्तन्ते । जल्पति देवदत्त इति । वचनेन बोधयतीत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । पश्यति कार्षापणमित्यत्र दृशि श्चक्षुःसाधने ज्ञाने वर्त्तते । चक्षुषा जानीत इत्यर्थः । तस्माद् बुद्धयर्थत्वात् सिद्धम् । अध्यापयतीति । क्रीङ्जीनां (६।१।४८) णावित्यात्त्वम् । अर्त्तिह्रीत्यादिना (७।३।३६) पुक् । किमर्थं पुनरिदं सूत्रम् ? यावता ण्यन्ते धातौ प्रयोजकव्यापारेण प्रेषणाध्येषणाखेरन व्याप्तुमिष्टतमत्वात् प्रयोज्यस्य कर्त्तुरीप्सिततमं कर्मेत्यनेनैव (१।४।४९) कर्मसंज्ञा सिद्धा । सत्यम् । नियमार्थं वचनम् । प्रयोजकव्यापारेण श्याप्यमानस्य यदा कर्मसंज्ञा तदा गत्यर्थादीनामेव । नान्येषामिति ।

## ५३ । हृक्रोरन्यतरस्याम् ।

गत्यर्थादयो निवृत्ताः । तेनोभयत्र विभाषेयम् । यदा हरतिर्गतौ वर्त्तते ऽभ्यवहारे वा करोतिश्चाकर्मको भवति तदा प्राप्ते । यदा तु हरति स्तेयादौ वर्त्तते करोतिश्च सकर्मको भवति तदा ऽप्राप्ते । उपसंख्यानमिति । प्रतिपादनमित्यर्थः । एतच्च प्रकृतत्वात् कर्मसंज्ञायाः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । अकथितञ्चेत्यत (१।४।५१) श्चकारोऽनुवर्त्तते । स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेनाभिवादिदृशोरप्यात्मनेपदे कर्मसंज्ञा भविष्यतीति । अभिवादयत इति । णिचश्चे (१।३।७४) त्यात्मनेपदम् । दर्शयत इति । अत्रापि णेरणावित्यादिना (१।३।६७) ।

## ५४ । स्वतन्त्रः कर्त्ता ।

अस्त्ययं स्वतन्त्रशब्दो बहुव्रीहिः । स्वं तन्त्रं यस्य स स्वतन्त्रः । अस्ति च समासप्रतिरूपको रूढिशब्दः प्रधानार्थवृत्तिर्यथा स्वतन्त्रोऽयमिह देवदत्त इति । प्रधानभूत इति गम्यते । तत्र यदि पूर्वो गृह्येत तदा तन्तुवायस्यैव स्यात् । विस्तृता हि तन्तव स्तन्त्रम् । तच्च तन्तुवायस्यैवास्ति । देवदत्तः पचतीत्यादौ न स्यात् । इतरस्य तु ग्रहणे सर्वत्र भवति । तस्माद् व्याप्तेर्न्यायात् सएव गृह्यत इति मत्वाह स्वतन्त्र इति प्रधानभूत इति । यद्येवमप्रधानमपेक्ष्य प्रधान मुच्यत इति यत्राधिकरणादीन्यपराण्यप्रधानानि कारकाणि

सन्ति देवदत्तः काष्ठैरग्निनोदनं स्थाल्यां पचतीत्यादौ तत्रैव स्यात्। यत्र तु तेषामविवक्षा ऽस्ते देवदत्तः शेते देवदत्त इत्यादौ तत्र न स्यादिति यो देशयेत् तं प्रत्याह अगुणभूत इति। एवं मन्यते। प्रधानेनागुणभाव उपलक्ष्यते। गुणभावो यत्र नास्ति स कर्त्तेति। कारकान्तराविवक्षायामप्यगुणभावोऽस्त्येवेति सर्वत्र भवति। ननु च सामग्र्यधीना हि क्रियासिद्धि रेकस्याप्यभावे न सिध्यति। तत् कस्मात्र प्राधान्यं यत्परिग्रहाय स्वतन्त्रग्रहणं क्रियत इत्याह। यः क्रियासिद्धावित्यादि। यद्यपि क्रियासिद्धौ सर्वेषां व्यापारस्तथापि स्वातन्त्र्यं यस्य विवक्ष्यते सएव स्वतन्त्र इत्युच्यते। नान्य इति। देवदत्तः पचतीत्यत्र देवदत्तः कर्त्तृसंज्ञकत्वात् कर्त्तृप्रत्ययेनोच्यते लकारेण।

## ५५। तत्प्रयोजको हेतुश्च।

तस्य प्रयोजकस्तत्प्रयोजक इति। ननु च कर्त्तरि चेत्यनेन (२।२।१६) षष्ठीसमासप्रतिषेधेनात्र भवितव्यमित्याह निपातनात् समास इति। प्रयोजक इति। प्रेरक उपदेशको व्यापारक इत्यर्थः। न चान्येन प्रयुज्यमानस्य स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यं हीयते। अन्यथा ह्यकुर्वत्यपि कारयतीति स्यात्। प्रयोजकत्वं द्विविधम्। मुख्यमितरच्च। देवदत्तः कटं कारयतीत्यत्र देवदत्तस्य मुख्यम्। न भिक्षा वासयतीत्यत्र भिक्षाणां वासहेतुत्वात् प्रयोजकत्वमुपचरितम्। न मुख्यम्। नहि भिक्षा यूयं वसथेत्येवं प्रयुञ्जते। इह च कारकाधिकारे तमब्ग्रहणव्यतिरेकेणातिशयो न विवक्षित इति साधकतमं (१।४।४२) करणमित्यत्र तमब्ग्रहणेन ज्ञापित मेतत्। तेन यस्यापि प्रयोजकत्व मुपचरितं—न मुख्यं—तस्यापि हेतुसंज्ञा भवत्येव। संज्ञासमावेशार्थश्चकार इति। असति तस्मिन्नेकसंज्ञाधिकारादत्र कर्त्तृसंज्ञा न स्यात्। अतः संज्ञासमावेशार्थं चकारः क्रियते। हेतुत्वादित्यादिना संज्ञाद्वयस्य प्रयोजनं दर्शयति। प्रयोजकव्यापारे हि हेतुमति चेति (३।१।२६) णिच् विधीयते। तस्य हेतुत्वं प्रयोजकस्य हेतुत्वे सत्युपपद्यते। हेतुत्वात् प्रयोजको णिचो निमित्तं भवति। कर्त्तृप्रत्ययेन च लकारेणाभिधानं कर्त्तृसंज्ञायां सत्यां भवतीति कर्त्तृत्वात् कर्त्तृप्रत्ययेन लकारेणोच्यत इति।

## ५६ । प्राग्रीश्वरान्निपाताः ।

च वा ह अह इत्यत्र निपातसंज्ञायां सत्यां स्वरादिनिपातमव्ययमित्यव्यय संज्ञा (१।१।३७) भवति । निपाता आद्युदात्ता भवन्तीत्याद्युदात्तत्वञ्च । अथ किमर्थं प्राग्ग्रहणम् ? यावता पञ्चम्युच्चारणसामर्थ्यादेव प्रागित्यस्य दिक्छब्दस्याध्याहारो भविष्यति। न च परागित्ययमपि दिक्शब्दोऽस्ति। अतो नास्याध्याहार आशङ्कनीयः । तदध्याहारे हि चादयोऽसत्त्व (१।४।५७) इत्येवमादयो योगा निपातसंज्ञासम्बन्धाभावादसम्बन्धाः स्युः । तस्मात् प्रागित्येतदेवाध्याहरिष्यते । तत् किं प्राग्वचनेनेत्याह प्राग्वचनमित्यादि । एका संज्ञेत्यनुवर्त्तते । निपातसंज्ञा चादिषु प्रादिषु वा क्रियायोगे चरितार्था । तत्रासति प्राग्वचने निपात संज्ञाया उपसर्गादिसंज्ञाभिरनवकाशाभिर्बाध्यमानत्वात् ताभिः सह तस्याः समावेशो न स्यात् । इष्यते चात्र तदर्थं प्राग्वचनम् । तस्मिन् सत्येवं सम्बन्धः क्रियते । रीश्वराद् यावन्तः प्राग् व्यवस्थिता स्ते सर्वे निपातसंज्ञका भवन्ति । निपाताश्च सन्त उपसर्गादिसंज्ञका इति । तेन निमित्तमेव निपातसंज्ञोपसर्गसंज्ञानां भवति । न च निमित्तिना निमित्तं व्याहन्यते । अन्यथाहि तस्य निमित्तत्वमेव न स्यात् । अध्याहृते तु प्राक्शब्दे रीश्वराद्ये प्राग् व्यवस्थितास्ते सर्वे निपातसंज्ञका भवन्त्येषोऽर्थोऽभिमतः स्यात् । न तु निपाताः सन्त उपसर्गादिसंज्ञका इत्येषोऽप्यर्थो लभ्यते । सूत्रोपात्ते तु प्राक् शब्द एषोऽर्थो लभ्यत एव। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यं स्यात् । अथ किमर्थं रेफादिक ईश्वरशब्दो गृह्यते प्राग्रीश्वरादिति। न च प्रागीश्वरादित्येवोच्येत । प्रत्यासत्तेरनन्तर एव हीश्वरशब्दो ग्रहीष्यत इत्यत आह रीश्वराद्वीश्वरान्माभूदिति । रेफसहित ईश्वरो रीश्वरः । शाकपार्थिवादित्वात् मयूरव्यंसकादित्वाद्वा समासः। रीश्वरादित्युच्यमाने वीश्वरान् मा भूत् । अधिरीश्वर (१।४।९७) इत्यस्यैवेश्वरशब्दस्य ग्रहणं यथा स्यात् । ईश्वरे तोसुन्कसुनावित्यत्र (३।४।१३) यो वीश्वरशब्दस्तस्य ग्रहणं मा भूत् । तस्य ग्रहणे बहूनां संज्ञा भवत्यतो व्याप्तेर्न्यायादस्यैव ग्रहणं स्यात् । ननु च वकारस्तत्र नास्त्येव । तत् किमुच्यते वीश्वरान् मा भूदिति ? एवं मन्यते । यदा सूत्राणि संहितया पठ्यन्ते शकि णमुल्कमुलावीश्वरे (३।४।१२) तोसुन्कसुनाविति (३।४।१३) तदा वीशब्दस्य

य ओकारस्तस्यावादेशे कृत ईश्वरशब्दो वकारसहितो भवतीति। नैतदस्ति। रेफाधिकस्येश्वरशब्दस्य ग्रहणे न प्रयोजनम्। यद्यपि परस्येश्वरशब्दस्य ग्रहणे तन्निबन्धना व्याप्तिरस्ति तथाप्यनन्तरस्यैवेश्वरशब्दस्य ग्रहणं भविष्यति। न परस्य। कथम्? ज्ञापकात्। यदयं कृन्मेजन्त इति (१।१।३९) कृतो मान्तस्यैजन्तस्याव्ययसंज्ञां शास्ति तज्ज्ञापयत्यनन्तरस्येश्वरशब्दस्य ग्रहणम्। नेतरस्येति। अन्यथा हि णमुलादीनां निपातत्वादेवाव्ययसंज्ञा सिद्धेति कृन्मेजन्त इति वचन (१।१।३९) मनर्थकं स्यात्। नैतदस्ति ज्ञापकम्। यस्मादीश्वरे तोसुन्कसुनावित्यस्मात् (३।४।१३) परोऽपि कृदेजन्तो मान्तश्चास्ति। कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन (३।४।१४) आभीक्ष्ण्ये णमुल् (३।४।२२) चेत्येवमादिः। तत् कथं कृन्मेजन्त इत्येतज् ज्ञापकं स्यात्? एवं तर्हि यदयमव्ययीभावस्याव्ययीभा-(१।१।४१)वश्चेत्यव्ययसंज्ञां शास्ति तज् ज्ञापयत्यनन्तरो य ईश्वरशब्दस्तस्य ग्रहणमिति। अन्यथा ह्यव्ययीभावश्चेत्येत (१।१।४१) द्व्यपार्थकं स्यात्। निपातत्वादेवाव्ययीभावस्याव्ययसंज्ञायाः सिद्धत्वात्। अस्यापि ज्ञापकता मपाकर्तुमाह समासेष्वव्ययीभाव इति। सर्वेषां समासानां निपातत्वादव्ययसंज्ञायां प्राप्तायामव्ययीभावश्चेतिएतद्वचनं (१।१।४१) नियमार्थं स्यात्। समासेषु तत्पुरुषादिषु मध्ये ऽव्ययीभाव एवाव्ययसंज्ञो भवति। नान्य इति। एवं तर्हि लौकिकन्यायादनन्तरस्यैवेश्वरशब्दस्य ग्रहणं भविष्यति। लोके ह्योदकान्तं प्रियं प्रोथ (F) मनुव्रजेदिति य एवानन्तर उदकान्त स्तमेव गत्वा तत एव बान्धवा निवर्त्तन्ते। न व्यवहितात्। तस्मादिहाप्यनेनैव न्यायेनानन्तरादेवेश्वरशब्दान्निपातसंज्ञा निवर्त्तिष्यत इत्यत आह लौकिकं चातिवर्त्तत इति। लौकिकमपि न्यायं लोकोऽतिक्रम्य वर्त्तते यस्माद् द्वितीयमप्युदकान्तं स्नेहात् कथाप्रसङ्गाद् वा गत्वा निवर्त्तन्ते बान्धवाः। तदेवं रेफाधिक ईश्वरशब्द उच्चार्य्यते। तेन वीश्वरान् मा भूदिति स्थितमेतत्।

## ५७। चादयोऽसत्त्वे।

तत्र यद्ययं असत्त्व इति पर्य्युदासोऽयं वा स्यात् प्रसज्यप्रतिषेधो वा?

(F) प्रोथं पर्य्याप्तमित्यर्थः। प्रोथृ पर्य्याप्तावित्यस्मात् पचाद्यच्। क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकम्।

पर्य्युदासः स्यात् तदा सत्त्वादन्यत्र वर्त्तमानाश्चादयो निपातसंज्ञका भवन्तीत्येषः सूत्रार्थः स्यात् । ततश्च पशुशब्दस्य चादिपरिपठितस्य जातिव्यवच्छिन्ने द्रव्ये वर्त्तमानस्य निपातसंज्ञा स्यात् । यो हि जातिविशिष्टे द्रव्ये वर्त्तते स जातिद्रव्यसमुदायात्मकमर्थमाह । यश्चैवंविधोऽर्थः स द्रव्यात् केवलादन्यो भवति ।° निपातसंज्ञायां सत्यां पशुरिति सविभक्तिकस्य श्रवणं न स्यात् । प्रसज्यप्रतिषेधे त्वेष दोषो न भवति । तत्र हि यत्र द्रव्यगन्धोऽप्यस्ति तत्र सर्वत्र प्रतिषेधेन भवितव्यम् । अस्ति चेह द्रव्यगन्धः । पशुत्वजात्याश्रितस्य द्रव्यस्यापि पशुशब्देनाभिधानात् । तस्मात् प्रसज्यप्रतिषेध एवायं युक्त इत्यालोच्याह प्रसज्यप्रतिषेधोऽयमिति । क्व तर्हि वर्त्तमानः पशुशब्दोऽसत्त्ववचनो भवति ? यत्र वृत्तौ निपातसंज्ञां लभते दृश्यर्थे यथा लोधं नयन्ति पशु (G) मन्यमाना इति । अत्र दृश्यर्थेन पशुशब्देन मननं विशिष्यते । दर्शनमेतन् मननं सम्यग् ज्ञानमित्यर्थः । सत्त्वशब्दोऽयमिह सत्तायां वर्त्तत इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात् । अतस्तान्निराकर्त्तुमाह सत्त्वमिति च द्रव्यमुच्यत इति । चशब्दोऽवधारणे । द्रव्यमेव न सत्तेत्यर्थः । यदि ह्यत्र सत्त्वशब्देन सत्तोच्यते प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । नहि चादिषु मध्ये शब्दः सत्तावाची कश्चिदस्ति । तस्माद् द्रव्यमेवोच्यते । इदं तर्हि सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यो योऽर्थस्तद्द्रव्यमिति । तथाचोक्तं—

> वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
> द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥१॥ इति ।

भेद्यत्वेन विशेष्यत्वेनेत्यर्थः । अत एवावसीदति यत्र गुणो विशेषणभाविनेति सत्त्वं तद्द्रव्यमुच्यते । चणिति पठ्यते । तस्य णकारो विशेषणार्थो निपातैर्यद् यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तमिति ( ८।१।३० ) । स तु चेच्छब्दस्यार्थे वर्त्तते । यत्रेति पठ्यते । तस्य तद्धित (१।१।३८) इत्यसर्व्वविभक्तिरित्यव्ययसंज्ञा सिद्धैव । निपातैर्यद्यदिहन्त इति (८।१।३०) विशेषणार्थं निपातसंज्ञोच्यते ।

---

(G) पशु सम्यगित्यर्थः । लोधमनवगतम् । पशु मन्यमानाः सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थः । निरुक्ते तु लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमाना इति सानुस्वारपाठात् पशुशब्दः सत्त्ववाची ।

असति निपातत्वे लैङ् पालने यं त्रायत इति यत्र इत्यस्यातोऽनुपसर्गे (३।२।३) क इति कप्रत्ययान्तस्य ग्रहणं स्यात्। नञिति पठ्यते। नञो ञकारो नलोपो (६।३।७३) नञ इति विशेषणार्थः। नलोपो नस्येत्युच्यमाने पामनपुत्र इत्यत्रापि स्याद् यदि तत्रालुगुत्तरपद (६।३।१) इत्युत्तरपदग्रहणसामर्थ्यलब्धं पूर्वपदं नशब्देन विशेष्यते नान्तस्य पूर्वपदस्येति। अथ तु पूर्वपदे न नशब्दो विशेष्यते पूर्वपदस्य नस्येत्यतोऽसत्यपि ञकारे न भवति पामनपुत्र इत्यत्र नलोप इति। नहि तर्हि नशब्दः पूर्वपदं किं तर्हि पामनशब्दः। अथ क्रियमाणेऽपि ञकारेऽनुबन्धे स्त्रैणपुत्र इत्यत्र कस्मान्न भवति? ञकारस्य द्वौ प्रत्ययसम्बन्धिनश्चरितार्थत्वात्। निपातसम्बन्धिनस्तु न क्वचिच्चरितार्थत्वम्। अतस्तेन प्रत्यय सम्बन्धिना ञकारेण तु तुल्यमाख्यातुं न शक्यत इति न भवति। तथेति। यः प्राग्दिशो (५।३।१) विभक्तिरिति विभक्तिसंज्ञकस्थाल्प्रत्ययान्तस्तथाशब्दो नेह तस्येदं ग्रहणम्। तस्य तद्धितश्चे(१।१।३८)त्यनेनैवाव्ययसंज्ञायाः सिद्धत्वात्। आद्युदात्तत्वञ्च लित्स्वरेण। कस्य तर्हि ग्रहणम्? तत्सदृशस्याव्युत्पन्नस्य। ननु च तस्यापि विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्चेत्यनेनैव सिद्धं निपातत्वम्। सत्यमेतत्। तस्यैवायं प्रपञ्चः। यथातथाशब्दस्य ग्रहणं तस्यैव प्रपञ्चः। अथ वेलायां मात्रायां यथाऽस्ति कथं क्षुत इत्येतेषामपि ग्रहणं तस्यैव प्रपञ्चः। विभक्तिप्रतिरूपकत्वात्। मन्ये ब्रूहीति। आद्युदात्तार्थं मुभयोः पाठः। मन्य इति दिवादिः कर्मण्यात्मनेपदम्। अन्तोदात्तः प्राप्तो यक्स्वरेण। ब्रूहीति च प्रत्ययस्वरेण। विभक्तिप्रतिरूपकाश्च निपाता उपाजेऽन्वाजे इत्येवमादयः। स्वरप्रतिरूपका अचो ये न भवन्त्यच्सदृशाः। तथाच वक्ष्यति ऋति ऋवर्ा वचनं कर्त्तव्यम्। ऌति ॡ वा वचनमिति (६।१।१०१, वा)। एवञ्जातीयकानां निपातसंज्ञाद्वारेण सत्त्वमेवाख्यायते। पशुर्वै पुरुषः पशुः पुरोडाश इति। अत्र पशुशब्दः पुरुषे पुरोडाशे च सत्त्वे वर्त्तत इति न भवत्येव निपातसंज्ञा।

## ५८। प्रादयः।

अथ किमर्थं पृथग्योगकरणम्? न चादिष्वेव प्रादयः पठेरन्नित्यात्र संज्ञोपसर्गसंज्ञा। पृथग्योगकरणमित्यादि। उत्तरसंज्ञोत्तरसूत्रे ज्ञाता

तस्या विशेषणं व्यवच्छेदः प्रादिभ्योऽन्यस्माद्व्यावर्त्तनमुत्तरसंज्ञाविशेषणम् । तदर्थः प्रयोजनं यस्य तदुत्तरसंज्ञाविशेषणार्थम् । एतदेव स्पष्टीकर्त्तुमाह चादीनामुपसर्गसंज्ञा मा भूदिति । एकयोगे हि सति यथा प्रादीनामुपसर्गसंज्ञा भवति तथा चादीनामपि स्यात् । अतः प्रादीनामेवोपसर्गसंज्ञा यथा स्यात् चादीनां मा भूदित्येवमर्थं पृथग् योगः क्रियते । परा: सेना इति । सेनाया द्रव्यत्वात् तत्र वर्त्तमानस्य पराशब्दस्येह ग्रहणं न भवति । परा उत्कृष्टाः परदेशस्थिता वा । यत्र त्वेकवचनं पठ्यते परा सेनेति तत्र रूपोदाहरणं वेदितव्यम् । द्विवचनबहुवचनयोस्तु निपातत्वादव्ययसंज्ञायां सत्यां विभक्तेर्लुक् स्यात् ।

## ५९ । उपसर्गाः क्रियायोगे ।

प्रणयतीति । प्रशब्दस्योपसर्गत्वादुपसर्गादसमासेऽपि (८।४।१४) णोपदेशस्येति णत्वम् । प्रनायको देश इति । अत्र नयनक्रियया प्रशब्दस्य योगो नास्तीत्युपसर्गसंज्ञा न भवति । ननु चात्रापि गमिक्रियया योगोऽस्त्येवेति स्यादेव तस्योपसर्गसंज्ञा । नैतदस्ति । क्रियायोगग्रहणं ह्येव मनर्थकं स्यात् । कथम् ? प्रादीनां क्रियायोगाव्यभिचारात् । तस्मात् क्रियायोगग्रहणसामर्थ्याद् यं प्रति क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्ति । नान्यं प्रति । नचेह नयनक्रियया युक्तः प्रशब्दः । किन्तर्हि ? गमिक्रिययेति नयतिं प्रत्युपसर्गसंज्ञको न भवति । मरुच्छब्दस्योपसंख्यानमिति । तत्रविधाविति शेषः । अन्यथा हि निपाता आद्युदात्ता (फ़िट्, ८०) उपसर्गाश्चाभिवर्जमित्याद्युदात्तत्वमपि स्यात् । अन्तोदात्तश्चेष्यते मरुच्छब्दः । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । मरुच्छब्दस्योपसर्गसंज्ञायाः प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । उपसर्ग इति योगविभागः क्रियते । अत्र च प्रादय इति नाभिसम्बध्यते । तेन मरुच्छब्दस्य तत्रविधावुपसर्गसंज्ञा भवतीति । अतएव योगविभागाच् श्रच्छब्दस्याङ्विधावन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गसंज्ञा भवतीति वेदितव्यम् । योगविभागस्येदं लिङ्गम् प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो (५।२।१०१) णः । तिरोऽन्तर्धाविति (१।४।७१) च निर्देशः । ततः क्रियायोग इति द्वितीयो योगः । अत्र च प्रादय

इति सम्बध्यते। किमर्थमिदम्? पूर्वेणैव सिद्धमिति पूर्वयोगस्यासर्वविषयत्व-ज्ञापनार्थम्। तेन नातिप्रसङ्गः। प्रादीनामक्रियायोग उपसर्गसंज्ञा मा भूदित्येवमर्थञ्च। मरुत्त इति। अच उपसर्गात् त इति (७।४।४७) क्तप्रत्यये क्ते द्वितकारनिर्देशाद्ददातेः सर्वादेशः। ननु च सत्यामुपसर्गसंज्ञायां मरुच्छब्दस्यानजन्तत्वात् तत्वेन न भवितव्य मित्यत आह संज्ञाविधानसामर्थ्या-दित्यादि। यथा ह्युपसरज इत्यत्र डित्करणसामर्थ्यादभस्यापि टिलोपो भवति तथेहाप्यनजन्तादपि तत्वं भविष्यति। अन्यथा हीदं वचन मपार्थकं स्यात्। मरुच्छब्दस्योपसर्गसंज्ञाया अन्यकार्याभावादिति भावः। अच्छब्द-स्योपसंख्यानमिति। अत्राप्युपसंख्यानशब्दस्य स एवार्थः। प्रतिपादनमपि तदेव। ननु च भिदादिपाठादेव हि श्रद्धेति सिद्धम्। तत् कथं तत्सिद्धये श्रच्छब्दस्योपसर्गसंज्ञा क्रियते? एवम्मन्यते। अनार्षस्तत्र पाठ इति।

## ६०। गतिश्च।

प्रकृत्येति। गतिसंज्ञायां सत्यां कुगतिप्रादय (२।२।१८) इति समासः। समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यबिति (७।१।३७) ल्यप्। प्रकृतमिति। क्ते चेत्यनु-वर्त्तमाने (६।२।४५) गतिरनन्तर (६।२।४९) इति प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः प्रशब्दः। यत् प्रकरोतीति। प्रशब्दादनन्तरस्य तिङ्ङतिङ इति (८।१।२८) निघाते प्राप्ते निपातैर्यद्यदीत्यादिना (८।१।३०) प्रतिषेधे तिपः पित्त्वादनु-दात्तत्वम्। सति शिष्टस्वरस्य बलीयस्त्वमन्यत्र विकरणस्वरेभ्य इति (६।१।१५८, वा) विकरणस्वरस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वं न भवति। करोतेरेव तु भवति धातोरिति (६।१।१६२)। शेषमनुदात्तं भवति। प्रशब्दस्योपसर्गाश्चाभि-वर्जमित्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते गतिर्गताविति (८।१।७०) निघातेऽनुवर्त्तमाने तिङि चोदात्तवतीति (८।१।७१) करोतिशब्दे तिङन्त उदात्तवति परतोऽनुदात्तत्वं भवति। तत्र हि पूजनात् पूजितमनुदात्तं (८।१।६७) काष्ठादिभ्य इत्यतोऽनुदात्तमिति वर्त्तते। एतच्च प्रयोजनत्रयमुत्तरत्र गतिसंज्ञाया वेदि-तव्यम्। अथ किमर्थो योगविभागः? न गतिग्रहणं पूर्वयोग एव क्रियत इत्यत आह। योगविभाग उत्तरार्थ इति। उत्तरत्रेत्यादिना योगविभाग-

स्योत्तरार्थतां दर्शयति। यद्युत्तरत्वाप्युपसर्गसंज्ञा स्यात् तदा किं स्यादित्यत आह जरीस्यादित्यत्रेत्यादि। चकारः संज्ञासमावेशार्थं इति। असति चकार एकसंज्ञाधिकारादेकत्र संज्ञाद्वयस्य विधानात् पर्य्यायः स्यात्। न समावेशः। प्रणीतमित्यादिना संज्ञासमावेशस्य फलं दर्शयति। गतिरनन्तर इति (६।२।४९) स्वर इति। उदाहरणद्वयेऽप्युपसर्गादिति (८।४।१४, ८।३।६५) णत्वषत्वे भवत इति। प्रणीतमिति। उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्येति (८।४।१४) णत्वम्। अभिषिक्तमिति। उपसर्गात् सुनोतीत्यादिना (८।३।६५) षत्वम्। कारिकेत्यादि। धात्वर्थनिर्देश एतदुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। योऽन्यः कर्त्तरि कारिकाशब्दो ण्वुलन्तस्तस्य कारिकां कृत्वेत्येवं भवति। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। उत्तरसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कारिकाशब्दस्य गतिसंज्ञा भवतीति। पुनश्चनसावित्यादि। पुनश्चनःशब्दौ छन्दसि विषये गतिसंज्ञकौ च भवत इतीत्रतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। व्याख्यानन्तूत्तरसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थतामाश्रित्य कर्त्तव्यम्। पुनरुत्स्यूतमिति। सिवु तन्तुसन्ताने। निष्ठा। उदित्त्वादुदितो वेति (७।२।५६) विभाषितेट्त्वाद् यस्य विभाषेतीट्प्रतिषेधः (७।२।१५)। च्छ्वोः शूडनुनासिके चेति (६।४।१९) वकारस्योट्। यणादेशः। चनोहितमिति। दधाते र्हिरिति (७।४।४२) हिरादेशः। गतिरनन्तर इति (६।२।४९) प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। चनःशब्दो हि निपाता आद्युदात्ता (फिट्, ८०) भवन्तीत्याद्युदात्तः।

## ६१। ऊर्य्यादिच्विडाचश्च।

च्व्यन्ता डाजन्ताश्चेति। ननु च पदसंज्ञायामन्तग्रहणेन ज्ञापितमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्तीति। अतश्च्विडाचोरेव गतिसंज्ञया भवितव्यम्। तत् किमुच्यते च्व्यन्ता डाजन्ताश्चेति? एवम्मन्यते। क्रियायोग इति वर्त्तते। न च प्रत्ययमात्रस्य क्रियायोगः सम्भवति। तस्मात् क्रियायोगानुवृत्तिसामर्थ्यात् तदन्तस्यैव संज्ञा विज्ञायत इति भवत्येव तदन्तस्य संज्ञा। सा तु विशेषानुपादनाद् धातुमात्रेण योगे प्राप्नोतीत्यत आह च्विडाचोरित्यादि।

अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे (५।४।५०) च्विर्विहितः । अव्यक्तानुकरणादित्यादावपि (५।४।५७) सूत्रे कृभ्वस्तियोगस्यानुवृत्तेर्डाजपि तत्रैव विहितः । तेन च्विडाचोस्तावद् धात्वन्तरेण योगासम्भवात् कृभ्वस्तियोगे गतिसंज्ञाविधानम् । अतस्तत्साहचर्य्यादूर्य्यादीनामपि तैरेव योगे विधीयते । ऊर्य्यादिभ्यश्चार्थस्याप्रतीतेर्न शक्यन्ते ते च्व्यन्ता इति विज्ञातुम् । अतस्तेषां पृथग् ग्रहणम् । तामेव च तेभ्यश्चार्थस्याप्रतीतिमर्थान्तरप्रदर्शनेन प्रतिपादयितुमाह उरी-उररीत्यादि । श्रौषड़ादीनां स्वधापर्य्यन्तानां चादिषु पाठादक्रियायोगेऽपि निपातसंज्ञा भवति । आविःशब्दः साक्षात्प्रभृतिषु पठ्यते । तेन तस्य विभाषा (१।४।७२) कृञीति करोतियोगे विभाषा गतिसंज्ञा । शुक्लीकृत्येति । अस्य (७।४।३२) च्वाविति ईत्वम् । पटपटाकृत्येति । वा क्यष (१।३।९०) इत्यत्र पटपटाशब्दो व्युत्पादितः ।

## ६२ । अनुकरणं चानितिपरम् ।

अनितिपरमिति । अत्रेतिपरशब्द इतः पर इति पञ्चमीति (२।१।३७) योगविभागात् तत्पुरुषो वा स्याद् ? इतिः परो यस्मादिति बहुव्रीहिर्वा ? तत्र यद्याद्यः पक्ष आश्रीयेत तदेतिखाट्कृत्येत्यत्र प्रतिषेधः स्यात् । इह तु न स्यात् । खाड़िति कृत्वा आगत इति । अनिष्टञ्चैतत् । द्वितीये तु पक्ष एष दोषो न भवति । अतस्तमेवाश्रित्याह इतिः परो यस्मादित्यादि । निरष्ठीवदिति । ष्ठिवु निरसने । सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इति (६।१।६४,वा) प्रतिषेधाद्धात्वादेः षः सः इति (६।१।६४) सत्वं न भवति । ष्ठिवुक्लमुचमां शितीति (७।३।७५) दीर्घत्वम् ।

## ६३ । आदरानादरयोः सदसती ।

प्रीतिसम्भ्रम आदर इति । प्रीत्या सम्भ्रमः प्रीतिसम्भ्रमः प्रीतिपूर्विका प्रत्युत्थानासनादिदानक्रियेत्यर्थः । परिभवौदासीन्यमिति । परिभवोऽवज्ञा । तिरस्कार औदासीन्यम् । कर्त्तव्यं प्रत्युत्थानासनादिदानं प्रत्युपेक्षा । परिभवेणौदासीन्यं परिभवौदासीन्य मिति । तृतीयेति (२।१।३०) योगविभागात् समासः । अथवा परिभवश्चौदासीन्यञ्च परिभवौदासीन्यम् ।

अथ किमर्थमनादरग्रहण, मसद्ग्रहणञ्च क्रियते ? नादरे सदित्येवोच्यते ? अथ कथमिदानीमनादरेऽसच्छब्दस्याऽव्ययसंज्ञा स्यात् ? कथञ्च . समासादि कार्य्यम् ? तदन्तविधिनासच्छब्दस्यापि निपातसंज्ञायां गतिसंज्ञायाञ्च सत्यां सच्छब्दस्य निपातस्याव्ययसंज्ञा विधीयमाना ऽव्ययसंज्ञायां तदन्तविधेरुपसंख्यानादसच्छब्दस्याप्यव्ययसंज्ञा भविष्यति । कुगतिप्रादय इत्यत्र (२।२।१८) च सुबन्तस्य प्रकृतत्वाद् गत्यन्तस्य सुबन्तस्य समासो विधीयमानोऽसच्छब्दस्यापि भविष्यति । गतिरनन्तर ( ६।२।४९ ) इत्यत्रापि पूर्वपदमित्यनुवर्त्तते । गतिर्गतावित्यत्रापि ( ८।१।८० ) पदस्येति । तेन गत्यन्तस्य पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरो विधीयमानस्तथा गत्यन्तस्य पदस्यानुदात्तो विधीयमानोऽसच्छब्दस्यापि भविष्यति । तस्यापि गत्यन्तत्वात् । भवतु तदन्तविधिना यथोक्तं कार्य्यम् । अनादरावगतिस्तु कथं स्याद् ? असत्यनादरग्रहणे न सदसदिति नञाऽदरप्रतिषेधात् । आदरश्चेत् प्रतिषिद्धः किमन्यदनादरात् स्यात् । नैतद् युक्तमुच्यते । नञ्समासो हि तत्पुरुषः सदृशमेव कार्य्यं प्रतिपादयति यथा ऽब्राह्मणमानयेति । तत्रेह यद्यनादरग्रहणं न क्रियेत तदा सत् सदृशं यत् तदसद् यत्रादरप्रसङ्गस्तत्रैव स्यात् । गुरु मसत्कृत्य गतः । यत्र त्वप्रसक्त एवादरस्तत्र न स्यात् । भृत्यमसत्कृत्य गतः । अनादरग्रहणे तु सति बहुव्रीहि र्विज्ञायते । अविद्यमान आदरो यस्मिन्नित्यनादर इति । बहुव्रीहिश्चात्यन्ताभावे प्रसक्त्यभावे च भवतीति सर्वत्र संज्ञा सिध्यति । तस्मादनादरग्रहणं कर्त्तव्यम् । तस्मिंश्च क्रियमाणे सत्यसद्ग्रहणमपि कर्त्तव्यमेव । अन्यथा हि किमनादरग्रहणेन विशिष्येत यस्यानादरे वर्त्तमानस्य गतिसंज्ञा विधीयते ? नहि सच्छब्दस्यानादरे वृत्तिः सम्भवति । यद्यपि तस्य न सम्भवति तदन्तस्यासच्छब्दस्य सम्भवतीति चेत् सत्यं सम्भवति । नतु तस्य गतिसंज्ञा लभ्यते ; तदन्तविधेरभावात् । प्रकृते नहि तदन्तविधिर्भवति । नचेह किञ्चित् प्रकृत मस्ति । तस्मादसच्छब्दार्थं मनादरग्रहणम् । यदि तु यथा गोष्पदं (६।१।१४५) सेवितासेवितप्रमाणेष्वित्यत्रासेविते गोष्पदशब्दो न सम्भवतीत्यगोष्पदशब्दार्थमसेवितग्रहणं विज्ञायते तथेहापि सच्छब्दोऽनादरे न सम्भवतीत्यसच्छब्दार्थमनादरग्रहणं विज्ञायेत तदा शक्यमसच्छब्दस्य ग्रहण-

मकर्त्तुम्। असद्ग्रहणं तु क्रियते तदा विस्पष्टार्थम्। सत्कृत्वा ऽसत्कृत्वेति। शोभनाशोभनार्थाविह सदसच्छब्दौ। विद्यमानाविद्यमानार्थौ वा।

## ६४। भूषणेऽलम्।

अलं कृत्वेति। पर्य्याप्ताविहालं शब्दो वर्त्तते।

## ६५। अन्तरपरिग्रहे।

अन्तःशब्दोऽयम् मध्येऽधिकरणभूते वर्त्तते। परिग्रहे च। तत्र परिग्रहप्रतिषेधादितरत्र संज्ञा विधीयते। यस्त्वस्य स्वरादिषु पाठः स परिग्रहेऽप्यव्ययसंज्ञार्थः। अन्तर्हत्येति। मध्ये हत्वेत्यर्थः। वा (६।४।३८) ल्यपीत्यनुनासिकलोपः। वक्तव्य इति व्याख्येय इत्यर्थः। व्याख्यानन्तु पूर्वमेव कृतम्। अन्तर्धेति। आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) इत्यङ्। अन्तर्धिरिति। उपसर्गे घोः (३।३ ९२) किरिति किप्रत्ययः। अन्तर्णयतीति। उपसर्गादसमासेऽपीति (८।४।१४) णत्वम्।

## ६६। कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते।

कणेशब्दः सप्तम्यन्तप्रतिरूपको निपातः। स चेहाभिलाषातिशये वर्त्तमानो गृह्यते। तस्य हि श्रद्धाप्रतीघात इत्युपाधिः सम्भवति। मनःशब्दोऽपि तत्साहचर्य्यादभिलाषवृत्तिरेव विज्ञायते। कणे हत्वा मनो हत्वेति। अत्र कणेशब्दः सूक्ष्मे तण्डुलावयवे वर्त्ततेऽधिकरणभूते। मनश्शब्दश्चेतसि।

## ६७। पुरोऽव्ययम्।

पुरस्कृत्येति। पूर्वस्माद् देशादागत इत्यस्मिन्नर्थे पूर्वाधरावराणामसि (५।३।३९) पुरधवश्चैषामित्यसिप्रत्ययः पूर्वशब्दस्य च पुरादेशः। तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यव्ययसंज्ञा (१।१।३८)। विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्योपचार इत्येषा संज्ञा पूर्वाचार्य्यप्रणीता। नमस्पुरसोर्गत्योरिति (८।३।४०) सकारः। पूः पुरापूः पुरौ पुरः कृत्वा गत इति। पुरः कृत्वेतीदं प्रत्युदाहरणम्। पूः पुरापूः पुरौ पुरः कृत्वा गत इति। पुरःशब्दस्यानव्ययत्वप्रदर्शनार्थः। पॄ पालनविवेतयोस्तूपन्यासस्तत्साहचर्य्येण पुरःशब्दस्यानव्ययत्वप्रदर्शनार्थः। पॄ पालन-

पूरणयोः । भ्राजभासेत्यादिना (३।२।१७७) क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्त्वम् (७।१।१०२) । रपरत्वञ्च । गतिसंज्ञाया अभावादिह समासादि कार्य्यं न भवति । नमस्पुरसोर्गत्योरिति (८।३।४०) विसर्जनीयस्य सकारोऽपि न भवति । ननु च यद्यत्र गतिसंज्ञा स्याद् गतिसमासे कृते सुपो निवृत्त्या भवितव्यम् । तदा पुर इति रूपं न स्यात् । असति तस्मिन् संज्ञापि निवर्त्तते । नैतदस्ति । यद्यपि विभक्तौ निवृत्तायां पुर इति रूपं न स्यात् तथापि नैवं संज्ञा निवर्त्तते । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् ।

## ६८ । अस्तं च ।

अस्तंशब्दो मकारान्तोऽव्ययमिति । अव्ययमित्यत एव विशेषणोपादान-सामर्थ्यादव्ययत्वं विज्ञेयम् । चादेराकृतिगणत्वाद्वा । अस्तं कृत्वा काण्डं गत इति । असु क्षेपणे । निष्ठा । पूर्ववदिट्प्रतिषेधः । चकारोऽव्ययमित्य-स्यानुकर्षणार्थः । यद्येवं चानुकृष्टत्वादुत्तरत्र तस्यानुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तर-त्रापि चकारस्तदनुकर्षणार्थोऽनुवर्त्तिष्यत इत्यदोषः ।

## ६९ । अच्छ गत्यर्थवदेषु ।

अच्छशब्दोऽव्यय मभिशब्दस्यार्थ इति । अभिराभिमुख्ये । अच्छोद्येति । यजादित्वाद्वचादिसूत्रेण (६।१।१५) संप्रसारणम् । अच्छमित्यकलुषमित्यर्थः ।

## ७० । अदोऽनुपदेशे ।

उपदेशः परस्यार्थकथनम् । तच्च परस्य प्रत्यायनार्थं भवतीत्याह उपदेशः परार्थ इति । अदः कृत्वेति । एतत् कृत्वेत्यर्थः ।

## ७१ । तिरोऽन्तर्द्धौ ।

तिरोभूत्वा स्थित इति । अन्तर्भूत्वा । वा पार्श्वतोभूत्वेत्यर्थः ।

## ७२ । विभाषा कृञि ।

तिरस्कृत्येति । तिरसोऽन्यतरस्यामिति (८।३।४२) विसर्जनीयस्य सत्वम् ।

७३। उपाजेऽन्वाजे।

७४। साक्षात्प्रभृतीनि च।

साक्षात्प्रभृतिषु च्व्यर्थवचनमिति। च्व्यर्थं उच्यते कथ्यते येन तत् च्व्यर्थं वचनम्। च्व्यर्थव्याख्यानम्। एतेनैतदुक्तम् भवति साक्षात्प्रभृतीनां च्व्यर्थो येन प्रतिपाद्यते ऽस्मिन् संज्ञाविधौ तत् च्व्यर्थवचनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। किमर्थम्? असाक्षाद्भूतं यदा साक्षात् क्रियते तदा गतिसंज्ञा यथा स्यात्। यदा त्वसाक्षाद्भावो न क्रियते किंतु साक्षाद्भूतस्य प्रत्यक्षभावमुपगतस्यैव सतो योऽन्यो विशेषः कश्चित् क्रियते तदा मा भूदिति। एवं मिथ्याप्रभृतीनाम्। अमिथ्याभूतानां मिथ्याभावो यदा क्रियते तदा यथा स्यात्। अन्यदा मा भूत्। तदेवं व्याख्यानम्। ऊर्य्यादिच्विडाचश्चेत्यत्र (१।४।६१) च्विग्रहणमच्छगत्यर्थवदेष्वित्यत(१।४।६९) श्चार्थग्रहणमिह मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते। तेन च्व्यर्थे वर्त्तमानानां साक्षात्प्रभृतीनां गतिसंज्ञा विधीयत इति। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद्वा च्व्यर्थे एव वर्त्तमानानां तेषां संज्ञा भविष्यतीति। च्व्यर्थता चोभयथा सम्भवति। च्व्यन्तानामच्व्यन्तानाञ्च। तत्र यदा च्व्यन्तता भवति तदोर्य्यादिच्विडाचश्चेति (१।४।६१) नित्यं संज्ञा भवति। अन्यदा त्वनेन गतिसंज्ञा विभाषा भवति। व्यवस्थितविभाषया चास्य सूत्रस्य च्व्यर्थेष्वेव प्रवृत्तेः। मकारान्तत्वनिपातनमपि लवणादीनामच्व्यन्तानां न भवति। विभाषितगतिसंज्ञायाः सन्नियोगेन हि तेषां मकारान्तत्वनिपातनम्। अग्नौवश्चेप्रभृतयो विभक्तिप्रतिरूपकनिपाता द्रष्टव्याः। प्रादुराविःशब्दावूर्य्यादिषु पठ्येते। तयोः करोतियोगे विभाषार्थं इह पाठः।

७५। अनत्याधान उरसिमनसी।

उरसिमनसिशब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ। उरसिकृत्येति। अभ्युपगम्येत्यर्थः। मनसिकृत्येति। निश्चित्येत्यर्थः।

७६। मध्येपदेनिवचने च।

मध्येपद इति सप्तम्यन्तप्रतिरूपकौ निपातौ। निवचन इति। अर्था-

भावेऽव्ययीभावो निदृष्णं निवुसमिति यथा । निवचनेकृत्येति । उच्चारण-सामर्थ्यात् सप्तम्याः समासेऽप्यलुग् भवति । एवमुत्तरत्र ।

७७ । नित्यं हस्तेपाणावुपयमने ।

हस्तेकृत्य पाणौकृत्येति । सप्तम्याः पूर्ववदलुक् । दारकर्मेति । भार्य्याकरणम् ।

७८ । प्राध्वम् बन्धने ।

बन्धन इति निमित्तसप्तमीयम् । प्राध्वंशब्दस्यानुकूल्यवृत्तित्वाद् बन्धन इत्यस्य विशेषणं नोपपद्यत इति सामर्थ्यात् तदर्थस्य विशेषणं विज्ञायत इत्यत आह तदानुकूल्यमित्यादि । बन्धनं हेतु र्यस्य तत् तथोक्तम् । प्राध्वंकृत्येति । बन्धनेन निमित्तेनानूकूल्यं कृत्वेत्यर्थः । प्राध्वं कृत्वेति । समर्थसध्वगमने शकटमध्वाभिमुखं कृत्वेति गम्यते । उपसर्गादध्वन (५।४।८५) इत्यच् समासान्तः । नस्तद्धित इति ( ६।४।१४४ ) टिलोपः । प्रगतमध्वानमिति प्रादिसमासः । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयैवात्र प्राप्तौ सिद्धायां लाक्षणिकोऽपि प्राध्वंशब्दो यत्र बन्धनेनाभिसम्बध्यते तत्रापि गतिसंज्ञा भवतीति ज्ञापनार्थं बन्धनग्रहणम् । तेन यदा बन्धनेनैव शकटस्याध्वनि सामर्थ्यादध्वाभिमुखता विवक्ष्यते तदा प्राध्वंकृत्य शकटं गतमित्येतदपि सिद्धम्भवति ।

७९ । जीविकोपनिषदावौपम्ये ।

औपम्यविषय इति । उपमीयतेऽनयेत्युपमा । आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) इत्यङ् । तस्या भाव औपम्यम् । ष्यञ् । तत् पुनः क्रियाकारकसम्बन्धः । समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्नरूपाव्यभिचरितसम्बन्धेभ्य इति वचनात् । विषयग्रहणेनौपम्य इति सप्तम्या विषयसप्तमीत्वं दर्शयति । सम्भवति च जीविकोपनिषदावुपमाभूते प्रत्यौपम्यविषयभावः । तेन विनोप-माया अभावात् । जीविकाकृतेरित्यादि । जीविकामिव कृत्वा । उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । जीविका जीवनोपायः । उपनिषद्रहस्यं हेतुश्च । यत् तत्-सदृशं तज् जीविकेव जीविका । उपनिषदिवोपनिषदिति जीविकोपनिषद्भ्या-मुपमीयते ।

## ८०। ते प्राग् धातोः।

नियमार्थमेतत्। नियमः पुनः संज्ञानियमो वा स्यात् ते प्रादयो यदा धातोः प्राक् प्रयुज्यन्ते तदैव गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्तीति ? प्रयोगनियमो वा ? ते प्रादयो गत्युपसर्गसंज्ञकाः सन्तो धातोः प्राक् प्रयोक्तव्या इति ? तत्र यदि पूर्वोक्तो नियम आश्रीयेत तदा संज्ञावाक्यानामयमेकदेशो विज्ञायेत ते प्रादयो धातोः प्राक् प्रयुज्यमाना गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्तीति। तथाच गत्युपसर्गसंज्ञयोरनभिनिर्वृत्तत्वात् ते गत्युपसर्गसंज्ञका इति प्रत्यवमर्शो न युज्यते। निपातसंज्ञायास्त्वभिनिर्वृत्तत्वात् त इत्यनेन निपाता एव प्रत्यवमृश्येरन्। ततश्च निपातसंज्ञाया नियमः स्यात्। इतरत्र तु नियमेनायं योगो गत्युपसर्गसंज्ञावाक्यानामेकदेशभूतो भवतीति न भवत्येष दोषप्रसङ्गः। संज्ञानियमस्य चाप्राक्प्रयुज्यमानानां संज्ञानिवृत्तिः फलं स्यात्। तच्चायुक्तम्। नह्यप्राक्प्रयुज्यमानानां सत्यामपि संज्ञायां किञ्चिदनिष्टमापद्यते। इतरस्य तु नियमस्याप्राक्प्रयोगाभावः फलम्। तच्च युक्तम्। नहि गत्युपसर्गसंज्ञकानामप्राक्प्रयोग इष्यते। तस्मात् प्रयोगनियम एव न्याय्य इति तमाश्रित्याह ते गत्युपसर्गसंज्ञका इति। तथाचेत्यादि। यादृशो नियमः कृतस्तदनुरूपं तत्सदृशमेवेत्यर्थः। ननु च नैव कश्चित् प्रपठतीति प्रयोक्तव्ये पठति प्रेति प्रयुङ्क्ते। ततोऽनिष्टादर्शनादपार्थकमेतत्। नैतदस्ति। यद्यपि भाषायां धातोः परेण प्रयुज्यमानास्ते गत्युपसर्गसंज्ञका न 'दृश्यन्ते छन्दसि तु दृश्यन्ते। तत्र य एव मन्दबुद्धिः प्रतिपत्ता तेषां छन्दसि धातोः परे प्रयोगं दृष्ट्वा यथैव ते छन्दसि विषये धातोः परेण प्रयुज्यन्ते तथा भाषायामपि प्रयोक्तव्या इति मन्यते तं प्रति व्युत्पादनार्थत्वान् नास्ति वैयर्थ्यप्रसङ्गः। अथ किमर्थं तेग्रहणम् ? यावता प्रकृतत्वादेव गत्युपसर्गसंज्ञकानां प्राक् प्रयोगेण सम्बन्धो विज्ञास्यत इत्याह तेग्रहणमित्यादि। असति तेग्रहणे गतिसंज्ञकानामनन्तरत्वात् त एव प्राक्प्रयोगेण सम्बध्येरन्। तेग्रहणे तूपसर्गसंज्ञा अपि निर्दिश्यन्त इति तेषामपि सम्बन्ध उपपद्यते। तस्मादुपसर्गाणामपि प्राक् प्रयोगनियमो यथा स्यादित्येवमर्थं तेग्रहणम्। ननु च यं प्रति

क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्तीत्यन्तरेणापि धातुग्रहणं धातोरेव प्राक् प्रयोगो विज्ञास्यते। नहि धातोरन्यत्र क्रियास्ति। तत् कथं धातोरित्युच्यते ? नैतदस्ति। प्रकर्त्तुमिच्छति प्रचिकीर्षतीत्यत्रापि धातोश्च प्राक् प्रयोगो यथा स्यात्। अत्र सनः सम्बन्धिन्यैषणक्रियया युक्तः प्रशब्द इति सनं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा यथा स्यात्। ततश्चासति धातुग्रहणे तत एव प्राक् प्रयुज्येत। धातुग्रहणे तु चिकीर्षतेर्धातोः प्राक् प्रयुज्यते। न सनः।

८१। छन्दसि परेऽपि।

८२। व्यवहिताश्च।

छन्दसि व्यवहितानां प्रयोगवचनाद् भाषायां व्यवहितानां प्रयोगो न भवतीत्युक्तं भवति। यद्येवं गतिव्यवधानेऽपि प्राक् प्रयोगो न प्राप्नोति समाहरतीत्यादौ। नैष दोषः। नहि तुल्यजातीयको व्यवधायको भवति। गत्युपसर्गजातेराश्रयणान् नास्ति व्यवधानम्। आ मन्द्रैरित्यादि। अत्राङो मन्द्रैरित्यादिभिः पदैर्व्यवधानेऽपि यातेर्धातोः प्राक् प्रयोगः। आयाहीति। एतेनाङो याहीत्यनेन सम्बन्धं दर्शयति।

८३। कर्मप्रवचनीयाः।

कर्मप्रवचनीया इति वक्ष्यमाणानां संज्ञिनां बहुत्वाद् बहुवचनेन निर्देशः। महत्याः संज्ञायाः करणस्यैतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति। भूते कृत्यल्युटो (३।३।११३) बहुलमिति कर्त्तर्य्यनीयर्। कर्मशब्दः क्रियावचनः। के च कर्म प्रोक्तवन्तः ? ये संप्रति क्रियां न त्वाहुः। तदेव मन्वर्थसंज्ञाकरणद्वारेण ये क्रियां द्योतितवन्तो नतु संप्रति द्योतयन्ति ते कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवन्तीत्युक्तं भवति। यदि सम्प्रति न क्रियां द्योतयन्ति किन्तर्हि द्योतयन्ति ? सम्बन्धविशेषम्। यथा शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षदित्यत्र हि निशमनक्रियया संहिताप्रवर्षणयो र्यः सम्बन्ध उपजनितो हेतुहेतुमद्भावलक्षणस्तमनुशब्दो द्योतयति। कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां सत्यां कर्मप्रवचनीययुक्ते (२।३।८) द्वितीयेति द्वितीया भवति।

## ८४ । अनुर्लक्षणे ।

लक्षणशब्दोऽत्र चिह्ने वर्त्तत इति मत्वा कश्चिच्चोदयति किमर्थमित्यादि। इतरस्तु लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सास्वित्यादौ सूत्रे। तत्र चिह्ने ज्ञापके वर्त्तमानस्य लक्षणशब्दस्य ग्रहणम्। इह तु कारके हेतौ। अतस्तेन न सिध्यतीत्यनेनाभिप्रायेण तं प्रत्याह हेत्वर्थन्तु वचनमित्यादि। तु शब्दोऽवधारणे हेत्वर्थमेवेति। हेतुशब्दोऽत्र कारकहेतुवचनो न ज्ञापकहेतुवचनः। अन्यथा ह्यपरिहार एवायं स्यात्। हेतुरर्थो यस्य तत् तथोक्तम्। हेतौ वर्त्तमानस्यानोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थमिदं वचन मित्यर्थः। किमर्थं पुनर्हेतौ वर्त्तमानस्य तस्येयं संज्ञा विधीयत इत्याह हेतौ तृतीयाया मित्यादि। संहिता हि वर्षणस्य हेतुः। अनुडुद्यज्ञः सेकस्य। तथाहि संहितामनुनिशम्य श्रुत्वा प्रावर्षत्। अनुडुद्यज्ञञ्चानुनिशम्यासिञ्चत्। तत्र यदि हेतावनोरेषा संज्ञा नोच्येत शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षदित्यादौ हेताविति (२।३।२३) तृतीया स्यात्। तस्मात् तां बाधित्वा द्वितीयैव यथा स्यादित्येवमर्थं हेताविय संज्ञा ऽनो विधीयते।

## ८५ । तृतीयार्थे ।

नदीमन्ववसितेति। सहार्थोऽत्र तृतीयार्थः। सहयुक्तेऽप्रधान इति (२।३।१९) सहार्थयोगे तृतीयाविधानात्। अन्ववसितेति। षिञ् बन्धन इत्यस्य निष्ठायां रूपम्।

## ८६ । हीने ।

अनु शाकटायनं वैयाकरणा इति। शाकटायनमपेक्ष्यान्ये वैयाकरणा हीना इति। अपेक्षयात्र जनितो यः सम्बन्धस्तेन व्यतिरिच्यते शाकटायन इति। ततः षष्ठ्यां प्राप्तायां तदपवादेन द्वितीया विधीयते। एकयैव विभक्त्योभयस्योऽपि सम्बन्धो द्योतित इति। तेन सम्बन्ध्यन्तरवाचिनो वैयाकरणशब्दादपरा सम्बन्धविभक्ति र्न भवति।

## ८७ । उपोऽधिके च ।

अधिकमध्यारूढमुच्यते। नचानधिकेन विनाधिकं सम्भवति। तेनाधि-

के सम्बन्धे ऽध्यारूढ़क्रियाजनिते संज्ञेयं विज्ञायते। चकाराद्धीने च। उपख्यार्थां द्रोण इति। खार्य्यां द्रोणोऽधिक इत्यर्थः। यस्मादधिक (२।३।९) मित्यादिना सप्तमी। तयैव सम्बन्धस्याभिहितत्वाद् द्रोणशब्दात् कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीयेति (२।८।८) द्वितीया न भवति।

## ८८। अपपरी वर्ज्जने।

प्रकृतेन सम्बन्धिनेति। वर्षादिना। कस्यचिदिति। त्रिगर्त्तादेः। अप त्रिगर्त्तेभ्य इति। पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति (२।३।१०) पञ्चमी। परि परि त्रिगर्त्तेभ्य इति। परेर्वर्जन इति (८।१।५) द्विर्वचनम्। ओदनं परिषिञ्चतीति। सर्वतः सिञ्चतीत्यर्थः। शे मुचादीनामिति (७।१।५९) नुम्। कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया अभावादुपसर्गसंज्ञैव भवति। तेनोपसर्गात् सुनोतीत्यादिना (८।३।६५) षत्वं भवति।

## ८९। आङ् मर्य्यादावचने।

यत्राङो मर्य्यादायामभिविधौ च कार्य्यमिच्छति तत्रोभयोरपि ग्रहणं करोति यथाङ् (२।१।१३) मर्य्यादाभिविध्योरित्यादि। इह तु मर्य्यादाग्रहणमेव कृतं नाभिविधिग्रहणम्। अतोऽभिविधावनया संज्ञया न भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तां निराकर्त्तुमाह वचनग्रहणादित्यादि। वचनग्रहणे हि सति बहुव्रीहिर्लभ्यते। मर्य्यादेत्येतद्वचनं यत्र सूत्रे तन्मर्य्यादावचनम्। तत्रायमर्थो भवति। यत्र मर्य्यादाग्रहण मस्ति सूत्रे तत्र य आङ् स कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति। तत् पुनः सूत्रमाङ् मर्य्यादाभिविध्योरित्येतत् (२।१।१३)। तत्र चाङ् मर्य्यादाभिविध्योर्वर्त्तमान उपात्त इत्युभयत्रापि भवति। अनेत्याङः। मर्य्यादाविशेषो ह्यभिविधिः। सैव हि मर्य्यादा यदा कार्य्येणाभिसम्बध्यते तदाभिविधिरित्युच्यते। यदा तु नाभिसम्बध्यते तदा मर्य्यादेति। तत्रेह वचनग्रहणाद् विशेषो नाश्रीयते। तेन मर्य्यादा वचनमात्र उक्तिमात्रे भवति। अन्यथा हि मर्य्यादायामित्येवं वाच्यं स्यात्। किं वचनग्रहणेनेति? यदि तर्हि मर्य्यादाविशेष एवाभिविधिरिति तर्ह्याङ् मर्य्यादाभिविध्योरी (२।१।१३)·

षदर्थे क्रियायोगे मर्य्यादाभिविधौ च य (H) इत्यत्नाभिविधिग्रहणं किमर्थम् ? मर्य्यादासामान्यस्यैव प्रपञ्चार्थम्। मर्य्यादासामान्यस्यैवायं भेद इति प्रदर्शनार्थमित्यर्थः। आ पाटलिपुत्त्राद्वृष्टो देव इति। पूर्ववत् पञ्चमी। आ मथुराया इति। वृष्टो देव इत्यपेक्षते। एकत्नोदाहरणे वर्जनक्रियाजनितमवध्यवधिमद्भावलक्षणं सम्बन्धमाङ् द्योतयति। अपरत्न व्याप्तिक्रियाजनितम्। कः पुनर्वर्जनस्य मर्य्यादायाश्च विशेषो येन पूर्वसूत्ने वर्जनमभिधायेह मर्य्यादाग्रहणं करोति ? अयमस्ति विशेषः। वर्जने हि तत्परित्यागेनान्यत्न सामान्येन वर्षणादिना सम्बन्धो गम्यते यथा आ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देव इति। अत्र हि यस्यां दिशि व्यवस्थितो वक्तेदं वाक्यं प्रयुङ्क्ते तस्यां दिशि यो देशो य स्तथान्यासु दिक्षु तत्न सर्वत्नैव त्रिगर्त्तान् वर्जयित्वा वृष्ट इति गम्यते। मर्य्यादायान्त्विदं वाक्यं प्रयुङ्क्त आ पाटलिपुत्त्राद्वृष्टो देव इति। तत्सम्बन्धिन्यामेव दिशि यो व्यवस्थितो देशस्तस्य देशस्य वर्षणेन सम्बन्धः प्रतीयत इत्येष विशेषः। ईषदर्थे क्रियायोगे मा भूदिति। ईषदर्थ आकड़ार इति। क्रियायोगे समाहरतीति। पूर्वत्न संज्ञाया अभावात् पञ्चमी न भवति। इतरत्न गतिर्गताविति (८।१।७०) निघातो भवति। यस्तु वाक्यस्मरणयोराकारो वर्त्तते तस्याङिन्त्वादिह ङकारोच्चारणादेव संज्ञाया अप्रसक्तिः।

## ९०। लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः।

लक्षणं ज्ञापको हेतुश्चिह्नमिहाभिप्रेतम्। लक्ष्यते चिह्नते ऽनेन तल्लक्षणम्। भू प्राप्तावात्मनेपदी। तस्मादा (गणसूत्र २०२) धृषाद्वेति विभाषितणिचो यदा चुरादिणिज् नास्ति तदा क्तान्तस्य भूत इति रूपम्भवति। कञ्चित्प्रकारमापन्नमित्थम्भूतम्। तस्याख्यानमित्थम्भूताख्यानम्। स्वीक्रियमाणोंऽशो भागः। यस्त्वस्वीक्रियमाणे ऽशे भागशब्दः प्रयुज्यते प्रियङ्गोर्भागो नगरस्य भाग इति स स्वीक्रियमाणांशसादृश्यात्। पदार्थान् व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। एते च लक्षणादयः प्रत्यादीनां न द्योत्याः। किं तर्हि ? विषयभूताः। अतएवाह विषयभूतायामिति। एतच्चाभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति लिङ्गविपरिणामं कृत्वा

---

(H) १।१।१४ सूत्रभाष्यस्थोऽयं भाष्यकारीयश्लोकांशः।

लक्षणादिभिः सम्बध्यते । यदि लक्षणादयः प्रत्यादीनां न द्योत्या स्तर्हि किं ते द्योतयन्ति ? सम्बन्धविशेषम् । वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदिति । अत्र वृक्षो लक्षणम् । विद्योतमाना विद्युल्लक्ष्या । सा हि वृक्षं प्राप्य विद्योतत इति तयोः प्राप्तिक्रियाजनितोऽत्र लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धः प्रतिशब्देन द्योत्यते । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रतीति । प्रतिना देवदत्तस्य मातृविषया साधुभावापत्तिराख्यायते । अत्रापि मातरं प्राप्य साधुभावापत्तिरिति प्राप्तिक्रियाजनित एव मातुः साधुभावापत्तेश्च विषयविषयिभावलक्षणः सम्बन्धः प्रतिनाऽख्यायते । यदत्र मामित्यादि । यो भागो मामभिभजते स दीयतामित्यर्थः । अत्रापि विभजनक्रियाजनितः स्वीकारक्रियाजनितो वा स्वस्वामिभावः सम्बन्धः । मामिति । अस्मच्छब्दस्य त्वमावेकवचन (७।२।९७) इति मादेशः । द्वितीयायाञ्चेत्यात्वम् (७।२.८७)। वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चतीति । अत्र वीप्सा द्विर्वचनेनैव द्योत्यते । प्रतिशब्दस्य तु सेकक्रियाजनितो वृक्षाणां यः सम्बन्धः साध्यसाधनभावलक्षणः स एव द्योत्यः । वृक्षादिनिमित्तं साधनम् । सेकः साध्यः । द्वितीया चेह सकर्मकत्वात् सिचेः सेकेन व्याप्तुमिष्टतमानां वृक्षाणां कर्मत्वे सति कर्मणि (२।३।२) द्वितीयेत्यनेनैव सिद्धा । कर्मप्रवचनीयसंज्ञयोपसर्गसंज्ञाया निवर्त्तितत्वादुपसर्गात् सुनोतीत्यादिना (८।३।६५) षत्वं न भवति । परिषिञ्चतीति । सर्वतः सिञ्चतीत्यर्थः । अथेत्यादि चोद्यम् । वर्जनेत्यादि परीहारः । अपशब्दसाहचर्यादित्यत्रैवोपपत्तिः । तत्र हि कर्मप्रवचनीयाधिकाराद् वर्जनार्थस्यापशब्दस्य ग्रहणं वर्जन एव । तस्यापपरी वर्जने (१।४।८८) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता । तस्मात् तेन साहचर्य्याद् वर्जनार्थस्य परी र्ग्रहणम् । अतस्तेनापि योगे वर्जन एव विषय इयं पञ्चमी विधीयते । न लक्षणादिषु ।

## ९१ । अभिरभागे ।

यदत्र मामभिष्यादिति । श्नसोरल्लोप (६।४।१११) इत्यकारलोपः । कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया अभावादुपसर्गत्वमस्त्येव । तेनोपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्पर (८।३।८७) इति षत्वम् । मामिति । यद्यप्यस्तिरकर्मकस्तथाप्यकर्मका अपि

धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि द्वितीया। ननु चाभिशब्दो भागसम्बन्धस्य द्योतक इति तेनास्तेः सम्बन्धो नास्ति। तत् कथं सकर्मकता? नैतदस्ति। अस्तिसम्बन्धद्वारेण ह्यभिशब्दो भागसम्बन्धं द्योतयति। अन्यथा हि यदि तस्यास्तिना योगो न स्यात् तदोपसर्गसंज्ञापि न स्यात्। तत उपसर्गसंज्ञानिबन्धनमभिष्यादिति षत्वमपि न स्यात्।

## ९२। प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः।

अभिमन्युरर्जुनतः प्रतीति। अर्जुनो मुख्यः। तत्सदृशोऽभिमन्युः। सोऽर्जुनमनुकरोतीत्यत्रानुकरणक्रियाजनितः सम्बन्धविशेषोऽनुकार्य्यानुकरणभावः प्रतिना द्योत्यते। प्रतिनिधिप्रतिदाने च (२।३।११) यस्मादिति पञ्चमी। प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः। माषानस्मै तिलेभ्य इति। तिलानां पूर्वदत्तानां माषाणां प्रतिदानमिह निर्य्यातनम्। तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः। दानग्रहणक्रियाजनितोऽत्र सम्बन्ध उत्तमर्णाधमर्णभावलक्षणः।

## ९३। अधिपरी अनर्थकौ।

अनर्थान्तरवाचिनाविति। एतेनानर्थान्तरवाचित्वादनर्थकावित्युक्तम्। न त्वर्थाभावादिति दर्शयति। यदि ह्यविद्यमानार्थत्वादनर्थकौ स्यातां निरर्थकमिदं सूत्रं स्यात्। तथाहि कर्मप्रवचनीयसंज्ञा गत्युपसर्गसंज्ञाबाधनार्थाऽनेन विधीयते। न चानर्थकयोरधिपर्य्योर्गत्युपसर्गसंज्ञाप्राप्तिरस्ति। यं प्रति क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञाविधानात्। अनर्थकयोश्च क्रियायोगासम्भवात्। कुतोऽध्यागच्छतीत्यादि। कुत इत्यपादाने (२।३।२८) पञ्चमी। कर्मप्रवचनीयेति (२।३।८) द्वितीया न भवति। उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति ( परिभाषा, १०२ ) वचनात्। सूत्रारम्भस्य तु प्रयोजनमाख्यातमेव। कुत इति। किंशब्दात् पञ्चम्यास्तसिलिति (५।३।७) तसिल्। कु तिहोरिति (७।२।१०४) कुभावः। कर्मप्रवचनीयसंज्ञया गत्युपसर्गसंज्ञयोर्बाधितत्वाद् गतिर्गताविति (८।१।७०) निघातो न भवति। ननु चागच्छतीत्युक्ते आगमनं विशिष्टं प्रतीयते। अध्यागच्छति पर्य्यागच्छतीति। अधिपरियोगे त्वागमनस्योपरिभावः सर्वतोभावश्चावगम्यते

इत्यपरो विशेषः । तत् कथमनर्थान्तरवाचित्वमनयोः ? नैतदस्ति । यदा तयोरप्यर्थयोः प्रकरणादेः कुतश्चिदवगतयोरधिपरी प्रयुज्येते तदा तयोरनर्थान्तरवाचित्वं वेदितव्यम् । कथं पुनरवगतार्थयोः प्रयोग उक्तार्थानामप्रयोग इति वचनात् ? सत्यम् । अवगतार्थस्यापि प्रयोगो दृश्यते यथा ब्राह्मणौ द्वाविति । लोकस्य प्रयोगे गुरुलाघवं प्रत्यनादरात् ।

## ९४ । सुः पूजायाम् ।

सुसिक्तं भवतेति । भवच्छब्दात् कर्त्तरि तृतीया । द्वितीया तु पूर्ववदेव न भवति । धात्वर्थः स्तूयत इति । शोभनोद्भावनं स्तुतिः । सैव तस्य पूजा । उपसर्गाश्रयं षत्वं न भवतीति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञयोपसर्गसंज्ञाया बाधितत्वादिति भावः । सुषिक्तं किं तवात्रेति । क्षेपोऽयं न पूजा ।

## ९५ । अतिरतिक्रमणे च ।

अतिस्तुतमेव भवतेति । निष्पन्नेऽपि फले स्तुतिः प्रवृत्तेत्यर्थः । शोभनं कृतमित्यर्थं इति । पूजामाविष्करोति ।

## ९६ । अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ।

पदार्थ इति । अन्यस्य पदस्यार्थो लक्ष्यते । न स्वार्थो नापि स्वसम्बन्धिनः पदस्यार्थः पदार्थः । स्वपदार्थग्रहणे स्वसम्बन्धिपदार्थग्रहणे वा पदार्थग्रहणमनर्थकं स्यात् । अपिशब्दस्य हि योऽर्थो यश्चापिशब्दसम्बन्धिनः स्यादित्यादेः पदस्य स पदार्थ एवेति किं पदार्थग्रहणेन ? तस्मात् पदार्थग्रहणसामर्थ्याद् विशिष्टपदस्यार्थो विज्ञायतइत्याह पदान्तरस्येत्यादि । सर्पिषोऽपि स्यादिति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञयोपसर्गसंज्ञाया निवर्त्तितत्वादुपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तियच्पर इति षत्वं (८।३।८७) न भवति । अथ सर्पिःशब्दाद् द्वितीया कथं न भवति ? अपिशब्देन तस्य योगाऽसम्भवात् । सर्पिषो हि या मात्रा सापिशब्देन युक्ता न सर्पिः । मात्राशब्दात् तर्हि कस्मान्न भवति ? तस्य प्रयोगाभावात् । यदा तु प्रयुज्यते तदा कर्मप्रवचनीयसंज्ञैव नास्ति । अप्रयुज्यमानस्य पदान्तरस्यार्थे तद्विधानात् । अधिकार्थवचनेनेति । अधिकार्थो मूलकसहस्रसेकादिः । तस्य वचनेन सेकादावर्थे

क्रियायां यच्छक्तेरप्रतिघातस्याविष्करणं प्रकाशनं तत् सम्भावनम्। अपि सिञ्चेन् मूलकसहस्रम्। अपि स्तुयाद्राजानमिति। तस्य सेके स्तुतौ च सामर्थ्यं न विहन्यत इत्यर्थः। सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोग (३।३।१५४) इति लिङ्। कामाचाराभ्यनुज्ञानमिति। कामचार इच्छया प्रवृत्तिः। तस्याभ्यनुज्ञानं कामचाराभ्यनुज्ञानम्। अपि सिञ्च अपि स्तुहीति। सिञ्च वा स्तुहि वा यथेष्टमभ्यनुज्ञातोऽसीत्यर्थः। धिग् जाल्मं देवदत्तमिति।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥१॥

इत्युपसंख्यानाद्द्वितीया (२।३।२, वा)। अपि सिञ्चेत् पलाण्डुमिति। अर्हे कृत्यतृचश्चेति (३।३।१६९) लिङ्। पलाण्डुमिति कर्मणि द्वितीया। अपि सिञ्च अपि स्तुहीति। एकस्मिन् कर्त्तरि स्तुतिसेकक्रिययोश्चीयमानता। अत्र समुच्चयः। सिञ्च च स्तुहि चेति प्रसिद्धसमुच्चयार्थस्य चशब्दस्य प्रयोगेण तमेव समुच्चय मुदाहरणे व्यक्तीकरोति।

## ९७। अधिरीश्वरे।

तदयं स्वस्वामिकसम्बन्ध इति। परिपालनादिक्रियाजनितोऽत्र सम्बन्धः। तत्रेत्यादि। सर्व्वत्र हि सम्बन्धे किञ्चिदनूद्यते किञ्चिदाख्यायते। यत् प्रसिद्धं तदनूद्यते। यदप्रसिद्धं तदाख्यायते विधीयते ज्ञाप्यते यथा यः कुण्डली स देवदत्त इति। कुण्डलित्वानुवादेन देवदत्तत्वं विधीयते। यच्च विधीयते तत् प्रधानम्। इतरदप्रधानं विशेषणम्। तत्र यदा स्व मप्रसिद्धत्वाद्विधीयते तदा स्वामी प्रधानत्वाद् व्यतिरेकमापद्यत इति तत एव कर्म्मप्रवचनीयसंज्ञायुक्तत्वाद् व्यतिरेकनिबन्धनविभक्तौ षष्ठ्यां प्राप्तायां तदपवादो यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र (२।३।९) सप्तमीति सप्तमी भवति। तथैव सम्बन्धस्य द्योतितत्वात् स्वात् प्रथमैव भवति। न सप्तमी। यदा तु स्वाम्यप्रसिद्धत्वाद् विधीयते तदा विपर्य्ययो वेदितव्यः।

## ९८। विभाषा कृञि।

अधिरीश्वर इति वर्त्तते। तेन प्राप्ते विभाषेयम्। अधिपूर्वः करोति-

विनियोगे वर्त्तते । विनियुक्तस्यैवैश्वर्य्यं सम्पद्यते । यदत्र मामधिकरिष्यतीति। मामिति कर्मणि द्वितीया । अधिकरिष्यतीति । अत्र निपातैर्यद्यदी- त्यादिना (८।१।३०) निघाते प्रतिषिद्धे ऽस्य प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वं भवति ।

## ९९ ।° लः परस्मैपदम् ।

ल इति प्रथमा वा स्यात् षष्ठी वा ? तत्र यदि प्रथमा स्याल्लकारस्यैव परस्मैपदसंज्ञा स्यात् । न तदादेशानां तिबादीनाम् । कामं तेषामपि स्थानि- वद्भावेन स्यात् । तङानावात्मनेपदमित्यत्र (१।४।१००) तु ल इत्यनेन तङानयोः सम्बन्धो नोपपद्येत । 'नहि तङानौ लौ भवतः । अत्र तङानभावी लकार एव तङानावित्येवमभिहितः । साहचर्य्याद्वा लादेशौ तङानावेव । ल इत्युक्ता- विति व्याख्येयम् । तथाच व्याख्यानद्वारेणेष्टार्थप्रतिपत्तौ साध्यायां प्रति- पत्तिगौरवं स्यात् । षष्ठीपक्षे त्वेष दोषो नास्ति । अतस्तमाश्रित्याह लइति षष्ठीत्यादि । नन्वयमपि पक्षो दोषवानेव । लादेशस्य हि परस्मैपद- संज्ञा विधीयमाना तिङां न स्यात् । तेषां परत्वात् तिङस्त्रीणि त्रीणीत्यादिना (१।४।१०१) प्रथमपुरुषादिसंज्ञया भवितव्यम् । परस्मैपदसंज्ञायास्तु शतृक्वसो- श्चावकाशः । नैष दोषः । यदयं सिचि वृद्धिः (७।२।१) परस्मैपदेष्वित्याह तज् ज्ञापयति भवति च तिङां परस्मैपदसंज्ञेति । स हि परस्मैपदे परे सिचि विधीयते । नहि सिज्विषये शतृक्वसू सम्भवतः । तिप्तस्झीत्यादि रूपोदाहरणमात्रम् ।

## १०० । तङानावात्मनेपदम् ।

कतीह निघ्नाना इति । निपूर्वाद्धन्तेस्ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् इति (३।२।१२९) चानश्प्रत्ययः । गमहनेत्यादिनोपधालोपः (६।४।९८) । होहन्तेर्ञ्णिन्नेष्विति (७।३।५२) कुत्वम् । यद्यनादेशोऽपि चानशात्मनेपद- संज्ञकः स्यात् परस्मैपदिनो हन्तेर्न स्यात् ।

## १०१ । तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ।

तिङ इति प्रथमाबहुवचनम् । तिङः संज्ञिनः किम्भूताः ? त्रीणि त्रीणीत्येवम्भूता इत्यर्थः । वचनापेक्षया नपुंसकलिङ्गेन निर्देशः । वीप्सायाञ्चैतद्

द्विर्वचनम्। यदि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रथममध्यमोत्तमपुरुषसंज्ञकानि भवन्त्येवं सति षट् त्रिकाः संज्ञिनः संज्ञास्तिस्र इति यथासंख्यं न प्राप्नोति। वैषम्यात्। तत्र यद्येकस्यानेकसंज्ञाविधानवैयर्थ्यादेका संज्ञा भवेत् न त्वेकैकस्य तिस्रस्तथापि सैवैकैका भवन्तीत्यव्यवस्था वा स्यात्। नैष दोषः। इह हि परस्मैपदग्रहणमात्मनेपदग्रहणञ्चानुवर्त्तते। तदनुवृत्तौ च द्वौ राशी भवतः। नवानां तिङां परस्मैपदसंज्ञकानामेको राशिः। तथा नवानामात्मनेपदसंज्ञकानां द्वितीयः। तत्र प्रथमे राशौ ये त्रयस्त्रिका ये च द्वितीये राशौ त्रयस्त्रिका तैरिदं सूत्रं प्रत्येकमभिसम्बध्यते। परस्मैपदेषु तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमास्तथात्मनेपदेषु तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमा इति। एवं हि सति न भवति संख्यातानुदेशाभावप्रसङ्गः। तमेवार्थं दर्शयितुमाह तिङोऽष्टादश प्रत्यया इति। नवेत्यादिना राशिद्वयं दर्शयति। तत्रेत्यादिना प्रथमे राशौ ये त्रयस्त्रिकास्तैरस्य सूत्रस्य सम्बन्धं करोति। आत्मनेपदेष्वित्यादिनापि द्वितीये राशौ ये त्रयस्त्रिकास्तैश्च।

## १०२। तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः।

तानीति बहुवचनं संज्ञासमावेशार्थम्। अन्यथा ह्येकसंज्ञाधिकारे सति वचनप्रामाण्यात् पुरुषवचनसंज्ञाः पर्य्यायेण प्रवर्त्तेरन्। एवञ्च तवाङुत्तमस्य पिच्चेत्यादिना (३।४।९२) विधीयमानमाड़ादिकार्य्यं पाक्षिकं स्यात्। अस्मिंस्तु सति भवति संज्ञासमावेशः। तच्छब्देन हि त्रीणि त्रीणि लब्धपुरुषसंज्ञकानि प्रत्यवमृश्यन्ते। तेन यानि लब्धप्रथमपुरुषादिसंज्ञकानि तान्येवैकवचनादिसंज्ञकानि भवन्तीति प्रत्यवमृश्यन्ते। तेन यानि लब्धप्रथमपुरुषादिसंज्ञकानि तान्येवैकवचनादिसंज्ञकानि भवन्ति। ननु च त्रिकाणां प्रथमादिसंज्ञैकैकस्य चैकवचनादिसंज्ञा। तत्र विषयभेदादेकसंज्ञाधिकारेऽपि विरोधो नास्त्येवेति। नैष दोषः। तदस्ति पुरुषादिसंज्ञापि हि प्रत्येकमेव। नहि समुदायो नामान्यस्त्रिकेभ्योऽस्ति। तस्मात् तिबादयस्त्रिका एव संज्ञिनः। त्रिग्रहणन्तु मर्य्यादार्थम्। त्रित्वसंख्यापरिच्छिन्नास्तिङः प्रत्येकं पुरुषसंज्ञाः प्रतिपद्यन्ते। तस्मात् प्रथमादिसंज्ञानामेकवचनादिसंज्ञानाञ्चैकविषयत्वेवेति संज्ञासमावेशार्थं तानीत्युक्तम्।

## १०३ । सुपः ।

सुबिति प्रत्याहारग्रहणम् । प्रथमैकवचनात् सुशब्दादारभ्य सप्तमीबहुवचनस्य सुपः पकारेण । अथ कपः पकारेणायं प्रत्याहारः कस्मान्न विज्ञायते ? सप्तमीबहुवचनस्य पकारस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । स ह्यनुदात्तार्थः स्यात् । प्रत्याहारार्थो वा । तत्रानुदात्तार्थो न भवति । अनुदात्तस्य सुप्त्वादेव सिद्धत्वात् । तत्र यदि प्रत्याहारार्थोऽपि न स्यात् तदास्यापार्थकत्वमेव स्यात् । तस्मात् तेनैवायं प्रत्याहारो विज्ञायते । न तु कपः पकारेण । स्वरविधौ तस्य चरितार्थत्वात् ।

## १०४ । विभक्तिश्च ।

चकारः पुरुषादिसंज्ञासमावेशार्थः । विना तेनैकसंज्ञाधिकारे वचनप्रामाण्यात् पर्यायः स्यात् । तिङो विभक्तित्वे प्रयोजनं न विभक्तौ तुस्मा (१।३।४) इतीत्संज्ञाप्रतिषेधः । सुपस्त्वेतच्चान्यच्च त्यदाद्यत्वादि ।

## १०५ । युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ।

नियमार्थमेतदिति दर्शयितु माह लस्येत्यधिकृत्येत्यादि । एतच्च नियमार्थत्वे कारणम् । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थो भवति । नासिद्धे । स पुनरयं नियम उपपदार्थनियमो वा स्यात् तिङो युष्मद्युपपदे मध्यम एव ? पुरुषनियमो वा स्याद् युष्मद्येवोपपदे मध्यम इति वा ? तत्र यदि प्रथमो नियम आश्रीयते त्वया कुर्वता त्वया कुर्वाणेनेति युष्मद्युपपदे लस्य शतृशानजादेशौ न भवतः । तस्मात् तदर्थं यत्नान्तरमास्थेयम् । इतरत्र तु न किञ्चिद् यत्नसाध्यमतो द्वितीयपक्षमाश्रित्याह तेषामनेनेत्यादि । व्यवहिते चाव्यवहिते चेति । ननु च परस्परं सन्निकृष्टं यत्पदं तदुपपदमुच्यत उपोच्चारितं पदमुपपदमिति कृत्वा । यच्च व्यवहितं तदव्यवहितापेक्षया विप्रकृष्टमतो व्यवहितेन भवितव्यम् । नैष दोषः । यस्मात् सन्निकृष्टं विप्रकृष्टमित्यव्यवस्थितमेतदुभयग्रहणम् । सापेक्षत्वाद् परापरवत् । तत्र यद्यव्यवहितमपेक्ष्य व्यवहितं विप्रकृष्टं भवति तथाप्यन्यद् विप्रकृष्टतरमपेक्ष्य सन्निकृष्टं भवतीतीतरत्र व्यवहितेनापि भवितव्यम् ।

यद्येवमुपपदग्रहणं किमर्थम्? पूर्वभूतेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थं कृतम्। अन्यथा युष्मदीत्येतावत्युच्यमाने तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति (१।१।६६) परभूत एव युष्मदि पूर्वस्य मध्यमः स्यात्। न तु पूर्वभूते परस्य। उपपदग्रहणादत्रापि भवति। पूर्वेण परेणापि प्रयुज्यमानमुपपदं भवत्येव। समानाधिकरण इत्यनेन समानाभिधेय इति व्याचक्षाणोऽयमधिकरणशब्दोऽभिधेयवचनः सूत्र उपात्त इति दर्शयति। तत् पुनरभिधेयं यत्र लकार उत्पद्यते कर्त्तरि कर्मणि वा कारके प्रत्यासत्तेस्तदेव विज्ञायत इत्याह तुल्यकारक इत्यादि। तुल्यं कारकं यस्य तत् तथोक्तम्। तुल्यशब्देन समानशब्दस्यार्थो दर्शितः। प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमानेऽपीति। अनेन स्थानिन्यपीत्यस्यार्थमाचष्टे। स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची। स्थानमस्यास्तीति स्थानी। कस्य च स्थानम्? तस्यैव स्थानमस्ति यस्यार्थो गम्यते शब्दो न प्रयुज्यते। तदेतदुक्तम्भवति। अप्रयुज्यमानेऽपि युष्मदि। अपिशब्दात् प्रयुज्यमानेऽपि। समानाधिकरणग्रहणं किम्? त्वया पच्यत इत्यत्र मा भूत्। भिन्नं ह्यत्राधिकरणम्। तथाहि त्वयेत्येतत् कर्त्तृवाचि। कर्त्तरि तृतीयाविधानात्। पच्यत इति कर्मवाचि। कर्मणि लकारविधानात्।

## १०६। प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।

प्रहासे गम्यमान इति। यत्र भूतार्थाभावाद् वचनेनैव केवलं तत्र वक्तुरभिप्रायाविष्करणेन प्रहासो गम्यते। मन्योपपद इति। मन्यतिरुपपदमुपोच्चारितं पदं यस्य स तथोक्तः। मध्यमस्य धातोर्विधानाद् धातुरन्यपदार्थो विज्ञायत इत्याह धातोरिति। स चैकवदिति। यत्र द्वौ मन्तारौ बहवो वा तत्रायमेकवद्भावो विधीयते। अन्यत्र तु मन्तुरेकत्वादेवैकवचनं सिद्धम्। मध्यमोत्तमयोरिति। यथाक्रमं युष्मदस्मदोरुपपदयोः समानाधिकरणयोरप्रयुज्यमानयोरप्यर्थस्य विद्यमानत्वात्। यथा प्रत्युदाहरणे पूर्वकमुपपदग्रहणं युष्मच्छब्देनाभिसम्बद्धमिहानुवर्त्ततेति तन्मन्यतिनाऽशक्यमभिसम्बन्धुमिति पुनरुपपदग्रहणं क्रियते। मन्यतेरिति श्यना निर्देशो मन ज्ञान इत्यस्य दैवादिकस्य ग्रहणं यथा स्यात् मनु अवबोधन इत्यस्य तानादिकस्य ग्रहणं मा भूदित्येवमर्थः।

तेनेह न भवति। एहि मनुषे रथेन यास्यामि नहि यास्यसि यातस्तेन ते पितेति। एवं हि मनोतेर्भवति।

## १०७। अस्मद्युत्तमः।

यदा युष्मदस्मदी द्वे अप्येते उपपदे स्तः तदा कथं भवितव्यम्? यदि कर्त्तृशक्ती आधारप्रतिनियते अपेक्ष्येते तदाऽऽख्यातमपि पृथगेव प्रयुज्यते। पचसि पचामि चेति। अथाविरोधाच्छक्तिद्वयेऽपि लकार उत्पद्यते तदा विप्रतिषेधादुत्तम एव भवति त्वञ्चाहञ्च पचाव इति। यद्यपि त्यदादीनां यद् यत् परं तच्छिष्यत (I) इत्यस्मच्छब्दस्य शेषो भवति तथापि स्थानिन्यपीति मध्यमस्य प्राप्तौ सत्यां परत्वादुत्तम एव भवति। आवां पचाव इत्यत्र ह्यस्मच्छब्दस्य युष्मदर्थोऽपि वाच्यः। अन्यथा हि द्विवचनं न स्यात्। न ह्यस्मच्छब्दस्यैव द्वित्वमुपपद्यते।

## १०८। शेषे प्रथमः।

## १०९। परः सन्निकर्षः संहिता।

परशब्दोऽतिशये वर्त्तत इति। यथा परं सुखं परं दुःखमिति। एतेन यद्यपि परशब्दो दिगादिष्वप्यर्थेषु वर्त्तते तथापीहातिशये वर्त्तमानस्य तस्य ग्रहणमिति दर्शयति। सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः संश्लेषश्च। तत्रेह प्रत्यासत्तिर्गृह्यत इति दर्शयन्नाह सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिरिति। संश्लेषस्तु न गृह्यते। तस्य वर्णेष्वसम्भवात्। संश्लेषो ह्येककालानां भवति। न च वर्णानामेककालतास्ति। क्रमेणोच्चारितत्वादुच्चरितप्रध्वंसितत्वात्। सत्यामपि चैककालतायां न सम्भवत्येव वर्णानां संश्लेषः। तथाहि संश्लेषः संयोगतो वा स्यात् समवायतो वा। तत्र पूर्वको द्रव्यस्यैव स्यात्। न तु शब्दस्य निर्गुणा गुणा इति कृत्वा। इतरोऽपि नैव शब्दस्य सम्भवति। नहि वर्णो वर्णे समवैति। शब्दस्याकाशसमवायित्वात्। न च संयोगसमवाययोरतिशयः सम्भवति। सर्वत्रैकरूपत्वात्। तथाच पर इति विशेषणं नोपपद्यते। प्रत्यासत्तिस्त्वपेक्षा-

(I) इदं त्यदादीनि सर्वैर्नित्यं (१।२।७२) मिति सूत्रस्थवार्त्तिकानुवादमूलकं वृत्तिग्रन्थांशकम्। दीक्षितेनापीदं गृहीतम्।

क्तभेदात् प्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां प्रयुज्यमानापरग्रहणेन विशिष्यत इति युक्तं तस्य विशेषणत्वम्। कः पुनरसौ परः सन्निकर्ष इत्याह अर्द्धमात्रेत्यादि। अर्द्धं मात्राया इत्यर्द्धं नपुंसकमिति (२।२।२) समासः। अर्द्धमात्रायाः कालोऽर्द्धमात्राकालः। यावता कालेनार्द्धमात्रोच्चार्य्यते सोऽर्द्धमात्राकालः। अतिशयेन सन्निकृष्टान् वर्णानुच्चारयति वक्तरि पूर्वस्य वर्णस्य ये निष्पादकास्ताल्वादयस्तेषां व्यापारोपरतौ वर्णान्तरस्य च ये निष्पादकास्ताल्वादयस्तेषां व्यापारोपवेशनमर्द्धमात्राकालमाहुः। स वर्णानां व्यवधानो व्यवधायको यस्मिन् सोऽर्द्धमात्राकालव्यवधानः सन्निकर्षः। यदि वर्णानामर्द्धमात्राकालव्यवधानः सन्निकर्षः कथं तर्हि दध्यत्रेत्यादौ व्यवधायककालो नोपलभ्यते? वर्णाः संश्लिष्टा एवोपलभ्यन्ते? नैतत्। तस्य कालस्य सूक्ष्मतयोपलब्धुमशक्यत्वान्निरन्तरा वर्णास्तत्रोपलभ्यन्ते। नतु व्यवधायकस्य कालस्याभावात्। किमर्थं पुनरेतदाश्रीयते। यावता परमेव सन्निकर्षं संहितेति वदन्त्याचार्य्याः। तथाहि संहितामधीष्वेत्युक्ते परं सन्निकर्षमेवाधीते शिष्यः। नैतदेवम्। पदस्य पदान्तरेण यदानन्तर्य्यं सा संहितेति लोकेऽभिधीयते। तथाच वक्तारो वदन्ति संहितामधीते न पदानि। पदान्यधीते न संहितामिति। तथाचैकपदे हि संहिताकार्य्यं न स्यादिको यणचीति (६।१।७७) कुमार्य्यौ कुमार्य्य इति। सति त्वस्मिन् वर्णानां सन्निकर्षविशेषस्यानेन संहितासंज्ञा विधीयत इति सर्वत्रैव भवति।

## ११०। विरामोऽवसानम्।

विरतिर्विराम इति भावे घञ्। विरामो वर्णोच्चारणाभावोऽवसानसंज्ञो भवति। विरम्यतेऽनेनेति विराम इति विरामशब्दस्य द्वितीयमर्थं दर्शयति। कृत्यल्युटो (३।३।११३) बहुलमिति बहुलवचनादसंज्ञायामपि हलश्चेति (३।३।१२१) घञ्। अत्र पक्षे येनान्त्येन वर्णेन विरम्यते सोऽवसानसंज्ञो भवति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षेऽभावे पौर्वापर्य्याभावात् खरवसानयो (८।३।१५) रित्यत्रावसानापेक्षया विषयसप्तमीयं विज्ञायते। न परसप्तमी। खरपेक्षया तु परसप्तमीयम्। अन्ये तु यद्यभावे पौर्वापर्य्यं न सम्भवतीत्यवसानापेक्षया

खरवसानयोरिति (८।३।१५) परसप्तमी नोपपद्यते तदेको यस्तौ-(६।१।७७) त्यादावपि परसप्तमी नोपपद्यते । कथम् ? वर्णानां क्रमभावित्वात् । उच्चरितप्रध्वंसितत्वाच्च । यदेगस्ति तदाज् नास्ति यदा त्वजस्ति तदेग् नास्ति । अथात्र बुद्धिप्रकल्पितं पौर्व्वापर्य्य माश्रित्य परसप्तमीष्यते तदा खरवसानयो (८।३।१५) रित्यत्रापि तथैवेष्टव्येति मन्यमाना अवसानापेक्षयापि परसप्तमीमिच्छन्ति । अपरे त्वन्त्यस्य तु वर्णस्यावसानसंज्ञायां सत्यां खरवसानयोरिति (८।३।१५) षष्ठी विज्ञायते । अत्रावसानापेक्षया स्थानषष्ठी । रेफस्यावसानस्य विसर्जनीय इति खरपेक्षया त्वानन्तर्य्यलक्षणा षष्ठीति वदन्ति । तन्मते स्थानषष्ठ्यां ह्रि रो रीत्यतो (८।३।१४) रेफस्यानुवृत्तस्य यत् स्थानित्वं तद् विरुध्यते । तदेवमेकापि विभक्तिर्यथायोगं विभज्यते । ननु चाभावपक्षेऽपि पूर्वस्मिन्नपि भागेऽनुच्चारणमस्ति । तत्रापि विसर्जनीयः प्राप्नोति रथ इति । अस्ति ह्यत्रापि रेफात् प्रागुच्चारणम् । नैष दोषः । तत्र हि प्रकृतं पदग्रहणं रेफेण विशिष्यते रेफान्तस्य पदस्येति । नच पूर्वेण रेफेण रेफान्तं पदं भवति । नन्वेवमप्यर्थस्यैषा संज्ञा स्यादिति खरवसानयोरित्यत्र (८।३।१५) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति (१।१।६६) परिभाषा नोपतिष्ठते । शब्दे हि सप्तमीनिर्दिष्टे सतीयमुपतिष्ठते । नार्थे । तदनुपस्थाने च परेण रेफेण रेफान्तस्य रथ इत्येतस्य पदस्य पूर्वो यो रेफस्तस्य व्यवहितस्यापि विसर्जनीयः स्यात् । नैष दोषः । ज्ञापकान्न भविष्यति । यदयमुरण् रपर इति (१।१।५१) व्यवहितस्य रेफस्य विसर्जनीयमकृत्वा निर्देशं करोति तज् ज्ञापयति व्यवहितस्य रेफस्य विसर्जनीयो न भवतीति । नन्वत्र लोके प्रसिद्धेरेवान्त्ये वर्णेऽवसानशब्दस्य संप्रत्ययो भविष्यति । प्रसिद्धो हि लोकेऽन्त्ये वर्णेऽवस्यतेः प्रयोगः । तथाहि केनावस्यतीत्युक्ते वक्तारो वदन्तीकारेणोकारेण वेति । इकारादिवर्णेनावसानं करोतीत्यर्थः । ततः प्रदेश एवावसानग्रहणं कर्त्तव्यमिति नार्थः संज्ञासंज्ञिप्रणयनेन । नैतदस्ति । अवपूर्वो हि स्यतिः परिसमाप्तावपि वर्त्तते ऽवसितो वाद इति । अवगमेऽपि वर्त्तते ऽवसितोऽर्थ इति । पराभवेऽपि वर्त्तते द्वयोर्विवादे ऽवसितो देवदत्त इति । तत्र यदीयं नारभ्यते तदावसानग्रहणे सन्देहः स्यात् किमभिधानावसानशब्दस्य ग्रहणमिति । विरामोऽवसानमिति तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धे क्रियमाणे परि-

समासग्रादिरर्थो निवर्त्तितो भवति। एवमपि नार्थः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेन। प्रदेश एव ह्यन्तग्रहणं कर्त्तव्यं खरन्त्ययोरिति। एतदपि नास्ति। एवं हि सन्देहः स्यात् किमन्त्यस्य वर्णस्योत पदस्याहोस्विद् वाक्यस्येति। तत्रान्त्यस्य विशेषणार्थं वर्णग्रहणं कर्त्तव्यं स्यात्। तस्मात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः कर्त्तव्यः। वृचः प्लुच इति। खरवसानयोर्विसर्जनीयः ( ८।३।१ ) ।(I)

---

(I) The Editor had at his disposal chiefly the following MSS.—(क), (ख), (ग), (घ) & (ङ) as detailed below,—to collate and prepare the press-copy of the first *Adhyaya* of the *KasikaVivaranaPanjika.*

(क) The contents of this MS, all in Bengali characters, are :—काशिका १।१. न्यास—१।१, १।२, १।३, २।१, २।२. २।३, & २।४. We have called it the वङ्गीयपुस्तक or the Bengal MS.. At the end of the न्यास १।१, there is the following entry in it :—

"प्रणम्य दुर्गां जयदां सदाशिवः पुरोगपादानुगपञ्जिकामिमाम्।
रसाङ्कतर्केन्दुयुते शकेऽलिखच्छुचौ गुरावह्नि च पूर्णिमातिथौ॥"

Which gives 1696 Saka i. e. 1774 A.D. and at the end of the न्यास २।४, it also contains :

श्रीवार्णाकपपादपद्ममतुलं वन्द्यं सुरैर्योगिभि-
र्नत्वा श्रीलसदाशिवोऽलिखदिमं न्यासाख्यग्रन्थं द्विजः।
शाके बाणनवाङ्कचन्द्रमिलिते मासे त्विषे चेऽह्नि
व्याकाराम्बुधितारणालिमसिते पक्षे च भूते तिथौ॥

Which gives the date 1695 Saka i. e. 1773 A.D. It has been got from a village in District Rajshahi. The scribe betrays often carelessness and commits awful misspellings.

(ख) This MS. is marked No 34 of 1881—82 and it belongs to the Library of the Deccan college, Poona. Professor V. S. Ghate of this college was extremely kind to the editor in lending him the copy when the latter approached him with his prayer and for this favour the editor shall ever be grateful to him. Its contents are the न्यास १।१, १।२, १।३, १।४, ४।१, ४।२ ( with some omissions in the middle), ४।३, ४।४, ५।१, ५।२, ५।३ & ५।४. Further accounts of this MS. will be supplied in the Introduction. It was copied in

दधिँ मधुँ इति । अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक ( ८।४।५७ ) इति । अत्र हि वावसाने ( ८।४।५६ ) इत्यतोऽवसानग्रहणमनुवर्त्तते ।

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः
पादः समाप्तः ॥ १ । ४ ॥
समाप्तश्चायं प्रथमाध्याय इति ॥ १ ॥

---

संवत् १६८२-८४ वर्षेषु i. e. 1625-27 A.D. We have called it the पुणापुस्तक or the Deccan MS.. It is in the Debanagar characters.

(ग) The contents of this MS. are the न्यास १।२, १।३, १।४, २।१, २।२, २।३ & २।४. At the end of २।४ is the stanza.—

> वागीशाद्यप्रणतचरणश्रीलविश्वेश्वरोमा
> पादाम्भोजद्वयनतियुतश्रीलदेवेन्द्रनामा ।
> पुस्तीमेतामलिखदहनि चौणीसूनोः शकाब्दे
> वह्निचणीजलधिधरणीसंख्यकेऽतिप्रमोदात् ॥

Which gives its date 1713 Saka i. e. 1791 A.D. This MS. was kindly lent to the editor by Pundit Girish Chandra BedantaBhushon of the Rajshahi H. K. Sanskrit College, for which he is immensely thankful to the Pundit. It is a tolerably fair copy.

(घ) This MS. belongs to the Rajshahi Government College Library and its contents are the न्यास १।४, २।१, २।२, २।३, ३।१ ( incomplete ), ७।२ & ८।१ ( also incomplete ). A good copy.

(ङ) Its contents are १।४ न्यास only. It comes from a village Halsa in Rajshahi from the house of Pundit Kalisarana Smrititirtha. It is also a good copy.

The MSS. (ग), (घ) & (ङ) are all in Bengali characters

गौड़ग्रन्थमाला ।

श्रीमत्कुमारशरत्कुमाररायेण प्रवर्त्तिता

श्रीमदक्षयकुमारमैत्रेयेण पर्य्यवेक्षिता च ।

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचिता ।

शास्त्रिश्रीश्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य्येण संस्कृता ।

---

THE

# KASIKA VIVARANA PANJIKA

(THE NYASA.)

A COMMENTARY ON VAMANA-JAYADITYA'S KASIKA.

BY

JINENDRA BUDDHI.

---

EDITED

WITH OCCASIONAL NOTES.

BY

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI B. A.

SENIOR PROFESSOR OF SANSKRIT, RAJSHAHI COLLEGE,

RAJSHAHI, BENGAL.

Vol. I. Part 3.

---

PUBLISHED BY THE VARENDRA RESEARCH SOCIETY OF RAJSHAHI

1915.

Rs. 1/4 Foreign 1s. 6d.

# VARENDRA RESEARCH SOCIETY.

## RAJSHAHI.

### PATRON.

HIS EXCELLENCY THE GOVERNOR OF BENGAL.

### VICE-PATRONS.

THE HON'ABLE F. J. MONAHAN ESQ. I. C. S.

F. C. FRENCH ESQ. I. C. S.

MAHARAJA SIR GIRIJANATH RAY BAHADUR OF DINAJPUR.

THE HON'ABLE MAHARAJA JAGADINDRA NATH ROY OF NATTORE.

RAJA PRAMADANATH RAY OF DIGHAPATIYA.

### HONORARY VICE-PRESIDENT.

JUSTICE SIR J. G. WOODROFFE.

—:o:—

*Council of Management.*

**President**

KUMAR SARATKUMAR RAY OF DIGHAPATIYA. M. A., M. R. A. S.

**Director.**

BABU AKSHAY KUMAR MAITRA. B. L.

**Honorary officers.**

BABU RAMAPRASAD CHANDA. B. A. (*Secretary.*)
„ RADHAGOVINDA BASAK. M. A. (*Librarian.*)
„ MAHENDRA KUMAR SHAHA. CHAUDHURY. B. L. (*T[illegible]urer.*)
„ KALI PRASANNA ACHARYA. B. L. (*Keeper.*)

**Superintendent of Sanskrit MSS.**

SASTRI SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI. B. A.

गौड़ग्रन्थमाला ।
श्रीमत्कुमारशरत्कुमाररायेण प्रवर्त्तिता
श्रीमदक्षयकुमारमैत्रेयेण पर्य्यवेक्षिता च ।

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचिता ।

शास्त्रिश्रीश्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य्येण संस्कृता ।

THE

# KASIKA VIVARANA PANJIKA

(THE NYASA.)

A COMMENTARY ON VAMANA-JAYADITYA'S KASIKA.

BY

JINENDRA BUDDHI.

EDITED
WITH OCCASIONAL NOTES.
BY

SRISH CHANDRA CHAKRAVARTI B. A.
SENIOR PROFESSOR OF SANSKRIT, RAJSHAHI COLLEGE,
RAJSHAHI, BENGAL.

Vol. I. Part 3.

PUBLISHED BY THE VARENDRA RESEARCH SOCIETY OF RAJSHAHI

1915.

Rs. 1/4 Foreign 1s. 8d.

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

## द्वितीयाध्यायस्य
## प्रथमः पादः।

### १। समर्थः पदविधिः।

परिभाषेयमिति। परितो व्यापृता भाषा परिभाषा। तथाचोक्तं (A) परिभाषा पुनरेकदेशस्था सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा वेश्म प्रदीपः। कुतः पुनरेतद् विज्ञायते परिभाषेयं नाधिकार इति? पदविधिग्रहणाल्लिङ्गात्। उत्तरत्र हि सर्वः पराङ्गवद्भावादिरनुक्रंस्यमानः पदविधिरेव। तत्र यद्ययमधिकारः स्यात् पदविधिग्रहणमनर्थकं स्यात्। व्यावर्त्त्याभावात्। परिभाषायान्त्वस्यां परिभाषा ह्येकदेशस्थापि सर्वत्र शास्त्रे व्याप्रियत इत्यसति पदविधिग्रहणे वर्णविधावप्युपतिष्ठेत। ततो वर्णविधिनिरासार्थं क्रियमाणं पदविधिग्रहणमर्थवद्भवति। तस्मात् पदविधिग्रहणाल्लिङ्गात् परिभाषेयं नाधिकार इत्यवसीयते। यद्येवमिसुसोः सामर्थ्ये (८।३।४४) न च वाहाहैवयुक्ते (८।१।२४) इत्येवमादिषु योगेषु सामर्थ्यग्रहणं युक्तग्रहणञ्च किमर्थं क्रियते? यावता पदस्येति तत्रानुवर्त्तते। तत्र पदविधित्वादेवासामर्थ्ये न भविष्यति। सत्यमेतत्। यदर्थं तु क्रियते तत् तत्रैव प्रतिपादयिष्यामः। विधिशब्दोऽयमस्त्येव भावसाधनो विधानं विधिरिति। अस्ति च कर्मसाधनो विधीयत इति विधिः। तत्र भावसाधने विधिशब्द आश्रीयमाणे पदानामपरिनिष्पन्नानां परिनिष्पादनं पदविधिरिति पदेषु कर्मणि कृद्योगलक्षणा षष्ठी। तेषां विधिना सम्बन्धात्।

---

(A) अस्यैव (२।१।१) सूत्रस्य भाष्यं भाष्यकृतेति शेषः।

कर्मसाधने तु परिनिष्पन्नानां व्यवस्थितानामेव पदानां यत् समासादि कार्य्यं विधीयते स पदविधिः। तत्र पदेषु च शेषलक्षणा षष्ठी भवति। विधीयमानस्य कार्य्यस्य पदसम्बन्धित्वेनोपादानात्। तत्र यदीह भावसाधनो विधिशब्द आश्रीयेत तदा विभक्तिविधानमेव संगृहीतं स्यात्। समासपराङ्गवद्भाव-तद्धितवृत्त्यादिकं न संगृह्येत। नहि तत्र पदानामसतां विधानम्। किं तर्हि ? व्यवस्थितानामेव पदानां समासादि कार्य्यं विधीयते। इतरत्र तु विधिशब्द आश्रीयमाणे तेऽपि संगृहीता भवन्तीति मन्यमानः कर्मसाधनं विधिशब्दमाश्रित्याह विधीयत इति विधिरिति। ननु चात्रापि पक्षे विभक्तिविधानं न संगृह्येत। नहि कर्मणि (२।३।२) द्वितीयेत्येवमादिशास्त्रेण व्यवस्थितानां पदानां किञ्चित् कार्य्यं विधीयते। अपि तु पदान्येव विधीयन्ते। यदि न संगृहीतं स्यान् न नाम। न च तदसंग्रहे किञ्चिदनिष्टमापद्यत इत्युत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः। समासादिरिति। आदिशब्देन तद्धितवृत्त्यादीनां ग्रहणम्। समर्थः शक्त इति। स्वकार्य्यनिर्वर्त्तनक्षम इत्यर्थः। स हि लोके समर्थ इत्युच्यते। स्वार्थप्रतिपादनमेव शब्दानां स्वकार्य्यम्। ये चेह लौकिका वैदिकाश्च शब्दा अधिकृता स्ते सर्वएव स्वकार्य्यप्रतिपादनं प्रति समर्थाः। तस्मात् समर्थ इति विशेषणोपादानसामर्थ्याद्विशेषः कश्चिदाश्रीयते। स च विशेषो वृत्त्यर्थं यद्वाक्यमुपादीयते। प्रत्यासत्ते स्तदर्थप्रतिपादने या शक्तता तल्लक्षणो विज्ञायत इत्याह विग्रहवाक्यार्थाभिधान इत्यादि। विशेषेण गृह्यते विज्ञायतेऽनेनेति विग्रहः। विग्रहस्य तद्वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम्। अथवा विशेषेण ग्रहणं विग्रहः। विग्रहार्थं यद्वाक्यं तद् विग्रहवाक्यम्। शाकपार्थिवादित्वान् मध्यपदलोपी समासः। विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः। तदभिधाने तत्प्रत्यायने यः शक्तः स समर्थो वेदितव्यः। यथा राजपुरुष इत्ययं समासः। एतदर्थं यद्वाक्यं राज्ञः पुरुष इति तस्य योऽर्थ स्तदभिधाने राजपुरुष इत्ययं शब्दः शक्तः। ततोऽपि तदर्थस्य प्रतीतिः। स पुनरर्थः संसर्गः। भेदश्च। भेदसंसर्गौ वा। तत्र स्वविशेषस्य स्वामिविशेषेण स्वामिविशेषस्य च स्वविशेषेण यः सम्बन्धः स संसर्ग आख्यायते। स्वान्तरस्य स्वाम्यन्तरेभ्यः स्वाम्यन्तरस्य स्वान्तरेभ्यश्च व्यावृत्तिर्भेद आख्यायते। तत्र

संसर्गवादिनो मते संसर्ग एव शब्दार्थो व्यावृत्तिस्त्वर्थसंगृहीता। न ह्यव्यावर्त्यमानयोः स्वस्वामिनोः सम्बन्ध्यन्तरेभ्यः संसर्ग उपपद्यते। भेदवादिनस्तु व्यावृत्तिरेव शब्दार्थः। संसर्गोऽर्थसंगृहीतः। नहि व्यावर्त्यमानस्य सम्बन्ध्यन्तरेणासम्बद्धस्य स्वाम्यादेरवस्थानमस्ति। उभयवादिनस्तु उभय एव शब्दार्थः। यदि विग्रहवाक्यार्थाभिधाने यः शक्तः स समर्थो विज्ञायत एवं सति समासतद्धितविषयमेव सामर्थ्यमिति पराङ्गवद्भावविभक्तिविधानयोरियं परिभाषा नोपतिष्ठेत। नहि तत्र विग्रहवाक्यार्थाभिधानमस्ति। यदि नोपतिष्ठेत न नाम। न च तदनुपस्थाने किञ्चिदनिष्टमापद्येत। तथाहि पराङ्गवद्भावे तावन् निमित्तग्रहणं दर्शयिष्यति भाष्यकारः। तत्र च निमित्तस्य निमित्तिना सामर्थ्यमस्त्येव मद्राणां राजन् परशुना वृश्चन्निति। विभक्तिविधानेऽपि या स्तावत् कारकविभक्तय स्ता येष्वेव कारकेषु कर्मादिषु विधीयन्ते तेषां क्रियया सम्बन्धोऽस्त्येव। उपपदविभक्तिष्वपि सहयुक्तेऽप्रधान (२।३।१९) इत्येव मादिषु युक्तग्रहणादीनि सन्ति। तत्रापि सामर्थ्यमस्त्येव। तत्रैवं सम्बन्धे सति विभक्तय इष्यन्ते। नतु विग्रहवाक्यार्थाभिधानलक्षणसामर्थ्ये। एवं तावन्मुख्यार्थवृत्तिः समर्थशब्दो दर्शितः। इदानी मुपचरितवृत्तिं दर्शयितु माह अथवेत्यादि। समर्थानि पदान्याश्रयो यस्य स समर्थपदाश्रयः। तद्भावः समर्थपदाश्रयत्वम्। ततो हेतोः समासादिः समर्थ उच्यते। आश्रयस्य समर्थत्वादुपचारेणाश्रितोऽपि तथेति व्यपदिश्यते। कारणधर्म्मस्य कार्य्ये उपचारात्। यथा नड्वलोदकं पादरोगः। समर्थानामित्यनेन वाक्ये व्यपेक्षालक्षणं सामर्थ्यमाह। तथाहि राज्ञः पुरुष इत्यत्र वाक्ये राजा पुरुष मपेक्षते ममायमिति। पुरुषोऽपि राजान मपेक्षते ऽहमस्येति। संसृष्टार्थानामित्यनेन समासे पदाना मेकार्थीभावलक्षणं सामर्थ्यं दर्शयति। एकार्थीभावश्च पृथगवस्थितानां भिन्नार्थानां पदानां समासे साधारणार्थता नामावस्थाविशेषः। वाक्ये हि साधारणार्थता नास्ति। भिन्नार्थत्वात्। अतएव तत्र भेदनिबन्धना षष्ठ्युपजायते राज्ञः पुरुष इति। वृत्तौ तूभयपदव्यवच्छिन्नार्थाभिधानात् साधारणार्थता भवति। एतेनैतदुक्तं भवति समासे हि विशेषणं विशेष्य मनुप्रविशत्येकार्थीभवति विशेष्येण सह। वाक्ये हि

विशेषणं विशेष्यात् पृथगवतिष्ठत इति । यस्मिन्नसति वाक्ये राज्ञो गौश्चाश्वश्च पुरुषश्चेति भेदनिबन्धनसमुच्चयप्रतिपादनाय चशब्दः प्रयुज्यते । समासे तु यस्मिन् सति स निवर्त्तते राज्ञो गवाश्वपुरुषा इत्ययमेकार्थीभावो वेदितव्यः । पश्य देवदत्त कष्टं श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलमिति । अत्र कष्टशब्दस्य पश्येत्यनेन सम्बन्धो नतु श्रितशब्देन । तेन सामर्थ्याभावात् समासो न भवति । ननुच श्रितादीनां श्रुतत्वात् तैरेव द्वितीयां विशेषयिष्यामः श्रितादीनां सम्बन्धिनी या द्वितीयेति । का च श्रितादीनां द्वितीया ? या श्रितादिनिमित्ता । नचेह श्रितादिनिमित्ता द्वितीया । किं तर्हि ? पश्यतिक्रियानिमित्ता । तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन समर्थग्रहणेन ? नैतदस्ति । समर्थग्रहणे सति श्रितादीनां द्वितीयेति शक्यते व्यपदेष्टुम् । असति तु तस्मिन् द्वितीया मात्रं श्रितादिभिः समस्यत इति विज्ञायते । एवं सापेक्षस्यापि समासः स्यादेव महत् कष्टं श्रित इति । भवति ह्यत्र श्रितादिनिमित्ता द्वितीया । तस्मात् समर्थग्रहणं कर्त्तव्यम् । किं त्वं करिष्यसि शङ्कुलया खण्डो देवदत्त उपलेनेति । अत्रोपलेन तृतीयान्तेन कृतं खण्डनम् । अत स्तत्कृतत्व मस्तीति प्राप्नोति समासः । समर्थग्रहणान्न भवति । समर्थग्रहणे तु सत्ययमर्थो भवति यस्यैव तृतीयान्तस्य समास स्तेनैव यदि कृतं खण्डनमिति । न चेह तत्कृतं खण्डन मतो न भवति समासः । एव मन्यत्राप्यसामर्थ्यादसमासो वेदितव्यः । यणादेशो नित्यश्च तुग् भवतीति । द्वावप्येतौ वर्णविधी । तेनासामर्थ्येऽपि भवतः । नित्यश्च तुग् भवति दीर्घादित्यनेन (६।१।७५) । यस्तु पदान्ता (६।१।७६) द्वेत्यनेन विकल्पित स्तुग् विधीयते स पदविधिरतोऽसामर्थ्ये न भवति । अन्ये तु यणादेशोऽनित्यश्च तुग् भवतीत्यकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति । एवञ्चाहुः—पदान्ताद्वेत्यनेन (६।१।७६) विकल्पितस्तुग् भवतीति । पदान्ताद्वेत्यत्र (६।१।७६) ह्यन्तग्रहणस्यैतदेव प्रयोजनं पदान्तभक्तस्तुगागमो यथा स्यात् । पदभक्तो मा भूदिति । तेन विकल्पितो यस्तुग् विधीयते स पदविधिर्न भवति । तेनासामर्थ्येऽपि भवति ।

## २ । सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे ।

पराङ्गवदिति । अत्राङ्गशब्दोऽवयववचनः । परस्याङ्गवत् परैकदेशवद्भवति ।

तद्ग्रहणेन गृह्यत इत्यर्थः। एवं तादात्म्यातिदेशोऽयं विज्ञायत इत्याह तादात्म्यातिदेशोऽयमिति। तादात्म्यं तत्स्वभावत्वम्। सुबन्तमित्यादिना तमेव तादात्म्यातिदेशं स्पष्टीकरोति। सुबन्तमामन्त्रितमनुप्रविशतीति। तदान्तर्भवतीत्यर्थः। कुण्डेनाटन्निति। अत्र कुण्डशब्दोकार आमन्त्रितस्वरः। एवमन्यत्रापि ससुप्कस्यामन्त्रितस्य स्वरो वेदितव्यः। पीड्ये पीड्यमानेति। हे पीड्यमान त्वदीयया पीड़याहं पीड्ये बाध्येऽहमित्यर्थः। पीड़ अवगाहने। चुरादिणिच्। उभयत्र कर्मत्वात्मनेपदम्। एकत्रोत्तमपुरुषैकवचनमिट्। अन्यत्र शानच्। सार्वधातुके यक्। णिलोपः। तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोरि (६।१।१८६) तीटोऽनुदात्तत्वम्। यकः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। एकादेश उदात्तेनोदात्त (८।२।५) इत्येकार उदात्तः। पीड्यमानेत्यस्य तु पीड्य इत्यस्मात् पदादुत्तरस्यामन्त्रितस्य चेति (८।१।१९) निघातः। गेहे गार्ग्य इति। गेहशब्द उञ्छादिपाठादन्तोदात्तः। सप्तम्येकादेशः पूर्ववदुदात्तः। गार्ग्य इति ञित्स्वरेणाद्युदात्तः। पृथक् स्वर एवात्र भवति। देवदत्त कुण्डेनाटन्निति। यदि परग्रहणं न क्रियेत तदा देवदत्तशब्दं पूर्वमप्यामन्त्रितं प्रति सुबन्तस्यानुप्रवेशः स्यात्। ततश्च देवदत्तशब्दात् पदात् परस्याटन्नित्येतस्यामन्त्रितस्य चेति (८।१।१९) निघातः स्यात्। ननु च परग्रहणे क्रियमाणे कुण्डशब्दस्य पराङ्गवद्भावे सत्याद्युदात्तत्वे षाष्ठिके कृते देवदत्तशब्दात् पदात् परस्याटन्नित्येतस्य निघातेन भवितव्यमेव। नैतदस्ति। अपादादौ हि स निघातः। पादादित्वञ्चेह विवक्षितम्। तत्र च देवदत्ते त्वामन्त्रितस्वरेण(६।१।१९८)द्युदात्तः। एवं कुण्डेनाटन्नित्यपि। आमन्त्रितनिघातोऽत्र न भवति। पादादित्वात्। यथा मृत्पिण्डीभूतः स्वरं लभेतेति। कथं नाम सुबन्तसमुदायो मृत्पिण्ड इवैकीभूत एकरूपतामिवापन्नः स्वरं लभेतेत्येवमर्थमङ्गग्रहणम्। किमर्थं पुनरेकीभूतस्य स्वरप्राप्तये यत्नः क्रियत इत्यत आह उभयोरित्यादि। यद्यङ्गग्रहणं न क्रियेत् ततश्च कार्य्यातिदेशशास्त्रातिदेशव्यपदेशातिदेशानामन्यतमः स्यात्। तथाच सति यथा परस्य कार्य्यमाद्युदात्तत्वमामन्त्रितव्यपदेश आद्युदात्तशास्त्रं च तथा सुबन्तस्य पूर्वस्यापि स्यादिति। ततश्चोभयोरप्याद्युदात्तत्वं स्यात्। अङ्गग्रहणे तु सति तादात्म्याति-

देशोऽयं भवति । तेन सुप्पिण्डीभूतः सुबन्तसमुदाय आमन्त्रिताद्युदात्तरूपं स्वरं लभत इति न भवत्युभयोराद्युदात्तत्वप्रसङ्गः । स्वाश्रयमपि कार्य्यं यथा स्यात् । आं कुण्डेनाटन्नित्यत्राटन्नितिग्रतस्य पदात् परस्यामन्त्रितस्येति (८।१।१९) निघाते प्राप्ते न लुडित्यतो (८।१।२९) नेत्यनुवर्त्तमान आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिक इत्यनेन (८।१।५५) विधीयमानो निघातप्रतिषेधोऽसति वत्करणे न प्राप्नोति । एकान्तरताया अभावात् । परमेव हि स्यात् सुबन्त मसति वत्करणे । न च तथाभूतिनैकान्तरतायुक्ता । वत्करणे तु सति भवति कदाचित् स्वाश्रयमप्यनङ्गत्वमित्युपपद्यत एकान्तरता । तेन निघातप्रतिषेधः सिध्यति । तत्रायं स्वरविभागः । आमित्यस्य निपातस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । कुण्डशब्दस्यापि पराङ्गवद्भावे सत्यामन्त्रितस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । तथा निघातप्रतिषेधे सत्यटन्नितिग्रतस्यापि षाष्ठिकेनाद्युदात्तेन भवितव्यम् । कूपे सिञ्चन्निति । अत्र पराङ्गवद्भावो नास्तीति पदादित्वं सकारस्य भवति । तेन सात्पदाद्योरिति (८।३।१११) षत्वप्रतिषेधः स्यात् । चर्म नमन्निति । अत्रापि पराङ्गवद्भावाभावात् समानपदस्थौ निमित्तनिमित्तिनौ न भवत इति समानपदाश्रयं णत्वं न भवति । सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्येत्यादि । किं पुनः कारणं समानाधिकरणस्य न प्राप्नोति यत इद मुपसंख्यानं क्रियत इत्याह अनन्तरत्वादिति । तस्मिन्निति निर्दिष्टे (१।१।६६) पूर्वस्येत्यत्र निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्य्यार्थत्वाद् व्यवहिते न प्राप्नोतीत्युपसंख्यायते । तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्नित्यत्र सीव्यन्नित्येतस्मिन् परतस्तीक्ष्णयेत्यस्य व्यवहितस्यापि पराङ्गवद्भावादाद्युदात्तत्वं भवति । उच्चैरधीयानेति । उच्चैः शब्दस्य पराङ्गवद्भावाभावादामन्त्रितनिबन्धनमाद्युदात्तत्वं न भवति । तस्मिन्नसति तत्रान्तोदात्तत्वमेव भवति । स्वरादिष्वन्तोदात्तस्य पाठात् । तथाहि तत्रैव (१।१।३७) सन्नतर उच्चैस् नीचैरित्येवमादीनि पृथक्पर्य्यन्तान्युपदिश्येति सन्नतरप्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्त इत्युक्तम् । अधीयानेत्यस्य यदा पादादित्वं विवक्ष्यते तदाद्युदात्तत्वमन्यत्रामन्त्रितस्य चेति (८।१।१९) निघातः ।

### ३ । प्राक् कड़ारात् समासः ।

यथावृद्धमिति । अत्र समाससंज्ञायां सत्यां कृत्तद्धितसमासाश्चे (१।२।४६)

त्येवमादिकार्य्यं भवति। अथ किमर्थं प्राग्वचनम्? यावता पञ्चमीनिर्देशादेव प्रागित्यस्याध्याहारो भविष्यति। न च परागित्ययमपि दिक्छब्दोऽस्ति। अतस्तस्याप्यध्याहारः स्यादित्याशङ्कनीयम्। तदध्याहारे कडारसंशब्दनात् परे येऽनुक्रंस्यन्ते तेषां समाससंज्ञा स्यात्। तथाच कडारसंशब्दनादनन्तरमेव समासाधिकारं कुर्य्यात्। इह तु कृतः। तस्मादिह करणसामर्थ्यात् समासाधिकारस्य प्रागित्यस्याध्याहारो भविष्यति। ततो नार्थः प्राग्वचनेनेत्याह प्राग्वचनमित्यादि। उत्तरत्राऽव्ययीभावादिसंज्ञाभिः सह समाससंज्ञायाः समावेशो यथा स्यादित्येवमर्थं प्राग्वचनम्। असति तु तस्मिं स्ताभिरनवकाशाभिरियं संज्ञा बाध्येत। अस्यास्तु समाससंज्ञायाः सह (२।१।४) सुपेत्यत्र सहेति योगविभागेन यः समासः क्रियते सोऽवकाशः स्यात्। अनुप्रावर्षत्। अनुव्यचलदिति। तिङन्तेनात्र समासः। असत्यपि सावकाशत्वे एकसंज्ञाधिकारे वचनप्रामाण्यात् पर्य्यायेण वृत्तिः स्यात्। नतु समावेशः। साक्षात् सूत्रेणोपात्ते तु प्राग्वचने सति भवति समावेशः। कथम्? एवं हि सम्बन्धः क्रियते। कडारात् प्राग् यावन्तो व्यवस्थिताः सर्वे ते समाससंज्ञका भवन्ति। समाससंज्ञकाः सन्तोऽव्ययीभावादिसंज्ञां लभन्त इति। तेन निमित्तमेव समाससंज्ञाऽव्ययीभावादिसंज्ञानाम्। न च निमित्तिना निमित्तं विहन्यते। अन्यथा तस्य निमित्तत्वमेव न स्यादिति युक्तः सूत्रोपात्तेन प्राग्वचनेन समावेशः। अध्याहृते तु तस्मिन् कडारसंशब्दनात् प्राग् यावन्तो व्यवस्थिताः सर्वे ते समाससंज्ञका भवन्तीत्येषोऽर्थो लभ्यते। न तु समाससंज्ञकाः सन्तोऽव्ययीभावादिसंज्ञका इत्येषोऽपि। साक्षात् सूत्रोपात्ते तु तस्मिन्नेषोऽपि लभ्यते। अन्यथा तस्य सूत्रे साक्षादुपादानमनर्थकं स्यात्।

### ४। सह सुपा।

सहग्रहणं योगविभागार्थमिति। ननु चासति तस्मिन्नेकैकस्य संज्ञा स्यात्। ततश्च ऋक्पाद इत्यत्र ऋक्पूरब्धूः पथामानक्ष (५।४।७४) इत्यताकारः समासान्तः स्यात्। इह च राजाश्व इत्यत्र समासस्येति (६।१।२२३) द्वौ स्वरौ स्याताम्। तस्मात् सहभूतयो (B) रेव समाससंज्ञा यथा स्यादेकैकस्य मा

(B) एकीभूतयोः पदयोः समाससंज्ञेति पुनापुस्तके पाठान्तरम्।

भूदित्येवमर्थं सहग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते ? एवम्मन्यते । सुपेति तृतीयैव सहार्थं गमयति यथा वृद्धो (१।२।६५) यूनेति । समास इति च महती संज्ञा क्रियते ऽन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेतेति । कथं नामान्वर्थसंज्ञा क्रियते ? समसनं समासः संक्षेप इत्यर्थः । संक्षेपश्चानेकवस्तुविषयः । तेनासत्यपि सहेत्यस्मिन् सहभूतयोरेव समाससंज्ञा भविष्यति । न प्रत्येकमिति । अनुव्यचलदिति । तिङन्तेनात्र समासः । अत्र तिङ्ङतिङ इति (८,१।२८) निघाते कृते समाससंज्ञायां सत्यां तन्निबन्धनमन्तोदात्तत्वं भवति ।

## ५ । अव्ययीभावः ।

यथावृद्धमित्यत्राव्ययीभावत्वे सत्यव्ययीभावश्चेति (२।४।१८) नपुंसकत्वे नाव्ययीभावादतोऽम् (२।४।८३) त्वपञ्चम्या इत्येष विधिर्भवति । अन्वर्थसंज्ञा चेयमिति । अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः । पूर्वपदार्थप्राधान्यमित्यादिना ऽन्वर्थसंज्ञायाः फलमाह । प्रायेण ह्यव्ययीभावे पूर्वपदमव्ययं परपदमनव्ययं समुदायो नाव्ययम् । स यदि पूर्वपदवशेन तस्य पूर्वपदस्य यो धर्मोऽव्ययत्वं तत् प्रतिपद्यते ततोऽनव्ययस्वभावः सन्नव्ययस्वभावो भवति । एवञ्च पूर्वपद-वशेन तद्धर्मं प्रतिपद्यते यदि पूर्वपदं प्रधानं भवति । नान्यथा । प्रधानवशेन हि वस्तुनः स्वधर्मपरित्यागेन धर्मान्तरापत्तिर्युक्ता । तथाहि प्रधाने राजनि हसति तद्भृत्या अपि हसन्ति । तस्मिन् रुदति तेऽपि रुदन्ति । नत्वप्रधाने चेटीपुत्रादौ । तदेवमन्वर्थसंज्ञेयं भवन्ती पूर्वपदार्थप्राधान्यमव्ययीभावस्य दर्शयति । तेन यदा पूर्वपदार्थस्य प्राधान्यं भवति तदाव्ययीभावो भवति । नान्यथेत्युक्तम्भवति ।

## ६ । अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्त-वचनेषु ।

स्त्रीष्वधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते ऽधिस्त्रीति । अनभिहित इति सूत्रे (२।३।१) तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यान(२।३।१, वा) मिति परिगणनं कृतम् (C) ।

---

(C) वार्त्तिककारेणेति शेषः ।

तेनाधिशब्देन द्योतितेऽपि सप्तम्यर्थे स्त्रीशब्दात् सप्तमी भवति। तेन तदन्त एव समस्यते। अधिशब्दस्तु प्रथमान्तः। अव्ययीभावश्चेति (२।४।१८) नपुंसकत्वम्। ह्रस्वो नपुंसक इति ह्रस्वः (१।२।४७)। विभक्तिशब्देनेह कारकमुच्यते विभज्यते प्रातिपदिकार्थोऽनयेति कृत्वा। तच्चेहाधिकरणं विवक्षितमित्याह सप्तम्यर्थेऽव्ययमिति। उपकुम्भमिति। समीपार्थेनोपशब्देनोपजनिते व्यतिरेके कुम्भशब्दात् षष्ठी भवतीति षष्ठ्यन्त एव समस्यते। सुमद्रमिति। यदा मद्रैर्विशिष्यमाणत्वात् समृद्धेः प्राधान्यं भवति तदायं समासः। मद्राणामाधिक्येन ऋद्धिर्वर्त्तत इत्यर्थः। यदा तु मद्राः समृद्ध्या विशिष्यमाणाः प्रधानभावमनुभवन्ति तदा कुगतिप्रादय (२।२।१८) इति तत्पुरुषो भवति सुमद्रा इति। समृद्धिमन्तो मद्रा इत्यर्थः। दुर्गवदिकमिति। गवदिकानामृद्धिविगमो वर्त्तत इत्यर्थः। ननु चार्थाभाव इत्यनेनैव तत्सिद्धम्। तथाह्यर्थाभावो वस्त्वभावः। ऋद्धिविगमोऽपि वस्त्वभावो भवत्येव। तत् कोऽत्र विशेषो येनार्थाभावाद् ऋद्धिविगमस्य पृथगभिधानं क्रियते? अयमस्ति विशेषः। उत्तरपदार्थाभावो हि द्रव्याभावो यथा निर्मक्षिकमिति। मक्षिकाणामभाव उच्यते। न तु दुर्गवदिकमित्यत्र गवदिकानामभावः। किं तर्हि? तदीयाया ऋद्धेर्विगमः। अर्थाभाव इति। अथार्थग्रहणं किमर्थम्? धर्माभावे प्रसज्यप्रतिषेधो मा भूद् यथा न भवति ब्राह्मणोऽब्राह्मण इति। ब्राह्मणत्वं धर्मोऽत्र प्रतिषिध्यते। न तु वस्त्वभावः। किञ्चेतरेतराभावे च मा भूद्। गौरश्वो न भवतीति। अत्राप्यर्थान्तरत्वं प्रतिषिध्यते। न तु वस्त्वभावः। अत्ययोऽभूतत्वमिति। अस्यैव पर्य्यायोऽतिक्रमः। अतिक्रम इत्युत्पन्नस्याभावः प्रध्वंसाभाव इत्यर्थः। अर्थाभावस्तु क्वचिद्देशे सर्व्वदैव वस्तुनोऽभावो नतूत्पन्नस्य पश्चादभाव इत्यत्ययोऽर्थाभावाद् भिद्यते। उपभोगस्येत्यादिनाऽर्थाभावाद् भेदं दर्शयति। अर्थाभावो हि क्वचिद्देशे कालत्रयेऽप्यभावः। असम्प्रति पुनरुपभोगस्य यो वर्त्तमानः कालस्तस्यैव प्रतिषेध इति भिद्यते ऽसंप्रत्यर्थाभावात्। अतितैसृकमिति। तिसृका नाम ग्रामः। तत्र (४।३।५३) भवस्तत (४।३।७४) आगत इति वाण्। तैसृकम्। न तैसृकस्य वर्त्तमानः काल उपभोगस्येत्यर्थेऽतितैसृकमिति भवति। अनुरूपमित्यत्र योग्यतायामनु-

शब्दः । योग्यं रूपं वहतीत्यर्थः । प्रत्यर्थमिति । प्रतिशब्दोऽव्ययमत्र वीप्सायाम् । अर्थमर्थम्प्रति प्रत्यर्थम् । ननु चात्र नित्यसमासत्वाद् वाक्येन न भवितव्यम् ? नैतदस्ति । प्रतिशब्दस्य वीप्सायामर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता तद्योगे द्वितीया यथा स्यादित्येवमर्थम् । तस्याश्च वाक्य एव प्रयोगो नान्यत्रेति तेन सत्यपि नित्यसमासत्वे वाक्यमपि भवति । यथा-शक्तीति । पदार्थानतिवृत्तौ यथाशब्दः । पदमत्र शक्तिशब्दस्तस्यार्थः शक्ति-रेव । तस्या अनतिवृत्तिरनतिक्रमः । यथाशक्ति करोतीति शक्त्यनतिक्रमेण करोतीत्यर्थः । ज्येष्ठानुपूर्व्येणेति । ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । सचक्रमिति । अव्ययी-भावे (६।३।८१) चाकाले इति सहशब्दस्य सभावः । एवं सकिखीत्यादावपि सभावो वेदितव्यः । गुणभूतेऽपीत्यादि । यदि सादृश्य इति नोच्येत तदा पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव इति यदा सादृश्यं विशेष्यत्वात् प्रधानं भवति तदैव स्यात् । सादृश्यं किख्याः सकिखीति गुणभूते तु न स्यात् । अस्माद् वचनाद् भवति । सदृशः किख्येति । सादृश्यवतः प्राधान्यप्रदर्शनेन सादृश्यस्य गुणभावं प्रदर्शयितुं सदृशः किख्या इत्युक्तम् । सादृश्यप्राधान्ये विवक्षिते हि सादृश्यमिति भावप्रत्ययेन युक्तो निर्देशः स्यात् । सकिखीति । पूर्ववद् ह्रस्वः । ननु च सम्पत्तिः समृद्धिरेव । तत् कथं पृथगुच्यत इत्यत आह सम्पत्तिरनुरूपमित्यादि । सब्रह्म बाभ्रवाणामिति । तेषा मनु-रूपमात्मभाव इत्यर्थः । अधिकार्थवचनेनेति । तृणानामभ्यवहारोऽधिकार्थ-स्तद्वचनेन । न किञ्चिदित्यादिना वाक्येनाधिकार्थतां दर्शयति । यो हि तृणान्यभ्यवहरति स कथमन्यदभ्यवहार्य्यं परित्यजति ? ननु चान्तशब्दः परिसमाप्तौ वर्त्तते । तच्च साकल्यमस्येव । तत् कथमन्तवचनं साकल्यात् पृथगुच्यत इत्यत आह अन्तशब्द इत्यादि । यावतोऽध्ययनस्य परिग्रह—एताव-न्मयाध्येतव्यमिति—तदपेक्षया या समाप्तिः सोऽन्तः । स चासाकल्येऽप्य-ध्ययनस्य भवतीति साकल्यात् पृथगुच्यते । साग्न्यधीत इति । अग्नि-पर्य्यन्तमधीत इत्यर्थः । अग्न्यर्थो ग्रन्थस्तादर्थ्यादग्निशब्देनोच्यते । यावतो-ऽध्ययनस्य परिग्रहस्तस्याग्निरन्तः । ननु ततः परेणाध्ययनमेव नास्तीति । तत्तु नाधीयत इत्यसाकल्यमतेत्याह इयमित्यादि । सुबोधम् ।

## ७। यथाऽसादृश्ये।

ये ये वृद्धा इत्यनेन यथावृद्धमित्यत्र यथाशब्दो वीप्सायां वर्त्तत इत्याचष्टे यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त इति। देवदत्तसदृशो यज्ञदत्त इत्यर्थः। ननु च यथाशब्दोऽयमुपमानं यज्ञदत्त इत्युपमेयमपेक्षते। तत्र सापेक्षमसमर्थं भवतीत्यसामर्थ्यादेव समासो न भविष्यति। तत् किमर्थमसादृश्य इति प्रतिषेधेन? नैतदस्ति। नह्यत्र यथाशब्द उपमानम्। किं तर्हि? यथा देवदत्त इत्येष समुदायः। तस्मात् तस्यैवोपमेयापेक्षयाऽसामर्थ्यम्। नतु यथाशब्दस्य।

## ८। यावदवधारणे।

इयत्तापरिच्छेद इति। इयतो भाव इयत्ता परिमाणं तस्याः परिच्छेदो निश्चयः। यावन्ति पात्राणीत्यादिना तमेवेयत्तापरिच्छेदं विस्पष्टीकरोति। नावधारयामीत्यादिनेयत्तापरिच्छेदाभावं दर्शयति।

## ९। सुप् प्रतिना मात्रार्थे।

वृक्षं प्रतीत्यत्र लक्षणे प्रतिशब्दो वर्त्तते। न मात्रार्थे। ननु परं सुब्ग्रहणं किमर्थम्? यावता सुबामन्त्रित (२।१।२) इत्यतः सुब्ग्रहणमनुवर्त्तिष्यत इत्यत आह सुब्ग्रहणमित्यादि। सुब्ग्रहणं पूर्वं ह्यव्ययेन सम्बद्धम्। अतस्तदनुवृत्तौ तस्याप्यनुवृत्तिः स्यात्। तस्मादव्ययनिवृत्त्यर्थमिदमन्यत् सुब्ग्रहणं क्रियते।

## १०। अक्षशलाकासंख्याः परिणा।

कितवव्यवहार इत्यादि। कथं पुनः कितवव्यवहार इष्यमाणोऽपि तत्र लभ्यते? स्वभावत एव समासस्य तत्र वृत्तेः। नह्यर्था अतिदिश्यन्ते। लौकिकत्वात् तेषाम्। तस्येत्यादि। तस्य पातयितुस्तस्य च विघात इत्यनेन सम्बन्धः। विघातः पराजयः। एतस्येति। अक्षादेरेव प्रत्यवमर्शः। अभेदविवक्षायामेकवचनम्। एतस्यान्यथा पात इत्यनेन सम्बन्धः। अन्यथेति। जये य उक्तः पातप्रकारस्तदपेक्षयाऽन्यथात्वं विवक्षितम्। पञ्चस्वेकरूपासु

जय एव भवतीति पञ्च परीति समासो न भवतीति भावः । जये हि यदक्षादीनां वृत्तं तदपेक्षयान्यथापातत्वे सति समासेन भवितव्यम् । न च पञ्चत्वेकरूपास्वन्यथात्वं सम्भवति । अतएव जयस्तदा भवति यदा पञ्चाप्येकरूपा भवन्ति । उत्ताना अवाञ्चो वा । एतेन प्रकारेण परेण (D) चतुष्परीत्यत्नोपपत्तिर्दर्शिता । परेणेति । अतिशयेनेत्यर्थः । अक्षादयस्तृतीयान्ता इत्यादि । अन्यथा वृत्तावयं समास इष्यते । तत्र चाक्षादीनामन्यथावृत्तौ कर्तृत्वं करणत्वं वा भवति । अतस्तृतीयया भवितव्यमिति तदन्ता एव समस्यन्ते । पूर्वोक्तस्येति । अक्षादेरित्यर्थः । कुत एतत् ? अक्षादयस्तृतीयान्ता इति पूर्वमक्षादेरेवोक्तत्वात् । अभेदविवक्षायामेकवचनम् । षष्ठी चेयं शेषविवक्षायां वृत्तशब्दापेक्षया सम्बन्धलक्षणा । वृत्तशब्दस्त्वध्याहर्त्तव्यः । यथा न तदिति । अक्षादेः पूर्वोक्तस्य यथा वृत्तमभूत् पूर्वं जये तथा वृत्तं यदि संप्रति न भवत्येवं समासो भवति । नान्यथा । पूर्ववृत्तस्यान्यथात्वद्योतने समासोऽयम् । तच्चैकेनापि क्रियते । ततो द्विवचनाद्यपेक्षया निष्प्रयोजनमित्याह एकत्वेऽक्षशलाकयोरिति । अक्षशलाकयोरेकवचनान्तयोरित्यर्थः । ततोऽयं न्यायसिद्ध एवार्थः श्लोकेन संगृहीतः । अथवोत्तरं विभाषाग्रहणमिहापि सिंहावलोकितन्यायेन सम्बध्यते । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन वचनसिद्ध एवायमर्थो वेदितव्यः । अक्षादय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । परिणेति किम् ? सुबन्तमात्रेण सह समासो मा भूत् । कितवव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं शकटेन । एकत्व इति किम् ? अक्षाभ्यामक्षैर्वा न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये ।

## ११ । विभाषा ।

## १२ । अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ।

ननु बहिःशब्दयोगे न केनचित् पञ्चमी विधीयते । तत् कथं तदन्तेन समास इत्याह बहिःशब्दयोग इत्यादि । यदेतत् पञ्चम्यन्तेन सह बहिःशब्दस्य समासविधानं तज्ज्ञापयति भवति हि बहिःशब्दयोगे पञ्चमीति । अथो-

(D) परमेणेति मुद्रितकाशिकायां पाठः । न्यासकारमते तु परेणेति । अतिशयेनेत्यस्यार्थः ।

पादानसामर्थ्याद् बहिःशब्दयोगे पञ्चमी न सम्भवतीत्यपञ्चम्यन्तेनैव सुबन्तमात्रेण समास इत्येवं कस्मान्न विज्ञायते ? अशक्यमेतद् विज्ञातुम्। पञ्चमीग्रहणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तथाह्यपपरी वर्जने (१।४।८८) इत्येवमपपर्य्योः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां सत्यां ताभ्यां योगे पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति (२।३।१०) पञ्चम्यैव भवितव्यम्। नान्यया विभक्त्या। अञ्चुशब्देनापि योगे ऽन्यारादित्यादिना (२।३।२९) पञ्चम्यैव भवितव्यमित्यपार्थकं पञ्चमीग्रहणं स्यात्। ननु चाकर्मप्रवचनीयौ यावपपरी तयोरपञ्चम्यन्तेन समासो मा भूदित्येवमर्थं पञ्चमीग्रहणं स्यात् परिगतोऽपगत इति ? नैतदस्ति। परत्वाद्धि तयोः कुगतिप्रादय (२।२।१८) इति तत्पुरुषेण भवितव्यम्। ननु च नाप्राप्ते ह्येतस्मिन्नयमारभ्यमाणो बाधको भवति ? नैतदस्ति। कर्मप्रवचनीयौ यावपपरी तत्रावकाशः स्यात्। तत्र हि कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधं वक्ष्यति। तस्माद् बहिःशब्दस्य पञ्चम्यन्तेनैव समासविधानम्। नान्येन। अन्यथा पञ्चमीग्रहणमनर्थकं स्यात्। तस्मात् साधूक्तं बहिःशब्दयोगे पञ्चमीभावस्यैतदेव ज्ञापकमिति।

## १३। आङ् मर्य्यादाभिविध्योः।

अथ मर्य्यादाभिविधिग्रहणं किमर्थम् ? यावता पञ्चमीत्यनुवर्त्तते। आङा च कर्मप्रवचनीयेनैव योगे पञ्चमी विधीयते। एतयोरेवार्थयोराङ्मर्य्यादावचन इत्याङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। नान्यत्र। तत्रान्तरेणापि मर्य्यादाभिविधिग्रहणं तयोरेवार्थयोः समासो भविष्यति। नान्यत्रेति। सत्यमेतत्। तथापि मन्दधियां सुखावबोधनार्थम् मर्य्यादाभिविधिग्रहणम्।

## १४। लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये।

अभ्यग्नि प्रत्यग्नीति। अग्निमभि। अग्निं प्रतीति विग्रहः। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८)। कर्मप्रवचनीयसंज्ञा त्वेकस्याभिरभागे (१।४।९१) इत्यनेन। अपरस्य लक्षणेत्थम्भूताख्यानेत्यादिना (१।४।९०)। अत्र चाग्नि र्लक्षणम्। तेन शलभपातो लक्ष्यते। अत्राभिमुख्ये चाभिप्रती वर्त्तेते। तथाह्यग्नेरभिमुखमेव शलभाः पतन्ति नापि पार्श्वतो नापि पृष्ठत इत्यर्थोऽवगम्यते। स्रुघ्नं प्रतिगत

इति । स्रुघ्नान् मथुरां प्रस्थितो दिङ्मोहात् स्रुघ्न मेव प्रतिनिवृत्त इति नात्र स्रुघ्नो लक्षणं । यदुद्दिश्य हि गच्छति तल्लक्षणं भवति । यदा तु दिङ् मोहाद्यत एव प्रस्थित स्तमेव प्रतिगच्छति तदा तदप्रतीतं कथं लक्षणम् भवति ? स्रुघ्नमिति । तथा युक्तञ्चानीप्सितमिति (१।४।५०) कर्मसंज्ञायां सत्यां कर्मणि द्वितीया । येनाग्निस्तेनागत इति भवत्यत्राग्नि र्लक्षण माभिमुख्य-मप्यस्ति । अभिप्रती तु न स्त इति । तेन येनतेनशब्दाभ्यां सह समासो न भवति । अभ्यङ्का गावः प्रत्यङ्का गाव इति । अभिनवः प्रतिनवो ऽङ्क आसामिति बहुव्रीहिः । अभिशब्दोऽत्राभिनवार्थे वर्त्तते । प्रतिशब्दस्य प्रतिनवार्थे । अङ्कोऽत्र भवति गवां लक्षणम् । आभिमुख्यन्तु नास्ति । ननु चात्र परत्वाद् बहुव्रीहिणा भवितव्यम् ? अतः स बाधको भविष्यति किमाभिमुख्यग्रहणेन ? नैवम् । असत्याभिमुख्यग्रहणे ऽशेषत्वात् कुतो बहुव्रीहि र्भवति ? अथवैतज् ज्ञापयति बहुव्रीहिरव्ययीभावेन बाध्यत इति । तेन द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणमिति सिद्धं भवति । अन्यथाहि स्वपदार्थे चरितार्थोऽव्ययीभावो द्विमुनि व्याकरणमित्यत्रान्यपदार्थे परत्वाद् बहुव्रीहिणा बाध्येत ।

## १५ । अनु र्यत्समया ।

यस्य समया यत्समयेति षष्ठीसमासोऽयम् । ननु च समयाशब्दयोगेऽभितः परितः समयानिकषेत्याद्युपसंख्यानाद् (२।३।२, वा) द्वितीयया भवितव्यम् । अतः षष्ठेव तावन्न सम्भवति । कुतः पुनस्तस्याः समासः ? अथापि कथञ्चित् षष्ठी स्यात् तथापि समयाशब्दस्याव्ययत्वात् पूरणगुणेत्यादिना (२।२।११) षष्ठीसमासप्रतिषेधेन भवितव्यम् । नैष दोषः । योगग्रहणादिह समयाशब्दार्थेन योगे द्वितीया विज्ञायते । स चार्थो मुख्य एव गृह्यते । न गौणः । स पुनर्मुख्योऽर्थः समीपम् । नचेह समयाशब्दस्य मुख्यो-ऽर्थोऽस्ति । किन्तर्हि ? गौणोऽर्थः । अनुरेव समयाशब्देनोच्यते । तस्मा-च्छेषलक्षणा षष्ठेव न्याय्या । अतएव द्रव्यवाचित्वादव्ययसंज्ञाया अभावात् पूरणगुणेति (२।२।११) प्रतिषेधो नोपपद्यते । अनुर्यत्समयेति । एतेनानु-

शब्दार्थे समयाशब्दो वर्त्तत इति दर्शयति। ननुच समयाशब्दस्य समीप मर्थ स्तत् कथमनुशब्दः समयाशब्देनोच्यत इत्याह यस्य समीपवाचीति। एतेन समयाशब्दार्थाभिधायित्वादनुशब्दः समयाशब्देनोपचाराद्व्यपदिष्ट इत्याचष्टे। भवत्युपचारेण हि तदर्थाभिधायिनि तद्व्यपदेशो यथा सीताहरणं काव्य मिति। तेनेत्यनेन यस्यानुशब्दः समयावाची स परामृश्यते। ननुच सोऽर्थ स्तत् कुत स्तेन समासः? अर्थे कार्य्यासम्भवात् तद्वाचिनि शब्दे कार्य्यं विज्ञायते। तथाच तेनेत्यस्य तद्वाचिना शब्देनेत्ययमर्थोऽत्र-गम्यते। अनुवनमिति। तेनेत्यनेन यत् षष्ठ्यन्तं तेन वनशब्देन समासः। वनस्यान्विति समीपसमीपिसम्बन्धे षष्ठ्येव युक्ता। वनं समयेति पूर्वोक्ते-नोपसंख्यानेन वनशब्दाद् द्वितीया। वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति। अत्र कर्मप्रवचनीयलक्षणा द्वितीया। अनुशब्दोऽत्र लक्षणे वर्त्तते। न सामीप्ये।

## १६। यस्य चायामः।

अत्राप्युपचारेणायामवाचित्वादनुरेवायामशब्देनोक्तः। अनुगङ्गं वाराण-सीति। यद्यपि गङ्गावाराणस्यावुभे अप्यायामवत्यौ तथाप्यायामवत्तया गङ्गायाः प्रसिद्धत्वाद् गङ्गैवात्र लक्षणम्। न वाराणसी। प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति। नाप्रसिद्धम्। तस्माद् गङ्गयैवात्र समासो भवति। न वाराणस्या। यमुनायामेन मथुरायामो लक्ष्यत इति। यमुनया तद्वत्या लक्षणभूतयेति वेदितव्यम्। यस्माद् यस्यायामवाच्यनुशब्द स्तेन लक्षणभूतेन सुबन्तेन समस्यते। यमुनायाश्चायामवाच्यनुशब्दो न यमुनायामस्य। नह्यायामस्यापर आयामोऽस्ति तस्माद् यमुनायामेनेति हेतावियं तृतीया। यमुनायामेन हेतुना तद्वत्या यमुनया लक्षणभूतया करणभावमापन्नया वा मथुरायामो लक्ष्यत इत्यय मर्थो वेदितव्यः।

## १७। तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च।

तिष्ठद्गुप्रभृतीनां गणपाठादेव कृतसाधुत्वानां मिह प्रकरणे संकीर्त्तन मव्ययीभावसंज्ञार्थम्। नतु सुबन्तेन समासार्थम्। अतएवाह समुदाया एव निपात्यन्त इति। तथाभूतानां पाठ एवैषां निपातनम्। अव्ययीभाव

संक्रमकाणि भवन्तीति । अनेन संज्ञामात्रं विधीयते । नत्वेषां सुबन्तेन समास इति दर्शयति । तिष्ठद्गु वहद्गु इति । पूर्वपदस्य शत्रादेशो निपात्यते । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति (१।२।४८) ह्रस्वः । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु कालः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स वहद्गु कालः । चकारोऽवधारणार्थ इति । असति तस्मिन् परमतिष्ठद्ग्विति सन्महदित्यादिना (२।१।६१) परमशब्देन समासः स्यात् । अवधारणार्थे तु तस्मिं स्तिष्ठद्गुप्रभृतीनीत्येवम्भूतान्येवावतिष्ठन्ते । आयतीगव मिति । पुंवद्भावाभावः समासान्तश्च भवति । आयत्यो गावो यस्मिन् काले स आयतीगवम् । खलेयवम् । खलेवुसमिति । सप्तम्या अलुग् निपात्यते । लूयमानयवमिति । शानज् निपात्यते । तथा पूयमानयव मित्यत्रापि । एते कालशब्दा इति । तिष्ठद्गुप्रभृतयः संक्रियमाणवुसपर्यन्ताः । समभूमि-समपदातीति । समत्वं भूमेः समत्वं पदाते रिति पूर्वपदार्थप्राधान्ये ऽव्ययीभावः । उत्तरपदार्थप्राधान्यविवक्षायान्तु समपदातिः समभूमि रिति विशेषणसमास स्तत्पुरुषो भवति । अन्ये मकारान्तं समशब्दं पठन्ति । समम्भूमि समम्पदातीति । सुषमं विषमं दुःषम् मपरसममिति समशब्देनेति । सुषमादयश्चैते पूर्वपदार्थप्राधान्ये समासाः । अत्र शोभनत्व' समस्येत्येवमादि वाक्य' द्रष्टव्यम् । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु प्रादिसमासो विशेषणसमासश्च यथायोगं कर्त्तव्यः । आयतीसममिति । समाशब्दः संवत्सरवाची । तेन समासः । आयती समा आयतीसमम् । एवं पापा समा पापसमम् । पुण्या समा पुण्यसमम् । अन्ये तु तृतीयासमासं वर्णयन्ति । आयत्या समा आयतीसमम् । एवमन्यत्रापि । प्रगतलमङ्गः प्राह्णम् । अयमपि पूर्वपदार्थप्रधानः । उत्तर पदार्थप्राधान्ये तु तत्पुरुष एव भवति । प्राह्णे कल्याणनामानावेतौ तिष्य पुनर्वसू इति । एवं प्ररथं प्रदक्षिणं प्रमृग मपरदक्षिणं संप्रत्यसम्प्रतीति । इच् (५।४।१२७) कर्मव्यतीहार इतीचोऽव्ययीभावत्वे प्रयोजन मव्ययसंज्ञा नपुंसकत्वञ्च । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तमिति । तत्र तेनेदमिति सरूप इति (२।२।२७) समासः । इच् कर्मव्यतीहार (५।४।१२७) इतीच् समासान्तः । अन्येषामपि दृश्यत (६।३।१३७) इति दीर्घः । दण्डादण्डीति ।

## १८। पारे मध्ये षष्ठ्या वा।

ननुच प्रकृतैव महाविभाषा। तयैव विकल्पो भविष्यति। तत् किं वा-ग्रहणेनेत्याह वावचनादित्यादि। गतार्थम्। यदि तर्हि वावचनात् पक्षे षष्ठीसमासो भवति महाविभाषया किं क्रियत इत्याह महाविभाषयेत्यादि।

## १९। संख्या वंश्येन।

एकलक्षण इति। एकस्वभावः। सन्तानः प्रबन्धः। सन्तानिनामेक-लक्षणत्वात् सन्तानोऽप्येकलक्षणो भवति। तत्र विद्ययैकलक्षणो वैयाकरणवंश उपाध्यायवंश इति। जन्मना ब्राह्मणवंशः क्षत्रियवंश इति। तत्र भवो (४।३।५३) वंश्य इति दिगादित्वाद् (४।३।५४) यत्। द्वौ मुनी इति पाणिनिकात्यायनौ। व्याकरणस्येति सम्बन्धलक्षणा षष्ठी। त्रिमुनि व्याकरणस्येति। पूर्वौ द्वौ भाष्यकारस्तृतीयः। विद्ययेति व्याकरणाख्यया। तद्वतामिति। पाणिनि-प्रभृतीनाम्। अभेदविवक्षेति। यौ तौ द्वौ मुनी तावेव व्याकरणमित्यति-शयेन विद्यया योगं तयोराख्यातुमभेदविवक्षा यदा क्रियते तदा सामानाधि-करण्यं भवति। द्विमुनि व्याकरणमिति।

## २०। नदीभिश्च।

चकारेण संख्येत्यनुकृष्यते। बहुवचननिर्देशेनार्थस्येदं ग्रहणं न स्वरूपस्य। नापि संज्ञायाः। तेन सर्वैर्नदीवाचिभिः समासो विज्ञायत इत्याह नदीवचनैरित्यादि। समाहारे चायमिष्यत इति। चकारोऽवधारणे। समाहार एव नान्यत्रेति। यद्येवं समाहारग्रहणं कर्त्तव्यम्? न कर्त्तव्यम्। यत एव हेतोरक्षादीनां परिणा सह कितवव्यवहार एव समासो भवति तत एव हेतोरयमपि समाहार एव भविष्यति। सप्त गङ्गाः समाहृताः सप्तगङ्गमिति। पूर्ववद् ह्रस्वः। अन्यपदार्थे तु न भवति। (E) द्वीरावतीको देश इति। पञ्चनदम्। सप्तगोदावरमिति।

---

(E) विश्रावतीक इति पाठान्तरम्। It is in the पुना MS. as well as in my 2nd and 13th MSS.

कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमेरच्प्रत्ययः स्मृतः ।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥ १ ॥

इति वचनादच् समासान्तः ।

## २१ । अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् ।

कृष्णवेस्रेति । कृष्णा चासौ वेस्रा चेति विशेषणसमासः । शीघ्रगङ्ग-इति बहुव्रीहिः ।

## २२ । तत्पुरुषः ।

कष्टश्रित इति । तत्पुरुषसंज्ञायां सत्यां तत्पुरुषे (६।२।२) तुल्यार्थेत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अथ किमर्थमियम्महती संज्ञा विधीयत इत्याह पूर्वाचार्य्यसंज्ञा चेयमिति । तदङ्गीकरणं किमर्थमित्याह तदङ्गीकरण-मित्यादि । उपाधिर्विशेषणम् । कः पुनरसौ तदीय उपाधिरित्याह उत्तर-पदार्थप्रधानस्तत्पुरुष इति ।

## २३ । द्विगुश्च ।

समासान्ताः प्रयोजनमिति । तत्पुरुषस्याङ्गुलेः (५।४।८६) संख्यात्र-यादेरित्यत स्तत्पुरुष इत्यनुवर्त्तमाने राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१) गोरतद्धितलुकीति (५।४।९२) च द्विगोरपि यथा स्यात् । पञ्चराजीति । पञ्चानां राज्ञां समाहार इति तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चेति (२।१।५१) समासः । संख्यापूर्वो द्विगुरिति (२।१।५२) द्विगुसंज्ञा । टच् । न स्तद्धित इति (६।४।१४४) टिलोपः । अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति (२।४।३०, वा) स्त्रीलिङ्गता । द्विगोरिति (४।१।२१) ङीप् । द्व्यह त्र्यह इति ; अह्नष्टखोरेवेति (६।४।१४५) टिलोपः । रात्राह्नाहाः (२।४।२९) पुंसीति पुंस्त्वम् । पञ्चगवमिति । स नपुंसकमिति (२।४।१७) नपुंसकत्वम् । सत्यप्यकारान्तत्वे स्त्रीत्वं न भवति । पात्रादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य (२।४।३०, वा) इति वचनात् ।

## २४ । द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ।

श्रितादिष्वित्यादि । श्रितादिषु समासकारणत्वेनोपात्तेषु सत्सु गमि-

गाम्यादीनां समासस्योपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। एतैरपि समासः प्रतिपादयितव्यः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। द्वितीयेति योगविभागः क्रियते। तेन गमिगामिप्रभृतिभिरपि समासो भवति। न चैवं श्रितादिग्रहणमनर्थकम्। पूर्वविषयस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थत्वात्। आदि-शब्दः प्रकारवाची। गमिगामिशब्दयोरेकतरोपादानेनैव सिद्धे द्वयोरुपादान-मुणादीनामन्येषाञ्च यथा स्यात्। अन्यथा यदि गमिग्रहणमेव क्रियेत तदाऽऽदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वाद् गमिप्रकाराणामुणादीनामेव ग्रहणं स्यात्। अथ गामिग्रहणमेव क्रियेत तदा गामिप्रकाराणामनुणादीनां स्यात्। तस्माद् द्वयोरपि ग्रहणं कर्त्तव्यम्। ग्रामं गमीति। गमेरिनि(उण्, ४।४४६)रिती-निप्रत्ययः। स च भविष्यत्काले। भविष्यति गम्यादय (३।३।३) इति वचनात्। ग्रामङ्गामीति। आवश्यकाधमर्ण्ययो (३।३।१७०) रित्यावश्यके णिनिः। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति (२।३।७०) षष्ठीप्रतिषेधः। ओदनं बुभुक्षुरिति। भुजेः सन्नन्तात् सनाशंस भिक्ष (३।२।१६८) उरित्युप्रत्ययः। न लोकेत्यादिना (२।३ ६९) षष्ठीप्रतिषेधः। कष्टं श्रित इत्यादावप्यनेनैव षष्ठीप्रतिषेधः।

## २५। स्वयं क्तेन।

तस्य द्वितीयया सह सम्बन्धो नोपपद्यत इति। द्वितीयार्थासम्भवात्। इतिशब्दो हेतौ। यतस्तस्य द्वितीयया सह सम्बन्धोऽनुपपन्न स्तस्माद् द्वितीयाग्रहणमुत्तरार्थ मनुवर्त्तते। नत्वेतदर्थम्। स्वयंधौतौ पादाविति। धावु गतिशुद्ध्योः। अस्योदित्वाद् विभाषितेट्। यस्य (७।२।१५) विभाषेतीट्प्रतिषेधः। च्छ्वोः (६।४।१९) शूडनुनासिके चेत्यूट्। एत्येधत्यूट् स्विति (६।१।१५) वृद्धिः। स्वयंविलीनमाज्यमिति। लीङ् श्लेषणे। स्वादय ओदित इत्योदित्त्वादोदित (८।२।४५) श्चेति नत्वम्। कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि (प,२९) ग्रहणमिति गतिपूर्वस्यापि समासो भवति। कः पुनरत्र समासे सति विशेषो यावता विनापि तेनैतद्रूपं सिध्यतीत्याह ऐकपद्यमित्यादि।

## २६। खट्वा क्षेपे।

स चेत्यादि। एवकारेण वाक्यार्थतां क्षेपस्य निरस्यति। स्यादेतत्।

वाक्यार्थोऽपि क्षेपः । तेन वाक्यमपि भविष्यतीत्याह नहीत्यादि । वाक्येन हि क्रियाकारकसम्बन्धमात्रं गम्यते । नतु क्षेपः । खट्वारोहणञ्चेत्यादि । विरुद्धो मार्गो विमार्गः । तेन प्रस्थानं गमनम् । अधीत्य स्नात्वा गुरुणाभ्यनुज्ञातेन खट्वा रोढ़व्या । यत् त्वन्यथा खट्वारोहणं तद् विमार्गप्रस्थानम् । नतु खट्वारोहणमेव । इह च खट्वारूढ़ इत्यादौ खट्वारोहणं विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणं वेदितव्यम् । किं पुनः कारणमेवं विज्ञायत इत्याह सर्व एवेत्यादि । आरूढ़ इत्याङ्पूर्वस्य रुहेः क्तप्रत्यये ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घेषु कृतेषु रूपम् । जाल्म इत्ययुक्तकारीत्यर्थः ।

## २७। सामि ।

असत्त्ववाचित्वादिति । द्रव्याधारा हि कर्मशक्तिः । अतो द्रव्यवाचिन एव द्वितीयया सम्बन्धो भवति । नासत्त्ववाचिनः ।

## २८। कालाः ।

चराचरा इति । अनत्यन्तसंयोगप्रतिपादनार्थम् । चरन्ति भ्रमन्तीति चराचरा अनवस्थिता इत्यर्थः । वा चरिचलिपतिवदीनामच्याक्चाभ्यासस्येति (६।१।१२,वा) चरेः पचाद्यचि द्विर्वचनमभ्यासस्याक्चागमश्च । कदाचिदहर्गच्छन्तीत्युत्तरायणे । कदाचिद्रात्रिमिति दक्षिणायने । एतेन तदेवानवस्थितत्वं व्यक्तीकुर्वन्नह्नो रात्रेश्च तैर्मुहूर्त्तैरनत्यन्तसंयोगमाचष्टे । अहरतिसृता इति । रोऽसुपीत्यह्नो (८।२।६९) नकारस्य रेफः । अहःसंक्रान्ता इति । क्रमु पादविक्षेपे । पूर्ववदिट्प्रतिषेधः । अनुनासिकस्य (६।४।१५) क्विझलोरिति दीर्घः । मासप्रमित इति । माङ् माने । आदिकर्मणि कर्त्तरि (२।४।७१) चेति कर्त्तरि निष्ठा । द्यतिस्यतीत्यादिनेत्त्वम् ( ७।४।४० ) । मासं प्रमातुमारब्ध इति मासस्यैकदेशस्य प्रतिपदश्चन्द्रमसा योगं दर्शयन् मासस्य तेनानत्यन्तसंयोगमाचष्टे । कालस्य हि कृत्स्नस्य स्वेन सम्बन्धिना व्याप्तिरत्यन्तसंयोगः । नच प्रतिपच्चन्द्रमसा मासस्येह व्याप्तिः संयोगोऽस्तीति नेहात्यन्तसंयोगः ।

## २९। अत्यन्तसंयोगे च ।

कृत्स्नसंयोग इति । कृत्स्नस्य सकलस्य संयोगः कृत्स्नसंयोगः । कृत्स्नस्य

कालस्य मुहूर्त्तादेः स्वेन सम्बन्धिना सुखादिना संयोगः सम्बन्धोऽत्यन्तसंयोगः। एतदेव स्पष्टीकर्त्तुमाह कालस्येत्यादि। मुहूर्त्तं सुखमिति। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग (२।३।५) इति द्वितीया। अत्र मुहूर्त्तस्य कालस्य स्वेन सम्बन्धिना सुखेन व्याप्तिः।

## ३०। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन।

तत्कृतेत्येतदर्थशब्देनासमस्तमेव। अविभक्तिकञ्च। तृतीयाविभक्तेः सुपां सुलुगिति (७।१।३९) लुप्तत्वात्। एतच्च गुणवचनेनेत्यस्य समानाधिकरणं विशेषणम्। अतएव कीदृशेनेति स्पष्टः सन्नाह। तत्कृतेनेति। तदिति सर्वनाम्ना प्रकृतस्य तृतीयान्तस्य प्रत्यवमर्श इति तृतीयान्तकृतेनेति दर्शयति। तृतीयान्तेन गुणवचनस्य करणत्वं न सम्भवतीत्यतः सामर्थ्यात् तदर्थकृतेनेति विज्ञायत इत्यत आह तृतीयान्तार्थकृतेनेति यावदिति। अर्थद्वारेण चेदं गुणवचनस्य विशेषणं वेदितव्यम्। तृतीयान्तार्थकृतो गुणवचनार्थ इति। सोऽपि तथोच्यते। एतदुक्तं भवति। तृतीयान्तार्थकृतेन गुणवचनार्थेनेति। अर्थ एव हि तृतीयान्तार्थेन क्रियते। नच गुणवचनशब्दः। गुणमुक्तवान् गुणवचनः। कृत्यल्युटो बहुलमिति (३।३।११३) कर्त्तरि ल्युट्। अथवा करणे। गुणं उक्तोऽनेनेति गुणवचनः। यश्च पूर्वं गुणे वर्त्तित्वा पश्चात् तद्वति द्रव्ये वर्त्तते स गुणवचनः। गुणेनेत्युच्यमाने घृतेन पाटवमित्यादौ प्रसङ्गः। अतस्तन्निवृत्त्यर्थं वचनग्रहणम्। तस्मिंश्च सति गुणे वर्त्तित्वा तद्वति द्रव्ये यो वर्त्तते तेनैव समासो भवति। नतु गुण एव यो वर्त्तते तेन सह। नच पाटवादयः शब्दाः पूर्वं गुणे वर्त्तित्वा पश्चात् तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते। अपि तु गुण एव। वचनग्रहणात् तैः सह समासो न भवति। शङ्कुलाखण्डो गिरिकाण इति। खण्डकाणशब्दावत्र खण्डने निमीलने च क्रियारूपापन्ने गुणे वर्त्तित्वा पश्चान्मतुब्लोपादभेदोपचाराद् वा तद्वति द्रव्ये वर्त्तेते इति गुणवचनौ भवतः। धान्यार्थ इति। भवत्ययमर्थशब्दस्तत्कृतो नतु गुणवचन इति पृथगस्योपादानं क्रियते। अर्थशब्दश्चायं प्रयोजनवाची यथा किमर्थमागतोऽसीत्यभिहिते केन प्रयोजनेनेत्यवगम्यते। अभिधेयवचन इत्यन्ये। सर्वत्र करणे तृतीया। अक्ष्णा काण इति। अङ्गविकारलक्षणे येनाङ्गविकार (२।३।२०) इति तृतीया। नात्र

तृतीयान्तेनाक्ष्णा देवदत्तस्य काणत्वं कृतम् । किं तर्हि ? अन्येन केनापि । अक्ष्णा तु केवलं काणत्वयुक्तो देवदत्तो लक्ष्यते । गोभिर्वपावानिति । वपा अस्य सन्तीति वपावान् । भवति वपावान् देवदत्तस्तृतीयान्तार्थकृत स्तथाहि स गोभिर्वपावान् कृतः । ननु वपावानित्ययं शब्दो गुणमुक्तवानिति न गुणवचनः । ततस्तेन सह समासो न भवति ।

## ३१ । पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः ।

युक्तः समसदृशशब्दाभ्यां समासो यावता ताभ्यां योगे तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यामिति (२।३।७२) तृतीयाविधानम् । इतरैस्तु पूर्वादिभिः कथं तृतीयासमास उपपद्यते ? नहि तद्योगे केनचित् तृतीया विहितेत्याह अस्मादेवेत्यादि सुबोधम् । पूर्वादिष्ववरस्योपसंख्यानमिति । पूर्वादिषु समासकारणत्वेनोपात्तेषु सत्स्ववरशब्दस्योपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । अवरशब्देनापि तृतीयासमासः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । उत्तरसूत्रे बहुलग्रहणं क्रियते । तेनावरशब्देनापि समासो भवति ।

## ३२ । कर्त्तृकरणे कृता बहुलम् ।

भिक्षाभिरुषित इति । हेतौ (२।३।२३) तृतीया विहिता । वसेर्वच्यादिसूत्रेण ( ६।१।१५ ) संप्रसारणम् । शासिवसिघसीनाञ्चेति ( ८।३।६० ) षत्वम् । वसतिक्षुधोरितीट् ( ७।२।५२ )। दात्रेण धान्यं लूनवानिति । ल्वादिभ्यश्चेति ( ८।२।४४ ) निष्ठानत्वम् । पादहारक इति । पादाभ्यां ह्रियत इति पादहारकः । पादाभ्यामिति पञ्चमी चतुर्थी वा । हारक इति कृत्यल्युटो बहुलमिति (३।३।११३) कर्मणि ण्वुल् । गलेचोपक इति गले चुप्यत इति । चुप मन्दायां गता विल्यस्मात् पूर्ववदेव ण्वुल् । तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुक् ( ६।३।१४ ) ।

## ३३ । कृत्यैरधिकार्थवचने ।

स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तमिति । स्तुत्या निन्दया वा यत् प्रयुक्तं प्रवर्त्तितं तत् स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तम् । तदर्थमुच्चारितमित्यर्थः । अध्यारोपितार्थवचनमिति ।

अध्यारोपितोऽर्थोऽसन्नेव बुद्ध्या समारोपित स्तस्य वचनमिति षष्ठीसमासः। कर्त्तृकरण इति। अर्थे कार्य्यासम्भवात् तदभिधायिनि सुबन्ते कार्य्यं विज्ञायते। काकपेयेति। पा पान इत्यचो (३।१।९७) यत्। ईद् (६।४।६५) यतीत्त्वम्। अत्र सम्पूर्णतोयत्वोद्भावनं नद्याः स्तुतिः। अध्यारोपितः पुनरत्रार्थः काकपेयत्वम्। एवं नाम सम्पूर्णतोया नदी यत् तटस्थैरपि काकैः शक्या पातुम्। श्वलेह्यः कूप इति। ऋहलोर्ण्यत् (३।१।११४)। अत्राप्यासन्नोदकत्वोद्भावनं कूपस्य स्तुतिः। अध्यारोपितः पुनरत्रार्थः श्वलेह्यत्वम्। एवं नामासन्नोदकः कूपो यतः श्वभिरपि लिह्यते। वाष्पच्छेद्यानि तृणानीति। अत्र मार्दवातिशयोद्भावनं तृणानां स्तुतिः। अध्यारोपितः पुनरत्रार्थो वाष्पच्छेद्यता। एवं नाम मृदूनि तृणानि यद्वाष्पेणापि शक्यानि च्छेत्तुम्। कण्टकसञ्चेय ओदन इति। अत्रापि वैषद्यातिशयोद्भावनं विक्लिन्नतोद्भावनञ्चौदनस्य स्तुतिः। अध्यारोपितः पुनरत्रार्थः कण्टकसञ्चेयत्वम्। एवं नामौदनस्य विषदतातिशयो विक्लेदश्च यत् कण्टकेनापि शक्यः सञ्चेतुम्। एवं तावत् स्तुतिप्रयुक्तेऽधिकार्थवचन उदाहरणानि। निन्दाप्रयुक्तेऽधिकार्थवचन एतावन्त्येव द्रष्टव्यानि। तथाहि काकपेया नदीत्यत्राल्पतोयत्वोद्भावनं नद्या निन्दा। अध्यारोपितः पुनरत्रार्थस्तदेव पूर्वोक्तं काकपेयत्वम्। एवं श्वलेह्यादावपि पूर्वोक्त एवाध्यारोपितोऽर्थो द्रष्टव्यः। एवं नामाल्पतोया नदी यत् काकैरपि शक्यं पातुमिति। श्वलेह्यः कूप इत्यत्राप्यशुद्धतोयत्वोद्भावनं निन्दा। एवं नामाशुचिः कूप यच् श्वभिरपि लिह्यत इति। वाष्पच्छेद्यानि तृणानीति। क्वथितत्वोद्भावनं निन्दा। एवं नाम क्वथितानि तृणानि यद् वाष्पेणापि च्छिद्यन्ते। कण्टकसञ्चेय ओदन इति। अल्पतोद्भावनं निन्दा। एवं नामाल्प ओदनो यत् कण्टकैरपि चीयत इति। ननु च बहुलवचनादधिकार्थेऽपि पूर्वेणैव सिद्धः समासः। तत् किमर्थमिदमित्याह पूर्वस्येत्यादि। ते वै विधयः सुसंगृहीता येषां लक्षणं प्रपञ्चश्चेति। सुसंगृहीतं यथा स्यादिति पूर्वस्यायं प्रपञ्चः क्रियते।

## ३४। अन्नेन व्यञ्जनम्।

दध्योदन इति। ननुच क्रियाकृतः कारकाणां सम्बन्धो नतु स्वतः। नच वृत्ताविह काचन क्रिया स्रूयत इति सामर्थ्याभावः। असति च सामर्थ्ये

समासाभावः । अथासत्यपि सामर्थ्ये वचनसामर्थ्यात् समासो भवतीति चेदास्यतां दध्ना । ओदनो भुज्यतां देवदत्तेनेत्यत्रापि स्यादित्यत आह वृत्तावित्यादि । नह्यसत्यासुपसेचनक्रियायां संस्कार्य्यं संस्कारकं वा सम्भवति । अस्ति चेह तदुभयमित्यतस्तद्भावादेव समासान्तर्भूता क्रिया गम्यते । तद्द्वारकश्चान्नव्यञ्जनयोः सम्बन्ध इति विद्यत एव सामर्थ्यम् ।

## ३५ । भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ।

मिश्रीकरणमिति । अमिश्रं मिश्रं क्रियतेऽनेनेति मिश्रीकरणम् । खरविशदमभ्यवहार्य्यं भक्ष्यमिति । तत्रैव भक्ष्यशब्दस्य रूढ़त्वात् ।

## ३६ । चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ।

तदर्थेनेत्यादि । यदि तादर्थ्यमात्रे समासः स्याद् बलिरक्षितग्रहण-मनर्थकं स्यात् । तथाहि कुवेरबलि गोरक्षितमित्यत्रापि तादर्थ्यं गम्यत एव । तस्माद् बलिरक्षितग्रहणाल्लिङ्गात् तादर्थ्ये प्रकृतिविकारभावे समासो भवतीति विज्ञायते । ननु च सम्प्रदाने चतुर्थ्यर्थं बलिरक्षितग्रहणं स्यात् । नैतदस्ति । ददातिकर्म्मणा ह्यभिप्रेयमाणस्य क्रियया वा सम्प्रदानसंज्ञेष्यते । न चेह ददातिकर्म्मणा क्रियया वा ऽभिप्रेयमाणतास्ति । तत् कुतः सम्प्रदाने चतुर्थी ? केन पुनस्तादर्थ्ये चतुर्थी भवतीत्याह अस्मादेवेत्यादि । यदि तादर्थ्ये चतुर्थी न स्यात् तदा तदर्थग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्माद् यदेतत् तदर्थेन चतुर्थ्यन्तस्य समासविधानं तदेव ज्ञापकं तादर्थ्ये चतुर्थी भवतीति । अर्थेनेत्यादि । कर्त्तव्यमिति शेषः । नित्यसमास उच्यते कथ्यते प्रत्याय्यते येन तन्नित्यसमासवचनं व्याख्यातव्यम् । एतदुक्तं भवति । येनार्थशब्देन नित्यसमासः प्रत्याय्यते तद्व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति । तत्रेदं व्याख्यानम् । विभाषाग्रहणमनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेनार्थशब्देन नित्यसमासो भविष्यति । सर्वलिङ्गता चेति । परवल्लिङ्ग (२।४।२६) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति परवल्लिङ्गतायां प्राप्तायां सर्वलिङ्गता विधीयते । एषा तु लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति सिद्धा । अथवा बहुलग्रहणानुवृत्तेः सर्वमेतत्

सिद्धम् । गोहितं गोसुखमिति चतुर्थी चाशिष्यायुष्येत्यादिना ( २।३।७३ ) चतुर्थी । हितयोगे त्वनाशिष्यपि चतुर्थी भवति । तथाहि वक्ष्यति हितयोगे चतुर्थी वक्तव्येति ( २।३।१३, वा ) ।

## ३७ । पञ्चमी भयेन ।

भयभीतभीतिभीभिरिति वक्तव्यमिति । एवं हि त्रिभिरपि भीतादिभिः समासो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । स्वयमेव व्याख्यातु माह पूर्वस्येत्यादि । यथैव हि कर्त्तृकरणे कृता (२।१।३२) बहुलमिति तृतीयान्तस्य समासो विधीयमानो बहुलग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वादन्यविभक्त्यन्तस्यापि समासो भवति पादहारको गलेचोपक इति तथा वृकभीत इत्यादावपि समासो भविष्यति । तस्मात् पूर्वकस्य बहुलग्रहणस्यैवोदाहरणप्रदर्शनार्थोऽयं योगः प्रपञ्चार्थो वेदितव्यः । तथा चेत्यादि । यस्मात् पूर्वकेणैव बहुलग्रहणेन सिद्धं तस्यैवायम्प्रपञ्चः । तस्मात् तत एव बहुलग्रहणाद् ग्रामनिर्गत इत्याद्यपि सिद्धं भवति । आदिशब्देन वृकभीतादेर्ग्रहणम् ।

## ३८ । अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः ।

अल्पश इति । बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्यामिति (५।४।४२) शस् । अल्पा पञ्चमी समस्यत इति । अल्पेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य उत्पन्ना या पञ्चमी सा समस्यते । नतु सर्वेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इत्यर्थः ।

## ३९ । स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ।

स्तोकान्मुक्तः । कृच्छ्रान्मुक्त इति । करणे (२।३।३३) स्तोकाल्पकृच्छ्रेत्यादिना पञ्चमी । अन्तिकादागतः । दूरादागत इति । दूरान्तिकार्थेभ्यो ( २।३।३५ ) द्वितीया चेत्यनेन ।

## ४० । सप्तमी शौण्डैः ।

शौण्डैरिति । बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यत इत्याह शौण्डादिभिरिति । केन पुनर्विहितायां सप्तम्यां तदन्तस्य शौण्डादिभिः समासो विधीयते ? सप्तम्यधिकरणे ( २।३।३६) चेत्यनेनेति चेद् वार्त्तमेतत् । तथाह्यधिकरणं कारकम् ।

तच्च क्रियापेक्षम् । नचाक्षशौण्ड इत्यादौ वृत्तौ काचन क्रिया श्रूयते । तत् कुतोऽधिकरणस्येह सम्भवः ? नच शक्यते वक्तुमस्मादेव वचनाच्छौण्डादिभि-र्योगे सप्तमी भविष्यतीति । देवदत्तः शौण्ड इत्यत्रापि प्रसङ्गः स्यादित्यत आह वृत्तावित्यादि । अस्त्येवात्र प्रसक्तिक्रिया । सा तु समासार्थ एवान्त-र्भूतेति गम्यमानत्वाद् वृत्तौ क्रियापदं न प्रयुज्यते । तस्या यत् साधनमधि-करणं तत्र सप्तमीत्यदोषः । अन्तः शब्दस्त्वत्राधिकरणप्रधान एव पठ्यते । तस्य प्रयोगे तत्सामानाधिकरण्यमेव सप्तम्याः कारणम् । वनेऽन्तर्वनान्तर्वसतीति । पूर्वपदार्थप्राधान्ये तु विभक्त्यर्थे यदव्ययमित्यव्ययीभाव (२।१।६) एव भवति । अन्तर्वणमिति । अधिशब्दोऽत्र पठ्यते । तस्याधिकरणप्राधान्ये सत्यव्ययीभावः । अधिस्त्रि । आधेयप्राधान्ये तु तत्पुरुषो ब्राह्मणेष्वधि ब्राह्मणाधीन इति । ब्राह्मणाधिशब्दः केवलो न प्रयुज्यते । अषड्क्षाशितैत्यादिना (५।४।७) ऽध्युत्तरपदात् स्वार्थिकस्य नित्यस्य खस्य विधानात् ।

## ४१ । सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च ।

## ४२ । ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ।

ध्वाङ्क्षेणेत्यर्थग्रहणमिति । अर्थप्रधानत्वान्निर्देशस्य । यत्र हि शब्दप्रधानो निर्देश स्तत्र स्वरूपग्रहणं भवति । अन्यत्र त्वर्थग्रहणमेवेति प्रतिपादितमेतत् प्राक् । अर्थप्रधानत्वन्तु निर्देशस्याविच्छिन्नाचार्य्यपारम्पर्य्योपदेशाद् विज्ञायते । बहुलग्रहणानुवृत्तेरर्थस्येदं ग्रहणं वा । अपिच क्षेप इत्युच्यते । क्षेपश्चार्थ-कारित एवेत्यर्थग्रहणमेव युक्तम् । अर्थग्रहणे च सति ध्वाङ्क्षपर्य्यायैरपि समासो भवति । अत आह ध्वाङ्क्षवाचिनेत्यादि । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इवेति । उपमान-भावे सति ध्वाङ्क्षस्य क्षेपो गम्यते नान्यथेति दर्शयितुमिवशब्दः प्रयुक्तः । समासे तु समास एवोपमानार्थस्यान्तर्भूतत्वादिवशब्दो गतार्थो न प्रयुज्यते । यथैव हि तीर्थध्वाङ्क्षाश्चिरं स्थातारो न भवन्ति तद्वदन्योऽपि यः कार्य्ये प्रत्यनव-स्थितः स तीर्थध्वाङ्क्ष इत्युच्यते । यदाह अनवस्थित इत्यर्थः । कार्य्यं प्रत्य-नवस्थितत्वमेव क्षेपः ।

## ४३। कृत्यैरृणे।

यत्प्रत्ययान्तेनैव समास इष्यत इति। कथं पुनर्यत्प्रत्ययेनैव लभ्यते? अल्पश इत्यनुवृत्तेः। मासदेयमिति। पूर्ववद् यदीत्त्वञ्च। सप्तमी ह्यत्रौपश्लेषिकेऽधिकरणे वेदितव्या। मासे ह्यतीते योऽनन्तरो दिवसः स मासं प्रत्युपश्लिष्टो भवति। यस्य च भावेन (२।३।३७) भावलक्षणमित्यनेन वा। मासातिक्रमणभावेन हि ऋणदानभावो लक्ष्यते। अथ ऋण इत्युच्यते। तत्रेदं न सिध्यति। पूर्वाह्णेगेयं साम प्रातरध्येयोऽनुवाक इत्यत आह ऋणमित्यादि। ऋणं हि नियोगतो निर्यातयितव्यमिति नियोगसहचरितम्। अतः साहचर्य्यात् तेन नियोगोऽवश्यम्भाव उपलक्ष्यते। एतच्च कृत्यैरिति बहुवचननिर्देशाल्लिङ्गाद् गम्यते। कथम्? कृत्यैरिति बहुवचनमत्र विवक्षितम्। तच्च ऋणग्रहणस्य नियोगोपलक्षणार्थत्वे (F) प्रकृतिभेदेन भिद्यमाने कृत्ये सति प्रसज्यते। नत्वन्यथा। यत्प्रत्ययस्यैकत्वात् तेनैव समासस्येष्टत्वात्।

## ४४। संज्ञायाम्।

समुदायोपाधिरिति। संज्ञायामिति। नेदं पूर्वपदस्योत्तरपदस्य वा विशेषणम्। किन्तर्हि? समुदायस्य। समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यत इति। किमेवं सति सिध्यतीत्यत आह तेनेत्यादि। अत्रैवोपपत्तिमाह नहीत्यादि।

## ४५। क्तेनाहोरात्रावयवाः।

एतत् (G) तु ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तञ्च द्रक्ष्यसीत्यादि। नात्राहरवयवाः रात्र्यवयवाश्च सन्ति। किन्तर्हि? कृत्स्नमेवाहः कृत्स्ना च रात्रिरिति। तेनेह समासो न भवति।

## ४६। तत्र।

तत्रेत्येतत् सप्तम्यन्तमिति। सप्तमीसाधर्म्यात्। त्रल्प्रत्यय एवात्र सप्तमी शब्देनोक्तः। भवति हि ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यं यथा गौर्वाहीक इति। सप्तमी

---

(F) नियोगोपलक्षणार्थत्वात् प्रकृतिभेदेन भिद्यमाने सति युज्यते is in the 2nd MS. & in the Poona Book.

(G) उलूखले राभरेः पिशाची यदभाषतेति। श्लोकस्य पूर्वांशः।

साधर्म्यं पुनस्त्रलोऽधिकरणार्थत्वात् । यथैव ह्यधिकरणप्रत्यायनाय सप्तमी प्रयुज्यते तथा त्रलपि । अथ मुख्यैव सप्तमीविभक्तिः कस्मान्न विज्ञायते ? तस्यास्तत्र शब्देऽसम्भवात् । असम्भवस्तु त्रलैव तदर्थस्य द्योतितत्वात् । अन्यस्त्वाह यदा विभक्त्यादेशास्त्रलादयस्तदा स्थानिवद्भावेनैवैतत् सप्तम्यन्तं भवति । आदेशपक्षस्तु तत्र व्रस्थिताता नाश्रित इत्यसम्यगेतत् । अन्तशब्दश्चात्रावयववचनः । सप्तमीत्रल्प्रत्ययोऽन्तोऽवयवो यस्य तत् तथोक्तम् ।

४७। क्षेपे ।

अवतप्तेनकुलस्थितमिति । तत्पुरुषे कृति बहुलमिति (६।३।१४) सप्तम्या अलुक् । कः पुनरत्र क्षेपः ? कार्य्येष्वनवस्थितता । यदाह एतच्चापलमित्यादि । यथा ऽवतप्ते देशे नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति तद्वदन्योऽपि योऽर्थानारभ्य न चिरं तेष्ववतिष्ठते तं प्रतीदमुच्यते ऽवतप्तेनकुलस्थितमिति । उदके विशीर्णमित्यादा वप्यारम्भस्य निष्फलता क्षेपः । अतएवाह निष्फलं यत् क्रियते तदेव मुच्यत इति । प्रवाहेमूत्रितमिति । मूत्र प्रस्रवणे चुरादिः ।

४८। पात्रेसमितादयश्च ।

युक्तारोह्यादिपरिग्रहार्थ इति । युक्तारोह्यादिषु युक्तारोह्यादिभिर्वा परिग्रहोऽर्थः प्रयोजनं यस्य पाठस्य स तथोक्तः । किमर्थं पुनर्युक्तारोह्यादिषु परिग्रहस्तेषामिष्यत इत्याह पूर्वपदाद्युदात्तत्वं यथा स्यादिति । युक्तारोह्यादीनां हि युक्तारोह्यादयश्चेत्यनेन (६।२।८१) पूर्व्वपदाद्युदात्तत्वं विधीयते । तत्र यदि ये क्तान्ता स्ते न पठ्येरं स्तदा तेषामाद्युदात्तत्वं न स्यात् । कथं पुनः पात्रेसमितादयो युक्तारोह्यादिग्रहणेन गृह्यन्ते ? यतस्तेषां विधीयमानमाद्युदात्तत्वं पात्रेसमितादीनामपि भवतीत्याह युक्तारोह्यादिषु हीत्यादि । उदुम्बरमशकादिषूपमया क्षेप इति । यस्तत्रैवास्ते न क्वचिद् गच्छति तमेव विशिष्टं मन्यते नास्मात् परमस्तीति सोऽदृष्टविस्तार उच्यत उदुम्बरमशक इति । एवमन्यत्राप्युपमानात् क्षेपः । प्रतिषिद्धसेवनेनेति । यः कश्चित् प्रतिषिद्धमाचरति स मातरिपुरुष इत्युच्यते । निरीहतयेति ।

यो न किञ्चित् कर्त्तुं समर्थः स पिण्डीशूर इत्येवमादिभिः पदैरभिधीयते। चकारोऽवधारणार्थं इति। पात्रेसमितादय एव यथा स्युः। यदन्यत् समासान्तरं तेषां प्राप्नोति तन्मा भूदिति। तेन परमपात्रेसमिता इति सन्महदित्यादिना (२।१।६१) समासान्तरं न भवति।

४९। पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तप्रयुक्तस्येत्यादि। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तग्रहणं पर्य्याय-निवृत्त्यर्थम्। एकग्रहणं गौरश्च इत्यादिनिवृत्त्यर्थम्। पूर्वकाल इत्यर्थनिर्देश इति। अर्थप्रधानत्वान्निर्देशस्य। तेन स्वरूपग्रहणं न भवतीति भावः। परिशिष्टानां स्वरूपग्रहणमिति। शब्दप्रधानत्वान्निर्देशस्य। पूर्वकालोऽपर-कालेनेति। कुतः पुनरनुक्तोऽप्येषोऽर्थविशेषो लभ्यते। सम्बन्धिशब्दत्वात् पूर्वकालस्य? नह्यनपेक्ष्यापरकालं पूर्वकालः सम्भवति। अतः पूर्वकाल-परिग्रहे कृते सत्यपरकालस्यापि परिग्रहः कृत एव। स्नातानुलिप्त इति। पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्त इत्यत्र स्नातशब्दः स्नानेन निमित्तेन प्रयुक्तः। अनुलिप्तशब्दोऽनुलेपनेन। तयोश्चैकत्रार्थे वृत्तिरित्यस्ति सामानाधिकरण्यम्। एकशाटीति। एका चासौ शाटी चेति। पुंवत् (६।३।४२) कर्मधारयेत्यादिना पुंवद्भावः।

५०। दिक्संख्ये संज्ञायाम्।

पूर्वेषुकामशमीत्यादि ग्रामाणां संज्ञा। पूर्वा चासाविषुकामशमी चेति पूर्वेषुकामशमी। मन्दधियां पूर्वोत्तरपदविभागमात्रप्रदर्शनार्थं वाक्यं कृतम्। नह्यत्र वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते।

५१। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च।

एकस्या अपि सप्तम्या विषयभेदेन भेदं दर्शयितुमाह तद्धितार्थविषय इत्यादि। यदि तद्धितार्थेऽभिधेय इत्येवं विज्ञायेत तदा पाञ्चनापितिरित्यादौ तद्धितो दुर्लभः स्यात्। तदर्थस्य समासेनैवोक्तत्वादित्येतन् मनसि कृत्वा

तद्धितार्थापेक्षया विषयसप्तमीयमिति दर्शयितुं तद्धितार्थे विषय इत्युक्तम् । तद्धिता अणादय स्तेषामर्थोऽपत्यादिः । तस्मिन् विषये । अनन्यत्रभावो विषयशब्दस्यार्थः । यथा मत्स्यानां जलं विषय इति । पौर्व्वशाल इति । पूर्वस्यां शालायां भव इति तद्धितार्थे विषयभूते प्राक् समासः । ततः सुब्लुक् । तत स्तद्धितः । पूर्वशालाप्रिय इति । पूर्वा शाला प्रिया ऽस्येति पूर्वं पदानां त्रयाणां बहुव्रीहिः । पश्चात् प्रियशब्द उत्तरपदे परतः पूर्वयोः पदयोस्तत्-पुरुषः । तस्मिन् सति समासान्तोदात्तत्वं भवति शालेत्यत्र । समाहारे दिङ् न सम्भवतीति । समाहारो हि समूहः । स च भिन्नार्थानामिवैककालानां भवति । बुद्ध्या युगपदर्थानां परिग्रहादेककालत्वम् । नत्वभिन्नवस्तुनः । संख्यैव च भेदमाचष्टे । तस्या भिन्नार्थाभिधायित्वात् । नतु दिक्शब्दः । तस्य प्रतिनियतविषयत्वात् । तस्मात् समाहारे दिक्शब्दो न सम्भवतीति स न तत्र समस्यते । पाञ्चनापितिरिति । पञ्चानां नापितानामपत्यमिति तद्धितार्थे विषयभूते प्राक् समासः । पश्चादत (४।१।९५) इञ् । पञ्चकपाल इति । पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति तद्धितार्थे विषयभूते पूर्वं समासः । पश्चादण् । तस्य द्विगोर्लुगनपत्य (४।१।८८) इति लुक् । पञ्चगवधनमिति । पञ्च गावो धनमस्येति प्राक् त्रयाणां पदानां बहुव्रीहिः । उत्तरकालं धनशब्द उत्तरपदे परतः पूर्वयोः पदयो स्तत्पुरुषः । तस्मिन् सति गोरतद्धित लुकीति (५।४।९२) टच् समा-सान्तः । तत्र हि तत्पुरुषस्याङ्गुलेरित्यत (५।४।८६) स्तत्पुरुषग्रहणमनुवर्त्तते । पञ्चपूलीति । पञ्चानां पूलानां समाहार इति विग्रहः । द्विगु(२।४।१) रेकवचनमित्येकवद्भावः । अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत(२।४।३०,वा) इति स्त्रीलिङ्गता । द्विगोरिति (४।१।२१) ङीप् । नतु समाहारः समूहः । समूहश्च तद्धितार्थो भवतीत्यपार्थकं समाहारग्रहणम् ? तद्धितार्थ इत्येव सिद्धत्वात् । नैतदस्ति । पञ्चकुमारीत्यत्र हि समूहप्रत्ययस्य द्विगोर्लुगनपत्य (४।१।८८) इति लुकि कृते लुक् (१।२।४९) तद्धितलुकीति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक् स्यात् । समाहारे तु पृथक् गृह्णीते तद्धितानुत्पत्तिरेवात्र विषये समाख्यायते । ततो न भवत्येष दोषः । पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि । एक-विभक्ति चापूर्वनिपात ( १।२।४४ ) इत्युपसर्जनसंज्ञायां गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति

( १।२।४८ ) ह्रस्वत्वम् । कथं पुनरत्रैकविभक्तित्वम् ? षष्ठ्यैवैकया योगात् । तथाहि समाहारः समूहः । तेन च तत्सम्बन्धे षष्ठ्यैव भवितव्यम् । अतः समाहारः कुमारीणाम् । समाहारं कुमारीणां पश्य । समाहारेण कुमारीणामित्येवमादिभिरनेकाभिर्विभक्तिभिर्युज्यमानेऽपि समाहारशब्दे कुमारीशब्दः षष्ठ्यैवैकया युज्यत इत्येकविभक्तिकत्वम् ।

## ५२ । संख्यापूर्वो द्विगुः ।

समासान्तो भवतीति । टच् । राजाहः (५।४।९१) सखिभ्यष्टजित्यनुवृत्तेः ।

## ५३ । कुत्सितानि कुत्सनैः ।

कुत्सितशब्दोऽयमिह रूढ़िमाचष्टे । तथाच निष्ठा भूतकालं नोपादत्ते । कुत्सनशब्देन च कुत्साहेतुर्धर्मो गृह्यते । कुत्स्यते गर्ह्यतेऽनेनेति कृत्वा । बहुवचननिर्देशस्तु स्वरूपविधेर्निरासार्थः । तेन कुत्सितवाचिनां कुत्सनवचनैः सह समासो विज्ञायते । नतु कुत्सितशब्दस्य कुत्सनशब्देन । अत आह कुत्सितवाचीनीत्यादि । शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयं समासो वेदितव्यः । कुतः पुनरेतल्लभ्यते ? प्रत्यासत्तेः । शब्दस्य हि प्रवृत्तिनिमित्तं प्रत्यासन्नम् । अतस्तत्कुत्सायामेव समासेन भवितुं युक्तम् । वैयाकरणखसूचि रिति । वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्चेति विग्रहः । यः पृष्टः सन् व्याकरणे खमाकाशं सूचयतीति निरीक्षते निष्प्रतिभो भवति स एवमुच्यते । अत्र हि वैयाकरणत्वं वैयाकरणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तत् कुत्स्यते । तत् पुनः व्याकरणाध्येतृसम्बन्धो व्याकरणवेदितृसम्बन्धो वा । तेन हि निमित्तेन वैयाकरणशब्दः पुरुषे वर्त्तते । एवमन्यत्रापि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायां समासो वेदितव्यः । याज्ञिककितव इति । कितव इव कितवः । यथाहि कितवः किं तवास्तीति धनवत्तामात्रमपेक्षमाणो द्यूते प्रवर्त्तते नतु तस्य जात्यादिक मपेक्षते तथा याज्ञिकोऽपि याजने प्रवर्त्तमानो यस्तृष्णया ऽयाज्यस्य धनवत्तामात्र मपेक्षते नतु तस्य यागार्हतां स याज्ञिककितव इत्युच्यते । अत आह अयाज्ययाजनतृष्णापर उच्यत इति । मीमांसक दुर्दुरूढ इति । मीमांसको मीमांसाध्ययनफल मनवाप्य नास्तिको जात इति प्रतीयते । वैयाकरण-

चौर इति। ननु चौरत्वेन गर्ह्यमाणो वैयाकरणः कुत्सितो भवत्येव। तद-भिधायी च वैयाकरणशब्दः। तत् कथमिदं प्रत्युदाहरण मुपपद्यत इत्याह नह्यत्रेत्यादि। प्रत्यासत्तेर्हि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायां समासेन भवितव्यम्। नचेह वैयाकरणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं कुत्स्यते। यस्माच्चौ-रोऽपि सम्यग् व्याकरणं वेत्त्यधीते वा। तस्मान्नात्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं कुत्स्यते। किं तर्हि ? यत्र तद् वैयाकरणत्वं वर्त्तते स कुत्स्यते। वैया-करणत्वन्तु तस्योपलक्षणमेव केवलं योऽसौ वैयाकरणः स चौरः। यथा यः कम्पते सोऽश्वत्थ इति। अत्र कम्पन मश्वत्थस्योपलक्षणम्। कुत्सितो ब्राह्मण इति। भवत्यत्र कुत्सितशब्दः कुत्सिताभिधायी। ननु ब्राह्मणशब्दः कुत्सनवचनः।

## ५४। पापाणके कुत्सितैः।

पापाणकशब्दौ कुत्सनाभिधायिनावित्युक्तम्। यद्येवमत्र पूर्वेणैव सिद्धः समासः। किमर्थमिद मुच्यत इत्याशङ्क्याह तयोरित्यादि। यदि पूर्वेण स्यात् समास स्ततः कुत्सितशब्दस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्व्वनिपातः स्यात्। पापा-णकशब्दयोस्तु परनिपातः। तस्मात् तयोः पूर्वनिपातार्थमिदमारभ्यते। कुत्सितग्रहणं विस्पष्टार्थम्। अन्यथा पूर्व्वयोगादेव कुत्सित इत्यनुवर्त्तिष्यत इति तन्न कर्त्तव्यमेव स्यात्।

## ५५। उपमानानि सामान्यवचनैः।

उपमीयतेऽनेनेत्युपमानमिति। सादृश्येन येन परिच्छिद्यते तदुपमान मित्यर्थः। यथा गौरिव गवय इत्यत्र गौरुपमानम्। तेन हि सादृश्येन गवयः परिच्छिद्यते। यादृशो गौ स्तादृशो गवय इत्यर्थः प्रतीयते। सामान्य मनेकसाधारणं भवति। इह चोपमानस्य श्रुतत्वात् तस्य चोपमेयापेक्षत्वादु-पमानोपमेययो रेव साधारणो धर्म्मः सामान्यं विज्ञायत इत्याह उपमानोप-मेययोरित्यादि। तद्विशिष्टोपमेयवचनैरयं समास इति। तेन सामान्येन धर्म्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तद्वचनैरयं समासो भवति। कुतः पुनः सामान्य-वचनै रित्युक्ते सत्येष विशेषो लभ्यते। न्यायात्। तथाहि सामान्य मुक्तवन्तः

सामान्यवचना यथा गुणमुक्तवन्तो गुणवचना इति। कदा च ते सामान्यवचना भवन्ति ? यदा सामान्य मभिधाय सामान्यविशिष्टे तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते। तच्च सामान्यवदुपमानस्य सम्बन्धिशब्दत्वादुपमेयमेव विज्ञायत इति न्यायप्राप्त एवार्थो वृत्तिकृता दर्शितः। शस्त्रीश्यामा देवदत्तेति। अत्रोपमानं शस्त्री। उपमेया देवदत्ता। प्रसिद्धं ह्युपमानं भवति। नाप्रसिद्धम्। शस्त्र्येव श्यामगुणत्वेन प्रसिद्धा। न देवदत्ता। तयोः सामान्यं साधारणो धर्मः श्यामत्वम्। तच् श्यामत्व मुक्त्वा श्यामशब्दो देवदत्तायामभेदोपचारान् मतुब्लोपाद्वा वर्त्तत इति सामान्यवचनो भवति। ननु च समानाधिकरणेनेत्यनुवर्त्तते ? इह च शस्त्रीशब्दस्य शस्त्र्यां वृत्तिः। श्यामाशब्दस्य देवदत्तायाम्। अतो वैयधिकरण्यात् समासेन न भवितव्यम्। नैतदस्ति। सर्वत्र ह्युपमानोपमेययोर्भेदात् तद्वाचिनोर्वैयधिकरण्यमेव। उच्यते चेदं वचनम्। अतो वैयधिकरण्येऽपि वचनसामर्थ्यात् समासो भविष्यति। अथवा शस्त्रीशब्दोऽप्यत्र देवदत्तायां वर्त्तते। तेन सामानाधिकरण्य एवायं समासः। शस्त्री चासौ श्यामा चेति शस्त्रीश्यामा। ननु च शस्त्रीशब्दोऽयं जातिवचनः शस्त्रीत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय तद्वति वर्त्तते। नच तच् शस्त्रीत्वं देवदत्तायामस्ति। तत् कथं तत्र वर्त्तते ? नैष दोषः। सर्वं एवामी शब्दा गुणमुपादाय तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्त इत्यपि दर्शन मस्ति। तत्र श्यामत्वं गुणमुपादाय शस्त्रीशब्दो देवदत्तायां वर्त्तिष्यते। ताद्धर्म्याद्वा देवदत्ता शस्त्रीशब्देनाभिधास्यते। भवति हि ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यमित्युक्तं प्राक्। ताद्धर्म्यं पुनः श्यामगुणत्वम्। फाला इव तण्डुला इति। भवन्ति हि फाला उपमानम्। तथाहि ते दीर्घत्वादिना सादृश्येन तण्डुला उपमीयन्ते। तण्डुलशब्दस्तु सामान्यवचनो न भवति। ननु च तण्डुलशब्दोऽपि तण्डुलत्वं सामान्यमुपादाय तद्वति द्रव्ये वर्त्तत इति भवत्येव सामान्यवचनः। तदयुक्तमिदं प्रत्युदाहरणम्। नैतदस्ति। तथाह्युपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यमित्युक्तम्। नच तण्डुलत्वं फालानामस्ति। किं तर्हि ? तण्डुलानामेव।

५६। **उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।**

सामर्थ्यादुपमानवचनैरिति। यद्यप्युपमानवचनैरिति सूत्रे नोपात्तं तथा-

प्युपमेयमुपमानापेक्षमित्युपमितशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वादुपमानत्वं व्याघ्रादीनां गमयति। तेन विशेषानभिधानेऽपि सामर्थ्यादुपमानवचनैः स्त्रैः समासो विज्ञायते। नचेत् सामान्यवाची शब्दः प्रयुज्यत इति। उपमानोपमेययोः साधारणो धर्म्मः शौर्य्यादि सामान्यम्। यदि तद्वाची शब्दो न प्रयुज्यत एवं सति समासो भवति। नान्यथा। ननु च सामान्यस्य समासेऽन्तर्भूतत्वात् तद्वाचिनां शब्दानां प्रयोगो नास्ति। तत् किं प्रतिषेधेन? नैतदस्ति। साधारणधर्म्मः सामान्यं हि समासेऽन्तर्भूतम्। ननु विशेषः। तत्रासति प्रतिषेधे विशिष्टसाधारणधर्मवाचिनः प्रयोगः स्यादेवेति कर्त्तव्यः प्रतिषेधः। न कर्त्तव्यः। कथम्? सामान्यशब्दप्रयोगे हि सति तदपेक्षत्वेन सापेक्षमसमर्थं भवतीत्यसामर्थ्यादेव समासो न भविष्यति। एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति। भवति हि प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास इति। पुरुषश्चात्रोपमेयत्वात् प्रधानः। उपमानन्तु व्याघ्रादि तदर्थत्वादप्रधानम्। किमेतेन ज्ञापकेन प्रयोजनम्? राजपुरुषः शोभन इत्येवमादि सिद्धं भवति। विशेषणं विशेष्येणेति प्राप्त इति। ननु च विशेषणस्य विशेष्येण समानाधिकरणेन समासं वक्ष्यति। उपमानोपमेययोश्च भेदाद्वैयधिकरण्यम्। तत् कुतो विशेषणं विशेष्येणेति प्राप्तिः? एवम्मन्यते। पुरुषादावुपमेये वर्त्तमानैर्व्याघ्रादिभिरुपमानशब्दैरयं समासो भवति। यथा चोपमानशब्दानामुपमेयवृत्तित्वे सामानाधिकरण्यं तथा पूर्वसूत्र एव व्याख्यातम्।

## ५७। विशेषणं विशेष्येण बहुलम्।

भेदकं विशेषणमिति। शिष्लृ विशरण इत्यस्माद् धातोर्विपूर्वात् करणे ल्युट्। विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम्। तस्येदं लक्षणं भेदकमिति। यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तमनेकप्रकारवद् वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यैकत्र प्रकारे व्यवस्थापयति तद् भेदकं विशेषणमिति। भेद्यं विशेष्यमिति। विशेषणीयं विशेष्यम्। विपूर्वात् तस्माद्धातोर् ऋहलोर्ण्यदिति (३।१।१२४) कर्मणि ण्यत्। तस्येदं लक्षणं भेद्यमिति। यदनेकप्रकारवद् वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यैकत्र प्रकारे व्यवस्थाप्यते तद् भेद्यं विशेष्यमिति। अथ किमर्थं विशेषण

विशिष्ययोरुभयोरुपादानं क्रियते ? न। अन्यतरस्यैव क्रियेत ? सम्बन्धिशब्दत्वाद्धि तयोरन्यतरोपादानेनैवेतरस्याप्यवगतिर्भवत्येव। सत्यमेतत्। यत्र पूर्वोत्तरपदे प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभूते भवत स्तत्रैव समासो भवतीति ज्ञापनार्थमुभयोरुपादानम्। यथा नीलोत्पलमिति। अत्र नीलार्थो भ्रमरादिभ्यो व्यावर्त्त्योत्पलार्थेनोत्पले व्यवस्थाप्यते। उत्पलार्थोऽपि रक्तोत्पलादिभ्यो व्यावर्त्त्य नीलार्थेन नीले व्यवस्थाप्यत इत्यस्ति प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावः। स यत्र नास्ति तत्र तु न समासः। यथा वृक्षः शिंशपेति। वृक्षो हि शिंशपात्वं व्यभिचरति। शिंशपा तु न वृक्षत्वम्। अतस्तत्प्रकारान्तरेभ्यः पलाशादिभ्य स्तं व्यवच्छिनत्तीति शिंशपा तस्य विशेषणं भवति। न तु विशेष्यम्। वृक्षस्तु विशेष्यः। शिंशपार्थस्तु वृक्षत्वं न व्यभिचरतीति न तस्यासौ विशेषणं भवति। अथ किं न भवितव्यमेव शिंशपावृक्ष आम्रवृक्ष इति ? विशेषणसमासेन भवितव्यं यदा शिंशपादिशब्दानां विशेषे वृत्तिर्नावधार्य्यते। तथाहि शिंशपादिशब्दाः फलस्य वृक्षस्य मूलस्य च वाचकाः सामान्यशब्दा इति तदर्थानां वृक्षत्वव्यभिचाराद्विशेष्यभावो वृक्षश्च विशेषणं भवति। यदा तु कुतश्चित् प्रकरणादर्थाद्वा वृक्षाद्यर्था एवावसितवृत्तयो भवन्ति तदा न भवितव्यम्। ननु च वृक्षार्थावसितवृत्तित्वाद्वृक्षशब्दस्य तदा प्रयोग एव नोपपद्यते। उक्तार्थत्वात्। उक्तार्थानामप्रयोग इति वचनात्। ततश्च समासस्याप्रसङ्ग एव। तत् किं तन्निवृत्त्यर्थेनोभयग्रहणेन ? नैतदेवम्। क्वचिदुक्तार्थानामपि लोके प्रयोगो दृश्यते यथा ऽपूपौ द्वावानयेति। यदि तर्हि यत्रोभयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभाव स्तत्र समासेन भवितव्यमेवं सति प्रत्येकमुपसर्जनत्वं स्यात्। उभयोरपि विशेषणत्वात्। विशेषणस्येह सूत्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वात्। ततश्चोत्पलनीलमित्यपि स्यात्। नीलोत्पलमिति तु सर्वदैवेष्यते। नैष दोषः। यस्मादेकतरम् प्रधानमितरदप्रधानम्। द्वयोः प्राधान्ये परस्परानुपकारित्वादसम्बन्धयोरेकत्र प्रयोगो न स्यात्। अप्राधान्येऽपि द्वयोः प्रधानापेक्षावतोर्नास्ति परस्परोपकारित्वमिति न स्यादेवैकत्र प्रयोगः। तस्मादेकमत्र प्रधानमपरं त्वप्रधानम्। यच्चाप्रधानं तदेवोपसर्जनसंज्ञं भवति। नेतरत्। अन्वर्थत्वादुपसर्जनसंज्ञाया उप समीपे विशेषे

स्वार्थं सृजति क्षिपतीति । नीलशब्दस्याप्रधानम् । तदर्थस्य गुणस्याप्राधान्यात् । उत्पलशब्दस्तु प्रधानम् । तदर्थस्य द्रव्यस्य प्राधान्यात् । तस्मान्नीलशब्द एवोपसर्जनम् । नोत्पलशब्द इति न भवति पूर्वोक्तदोषावसरप्रसङ्गः । यत्रोभावपि गुणशब्दौ तत्र पर्य्यायेणोपसर्जनभावः । यथा कुब्जखञ्जः खञ्जकुब्ज इति । अथ कुतोऽत्र द्रव्यस्य प्राधान्यमवसितम् ? उच्यते । यथा श्वेतं छागमालभेतेत्यस्यां देशनायां श्वेतगुणस्याभावे ऽन्यवर्णस्यापि च्छागस्यालम्भनाच्छागाभावे श्वेतगुणस्यान्यद्रव्यस्यानालम्भनाच्च । नहि च्छागाभावे पिष्टकपिण्डीमालभ्य याज्ञिकः कृती भवति । यदि च प्रधानं गुणः स्यात् तदा यथा छागाभावे पिष्टकपिण्डी नालभ्यते तथा श्वेतगुणाभावे ऽन्यगुणोऽपि च्छागो नालभ्यते । न च स नालभ्यते । तस्माद् द्रव्यमेव प्रधानम् । न गुण इति । ननु चोत्पलशब्दोऽपि नैव द्रव्यशब्दो जातिनिमित्तत्वात् । तत् कथमस्य प्राधान्यम् ? अथ जातिमतो द्रव्यस्याभिधानाज् जातिशब्दोऽपि द्रव्यशब्दोऽयमिति व्यवस्थाप्यते । एवं नीलशब्देऽप्यतिप्रसङ्गः । सोऽपि हि गुणनिमित्तो नीलगुण द्रव्यस्याभिधानाद् द्रव्यशब्दः स्यात् । नैष दोषः । जातिर्हि द्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृत्या विनाशात् स्वाधारं द्रव्यं नैव जहाति । अतो द्रव्यात्मभूतत्वाज्जातिस्तन्निमित्तकः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्थाप्यते । गुणाः पुनरपायिनोऽनपायिनो वा सत्येतस्मिन् द्रव्ये वर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते च । तस्मान्नैते द्रव्यात्मभूता इति न तन्निमित्तशब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्थाप्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन । तक्षकः सर्प इति । ननु च तक्षकः सर्पस्य विशेषणं भवत्येव । तथाहि सर्प इत्युक्ते सर्पसामान्यं प्रतीयते । न सर्पविशेषः । तक्षकः सर्प इत्युक्ते सर्पविशेषोऽतक्षकाद् व्यावृत्तोऽवसीयते । तदयुक्तं प्रत्युदाहरणमेतत् । नैतदस्ति । उक्तं ह्येतत् । यत्रैकैकस्योभयत्र भावस्तत्र समास इति । ननु कदाचित् सर्पार्थस्य तक्षको विशेष्यो भवति । कथं न भवति ? तक्षकस्य सर्पत्वाव्यभिचारात् । ननु च तक्षकशब्दोऽस्ति नामधेयशब्दः । अस्ति च क्रियाशब्दस्तक्ष्णोतीति तक्षक इति । उभयोर्भिन्न एवार्थः । तत्र तक्षकशब्दस्यानेकप्रकारत्वेन प्रकारान्तरनिवृत्तये युज्यत एव सर्पस्य तक्षकोऽपि विशेष्यः । नैतदस्ति । न नामधेयस्य क्रियाशब्देन तुल्यमर्थाभिधानसामर्थ्यम् । अवयवार्थानुसारेण हि क्रियाशब्दोऽर्थं

बोधयति। समुदायरूपेण तु नामधेयम्। अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसीति तस्यां सत्यां क्रियाशब्दार्थविषयापेक्षा नोपजायत एव। लोहितस्तक्षक इति। भवति लोहितो विशेषणम्। नतु तक्षको विशेष्यम्। तस्य लोहितत्वाव्यभिचारात्। यदि तर्हि तक्षको न विशेष्यो लोहितोऽपि विशेषणं न स्यात्। विशेषणस्य विशेष्यापेक्षत्वात्। नच शक्यं तक्षकाद् यदर्थान्तरं पटादिकं विशेष्यं तदपेक्षया लोहितस्य विशेषणत्वं परिकल्पयितुम्। एवं हि लोहिताद् यदर्थान्तरं तीव्रविषादिकं विशेषणं तदपेक्षं तक्षकस्यापि विशेष्यत्वं प्रसज्येत। तस्माद् विस्पष्टार्थमुभयोर्ग्रहणमित्यपरे।

५८। पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च।

पूर्वस्यैवायं प्रपञ्च इति। तेनैव सिद्धत्वात्। अस्ति ह्यत्रापि प्रत्येकं पूर्वोत्तरपदयोर्विशेषणविशेष्यभावः।

५९। श्रेण्यादयः कृतादिभिः।

श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनमिति। अभूततद्भावे वर्त्तमानानां समासो यथा स्यात्। यदा हि श्रेण्यादिशब्दानामर्था अपरिनिष्पन्ना एव निष्पाद्यन्ते तदा समास इष्यते। यदा तु निष्पन्ना एव ते रूपान्तरेण क्रियन्ते तदा श्रेणयः कृता दण्डिताः सत्कृता वेत्येवमाद्यर्थविवक्षायां नेष्यते। कृतशब्दस्य दण्डितादिशब्दानामर्थेषु वृत्तिर्न सम्भवतीत्येतच्च नाशङ्कनीयम्। करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वात्। अनेकार्थत्वाद्वा धातूनाम्। श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचन मित्यस्यायमर्थः। च्व्यर्थ उच्यते प्रत्याय्यते येन तच्व्यर्थवचनम्। कर्त्तव्यमिति। येन श्रेण्यादिषु समासकारणत्वेनोपात्तेषु च्व्यर्थता प्रतिपद्यते तद्व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। बहुलग्रहणमिहानुवर्त्तते। तेन च्व्यर्थानामेव समासो भवतीति नाच्व्यर्थानाम्। च्व्यन्तानामित्यादि। च्वेर्विकल्पेन विधानाद् द्विविधा च्व्यर्थाः। च्व्यन्ता अच्व्यन्ताश्च। तत्र ये श्रेण्यादयो ऽच्व्यन्तास्तेषामनेन समासः। च्व्यन्तानां तूर्य्यादिच्विडाचश्चेति ( १।४।६१ ) गतिसंज्ञायां सत्यां परत्वात् कुगतिप्रादय (२।२।१८) इति समासो भविष्यतीति।

६०। क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्।

अयं विशिष्टशब्दोऽस्त्येव सावधारणे आधिक्ये वर्त्तमानो यथा देवदत्त-

यज्ञदत्तावाढ्यावभिरूपौ प्रेचावन्तौ। देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः। स्वाध्यायेनैवाधिक इति गम्यते। अन्ये तु गुणाः समाना एव भवन्ति। अस्ति च निरवधारण आधिक्ये वर्त्तमानो यथा देवदत्तयज्ञदत्तावाढ्यावभिरूपौ प्रेचावन्तौ। देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः। स्वाध्यायेनाधिक इति गम्यते। अन्ये तु गुणाः समाना भूयांसो वा। ते न विवचिता भवन्ति। यद्यपि चाभिन्नरूपमेव वाक्यद्वयमेतत् तथापि प्रकरणादेः कुतश्चिदर्थभेदो गम्यते यथाराच्छब्दे दूरान्तिकार्थभेदः। तत्र यदि निरवधारण आधिक्ये वर्त्तमानो विशिष्टशब्दो गृह्येत तदा सिद्धश्च तदभुक्तश्चेत्यत्रापि स्यात्। अस्यत्र नञाधिकं क्तान्तम्। तस्मात् सावधारण आधिक्ये वर्त्तमानं विशिष्टशब्दं परिगृह्याह नञेव विशेषो यस्येत्यादि। प्रकृत्यादिकमिति। आदिशब्देन प्रत्ययोपसर्गयोः परिग्रहः। अनञिति। अविद्यमानो नञ् यस्मिन् क्तान्ते तदनञ्। कृतञ्च तदकृतञ्चेति। कथं पुनरेकमेव वस्तु कृतं स्यादकृतञ्च? अवयवधर्मेण समुदायस्य तथा व्यपदेशाददोषः। कृतभागसम्बन्धात् कृतम्। अकृतभागसम्बन्धात् तदेवाकृत मित्युच्यते। अथवा यदर्थं कृतं तत्रासामर्थ्यादकृतं यथा पुत्रकार्य्यासामर्थ्यात् "पुत्रोऽप्यपुत्र इति। यदि नञेव विशेषो यस्य सर्वमन्यत् प्रकृत्यादिकं तुल्यं तेन समास एवं सति यस्य नुड़प्यधिक इड़ागमो वा तेन सह समासो न भवतीत्याह नुडिटावित्यादि। यत्तु नञ्विशिष्टं क्तान्तं तद्भक्तौ नुड़िटौ। अतस्तद्ग्रहणेन गृह्येते। अतो नास्य भेदकौ तौ। अभेदकावित्यर्थः। तेन तदधिकमपि नञ्विशिष्टमेव भवतीति तेन समासो भवत्येव। अशिताऽनशितेनेति। तस्मान्नुड़चीति (६।३।७४) नुट्। क्लिष्टाक्लिशितेनेति। क्लिशः क्त्वानिष्ठयोरिति (७।२।५०) पच्च इट्। अनञिति शक्यमकर्त्तुम्। यदि स नञ् समस्येत तदा नञ्विशिष्टता नोपपद्यते। द्वयोरपि नञ्सम्बन्धात्। तस्माद् नञ्विशिष्टग्रहणादेवानञ् समस्यत इत्येषोऽर्थो लभ्यत इत्यनञ्ग्रहणमनर्थकम्। तत् क्रियते विस्पष्टार्थम्। कृतापकृतादीनामित्यादि। कृतापकृतप्रभृतीनामुपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यम्। तत्रेदं प्रतिपादनम्। बहुलग्रहणमिहानुवर्त्तते। तेन कृतापकृतादीनामपि समासो भवतीति। कृताप-

कृतमिति। तदेकदेशस्येष्टस्य करणात् कृतम्। अपकृतञ्च तदेकदेशस्यानभिमतस्य करणात्। भुक्तविभुक्तमिति। भुक्तान्त्वभ्यवहृतत्वाद् विभुक्तञ्चाशोभनत्वात्। विशब्दोऽत्राशोभनत्वं प्रतिपादयति विरूपवत्। अथवा भुक्तञ्च तदेकदेशस्याभ्यवहृतत्वाद् विभुक्तञ्च विशेषेणाभ्यवहृतत्वाद् भुक्तविभुक्तम्। एवं पीतविपीतम्। गतञ्च तत् प्रत्यागतञ्चेति गतप्रत्यागतम्। यातञ्च तत् पूर्वमनुयातञ्च पश्चाद् यातानुयातम्। क्रयाक्रयिकेति। महान् क्रयः क्रयशब्देनोच्यते। अल्पस्तु क्रयिकाशब्देन। क्रयावयवसम्बन्धात् क्रयः। क्रयिकावयवसम्बन्धात् क्रयिका। क्रयश्चासौ क्रयिका चेति क्रयाक्रयिका। अन्येषामपि दृश्यत इति (६।३।१३७) दीर्घः। एवं पुटश्चासौ पुटिका चेति पुटापुटिका। फलञ्च तत् फलिका चेति फलाफलिका। मानञ्च तदुन्मानिका चेति मानोन्मानिका। समानाधिकरणाधिकार इत्यादि। अत्राप्युपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। प्रतिपादनन्तु पूर्ववदेव।

## ६१। सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः।

पूज्यमानवचनैरिति वचनादित्यादि। पूज्यमानत्वं ह्येवमुत्तरपदस्य भवति यदि सदादयः पूजावचना भवन्ति। नान्यथा। तस्मात् पूज्यमानग्रहणात् सदादयः पूजावचना विज्ञायन्ते। अतएव सच्छब्देन शत्रानचोर्ग्रहणं न भवति। नहि तौ पूजामाहतुः। उत्कृष्टा गौः कर्दमादिति। उद्धृतेत्यर्थः। अथ कथं महाद्रुमो महोदधिरिति समासः? नह्यत्र पूजा गम्यते। किन्तर्हि? प्रमाणातिरेक उत्तरपदार्थस्य। यद्यप्येवं तथापि बहुलग्रहणानुवृत्तेर्भविष्यति।

## ६२। वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्।

वृन्दारकादयो जातिशब्दाः। ते चोपमानत्वे सति पूजावचना भवन्ति। तत्र व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादुपमितं व्याघ्रादिभिरित्येवं (२।१।५६) सिद्धे सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थोऽयमारम्भः। पूज्यमानमिति वचनाद् वृन्दारकादयः पूजावचना गृह्यन्त इति। न ह्यन्यथा पूज्यमानत्वमुपपद्यत इति भावः। सुसीमो नाग इति। ननु च विशेषणं विशेष्येणेति वर्त्तते। नच

नागादन्यः सुसीमोऽस्ति । संज्ञा ह्येषा नागस्यैव । एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं वृत्तिकृता दर्शिता । इदन्त्वत्र प्रत्युदाहरणम् । देवदत्तो नागो यस्मात् मूर्खं इति ।

## ६३ । कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ।

जातिपरिप्रश्न एव व्युत्पाद्येते इति । किंयत्तदोर्निर्द्धारणे (५।३।९२) इत्यनुवर्त्तमाने वा बहूनामित्यादिना (५।३।९३) । स्यादेतत् । कतरशब्द-विशेषणार्थं जातिपरिप्रश्नग्रहणमित्याह कतरशब्दोऽपीत्यादि । तदेव ज्ञापय-तीति । यदि तर्हि कतमशब्दो जातिपरिप्रश्न एव वर्त्तमानो व्युत्पद्यते जातिपरिप्रश्नग्रहणमनर्थकं स्यात् विनापि तेन यथोक्तया नीत्या कतरकतम-शब्दौ जातिपरिप्रश्न एव वर्त्तमानौ ग्रहीष्येते । तथाचेत्यादि । यतएव कतमशब्दस्य जातिपरिप्रश्नादन्यत्रापि वृत्ति रेवञ्च कृत्वा भवतां देवदत्तः कतम इति प्रत्युदाहरणमुपपद्यते । अन्यथा तन्नोपपद्येत । तस्य जातिपरिप्रश्नाद-न्यत्राप्रवृत्तेः ।

## ६४ । किं क्षेपे ।

किंसखेति । अनङ् सौ (७।१।९३) इत्यनङादेशः । अथ किंराजेत्यादौ राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१) गोरतद्धितलुकीति (५।४।९२) टच् समासान्तः कस्मान्न भवतीत्याह किमः क्षेप इत्यादि । अत्र न (५।४।६९) पूजनादित्यतो नेत्यनुवर्त्तते ।

## ६५ । पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कय-णीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैर्जातिः ।

विशेषणमित्यादिना समासे प्राप्ते वचनमिदं परनिपातार्थम् । गुणशब्दा ह्येते । तत्र यदि तेन समासः स्यात् तदैषां पूर्वनिपातः प्रसज्येत । अथ धूर्त्तग्रहणं किमर्थम् ? यावता कुत्सनशब्दोऽयम् । कुत्सितानि कुत्सनैरितिएवं (२।१।५३) समासः सिद्ध इत्याह धूर्त्तग्रहणमकुत्सार्थमिति । शब्दप्रवृत्तिनिमित्त-कुत्सायां कुत्सितानि कुत्सनैरिति (२।१।५३) समासो विहितः । अयन्तु जातेः स्वयमकुत्सितायाः धूर्त्तसम्बन्धे विवक्षिते समासो विज्ञायते । न कुत्सायाम् ।

### ६६ । प्रशंसावचनैश्च ।

रूढिशब्दाः प्रशंसावचना गृह्यन्त इति । त्रिप्रकारा हि प्रशंसाशब्दाः । केचिज्जातिशब्दाः परार्थे प्रयुज्यमानाः प्रशंसामाचक्षते यथा सिंहो देवदत्त इति । केचिद् गुणशब्दा गुणगुणिसम्बन्धेन प्रशंसावचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्रामः शोभनः पाचक इति । केचिद्रूढिशब्दा मतल्लिकादयः । तेषां प्रशंसैव शब्दार्थः । तदिह वचनग्रहणात् प्रशंसायामेव ये वर्त्तन्ते ते गृह्यन्ते रूढिशब्दाः । गोप्रकाण्डमिति । शोभनः प्रशस्तो गौरित्यर्थः । योगविभागोऽसन्देहार्थः । यदि पूर्वयोग एव प्रशंसावचना गृह्येरं स्तदा सन्देहः स्यात् किं पोटादिभिः प्रत्येकं वचनमभिसम्बध्यते ऽथ प्रशंसयेति । पोटादिभिः सम्बन्धे तत्पर्य्यायैरपि समासः स्यात् ।

### ६७ । युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः ।

खलत्यादिभिः समानाधिकरणैरित्यादि । यद्येवं किमर्थं जरतीभिरिति स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः । जरद्भिरित्येवं नाम निर्देशः कर्त्तव्यः स्यात् । नहि जरतीशब्देन स्त्रीलिङ्गेन युवशब्दस्य पुंलिङ्गस्य सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इत्याह जरतीभिरिति स्त्रीलिङ्गेन निर्देश इत्यादि । कथं पुनरनेन निर्देशेनैषा परिभाषा शक्यते ज्ञापयितुम् ? यद्येषा परिभाषा न स्यात् तदा जरतीभिरित्येवं निर्देशोऽनर्थकः स्यात् । तथाच समानाधिकरणाधिकारात् समानाधिकरणेन जरतीशब्देनायं समासो विज्ञायते । नच तेन स्त्रीलिङ्गेन पुंसि वर्त्तमानस्य युवशब्दस्य सामानाधिकरण्यं भवति । तदेष निर्देशः कथमर्थवान् भवति ? यद्येषा परिभाषाऽवतिष्ठते । तस्यां हि सत्यां युवशब्दस्य ग्रहणे युवतिशब्दस्य ग्रहणं भवतीत्युपपद्यते । युवतिजरतीशब्दयोः सामानाधिकरण्यम् । तस्मिंश्च सति तयोः समासः । तदेवं जरतीभिरिति निर्देशो ज्ञापयत्येषा परिभाषास्तीति । नन्वेवमपि जरत्या समास उच्यमाने जरता न प्राप्नोति युवजरन्निति । नैष दोषः । वृत्त्यन्तरे हि जरद्भिरिति पठ्यते । उभयथाप्याचार्य्येण शिष्याः प्रतिपादिता इत्युभयं सिध्यति ।

### ६८ । कृत्यतुल्याख्या अजात्या ।

तुल्यपर्य्यायाश्चेति । अथ स्वरूपग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते ? एवमुच्यते ।

तुल्यइत्यर्थग्रहणम् । अत एतत्साहचर्य्यात् तुल्य इत्यर्थस्यैव ग्रहणं युक्तम् । तत्रार्थे कार्य्यासम्भवात् तद्वाचिनां समासो विज्ञायत इत्याख्याग्रहणं तुल्यनामधेयपरिग्रहार्थम् । अन्यथा गौर्वाहीक इत्यत्रापि स्यात् । गोशब्दस्येह-साहश्यार्थत्वात् । सर्व एव हि शब्दाः परपदार्थे प्रयुज्यमानाः साहश्यं गमयन्ति । आख्याग्रहणे तु क्रियमाणे गोशब्दोऽत्र तुल्यनामधेयं न भवतीति समासाभावः । भोज्योष्णमित्यादावुष्णादयः शब्दा गुणवचनाः । तत्रा-सत्यस्मिन् योगे विशेषणसमासे सति तेषां पूर्वनिपातः स्यात् । अतः पर-निपातार्थ आरम्भः । तुल्यमहानिति । यद्यप्यत्र सन्महदित्यादिना (२।१।६१) समासः प्राप्नोति तथापि परत्वादनेनैव भवति । तुल्याख्यस्यावकाशः तुल्यश्वेत इति । तस्य चातुल्याख्यायामवकाशो महापुरुष इति । भोज्य ओदन इति । ओदन शब्दोऽत्र जातिवचनः ।

६९ । वर्णो वर्णेन ।

विशेषणं विशेष्येणेति वर्त्तते । तत्र यदि द्वयोरपि वर्णशब्दयोः स्वरूप-ग्रहणमिह स्याद् विशेषणविशेष्यभावो नोपपद्येत । अभिन्नार्थत्वात् । नहि तदेव देवदत्तस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वञ्चोपपद्यते । अथाप्येकस्य स्वरूपग्रहणं स्यादपरस्यार्थग्रहणम् ? एवमप्येकः सामान्यवाची स्याद् वर्णशब्दः । द्वितीयस्तु विशेषवाची कृष्णादिशब्दः । ततश्च प्रतेयकं विशेषणत्वं विशेष्यत्वञ्च न स्यात् । यत्र च तदुभयमस्ति तत्र समास इति प्रागुभयग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम् । तस्मादुभयत्राप्यर्थग्रहणं विज्ञायत इत्याह वर्णविशेषवाचीत्यादि । कृष्णसारङ्गो लोहितसारङ्ग इति । ननु च कृष्णशब्दो लोहितशब्दश्चावयवे वर्त्तते । सारङ्ग-शब्दस्तु समुदाये यथा शबलशब्दः । तत् कथमवयववृत्तेः कृष्णादिशब्दस्य समुदायवृत्तिना सारङ्गादिशब्देन सामानाधिकरण्यमित्याह अवयवद्वारेणेत्यादि । कृष्णशब्द उपलक्षणम् । लोहितशब्दोऽप्येवमेव समानाधिकरणो भवति । कृष्णावयवसम्बन्धात् समुदाय एव कृष्ण इत्युच्यते । लोहितावयवसम्बन्धा-ल्लोहित इति । अतएव गौणत्वादत्र सामानाधिकरण्यस्य विशेषणं विशेष्येणे-त्यादिना (२।१।५७) समासो न प्राप्नोतीतीदमारभ्यते । अथ सारङ्गशब्दस्यापि पक्षे पूर्वनिपातः कस्मान्न भवति ? अनुपसर्जनत्वात् । उक्तं ह्येतदुपसर्जनमिति

महत्याः संज्ञायाः करणे मन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेतेति। तेनाप्रधानमुपसर्जनमिति नचात्र समुदायोऽप्रधानम्। किं तर्हि ? प्रधानमेव। अवयवानान्तु तदर्थत्वादप्राधान्यम्। अतोऽवयववचनस्यैव कृष्णशब्दादेरुपसर्जनत्वम्। न समुदायवचनस्य सारङ्गादिशब्दस्य।

## ७०। कुमारः श्रमणादिभिः।

तैः सह स्त्रीलिङ्ग एव कुमारीशब्दः समस्यत इति। नतु पुंलिङ्ग इत्यवधारणेन दर्शयति। नहि पुंलिङ्गस्य स्त्रीलिङ्गेन सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। तैरुभयथेति। स्त्रीलिङ्गैः पुंलिङ्गैश्च। कथं पुनः पुंलिङ्गैः समास उच्यमानः स्त्रीलिङ्गैः स्यादित्यत आह प्रातिपदिकग्रहण इति। गतार्थम्।

## ७१। चतुष्पादो गर्भिण्या।

चतुष्पाद इति चत्वारः पादा यासां ताश्चतुष्पादः। पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्य (५।४।१३८) इत्यन्तस्य लोपः। चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यमिति। चतुष्पदो जातिवचना एव गर्भिण्या समस्यन्त इत्येतद्दर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। पोटादि (२।१।६५) सूत्रादिह जातिग्रहणमनुवर्त्तते। तेन चतुष्पाज्जातिवाच्येव गर्भिण्या समस्यते। नान्यदिति।

## ७२। मयूरव्यंसकादयश्च।

मयूरव्यंसक इति। मयूरश्चासौ व्यंसकश्चेति मयूरव्यंसकः। व्यंसकशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थः पाठः। एवं चात्र मयूर व्यंसकादीनां यवनमुण्डपर्यान्तानाम्। छन्दसि हस्तेगृह्येत्यादि। समासेऽनञ्पूर्वे (७।१।३७) क्त्वो ल्यप्। भाषायान्तु हस्तेगृहीत्वा पुनर्दत्त्वेत्येवं भवति। एहीड़ादयोऽन्यपदार्थ इति। एहि ईड़ इति यत्र कर्मणि वर्त्तते तदुच्यत एहीड़मिति। एवमेहियवमिति। एहि वाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा। एवमपेहिवाणिजा प्रेहिवाणिजा। एहि स्वागतमिति यस्यां क्रियायां सा एहिस्वागता। एवमपेहि स्वागता। प्रोह कटमिति यस्यां सा प्रोहकटा। एवं प्रोहकर्दमादय आहरवसनान्ताः। उन्धि विचक्षणेति यस्यां क्रियायां सा उन्धिविचक्षणा। उद्धरोत्-

सृजेति । तिङन्तयोः समासः । आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्य इत्येवं सिद्धे ऽसातत्यार्थं वचनम् । उद्धरोत्सृजेति यस्यां क्रियायां सा उद्धरोत्सृजा । क्रियाप्रधानश्चायं समासः । उत्पतनिपता । उच्चमविषमा । एवमुद्धरोत्सृजे- त्यादिकमसातत्यविषयमेव । उच्चावचमिति निपात्यते । उदक् चावाक् चेति विगृह्य । उच्चैश्च नीचैश्चेति विगृह्योच्चनीचमिति निपात्यते । आचितञ्चोपचितञ्चेति विगृह्याचोपचम् । आचितञ्च पराचितञ्चेत्याचप- राचम् । निश्चितञ्च प्रचितञ्चेति निश्चप्रचम् । न किञ्चन अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीत्वास्थिरकः । भुक्त्वासुहित इत्येतेषामन्तोदात्तार्थः पाठः । ल्यब्भावश्च निपात्यते । प्रोष्यपापीयानिति । ऐकपद्यमैकस्वर्यञ्च समासाद् भवति । एवमुत्पत्यपाकलादीनाम् । निपत्यरोहिणी । निषद्य- श्यामा । अपेहिप्रसवा । इहपञ्चमी । इहद्वितीयेति । ऐकपद्यमैकस्वर्यञ्च समासे भवति । जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तारञ्चाभिदधातीति । जहीति लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम् । तदन्तं कर्मणा च बहुलं समस्यत आभीक्ष्ण्ये गम्यमाने समासेन चेत् कर्त्ता चाभिधीयते । जहि जोड़मित्याभीक्ष्ण्येन य आह स उच्यते जहिजोड़ इति । जहिस्तम्ब इति । लोट् । सिप् । हुन्तेर्जः (६।४।३६) इति जादेशः । जोड़ादेरत्र कर्मभावः । आख्यातमित्यादि । तिङन्तं तिङन्तेन सह समस्यते क्रियासातत्ये गम्यमाने । अश्नीत पिबतेत्यसकृद् यत्रोच्यते तत्राश्नीतपिबतेति प्रयुज्यते । क्रियाप्रधानश्चायं समासः । एवं पचतभृज्जतेत्येवमादयो वेदितव्याः । भिन्धि लवणं भिन्धि लवणमिति यत्रा- भिधीयते सा भिन्धिलवणा । एवं पचलवणेति ।

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ २।१॥

---

अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका ।

द्वितीयाध्यायस्य

## द्वितीयः पादः ।

### १ । पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ।

सामर्थ्यादेकदेशवचना इति । यदि हि पूर्वादयः शब्दा एकदेशवचना न स्युस्तदोत्तरपदस्यैकदेशित्वं न गम्येत । एकदेशिन एकदेशापेक्षत्वात् । तस्मात् सामान्योक्ता अपि पूर्वादयः शब्दाः सामर्थ्यादेकदेशवचनाः समस्यन्त इति विज्ञायते । एकाधिकरणग्रहणमेकदेशिनो विशेषणमित्यस्यार्थं विस्पष्टी-कर्त्तुमाह एकञ्चेत्यादि । एकमित्येकसंख्याविशिष्टं द्रव्यमित्यर्थः । एक-द्रव्यमित्यनेनाधिकरणशब्दोऽत्र द्रव्ये वर्त्तमान उपात्त इति दर्शयति । नन्वेक-देशिनेति तृतीयान्तमेतत् । एकाधिकरण इत्येतत् सप्तम्यन्तम् । तत् कथं तयो र्भिन्नविभक्तिकयोः सामानाधिकरण्येन विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते ? कथञ्च न स्यात् । भिन्नार्थत्वात् । नैतदस्ति । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीत्यतो व्यत्ययो (३।१।८५) बहुलमिति बहुलवचनात् । एकाधिकरण इत्यत्र तृतीयार्थे एवैषा सप्तमी । न सप्तम्यधिकरणे (२।३।३६) चेत्यनेन । अतो नास्ति भिन्नार्थत्वमित्यदोषः । षष्ठीसमासापवादोऽयं योग इति । एकदेशिनेति वचनात् पूर्वादयः शब्दा एकदेशवचना आश्रीयन्ते । सम्बन्धिशब्दा हि नियतमेव प्रतियोगिनमुपस्थापयन्ति । तत्रावयवावयविसम्बन्धे सत्येकदेशिनः षष्ठ्यामुपजनितायां षष्ठीति (२।२।८) समासः प्राप्नोति । अतस्तदपवादोऽयं योग इति । पूर्वकाय इत्यत्र काय एकदेशी । एकद्रव्यञ्च । एकसंख्यायुक्तत्वात् । पूर्वं नाभेः कायस्येति । नाभेरिति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । नाभेरुपरिष्टाद् यत् पूर्वं तत् कायस्येत्येषोऽर्थो विवक्षितः । तेनात्र नाभिरेकदेशिनी न

भवति। किं तर्हि ? अवधिभूता। तद्वाची नाभिशब्दः पञ्चम्यन्तो न समस्यते। यस्त्वेकदेशो कायस्तद्वाचिनः कायशब्दस्य भवत्येव समासः। सत्यपि पूर्वशब्दस्य सापेक्षत्वे कायस्य प्राधान्यात् प्रधानस्य च सापेक्षस्यापि समासो भवतीति ज्ञापितमेतदुपमितं व्याघ्रादिभिः (२।१।५६) सामान्याप्रयोग इत्यत्र। पूर्वञ्छात्राणामामन्त्रयस्वेति। अत्र बहुत्वसंख्याविशिष्टैकदेशिनञ्छात्रा इति न भवति समासः। ननु चात्र परत्वान्न निर्द्धारणे इति (२।२।१०) षष्ठीसमासनिषेधो भविष्यति। तत् किमेवाधिकरणग्रहणेन ? नैतदस्ति। यदि तर्ह्यामन्त्रयस्वेत्येतन्नापेक्ष्यते तदा पूर्वञ्छात्राणामित्येतावद्वाक्यं परिसमाप्यते। तदा निर्द्धारणाभावाद् नायं तस्य प्रतिषेधस्य विषय इत्यसत्येकाधिकरणे ऽनेकसंख्येनाप्येकदेशिना समासः स्यात्। अथ सर्वं हि वाक्यं क्रियया परिसमाप्यत इति पूर्वं छात्राणामित्यत्र यां काञ्चित् क्रिया मध्याहृत्य निर्धारणं परिकल्प्येतैवं पूर्वं कायस्येत्यत्रापि निर्द्धारणं स्यात्। अस्ति ह्यत्राप्यपकर्षणक्रिया निर्द्धारणहेतुः। तथाच तस्यैव योगस्य विषये क्रियारभ्यमाणोऽयं योग स्तदपवादः स्यात्। नचोत्सर्गापवादयोर्विप्रतिषेध उपपद्यते। तत् कथं परत्वान्न निर्द्धारणे (२।२।१०) इति प्रतिषेधः प्रवर्त्तते ? संख्याविसायपूर्वस्येत्यादि। यदयं संख्याविसाय (६।३।११०) पूर्वस्याह्नस्येत्याह ततो ज्ञापकादवसीयते सर्वैकदेशिनाऽह्नः समासो भवतीति। अन्यथा हि सायपूर्वत्वमह्नशब्दस्य नोपपद्यत इत्ययुक्तमेतद् वचनं स्यात्।

## २। अर्द्धं नपुंसकम्।

समप्रविभागे त्वर्द्धशब्दो नपुंसकमाविष्टलिङ्गस्तस्येदं ग्रहणमिति। यद्येवं समग्रहणमेव कर्त्तव्यम्। नैवं शक्यमनेकार्थत्वात् समशब्दस्य। तथाहि स निम्नोन्नतादिरहितेऽपि देशे वर्त्तते यथा समे देशे यजेतेति। निम्नोन्नतादिरहिते देशे यजेतेत्यर्थः। अथापि समप्रविभाग इत्युच्यत एवमपि गुरुत्वं स्यात्। तस्मान् नपुंसकग्रहणं कर्त्तव्यम्। न कर्त्तव्यम्। अर्द्धमिति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशादेव हि नपुंसकस्य ग्रहणं भविष्यति। नैतदस्ति। असति हि नपुंसकग्रहणे शब्दरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देश इति विज्ञायेत यथा स्वमज्ञातिधना-

ख्यायाम् (१।१।३५) । बन्धुनि (६।१।१४) बहुव्रीहाविति च । ततश्चार्धशब्दस्य नपुंसकलिङ्गताऽनाश्रिता स्यात् । एवमनपुंसकलिङ्गोऽपि समस्येत । तस्मा-दर्धशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वमाश्रयितुं नपुंसकमिति वक्तव्यम् । अर्धपिप्पलीति । परवल्लिङ्गमिति (२।४।२६) स्त्रीलिङ्गता । अथात्र गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति (१।२।४८) ह्रस्वत्वं कस्मान्न भवति ? अनुपसर्जनत्वात् । उपसर्जनत्वन्त्वेक-विभक्ति (१।२।४४) चेति । अत्र विभाषा छन्दसीत्यतो (१।२।३६) विभाषा-ग्रहणमनुवर्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा प्रतिपादिता । ग्रामार्ध इति ग्रामस्यैकदेश इत्यर्थः । अर्धं पशोर्देवदत्तस्येति । देवदत्तशब्देन सह समासो न भवति । अनेकदेशित्वाद् देवदत्तस्य । नह्यसावेकदेशी । किन्तर्हि ? स्वामी । यस्त्वेकदेशी पशुशब्द स्तेन सह भवत्येव समासः । सत्यपि पशुशब्दस्य सापेक्षत्वे पशोः प्राधान्याद्व समासो भवत्येव । अर्धपशुर्देवदत्तस्येति ।

## ३ । द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् ।

अन्यतरस्यांग्रहणात् सोऽपि षष्ठीसमासो भवतीति । ननु च पूरण-प्रत्ययान्ता एते द्वितीयादयः शब्दाः । तत्र पूरणेत्यादिना (२।२।११) समास-निषेधेन भवितव्यम् । तत् कथं सोऽपि भवतीत्याह । पूरणेत्यादि । यद्यत्र षष्ठीसमासस्य प्रतिषेधः स्यात् तदान्यतरस्यांग्रहणमनर्थकं स्यात् । वाक्यस्य तु महाविभाषयैव सिद्धत्वादिति भावः । द्वितीयं भिक्षाया इति । भिक्षाया द्वितीयो भाग इत्यर्थः । द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्येति । भिक्षुकेण सहात्र समासो न भवति । नह्यसावेकदेशी । किं तर्हि ? स्वामी । तुर्यशब्दश्चतुरश्छयता-वाद्यक्षरलोपश्चेति (५।२।५१, वा) यत्प्रत्ययान्तः पूरणार्थस्य प्रतिपादकः ।

## ४ । प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ।

द्वितीयासमासे प्राप्त इति द्वितीयाश्रितेत्यादिना (२।१।२४) समासविधा-नात् सोऽपि भवतीति । अपिशब्दादयमपि भवति । प्राप्तजीविक इति । एक-विभक्ति (१।२।४४) चेत्यादिनोपसर्जनत्वम् । ह्रस्वत्वन्तु गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति (१।२।४८) । अत्र च परवल्लिङ्गमित्यादिना (२।४।२६) जीविकाया यल्लिङ्गं तत् समुदायस्य कस्मान्न भवति ? द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो

वक्तव्य (२।४।२६, वा) इति वचनात्। तेन प्राप्तापन्नयोर्यल्लिङ्गं तत् समुदायस्य भवति। अथ यदा प्राप्ता जीविकामिति विगृह्य समासः क्रियते तदा किमुदाहरणम्? प्राप्तजीविकेति। टापः श्रवणं (A) कस्मान्न भवति? स्त्रियाः पुंवदिति (६।३।३४) योगविभागात् पुंवद्भावेन टापो निवर्त्तितत्वात्।

## ५। कालाः परिमाणिना।

सामर्थ्यात् परिमाणवचना इति। एवं ह्युत्तरपदस्य परिमाणिवाचित्वं गम्यते यदि कालशब्दाः परिमाणवचना भवन्ति। नान्यथा। तस्मात् काला इत्यविशेषाभिधानेऽपि सामर्थ्यात् परिमाणवचनाः कालशब्दाः समस्यन्त इति विज्ञायते। ननु च कालः परिमाणमेव न भवति। अनवधित्वात्। तत् कथं तदभिधायिनः शब्दाः परिमाणवचना भवन्ति? नैष दोषः। यद्यपि मुख्यस्य परिमाणस्य वाचका न भवन्ति गौणस्य तु भवन्त्येव। इह हि मुख्यं परिमाणत्वं कालस्य मासादेर्न भवतीति सामर्थ्यात् परिच्छेदहेतुमात्रम् परिमाणसाधर्म्यमुपादायोपचारेण कालाः परिमाणत्वेनाभिमताः। मासादयो ऽपि हि जातादेः सम्बन्धिनीरादित्यगतीर्गमयन्ति। अतो भवन्ति परिच्छेद-हेतवः। षष्ठीसमासविषये योगारम्भ इति। परिमाणपरिमाणिसम्बन्धे हि परिमाणिवाचिनः षष्ठ्या भवितव्यम्। यत्र च षष्ठी भवति स षष्ठी-समासस्य विषयः। तेनायं षष्ठीसमासस्य विषये योग आरभ्यते। मासजात इत्यत्र जातः परिमाणी। तस्य परिमाणं मासः। द्व्यहजात इति द्वयोरह्नोः समाहार इति द्व्यहः। राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१)। अह्नष्टखोरेवेति (६।४।१४५) टिलोपः। न संख्यादेः समाहार (५।४।८९) इत्यह्नादेशप्रतिषेधः। द्व्यहो जातस्य द्व्यहजातः। अथ काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः? स्वरूपविधिनिरासार्थं इति चेत्? नैतदस्ति। नहि स्वरूपग्रहणे सत्युत्तर-

---

(A) एतत्तु भाष्यानुक्तम्। तत्र नकारेण अकारप्रश्लेषोऽनुमितः। तथाहि "नायमनुकर्षणार्थश्चकारः। किं तर्हि? अत्वमनेन विधीयते &.—" (2. 2. 4. भाष्यम्)। द्वितीययाश्च इति भट्टोजिमते च्छेदः। कैयटमतानुसारी नागोजिस्तु प्राप्तापन्ने इत्युत्तरमकारप्रश्लेष इत्याह। "सौत्रत्वाच्च निर्देशस्य प्रकृतिभावः प्रगृह्याश्रयो न भवतीति कैयटः।

पदस्य परिमाणिवाचित्वं गम्यते । कालशब्दस्यापरिमाणवाचित्वात् । तस्मात् परिमाणिग्रहणादेव कालविशेषवाचिनां मासादीनां ग्रहणं भविष्यति । एवन्तर्हि बहुवचननिर्देशोऽयं मात्राधिक्येन सूत्रप्रबन्धस्यार्थाधिक्यसूचनार्थः । तथाचोक्तम् । इङ्गितेनोन्मिषितेन महता सूत्रप्रबन्धेनाचार्य्याणामभिप्राया लक्ष्यन्त इति । तेन संख्यापूर्वपदस्त्रिपदोऽप्ययं परिमाणिना तत्पुरुषसमासो भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यते । तेन द्व्यह्नजात इत्येवमादि सिद्धं भवति । द्वे अहनी जातस्येति विगृह्य त्रिपदे तत्पुरुषे कृते जातशब्द उत्तरपदे परतः पूर्वयोः पदयो स्तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे (२।१।५१) चेति द्व्यवयवस्तत्पुरुषो भवति । पूर्ववट् टच् । अह्नोह्न एतेभ्य (५।४।८८) इत्यह्नादेशः ।

## ६ । नञ् ।

नञो ञकारो नलोपो नञः इति (६।३।७३) विशेषणार्थः । पामनपुत्रादिषु मा भूत् । लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः (५।२।१००) । अथाब्राह्मण इति किंप्रधानोऽयं समासः ? उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषो यथा राजपुरुष इति । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो यथा ऽमक्षिकमिति । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहि र्यथाऽब्राह्मणको देश इति । यद्येव मब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणमात्रस्यानयनं प्राप्नोति । अथ निवृत्तिपदार्थकोऽयं ब्राह्मणशब्दः । सा च निवृत्तिः स्वाभाविकी नञा द्योत्यत इति मतम् । एवं च सत्यभावएवास्यार्थ इत्यब्राह्मणमानयेत्युक्ते न कस्यचिदानयनं प्राप्नोति । नैष दोषः । सर्वं हि पदं स्वार्थे प्रयुज्यमानं प्रयोगप्रतिज्ञानमपेक्षते ।

तथाचोक्तम्—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" । इति ।

तच्च द्विविधं ज्ञानम् । सम्यक् मिथ्या चेति । उभयमप्येतद् ब्राह्मणशब्दः प्रवर्त्तयति । तत्र सम्यग् ज्ञानपूर्वके ब्राह्मणशब्दप्रयोगे नास्ति नञो व्यापारः । नहि तत्र नञा किञ्चित् क्रियते । मिथ्याज्ञानपूर्वके तु विद्यत एव तस्य व्यापारः । तत्र हि तेन मिथ्याज्ञानप्रभवतापरस्याख्यायते । मिथ्याज्ञानं च दुष्टेन्द्रियहेतुकम् । तच्च सादृश्याद्दृते न सम्भवतीति प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थ-

सदृशः समासार्थो जायते । तथाचोक्तम् । नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिरिति ( प, ७५ ) । तस्मादब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशे क्षत्रियादौ प्रतीतिर्भवतीति न भवति पूर्वोक्तदोषावसरप्रसङ्गः ।

### ७ । ईषदकृता ।

ईषद् गुणवचनेनेति वक्तव्यमिति । ईषदित्येतदव्ययं गुणवचनेन समस्यते । न सर्वेणाकृदन्तेनेत्येतद्रूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । विभाषेत्येनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेन गुणवचनेनैव समासो भविष्यति । नान्येन । ईषद् गार्ग्य इति गार्ग्यशब्दोऽयं जातिवचनो न गुणवचनः । नन्वकृतेत्युच्यते । तत्र ईषत्पीत ईषदुन्नत इत्यादि न सिध्यति । पीतादिशब्दस्य कृदन्तत्वात् । नैष दोषः । अव्युत्पन्ना ह्येते पीतादिशब्दा वेदितव्याः । न तु कृदन्ताः ।

### ८ । षष्ठी ।

कृद्योगा चेत्यादि । कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यत इति व्याख्येयम् । तत्रेदं व्याख्यानम् । यदयं क्तेन च पूजाया मधिकरणवाचिना च कर्मणि च तृजकाभ्यां कर्त्तरि कर्त्तरि चेति (२।२।१२-१६) निषेधमारभते तज् ज्ञापयति कृद्योगा या षष्ठी सा समस्यत इति । अन्यथा प्रतिषेधारम्भोऽनर्थकः स्यात् । प्राप्त्यभावात् । इध्मव्रश्चन इति । करणे ल्युट् । कृत्यल्युटो बहुलमिति (३।३।११३) कर्त्तरि वा । कर्तृकर्मणोः (२।३।६५) कृतीति कर्मणि षष्ठी । पलाशशातन इति । शदेर्ण्यन्तस्य शदेरगतौ त (७।३।४२) इति दकारस्य तकारः । पूर्ववल्ल्युट् । षष्ठी च । किमर्थमित्युच्यते । यावता षष्ठीत्यनेनैव कृद्योगलक्षणाया अपि षष्ठ्याः समासः सिद्ध एवेत्यत आह प्रतिपदविधाना चेत्यादि । सुबोधम् ।

### ९ । याजकादिभिश्च ।

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यं न वक्तव्यम् भवति । अनेनैव सिद्धत्वात् । तस्मिन् स्थिता स्तत्स्थाः । प्रकृतस्यान्यस्याभावात् तदित्यनेन गुणा एव प्रत्यवमृश्यन्ते । तेन गुणात्मन्येव

ये गुणा वर्त्तन्ते न कदाचिद् द्रव्यात्मनि तैः षष्ठी समस्यते। यद्यपि नास्त्येव हि स गुणो यो द्रव्ये न वर्त्तते सर्वस्य गुणस्य द्रव्याश्रितत्वात् तथापि गुणशब्दास्तु केचित् मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा तद्वति द्रव्ये वर्त्तमाना गुणमाधारानुगतं गमयन्ति यथा शुक्लः पटो लोहितः कम्बल इति। अपरे त्वाश्रयाद् विभक्तं द्रव्यं प्रत्यनुपसर्जनीभूतं गुणमाहु र्यथा चन्दनस्य गन्धः कपित्थस्य रस इति। तस्मादभिधानशक्तिव्यापारापेक्षया तत्स्थैरिति विशेषणं युक्तम्। तदेतदुक्तं भवति। ये गुणाः स्वशब्दैर्द्रव्यं प्रत्यनुपसर्जनभावापन्ना एव प्रत्याय्यन्ते तैः सह षष्ठी समस्यत इति चन्दनस्य गन्ध श्चन्दनगन्धः कपित्थस्य रसः कपित्थरसः। गन्धादयो हि स्वशब्दैराधारविभक्ता एव प्रत्याय्यन्ते। नतु कदाचिदाश्रयानुगता द्रव्यं प्रति विशेषणीभूताः।

## १०। न निर्धारणे।

मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतम इति। यतश्च (२।३।४१) निर्धारणमिति षष्ठी। प्रतिपदविधाना चेत्यादि। षष्ठी शेष (२।३।५०) इति सामान्यलक्षणविहितां षष्ठीं त्यक्त्वा याऽन्या विशेषलक्षणविहिता षष्ठी सा प्रतिपदविधाना। सा च षष्ठी न समस्यत इत्येतद्रूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। नेति योगविभागः क्रियते। तेन प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति। यद्येवं कथं गृहस्वामी विद्यादायादः पृथ्वीश्वर इति। प्रतिपदविधाना ह्येषा षष्ठी। स्वामीश्वराधिपतिदायादेत्यादिना (२।३।३९) विशेषलक्षणेन तस्या विधानात्। नैष दोषः। शेषलक्षणैव ह्यत्र षष्ठी। नहि स्वाम्यादिसूत्रेण (२।३।३९) षष्ठी विधीयते। किं तर्हि? सप्तमी। सा तु सप्तमी षष्ठीं बाधिष्यत इति चकारेण पुनः षष्ठीप्रतिप्रसवः क्रियते। नह्येवंविधा षष्ठी प्रतिपदविधाना भवति। अतएव न निर्धारण इति निषेधो विधीयते। यतश्च निर्धारण मित्यत्रापि (२।३।४१) चकारेण सैव शेषलक्षणा षष्ठी प्रतिप्रसूयते। अन्यथा ह्ययमपि प्रतिपदविधानैव षष्ठीति समासो न स्यात्। ततश्च न निर्धारण इति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। सर्पिषो ज्ञानमिति। ज्ञोऽविदर्थस्येति (२।३।५२) करणे षष्ठी।

## ११ । पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन ।

छात्राणां पञ्चम इति । तस्य पूरणे (५।२।४८) डट् । नान्ताद-संख्यादेर्मट् (५।२।४९) । समुदायसमुदायिसम्बन्धे शेषलक्षणा षष्ठी । एवं बलाकाया: शौक्ल्यं काकस्य कार्ष्ण्य मित्यत्र गुणगुणिसम्बन्धे शेषलक्षणैव षष्ठी वेदितव्या । ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यमित्यत्र कृत्यानां कर्त्तरि (२।३।७१) वेति षष्ठी । अथ कथं गोविंशतिरिति षष्ठीसमासः ? यावता संख्याया गुणत्वात् प्रतिषेधेन भवितव्यम् । नैष दोषः । यदयं शतसहस्रान्ताच्च (५।२।११९) निष्कादित्याह तज् ज्ञापयति संख्याया: समासो भवतीति । नहि तेन विना शतसहस्रान्तता निष्कस्य प्रातिपदिकस्य सम्भवति । तव्यता सानुबन्धकेन समासो भवत्येवेति । निरनुबन्धकपरिभाषया तस्याग्रहणात् । ब्राह्मणकर्त्तव्य मिति । गतिकारको-पपदात् कृदिति (६।२।१३९) प्रकृतिस्वरेणान्तस्वरित मुत्तरपदं भवति । यदि तर्हि निरनुबन्धकेनापि समासः स्यात् प्रकृतिस्वरे कृते प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः स्यात् । स चानिष्टः । अतो निरनुबन्धकेन समासः प्रतिषिध्यते । ननु सानुबन्धकेन । किञ्च स्यादिति । एवं मन्यते । क्रियमाणेऽप्येतस्मिन् प्रतिषेधे विशेषणसमासेनात्र भवितव्यमेव । तदवश्यम्भाविनि समासे यदि षष्ठी समासः स्यात् तदा को दोषः स्यात् ? यत्परिहृतयेऽयं षष्ठीसमासः प्रतिषिध्यत इति ? पूर्वनिपातानियम इत्यादिना दोषमाह । यदि षष्ठी समासः स्यात् तदा द्वयोरपि पदयोः प्रथमानिर्दिष्टत्वादुपसर्जने सति पक्षे विशेषणस्यापि पूर्वनिपातःस्यात् । स च नेष्यते । विशेषणसमासे सति विशेषणस्यैव समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टत्वात् पूर्वनिपातो भवतीति न भवत्येष दोषप्रसङ्गः ।

## १२ । क्तेन च पूजायाम् ।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेति (३।२।१८८) वक्ष्यतीति । क्तमिति वाक्यशेषः । तस्येदं ग्रहणमिति । एतेन मतिबुद्धीत्यादिना (३।२।१८८) सूत्रेण यो विहितः क्तस्तस्य पूजायां मन्यत्र च सर्वस्य विहितस्येदं ग्रहणम् । न केवलं पूजायां

यो विहित स्तस्यैवेष्यत इत्यभिप्रायः । अतएवाह पूजाग्रहणमुपलक्षणार्थ-मिति । कस्योपलक्षणार्थम् ? मतिबुद्धीत्यादौ सूत्रे (३।२।१८८) निर्दिष्टार्थस्य यः क्तो विधीयते तस्य मत्यादेः । तेन न केवलं पूजायां यः क्तो विहित स्तेन षष्ठीसमासप्रतिषेधो भवत्यपितु मतिबुद्ध्योरपि यो विहितस्तेनापि राज्ञां मत इति । क्तस्य च वर्त्तमान इति (२।३।६७) षष्ठी । पूजायां किम् ? छात्रस्य हसितं छात्रहसितम् । नपुंसके भावे (३।३।११४) क्तः । शेषलक्षणा षष्ठी ।

## १३ । अधिकरणवाचिना च ।

इदमेषामासितमिति । आस्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणे क्तः । अधिकरण-वाचिनश्चेति (२।३।६८) षष्ठी । एवं पीतमित्यादावपि । अधिकरणवाचिनेति किम् ? छात्रस्य हसितं छात्रहसितमिति ।

## १४ । कर्मणि च ।

उभयप्राप्तौ कर्मणीत्यस्याः (२।३।६६) षष्ठ्या इदं ग्रहणमिति । एतच्च पुनः कर्त्तरि चेति (२।२।१६) प्रतिषेधाद् विज्ञायते । यदि हि कर्मणि या काचित् षष्ठी तस्याः सर्वस्या इदं ग्रहणं स्यात् तदा कर्त्तरि चेति ( २।२।१६ ) पुनः प्रतिषेधं न कुर्य्यात् । अनेनैव सिद्धत्वात् । यत्र हि कर्त्तरि तृजकौ विहितौ तत्र नियोगतः कर्मणि षष्ठ्या भवितव्यम् । तस्मात् कर्त्तरि (२।२।१६) चेति पुनः प्रतिषेधवचनादुभयप्राप्तौ कर्मणि या षष्ठी विहिता तस्या अत्र ग्रहणमवसीयते । उभयप्राप्तौ कर्मणीति (२।३।६६) षष्ठ्या इह ग्रहणाद्विध्रश्चनः पलाशशातन इक्षुभक्षिकां मे धारयसीति समासनिषेधो न भवति ।

## १५ । तृजकाभ्यां कर्त्तरि ।

भवतः शायिकेत्यादौ भावे पर्य्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ( ३।३।१११ ) ण्वुज् भवतीति कर्त्तृकर्मणोः कृतीति (२।३।६५) कर्त्तरि षष्ठी । तृचा योगे कर्त्तरि षष्ठी नास्ति । तेनैव कर्त्तुरभिहितत्वात् । तर्हि किमर्थं तृचो ग्रहणमित्याह तस्मादित्यादि । इक्षुभक्षिकां मे धारयसीति पूर्ववण् ण्वुच् । अत्रेक्षुशब्दात् कृद्योगे कर्मणि षष्ठी । म इति कर्त्तरि षष्ठी कृद्योगेव । उभयप्राप्तौ

(२।३।६६) कर्मणीत्यत्र न प्रवर्त्तते। अकाकारयोः प्रतिषेध इति (२।३।६६, वा) वचनात् ।

## १६। कर्त्तरि च।

इतरत्र व्यभिचाराभावादिति। तृचि। सामर्थ्यादकस्येदं विशेषणम्। कर्त्तृग्रहणमित्यत्र हेतुः। सम्भवव्यभिचारे हि विशेषणविशेष्यभावो भवति। नहि तृच् कर्त्तारं व्यभिचरति। तस्य कर्त्तर्य्येव विधानात्। अकस्तु व्यभिचरति। तस्य भावेऽपि विधानात्। अतः सामर्थ्यादिकस्यैव विशेषणं कर्त्तृग्रहणम्। न तृचः। अपां स्रष्टेति। अपामिति कर्मणि षष्ठी। स्रष्टेति तृच्। व्रश्चादिना (८।२।३६) षत्वम्। सृजिदृशो (६।१।५८) र्झल्यमकितीत्यमागमः। ननु चेत्यादि। याजकादिपाठाद् भवितव्यमेनाच समासेनेत्यभिप्रायः। सम्बन्धिशब्दस्येत्यादिना परीहारः। होतृशब्देन सम्बन्धिशब्देन साहचर्य्याद् भर्त्तृशब्दोऽपि सम्बन्धिशब्दस्तत्र गृह्यते। अयन्तु क्रियाशब्दो बिभर्त्तीति भर्त्ता। सक्तूनां पायक इत्यातो युक् (७।२।३३) चिण्कृतोरिति युक्। अथ किमर्थं तृचः सानुबन्धकस्योच्चारणम्? तृणो निवृत्त्यर्थमिति चेन् नैतदस्ति। तृद्योगे नलोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना (२।३।६९) षष्ठीप्रतिषेधात्। एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापकं तृन्योगेऽपि क्वचित् षष्ठी भवतीति। तेन भीष्मः कुरूणां भयशोकहर्त्तेत्यादि सिद्धं भवति। (B)

## १७। नित्यं क्रीड़ाजीविकयोः।

उद्दालकपुष्पभञ्जिकेति। रोगाख्यायां ण्वुल् (३।३।१०८) बहुलमित्यनुवर्त्तमाने संज्ञायामिति (३।३।१०९) ण्वुल्। उद्दालकपुष्पादिषु कर्मणि षष्ठी। दन्तलेखको नखलेखक इति। ण्वुल्तृचाविति (३।१।१३३) ण्वुल्। क्रीड़ायां विषये षष्ठीति सूत्रेण (२।२।८) महाविभाषया विकल्पेन समासे प्राप्ते जीविकायाञ्च कर्त्तरि चेति (२।२।१६) निषेधे प्राप्ते ऽयमारम्भः। तत्र नित्यग्रहणं किमर्थम्? जीविकार्थम्। इतरत्र त्वारम्भसामर्थ्यान्नित्योऽयं भविष्यति।

B) क्वचिदं भयशोकहन्तेति पाठः।

जीविकायान्वसति नित्यग्रहणे महाविभाषाधिकाराद् विकल्पेन समासः स्यादिति तदर्थं नित्यग्रहणं कृतमुत्तरार्थञ्च।

## १८। कुगतिप्रादयः।

कुशब्दोऽव्ययं परिगृह्यत इति। अलिङ्गसंख्यत्वादव्ययत्वम्। ननु निपातेषु पाठात्। नह्ययं तत्र पठ्यते। न द्रव्यवचन इति। पृथिव्यादौ यो द्रव्ये वर्त्तते तस्यात्र ग्रहणन्न भवति। कुत एतदित्याह गत्यादिभिः साहचर्य्यादिति। गतार्थम्। कोष्णमिति। ईषदर्थे चेति कोः (६।३।१०५) कादेशः। कवोष्णमिति। कवञ्चोष्णे (६।३।१०७) इति कवादेशः। कदुष्णमिति। कोः कत् (६।३।१०१) तत्पुरुषेऽचीति कत्। कुपुरुष इति पापार्थे। दुष्कृतमिति। दुस् कृच्छ्रार्थे वर्त्तते। इदुदुपधस्य (८।३।४१) चाप्रत्ययस्येति षत्वम्। सुस्तुतमिति सुशब्दोऽतिशये वर्त्तते। अतिस्तुतमिति अतिरतिक्रमणे। आबद्धमिति। आङ् क्रियायोगे मर्य्यादायां वा। पर्य्यादयो ग्लानाद्यर्थ इति पर्य्यादिराकृतिगणः। पर्य्यध्ययन इति परिग्लानोऽध्ययनायेत्यर्थः। वाससी इवेत्यादि। सर्वधातुभ्योऽसुन्नित्यनु (उण्; ४।६२८) वर्त्तमाने वसेर्णिच्चेत्यसुन् (उण्, ४।६५७) प्रत्ययान्तो वासःशब्दो व्युत्पादितः। वस्त्रशब्दोऽप्यौणादिकष्ट्रन्प्रत्ययान्तः। तेन द्वावप्येतौ ञ्नित्यादिर्नित्यमित्या (६।१।१९७) द्युदात्तौ। प्रादिप्रसङ्ग इत्यादि। प्रादिग्रहणे यः प्रसङ्गः समासशास्त्रस्य तत्र कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। लक्षणादिष्वर्थेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति। नच तेऽर्थाः समासेन गम्यन्त इत्यनभिधानात् कर्मप्रवचनीयानां समासो न भवति। यत्र तेऽर्था गम्यन्ते तत्र भवत्येव समासः। अतिस्तुतमिति।

## १९। उपपदमतिङ्।

एधानाहारको व्रजतीति। तुमुन्ण्वुलौ (३।३।१०) क्रियायां क्रियार्थायामिति ण्वुल्। एतयोर्योगयोः सुप्सुपेति नाभिसम्बध्यत इति। ननु चास्मिन्नेव योगे तदनभिसम्बन्धो युक्तो यत्रातिङ्ग्रहणमस्ति। ननु पूर्वसूत्रेण। नहि तत्रातिङित्येतदस्ति। एवं मन्यते। अतिङिति योगविभागः क्रियते।

स च पूर्वसूत्रस्यापि शेषभूतो विज्ञायते। नन्वेवमप्यतिङिति प्रथमान्तेन निर्देशात् प्रथमान्तस्यैव सुबित्यस्य निवृत्तिर्युक्ता। न तृतीयान्तस्य सुपेत्यस्य। नैतदस्ति। सामान्येन सुबधिकारनिवृत्त्युपलक्षणार्थत्वाद् युक्ता द्वयोरपि निवृत्तिः। तेनेत्यादिना ज्ञापकस्य प्रयोजनं दर्शयति। पूर्वयोगेऽप्यतिङ्ग्रहणाद् गत्युपसर्गसंज्ञकानां कृद्भिः सह प्राक् सुबुत्पत्तेः समासो भविष्यतीत्येतदुपपन्नं भवति। तथाहि तत्र गतयःकृद्भिः सह समस्यन्ते। अस्मिंस्तु योगेऽतिङ्ग्रहणात् कारकोपपदानां कृद्भिःसमासः सुबुत्पत्तेः प्रागुपपन्नो भवति। तथाह्यत्र कारकं कृद्भिः सह समस्यन्ते प्राक् सुबुत्पत्तेः। समासे सति यदिष्टं सिध्यति तद्दर्शयन्नाह अश्वक्रीतीति। अत्राश्वः करणं कारकम्। तद्वाचिनोऽश्वशब्दस्य कर्तृकरणे कृता (२।२।३२) बहुलमिति समासः। सुबुत्पत्त्यां सत्यां यदि स समासः स्यात् तदा प्रागन्तरङ्गत्वाट्टाप् स्यात्। ततः सुप्। पश्चात् समासः। ततश्च क्रीतात् करणपूर्वादिति (४।१।५०) ङीष् न स्यात्। अत इत्यधिकारात्। ङीषस्त्ववकाशो धनेन क्रीतं क्रयणं यस्याः। प्राक् सुबुत्पत्तेः समासे सति टाम् न क्रियते। प्रथमतः समास एव भवति। तेनादन्तत्वाद् ङीष् सिद्धो भवति। कथं पुनरश्वादेरुपपदत्वम्? यावता द्वितीयधात्वधिकारे सप्तम्या निर्देशः कृतः। नैष दोषः। नहि द्वितीयधात्वधिकारे यत् सप्तम्या निर्दिष्टं तदेवोपपदसंज्ञं भवति। अपितु यदप्युपोच्चारितम्पदं तदप्युपपदं भवत्येव। तदपि शास्त्र इतरेतरान्योन्योपपदाच्चेत्यादौ सूत्रे (१।३।१६) क्वचिदाश्रीयत एव। तस्मादश्वादिकमप्युपोच्चारितपदत्वादुपपदमिह विवक्षितम्। पदत्वं पुनस्तस्य पद्यते गम्यतेऽनेनार्थ इति कृत्वा। नतु सुबन्तत्वात्। इह सुपोऽसम्भवात्। सुबनुत्पत्तेः प्राक् समासाद्। यदि तर्हि यदुपोच्चारितं पदं तदपीहोपपदं गृह्यते तदातिप्रसङ्गः स्यात्। राजश्रितमित्यत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः समासप्रसङ्गात्। ततश्च पदत्वाभावान्नलोपो न भवति। असर्वविषयत्वादस्य ज्ञापकस्येत्यदोषः। न ह्यनेन सर्वत्रगतिकारकोपपदानां कृद्भिः प्राक् सुबुत्पत्तेः समासो भवतीति ज्ञाप्यते। किं तर्हि? क्वचिदेवेष्टविषये। कथमेतज् ज्ञायते? तत्पुरुषे कृति बहुलमिति (६।३।१४) कृदन्त उत्तरपदे सप्तम्या अलुग्विधानात्। यदि तर्हि सर्वत्रैव गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः स्यात्

तदा सप्तम्याः कृदन्तउत्तरपदेऽलुग्विधानं नोपपद्यते विलेशय इत्यादौ। सप्तम्या असम्भवात्। तस्मात् क्वचिदेव प्राक् सुबुत्पत्तेः समासो न सर्वत्रेति। एवञ्च कृत्वा सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसीत्यादौ टाबन्तेन समास उपपन्नो भवति।

## २०। अमैवाव्ययेन।

स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते इति। स्वादुमीति (३।४।२६) णमुल्। स्वादुमीत्येतस्मादेव मान्तनिर्देशादुपपदस्य मकारान्तत्वं निपात्यते। यदि पूर्वेणैव समासे सिद्धे नियमार्थं वचन मेवञ्च सति सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणाप्येवकारकरणं नियमार्थो भविष्यति। तत् किमर्थ मेवकारकरण मित्याह एवकारकरण मित्यादि। किमर्थं पुन स्तदुपपदविशेषणार्थं क्रियत इत्यत आह अमैव तुल्यविधान मित्यादि। येन वाक्येनामेव प्रत्ययो विधीयते नतु प्रत्ययान्तरं तेन यदुपपदं निर्दिश्यते तदमैव तुल्यविधानम्। तस्यैव समासो यथा स्यादित्येवमर्थमेवकारकरण मुपपदविशेषणार्थं क्रियते। स च समासः प्रत्यासत्तेरमैव भवति न प्रत्ययान्तरेणेति विज्ञायते। अग्रे भुक्त्वा। अग्रे भोजमिति। अत्राग्रेशब्द उपपदं विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेष्विति णमुल् (३।४।२४) क्त्वाप्रत्ययेन च तुल्यविधानमिति न समस्यते। अव्ययग्रहणं स्पष्टार्थम्। नह्यनव्यय ममन्तमस्ति यन्निवृत्त्यर्थमव्ययग्रहण मर्थवद्भवति।

## २१। तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्।

पर्य्याप्तो भोक्तुमिति। पर्य्याप्ति (३।४।६६) वचनेष्वलमर्थेष्वित्यत्र शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभेत्यादेः (३।४।६५) सूत्रात् तुमुन्ग्रहणानुवृत्ते स्तुमुन्प्रत्ययः।

## २२। क्त्वा च।

अलं कृत्वा खलु कृत्वेति। अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः (३।४।१८) प्राचां क्त्वा। स च तृतीयाप्रभृतिभ्यः पूर्वः।

## २३। शेषो बहुव्रीहिः।

उपयुक्ताद् योऽन्य इति। अभिहितादन्य इत्यर्थः। यत्रान्यः समासो नोक्त इति। यत्रान्या समाससंज्ञा न विहितेत्यर्थः। चित्रगुरिति। अत्र

बहुव्रीहित्वे सति बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदमित्येष (६।२।१) विधिर्भवति उन्मत्तगङ्गमिति। अन्यपदार्थे च (२।१।२१) संज्ञाया मित्यव्ययीभावः। असति हि शेषग्रहण इहापि बहुव्रीहिः स्यात्। ननुच बहुव्रीहौ प्राप्ते ऽव्ययीभावस्त्वारभ्यमाणस्तस्यैव बाधको भविष्यति। तत् कुतो बहुव्रीहि-प्रसङ्गः ? प्राक् कड़ारात् परं कार्य्यमित्यस्मिन् पक्ष इदं प्रत्युदाहरण मुपन्यस्तम्। तत्र हि पक्षे यदि शेषग्रहणं न क्रियेत ततोऽन्यपदार्थे च (२।१।२१) संज्ञायामिति वचनप्रामाण्यादव्ययीभावः स्यात्। परत्वाद्बहु-व्रीहिरित्येके। अयन्तु पक्षो वृत्तिकारेण नाश्रित इत्ययुक्त मेतत्। तस्मादा कड़ारादेका (१।४।१) संज्ञेत्यस्मिन् पक्षे व्यक्तिः पदार्थ इत्येतद्दर्शन-माश्रित्येदं प्रत्युदाहरण मुपन्यस्तम्। व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिलक्ष्ये लक्षणं प्रवर्त्तते। अत्रासति शेषग्रहणे यदेतद्विषयं लक्षणं, तदकृतार्थमित्यवश्यं तेन प्रवर्त्तितव्यम्। एकसंज्ञाधिकाराच्च यौगपद्यं न सम्भवतीति वचन-प्रामाण्यादुभयप्रसङ्ग उभे अपि पर्य्यायेण स्यातामित्यपरे।

## २४। अनेकमन्यपदार्थे।

अनेकग्रहणं सुबित्यनेन सम्बध्यते। प्रथमान्तत्वात्। न सुपेति तृतीया-न्तेन। प्राप्तोदको ग्राम इत्यादीनि द्वितीयादिविभक्त्यर्थेषु यथाक्रमं बहुव्रीहे रुदाहरणानि। प्रथमार्थे तु न भवतीति। अनभिधानात्। नहि वृष्टे देवे गत इति वाक्याद् योऽर्थः प्रतीयते स वृष्टदेवशब्दात् प्रतीयते। अनेकग्रहणं किमिति। एवं मन्यते। अनेकग्रहणमित्येकस्य मा भूदित्येव मर्थं स्यात्। एतच्चायुक्तम्। यथैव हि सुप्सुपेत्यधिकारात् समर्थपरिभा-षोपस्थानाच्च तत्पुरुष एकस्य न सम्भवति तथा बहुव्रीहिरपि न भविष्य-तीति किमर्थमनेकग्रहणमित्याह बहुनामपि यथा स्यादिति। सुप्सुपेत्य-धिकारात् समर्थपरिभाषोपस्थानाच्चानेकस्यैव समासे लब्धे सत्यनेकग्रहणं प्रचुरतरार्थं विज्ञायते। तेन बहूनामपि भवति। चित्रग्वादेः सकाशात् सुसूक्ष्मजटकेशादिषु प्रचुराणि पदानि भवन्ति। अथान्यपदार्थग्रहणं किमर्थम्। बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्विषयविभागार्थम्। अविशेषेण तत्पुरुष उच्यमानोऽ-

नन्यपदार्थे क्तावकाशो ऽन्यपदार्थे परत्वाद्बहुव्रीहिणा यथा बाध्येत वीरपुरुषको ग्रामश्चित्रगुर्देवदत्त इति। बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामित्यादि। समानाधिकरणानां पदानां बहुव्रीहिर्भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। किमर्थमिदमित्याह। व्यधिकरणानां मा भूदिति। तत्रेदं व्याख्यानम्। अभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्ति। नच व्यधिकरणानां बहुव्रीहौ कृते विवक्षितार्थाभिधानमस्ति। नहि पञ्चभिर्भुक्तमस्येति वाक्याद् योऽर्थः प्रतीयते स पञ्चभुक्तशब्दात्। तस्मादनभिधानाद् व्यधिकरणानां बहुव्रीहिर्न भविष्यति। यत्र त्वभिधानमस्ति तत्र वैयधिकरण्येऽपि भवत्येव समासः कण्ठेकाल इति। अव्ययानाञ्चेति। बहुव्रीहिर्भवतीति सम्बन्धनीयम्। चकारादनव्ययानाञ्च क्वचित्। असमानाधिकरणार्थमिदम्। उच्चैर्मुखमिति। उच्चैःशब्दस्याव्ययस्यासत्त्ववाचित्वात् सत्त्ववाचिना मुखशब्देन नास्ति सामानाधिकरण्यम्। तथापि गमकत्वात् समासो भवत्येव। अनव्ययानामुदाहरणं कण्ठे स्थितः कालो यस्येति स कण्ठेकाल इत्येवमादि। कथं पुनस्तुल्येऽपि वैयधिकरण्ये पदानां क्वचिद्बहुव्रीहेर्गमकत्वं भवति? क्वचिन्न भवतीति? शब्दशक्तिस्वभावात्। शब्दशक्तयश्च प्रतिनियताश्रयाः क्वचिदेव प्रवर्त्तन्ते। न सर्वत्र। सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्चेति। सप्तम्यन्तं पूर्वपदं यस्योत्तरपदस्य तत् सप्तमीपूर्वपदम्। तस्य परेण पदान्तरेण समासो भवति। तस्य च सप्तम्यन्तपूर्वपदस्योत्तरपदलोपो भवति। कण्ठेस्थित इति विगृह्य सप्तमीति (२।१।४०) योगविभागात् समासः। तत्पुरुषे (६।३।१४) कृति बहुलमित्यलुक्। कण्ठेस्थितः कालोऽस्येति कण्ठेकालः। अत्र सप्तम्यन्तपूर्वपदस्य समानाधिकरणत्वात् सिद्ध एव बहुव्रीहिः। उत्तरपदलोपस्तु विधीयते। एवमन्यत्रापि वेदितव्यम्। उपमानं पूर्वपदं यस्योत्तरपदस्य तत् पदान्तरेण समस्यते। तस्योपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपो विधीयते। उष्ट्रमुखमिव मुखमस्योष्ट्रमुखः। खरमुखः। अत्रोष्ट्र उपमानं पूर्वपदं मुखस्य। ननु चोष्ट्रमुखमुपमानं देवदत्तमुखस्य। नतूष्ट्रः। उपमानावयवत्वादुष्ट्रोऽप्युपमानमुच्यत इत्यदोषः। समुदायविकारषष्ठ्याश्चेति। उत्तरपदलोपश्चेत्यनुवर्त्तते। समुदायषष्ठ्यन्ताद् विकारषष्ठ्यन्ताच्च पूर्वपदात् परं

यदुत्तरपदं तत् पदं पदान्तरेण समस्यति। तस्य च समुदायविकार-षष्ठ्यन्तपूर्वपदस्योत्तरपदस्य लोपो भवति। केशानां सङ्घातः केशसङ्घातः। स चूडास्येति केशचूड इत्यत्र समुदायसमुदायिसम्बन्धे षष्ठी। सुवर्णस्य विकारोऽलङ्कारोऽस्येत्यत्र विकारविकारिसम्बन्धे षष्ठी। प्रादिभ्य इत्यादि। उत्तरपदलोपश्चेत्यनुवर्त्तते। धातोर्जातं निष्पन्नं धातुजम्। प्रादिभ्यः पूर्वपदेभ्यः परं यद्धातुजमुत्तरपदं पतितशब्दादि तदन्तस्य बहुव्रीहिर्भवति। तस्य चोत्तरपदस्य वा लोपः। नञोऽस्त्यर्थानामित्यादि। नञ उत्तरेषां विद्यमानादीनामित्यर्थः। इह सुबिति वर्त्तते। अस्तिशब्दश्चायं तिङन्तः। अस्तिक्षीरेत्येवमादि न सिध्यतीति यो मन्येत तं प्रत्याह सुबधिकार इति। अस्तिक्षीरादेः समास उच्यते प्रतिपद्यते येन तदस्तिक्षीरादेर्वचनम्। व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। उपसर्गविभक्तिस्वरप्रति-रूपकाश्च निपाता भवन्तीति विभक्तिप्रतिरूपकोऽयमस्तिशब्दो निपातो न तिङन्तः। तेनास्तिक्षीरा ब्राह्मणीत्यादि सिद्धं भवति।

## २५। संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये।

उपदशा इति। बहुव्रीहौ संख्येये (५।४।७३) डजबहुगणादिति डच् समासान्तः। टिलोपश्च। दशानां समीपे ये वर्त्तन्ते ते तथोच्यन्ते। ते पुनर्नवैकादश वा। पूर्वपदार्थप्रधानोऽयं समासः। यद्येवं कस्तर्ह्यव्ययी-भावस्यास्य च विषयविभागः। सोऽप्यव्ययीभावोऽव्ययस्य समीपे वर्त्तमान-स्याव्ययं (२।१।६) विभक्तीत्यादिना पूर्वपदार्थप्रधान एव विधीयते। उच्यते यदा समीपिनः प्राधान्यं तदा बहुव्रीहिः। यदा तु समीपस्य प्राधान्यं तदाव्ययीभाव इत्येष विषयविभागः। उपविंशा इति। पूर्ववड् डच्। ति विंशतेर्डितीति (६।४।१४२) टिलोपः। आसन्नदशा इति। दशानामासन्ना आसन्नदशाः। ते च पूर्ववन्नवैकादश वा। अदूरदशा इति। दशानामदूरा ये ते पुनः पूर्वोक्ता एव। अधिकदशा इति। दशानामधिकास्ते पुनरेकाद-शादयः। द्वित्रा इति। द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहः। वार्थे चायं समासः। वार्थश्चायं संशयः। न विकल्पः। यदि वार्थ इह विकल्प आश्रीयते

ततो यदा द्वौ भवत स्तदा बहुवचनं न स्यात्। तस्मात् संशयोऽत्र वार्थः। संशयिते वार्थे बहुवचनं भवति यथा कति भवतः पुत्राः। उक्तञ्च भाष्ये ऽविज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयोक्तव्यमिति। तत् कथम्? संशयज्ञानस्योभय पक्षपरामर्शित्वेन बह्वर्थविषयत्वात्। उभयपक्षापरामर्शित्वेन संशय एव न स्यात्। अथवा पञ्चैवात्र सदा भवन्ति। न कदाचित् द्वौ त्रयो चेति। तथाच द्वित्रा इत्युक्ते पञ्चैवेति गम्यते। सैषा पञ्चाधिष्ठाना वागिति ततो युक्तं बहुवचनम्। यदि तर्हि वार्थेऽयं समास स्तस्यार्थस्यान्यपदार्थत्वात् पूर्वेणैव सिद्धः समासः। न सिध्यति। मत्वर्थे हि पूर्वयोगः। अमत्वर्थार्थोऽयं योगः। अथवा प्रथमार्थं वर्जयित्वा ऽन्यत्र विभक्त्यर्थे पूर्वेण समासः। प्रथमार्थमिदं वचनम्। त्रिचतुरा इति। चतुरोऽच्प्रकरणे चतुरस्त्युपाभ्यामुप संख्यानमित्यच् (५।४।७७;वा) समासान्तः। द्विदशा इति। द्विर्दशेति विग्रहः। सुजर्थेऽ यं समासः। दशसम्बन्धिनी याऽवृत्तिर्दशशब्देन लक्ष्यमाणा सा द्विशब्दे-नाख्यायते। सुजर्थश्च प्रत्ययार्थो नान्यपदार्थ इति पूर्वेण न सिध्यति। अथवा प्रथमार्थेऽपि चायम्। अमत्वर्थेऽपि। अतः पूर्वेण न सिध्यति। समास एव सुजर्थं क्षमयितुं समर्थ इति वृत्तौ सुज् न प्रयुज्यते। अधिका विंशतिर्गवा-मिति। विंशतिशब्दोऽत्र संख्यान एव वर्त्तते। न तु संख्येये द्रव्ये।

## २६। दिङ्नामान्यन्तराले।

दक्षिणपूर्वेति। प्रथमार्थेऽप्ययं समास इष्यते। अमत्वर्थेऽपि। तत्पूर्वेण-न सिध्यतीत्ययममत्वर्थं आरम्भः। प्रतिपदविधानार्थश्च। विभाषा दिक्समास (१।१।२८) इत्यत्र दिशां यः समासः प्रतिपदविहितस्तस्य ग्रहणमिष्यते। प्रतिपदविहितश्च समासो दिशामेव भवति यद्ययं योग आरभ्यते। नान्यथा। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव इति। स पुनः स्त्रियाः पुंवदिति (६।३।३४) योगविभागेन सिध्यतीति वेदितव्यम्। नामग्रहणं रूढ्यर्थमिति। लोके ये रूढा दिक्शब्दास्तत्परिग्रहार्थमित्यर्थः। ऐन्द्र्याश्च कौवेर्याश्चेति। नेमौ रूढिशब्दौ। किं तर्हि? यौगिकौ। इन्द्रस्येयमैन्द्री। कुवेरस्येयं कौवेरी। तस्येदमित्यण् (४।३।१२०)।

## २७। तत्र तेनेदमिति सरूपे।

इतिकरणेत्यादि। तत इति। समासादभिमतेऽर्थे यदि लौकिकी विवक्षा भवत्येवं समासोऽयमिष्यते। तस्माद्विवक्षार्थमितिकरणोऽत्र क्रियते। विवक्षार्थ इतिकरणो यमर्थं प्रतिपादयति तं दर्शयितु माह लौकिकमर्थमनुसारयतीति। अनुगमयति प्रबोधयतीति यावत्। स पुनर्लौकिकोऽर्थो ग्रहणादिरिति दर्शयन्नाह तत इत्यादि। यस्मादितिकरणो लौकिकमर्थमनुसारयति ततो हेतोर्ग्रहणादिरिति सर्वं लभ्यते। यत् तत्रेत्यादिनाऽनन्तरोक्तमर्थं विस्पष्टीकरोति। गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं केशादि। प्रहरन्त्यस्मिन्निति प्रहरणं मुसलादि। कर्मव्यतीहार इति परस्परग्रहणम्। परस्परप्रहरणञ्चेतिकरणादेव लभ्यत इति वेदितव्यम्। स्वरूपविधिरत्रेतिकरणादेव न भवतीति वेदितव्यम्। दण्डैश्च दण्डैश्चेति करणे तृतीया। स चाव्ययमिति। तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठादव्ययीभावः। अव्ययीभाव- (१।१।४१) श्चेत्यव्ययसंज्ञाविधानात्। सरूपमिति। समानस्य ज्योतिर्जनपदेत्यादिना (६।३।८५) सभावः।

## २८। तेन सहेति तुल्ययोगे।

तुल्ययोगे वर्त्तमानमित्यादि। तुल्ययोगः समानसम्बन्धः। तं यदा सहशब्दो द्योतयति तदासौ तत्र वर्त्तते। सपुत्र इति। सह पुत्रेणेति विग्रहः कर्त्तव्यः। सहयुक्तेऽप्रधान इति (२।३।१९) तृतीया। वोपसर्जनस्येति (६।३।८२) सहस्य सभावः। अत्र सपुत्र आगतो देवदत्त इति देवदत्तस्य पुत्रस्य चागमनेन तुल्यसम्बन्धः सहशब्देन द्योत्यते। अथ कथं पुनः सकर्मक इत्यादौ स्यात्। कथञ्च न स्यादित्याह न ह्यत्रेत्यादि। प्रायिकमिति। असर्व्वविषयमित्यर्थः। कुतः पुनः प्रायिकत्वमस्य लभ्यते? इतिकरणात्। ननु चान्यदितिकरणस्य प्रयोजनमस्ति। किं तत्? सहशब्दः स्वरूपपदार्थको यथा गम्येत। अन्यथा ह्यर्थनिर्देशोऽयं विज्ञायेत। ततश्च साकं सार्द्धमित्यादयोऽपि समस्येरन्। नैवं ब्रूम इह सूत्रे य इतिकरणस्ततो लभ्यत इति। किं तर्हि? पूर्वसूत्राद् योऽनुवर्त्तते तत इति।

## २९। चार्थे द्वन्द्वः।

कः पुनरयं चार्थो नामेत्याह समुच्चयोऽन्वाचय इत्यादि। समुच्चितिः समुच्चयः। साधनमेकं क्रियां वा प्रति क्रियासाधनानामात्मरूपभेदेन चीयमानताऽनेकत्वमिति यावत्। स पुनस्तुल्यबलानामनियतक्रमयौगपद्यानामेव भवति यथा गामश्वं पुरुषं पशुञ्चाहरहर्नयमानो वैवस्वतस्तृप्तिं नोपयातीति। अन्वाचयोऽपि यत्रैकस्य प्राधान्यम्। इतरदप्रधानम्। तदनुरोधेनान्वाचीयमानता। यथा भो वटो भिक्षामट गाञ्चानयेति। इतरेतरयोगः समाहारश्च समुच्चयस्यैव प्रभेदः। स एव हि परस्परापेक्षाणामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः। यथा देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्य्यं कर्त्तव्यम्। उभावपि तत्कार्य्यं प्रति परस्परापेक्षौ। तथाहि तदेकस्याप्यभावे न क्रियते। अवयवप्रधानश्चायमिति द्वित्वाद्द्विवचनम् भवति। परस्परापेक्षाणामेव तिरोहितावयवभेदः संहतिप्रधानः समाहारो यथा छत्रोपानहमिति। अत्रापि कस्याञ्चित् क्रियायां छत्रादेः परस्परापेक्षत्वम्। संहतिप्रधानत्वाच्चैकवचनम्। यदि तर्हि समुच्चयान्वाचयावपि चार्थौ तदा तयोरपि समासः प्राप्नोतीत्यत आह तत्रेत्यादि। समुच्चये तावत् परस्परानभिसम्बन्धा एव गवादयो नयनादिभिः सम्बध्यमानाः समुच्चीयन्त इत्यसामर्थ्यात् सत्यपि चार्थे तस्मिन् न भवति समासः। अन्वाचयेऽप्येकं सापेक्षं नेतरत्। यथा पूर्वोक्त उदाहरणे। तत्र हि गवानयनं भिक्षाटनमपेक्षते। नतु भिक्षाटनं गवानयनम्। विनापि तेन तदनुष्ठानात्। स यदि गां पश्यति तदा तामप्यानयति। नचेत् भिक्षामेवाटतीत्यन्यतरापेक्षारहिते चार्थे न भवति समासः। इतरेतरयोगे समाहारे च विधीयत इति। तत्र सर्वेषां सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात्। वाक्त्वचम्। वाग्दृषदमिति। द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहार इति (५।४।१०६) टच् समासान्तः। जातिरप्राणिनामित्येकवद्भावः (२।४।६)।

## ३०। उपसर्जनं पूर्वम्।

पूर्ववचनं परप्रयोगनिवृत्त्यर्थमिति। ननु च परप्रयोगविपर्य्ययो लोके न दृष्ट एव। तत् कथं परप्रयोगनिवृत्त्यर्थेन पूर्वग्रहणेनेत्यत आह अनियमो हि

स्यादिति । सम्भावनायां लिङ् । एवं मन्यते । यद्यपि परप्रयोगविपर्य्ययो न दृष्ट स्तथाप्यसति नियामके वाक्ये पुरुषापराधाद् विपरीतप्रयोगोऽपि सम्भाव्येत । येषाञ्च वाक्यमेव समासीभवतीति दर्शनं तेषां वाक्यस्यानियत-क्रमत्वात् तद्विकारोपि समासो ऽनियतक्रमः स्यादिति सूत्रारम्भः ।

## ३१ । राजदन्तादिषु परम् ।

पूर्वस्य परनिपात इति लिप्तवासिताद्युप्तगाढ़पर्य्यन्तेषु । उदूखलमुसलादयो ये द्वन्द्वा स्तत्र क्वचिदल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपातः प्राप्नोति क्वचिद् घ्यन्तत्वात् पूर्वनिपातः क्वचिदज्ञाद्यदन्तत्वात् । क्वचित् तुल्यत्वादनियमः । दृषदुपलमिति प्रमादाच्चायं पाठो लक्ष्यते । अल्पाच्तरत्वाद् दृषच्छब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः । अचिभ्रुवं दारगवमिति । अचतुरादि सूत्रेणाच् समासान्तः । स्थूलपूलास-मिति । प्रमादपाठोऽयं लक्ष्यते । पूर्व्वोक्तादेव कारणात् ।

## ३२ । द्वन्द्वे घि ।

उपसर्जनमित्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानादप्रधानस्योपसर्जनसंज्ञा विहिता । द्वन्द्वे च सर्वेषां पदानां प्राधान्यम् । न कस्यचिदप्राधान्यमित्युपसर्जनसंज्ञाया अभावाद-नियमे प्राप्ते वचनमिदम् । अथ यत्र बहूनां पूर्वनिपातप्रसङ्ग स्तत्र किमेकस्या-नियमो भविष्यत्युत सर्वेषामित्याह अनेकप्राप्तावेकस्येत्यादि । एष चार्थो जातिपदार्थस्याश्रयणाल्लभ्यते । व्यक्तौ तु पदार्थे प्रतिव्यक्ति शास्त्रप्रवृत्त्या भवितव्यम् । ततः सर्वेषां नियमः स्यात् । आकृतौ तु पदार्थे लक्ष्य एकं लक्षणं सकृद्देव प्रवर्त्तते । तेन चैकस्य पूर्वनिपाते जातिः कृतार्थेति शेषाणामनियमो भवति । एवमुत्तरत्राप्येकस्य नियमः शेषाणान्त्वनियम इति वेदितव्यम् । विस्पष्टपटुरिति । विस्पष्टः पटुः । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः ।

## ३३ । अजाद्यदन्तम् ।

द्वन्द्वे घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेनेति । द्वन्द्वे घीति ( २।२।३२ ) । तस्मादजाद्यदन्तमित्येतद् भवति विप्रतिषेधेन । द्वन्द्वे घीत्यस्यावकाशः पटुशुक्लौ

पटुगुप्तौ। अजाद्यदन्तमित्यस्यावकाश उष्ट्रशशावुष्ट्रखरौ। इन्द्राग्नी इत्यत्रोभयं प्राप्नोति। अजाद्यदन्तं भवति विप्रतिषेधेन।

## ३४। अल्पाच्तरम्।

ऋतुनक्षत्राणामित्यादि। ऋतूनामानुपूर्व्यं प्रादुर्भावकृतम्। नक्षत्राणामुदयकृतम्। ऋतुनक्षत्राणामित्यत्रैव वर्णग्रहणं कस्मान्न कृतमिति पर्य्यनुयोगदोषमाशङ्क्याह समाक्षराणामित्यादि। असमानाक्षराणामपि वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपात इष्यत इति पृथग्वचनम्। आनुपूर्व्यञ्च वर्णानां जन्मकृतमिति लोकव्यवहारे प्रसिद्धम्। प्रसिद्धिश्च श्रुतिकृता। श्रुतौ हि पठ्यते मुखतो ब्राह्मणमसृजत्। बाहुभ्यां राजन्यम्। ऊरुभ्यां वैश्यम्। पद्भ्यां शूद्रमिति। संख्याया अल्पीयस्या इति द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे चेति वक्तव्यम्। द्वित्राः। त्रिचतुरा इति बहुव्रीहिः। नवतिशतमिति द्वन्द्वः।

## ३५। सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ।

सर्वनामसंख्ययोरिति। यत्र गुणवचनेन सह समासः सोऽस्य विषयः। यत्र तु द्रव्यवाचिना तत्र सर्वनामसंख्ययोर्विशेषणत्वादेव पूर्वनिपातः सिद्धः। सप्तम्याः पूर्वनिपात इत्यादि। सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते गड्वादिभ्यः परवचनं कर्त्तव्यमिति। सप्तम्यन्तं परमुच्यते कथ्यते येन व्याख्यानेन तत् परवचनम्। तत्रेदं व्याख्यानम्। आहितादेराकृतिगणत्वाद् गडुकण्ठप्रभृतयस्तत्रैव द्रष्टव्याः। तेन गड्वादिभ्यः परं सप्तम्यन्तं भविष्यति। कथं वह्वेगडुरिति। यदि गड्वादिभ्यः सप्तम्याः परवचनमिति भावः प्राप्तस्य च बाधा व्याख्येयेति। तत्रेदं व्याख्यानम्। वाहिताग्न्यादिष्वित्यतो (२।२।३७) वाग्रहणं क्रियते। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन प्राप्तस्य परनिपातस्य बाधनं भविष्यति।

## ३६। निष्ठा।

ननु विशेषणमेवाह निष्ठेति। कृतशब्दः क्रियाशब्दः। कटशब्दो द्रव्यवचनः। तत्र यथा गुणो द्रव्यस्य विशेषणं तथा क्रियापि। तथासति निष्ठान्तस्य विशेषणत्वात् पूर्वेणैव पूर्वनिपातः सिद्धः। कटे कृतमनेनेत्यादिना

विग्रहभेदेन निष्ठाया विशेषणत्वाभावं दर्शयति । अत्र हि विग्रहे सप्तम्यन्तमेव विशेषणम् । निष्ठान्तं विशेष्यम् । सामानाधिकरण्ये हि क्रियागुणौ विशेषणविशेष्यभावौ नियमेनानुभवतः । नहि वैयधिकरण्ये । तथाहि पटस्य शुक्लः काकस्य गतिरित्यत्र गुणादेर्विशेष्यत्वम् । व्यवच्छेद्यत्वात् । द्रव्यस्य तु विशेषणत्वं व्यवच्छेदकत्वात् । निष्ठायाः पूर्वनिपात इत्यादि । जात्यादिभ्यो निष्ठान्तं परमुच्यते । तेन तद्व्याख्यानं कर्त्तव्यम् । तत्रेदं व्याख्यानम् । सारङ्गजग्धीमासजातासुखजातादयः शब्दा आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् तदन्तःपातिनः । तेन जातिकालसुखादिभ्यो निष्ठान्तं परं भवतीति । सारङ्गजग्धीति । सारङ्गशब्दो जातिवचनः । ततः क्तादल्पाख्यायामित्यनुवर्त्तमाने (४।१।५२) ऽस्वाङ्गपूर्वपदाद्वेति (४।१।५३) ङीष् । कथं कृतकट इति । कटशब्दस्य जातिवाचित्वादिति प्रश्नः । प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येयेति । तेन कृतकट इत्यत्रापि भविष्यतीति भावः । सा पुनरप्राप्तस्य चाबाधा पूर्ववदेव व्याख्येया । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येया । प्रहरणार्थेभ्य इत्यादि । प्रहरणमर्थो येषां ते तथोक्ताः । तेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । अस्युद्यतो दण्डपाणिरित्येवमादीनां शब्दानामाहिताग्न्यादिषु पाठात् परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति ।

## ३७ । वाऽऽहिताग्न्यादिषु ।

## ३८ । कडाराः कर्मधारये ।

कडारादयो ये गुणशब्दास्तेषां विशेषणत्वं भवतीत्याह गुणशब्दानामित्यादि । गतार्थम् ।

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२।२॥



अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयः पादः।

१। अनभिहिते।

दधातेर्हिनोतेर्वा ऽनभिहित इत्यस्य रूपम्। समानत्वात्। अनेकार्थत्वाच्च धातूनाम्। न ज्ञायते किमर्थस्यानभिहितशब्दस्य ग्रहणमिति सन्देहः स्यात्। अतस्तं निराकर्त्तुमाह अनभिहिते ऽनुक्त इत्यादि। यद्यनभिहिते कर्म्मादौ द्वितीयादयो विभक्तयो भवन्तीति सामान्येनोच्येत ततो यथा कृतः कट इत्यत्र क्तप्रत्ययेन कर्म्मणोऽभिहितत्वात् कटशब्दाद् द्वितीया न भवति तथा कटं करोति भीष्ममुदारं शोभनं दर्शनीय मित्यत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया द्वितीयया भीष्मादिगतस्य कर्म्मणोऽभिहितत्वाद् भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति। तस्मात् कश्चिद् विशेषोऽत्राभिमत इति मत्वा तं विशेषं पृच्छति केनानभिहित इति? इतरो विदिताभिप्राय आह तिङ्कृत्तद्धित समासैरित्यादि। क्रियत इति कर्मणि लकारः। सार्वधातुके (३।१।६७) यक्। रिङ् शयग्लिङ्क्ष्विति (७।४।२८) रिङादेशः। शत्यः शतिक इति। शताच्च ठन् यतावशत इति (५।१।२१) ठन्यतौ भवतः। बहुषु (१।४।२१) बहुवचनमित्यादि। तत्रेदमुक्तं कर्मादयोऽप्यपरे विभक्तीनां वाच्या। अत स्त्वदीये बहुत्वे बहुवचनम् भवतीति। एवञ्च ब्रुवता वृत्तिकृता कर्म्माद्याश्रितायां संख्यायां द्वितीयादयो विभक्तयो भवन्तीत्येतदुक्तं भवति। नच तत्र कश्चिद् विशेष उपात्तः। सन्ति च कर्म्मादयो ऽभिहिता अनभिहिताश्च। तत्र विशेषानुपादानाद् यथा ऽनभिहितकर्म्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिषु द्वितीयादयो

विभक्तयो भवन्ति तथाऽभिहितकर्म्माद्याश्रयेष्वपि स्युः । अतोऽनभिहिता ये कर्म्मादय स्तदाश्रयेष्वेवैकत्वादिषु यथा विभक्तयो स्युरन्यत्र मा भूवन्नित्यनभिहित इत्येतद् विशेषण मारभ्यते । अनभिहितकर्म्माद्याश्रयेष्विति । अनभिहिताः कर्म्मादय आश्रया येषामिति बहुव्रीहिः । एतेन बहुषु बहुवचनं ( १।४।२१ ) मित्यादेः शास्त्रस्यानभिहित इत्येतस्य च कर्म्मणि ( २।३।२ ) द्वितीयेत्येवमादिभिः सहैकवाक्यतां दर्शयति । अनभिहिते कर्म्मणि द्वितीया बहुषु बहुवचनमिति । एव मन्यत्राप्येकवाक्यता वेदितव्या । एकवाक्यता च गुणप्रधानभावमन्तरेण न सम्भवतीत्येकस्य गुणभावेन भवितव्यम् । अपरस्य प्रधानभावेन । तत्र विशेषणत्वादनभिहित इत्यस्य कर्म्माद्यपेक्षया गुणभावः । कर्म्मादीनां तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । एकत्वाद्य पेक्षया कर्म्मादीनान्तु विशेषणत्वादप्राधान्यम् । एकत्वादीनां विशेष्यत्वात् प्रधानभावः । अथ कथं कटशब्दादुत्पद्यमाना द्वितीया भीष्मादिपदानु गतं कर्म्माभिदधाति यथा निष्ठेति चेत् ? स्यादेतत् । यथा कटः कृतो भीष्म उदारः शोभनो दर्शनीय इत्यत्र करोतेः कर्म्मण्युत्पद्यमाना निष्ठा सर्वं भीष्मादिकमपि कर्म्माभिदधाति तथा कटशब्दादुत्पद्यमाना द्वितीयेति । वार्त्तमेतत् । कृत इति क्रियाकारकसम्बन्धनिमित्तमभिधानम् । क्रिया चोत्पद्यमाना सामर्थ्यात् सर्व्वाणि कारकद्रव्याण्याक्षिपति । ततः कृञ उत्पद्यमानः क्तः साधारणतया यावत् करोतेरुपयाति कर्म्मतां तावत् सर्व्वमेवाभिदधातीति युक्तम् । भीष्मादिगताया अपि कर्म्मतायाः क्तप्रत्ययेनाभिधानम् । कटस्तु विशिष्टद्रव्यवचनः । तत उत्पद्यमाना द्वितीया तद्गतमेव कर्म्म शक्नोत्यभिधातुम् । नान्यगतं किञ्चित् । तत् कथं तया भीष्मादिगतमपि कर्म्माभिधीयते ? तथाच निरर्थकं परिगणनम् । तस्मात् तिङ्कृत्तद्धित समासैरेवाभिधानं सम्भवतीति सम्भवदुदाहरणप्रदर्शनपरमेतत् परिसंख्यानं वेदितव्यम् । न परिगणनम् ।

## २ । कर्म्मणि द्वितीया ।

द्वितीया तिङ्विभक्तिरप्यस्तीति तस्या अप्यत्र ग्रहणमिति कस्यचिदाशङ्का स्यात् । अतस्तन्निराकर्त्तुमाह द्वितीयादयः शब्दा इत्यादि । कर्म्मशब्देनेह

साधनं कर्म गृह्यते। नतु क्रियाकर्म। तथाहि ये विभक्त्यर्था एकत्वादयस्तेषां विशेषणत्वेनैव कर्मादयोऽनुक्रंस्यन्ते। नच क्रियाकर्मणि द्वित्वबहुत्वे स्तः। साधनकर्मणि तु विद्येते। तस्मात् तस्यैव ग्रहणं युक्तम्। नेतरस्य। उभसर्वतसोरित्यादि। उभसर्वशब्दयोस्तसिप्रत्ययान्तयोः प्रयोगे द्वितीयाविभक्तिः कार्य्या। शेषलक्षणायां षष्ठ्यां प्राप्तायामयमारम्भः। उभसर्वतसोरित्यत्र यद्यप्युभशब्दः पठितस्तथापि सामर्थ्यादुभयशब्दो गृह्यते। साधर्म्यात्। नह्युभशब्दस्तसिप्रत्ययान्तोऽस्ति। तस्य नित्यद्विवचनटाब्विषयत्वात्। तथाचोक्तम्। अन्याभावो नित्यद्विवचनटाब्विषयत्वादुभयोऽन्यत्रेति (१।१।२७,वा)। उभयतः सर्वत इति पञ्चम्यास्तसिल्। धिक्शब्दयोगेऽपि द्वितीया कार्य्या। तथोपर्य्यादिषु त्रिषु योगे द्वितीया कार्य्या। आम्रेडितान्तेष्विति। कृतद्विर्वचनेष्वित्यर्थः। उपर्युपरि ग्राममित्यादावुपर्य्यध्यधसः सामीप्य (८।१।७) इति द्विर्वचनम्। ततोऽन्यत्रापि दृश्यत इति। यथोक्तादन्यत्रापि दृश्यते द्वितीयेति सम्बन्धः। क्व चान्यत्र दृश्यत इत्यत आह अभित इत्यादि। पर्य्यभिभ्याञ्चेति (५।३।९) तसिः। अपिशब्दो विकल्पार्थः। अपि दृश्यते ऽपि न दृश्यते च। तेन हा तात हा मातरित्यादि सिध्यति।

## ३। तृतीया च होश्छन्दसि।

यवाग्वा ऽग्निहोत्रं जुहोतीति। यद्यप्यत्र सुपां सुपो भवन्तीति (७।१।३९, वा) द्वितीयास्थाने तृतीयादेशविधानेऽप्येतत् सिध्यति तथापि पयसा जुहोत्याज्येन जुहोतीत्येवमादि न सिध्यति। तथाहि स्थानिवद्भावात् स्वमोर्नपुंसकादित्येकस्य (७।१।२३) लुक् प्राप्नोति। अपरस्यातोऽमित्यम्भावः (७।१।२४)।

## ४। अन्तरान्तरेण युक्ते।

अन्तरान्तरेणशब्दौ निपातौ साहचर्य्याद् गृह्येते इति। अयमन्तराशब्दो यद्यपि स्त्रीप्रत्ययान्तोऽस्ति तथा ऽस्त्रीप्रत्ययान्तोऽपि। अन्तरेणशब्दस्त्वस्त्रीप्रत्ययान्त एव। तस्मादन्तरेणशब्देनास्त्रीप्रत्ययान्तेन साहचर्य्यादन्तराशब्दोऽप्यस्त्रीप्रत्ययान्तो गृह्यते। यश्चास्त्रीप्रत्ययान्तोऽन्तराशब्दः स निपात एवेत्य-

न्तराशब्दस्य तावन् निपातस्य ग्रहणम् । अतस्तेन निपातेन साहचर्य्यादन्तरेण शब्दस्यापि तस्यैव ग्रहणम् । तेनानिपातो यस्तृतीयान्तोऽन्तरेणशब्दो यश्च टाबन्तोऽन्तराशब्दस्ताभ्यां योगे द्वितीया न भवति । किं ते बाभ्रावाणां शालङ्कायनानाञ्चान्तरेण गतेन ? ग्रामयोरन्तरायां पुरि वसतीत्यन्तरशब्दोऽन्न-विशेषवचनः । गमिरपि ज्ञानवचनः । किं ते विशेषेण ज्ञानेनेत्यर्थः । षष्ठ्यपवादोऽयं योग इति । शेषलक्षणायां षष्ठ्यां प्राप्तायामस्यारम्भात् । षष्ठ्यपवादत्वमस्य योगस्यान्तरान्तरेणशब्दार्थप्रदर्शनद्वारेण विस्पष्टीकर्त्तुमाह तत्रेत्यादि । मध्यं हि सम्बन्धिशब्दत्वादमध्यभूतं द्वितीयं सम्बन्धिन मपेक्ष्य भवति । तत्र यदपेक्षं मध्यत्वं ततो मध्येन व्यतिरेके समुपजनिते षष्ठी प्राप्नोति । विनार्थोऽपि शेष एव । अत्रापि षष्ठ्येव प्राप्नोति । अन्तरा त्वाञ्च माञ्च कमण्डलु-रिति । तव मम मध्ये कमण्डलुरित्यर्थः । अथ कमण्डलुशब्दाद् द्वितीया कस्मान्न भवति ? सत्यप्यन्तरान्तरेणयोगे तस्य प्राधान्यात् । तथाहि कम-ण्डलोः स्वार्था प्रवृत्तिः । युष्मदस्मदोस्तु परार्था । कमण्डलुविशेषणत्वे न तयोः प्रवृत्तत्वात् । तत्र कमण्डलोः स्वार्थे वर्त्तमानात् प्राधान्येनावस्थितत्वात् प्रातिपदिकार्थादप्रच्युतत्वात् परत्वात् प्रथमैव भवति । द्वितीयायास्त्वप्रधाने युष्मदस्मच्छब्दे ऽवकाश इति ताभ्यां तेनैव प्रथमान्तेन कमण्डलुनोपजनिते व्यतिरेके षष्ठ्यां प्राप्तायां द्वितीया विधीयते । अन्तरेण पुरुषकार मिति । विना पुरुषकारेणेत्यर्थः । अन्तरा तक्षशिलां पाटलिपुत्रञ्च स्रुघ्नस्य प्राकार इवि । अत्र स्रुघ्नः प्राकारविशेषणत्वेनोपक्षीणसामर्थ्य इति न भवति तस्यान्त-राशब्देन योगः ।

## ५ । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।

कालाध्वनोरित्यर्थग्रहणम् । अत आह कालशब्देभ्योऽध्वशब्देभ्यश्चेत्यादि । मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः । योजनस्यैकदेशे पर्वत इति । मात्र कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति द्वितीया न भवति ।

## ६ । अपवर्गे तृतीया ।

अपवर्ग इति । अत्यन्तसंयोगस्य फलरूप मेतद् विशेषण मुपात्तम् ।

तच्च क्रियात्यन्तसंयोगस्यैव सम्भवति। नान्यस्येति सामर्थ्यादत्र क्रियात्यन्तसंयोग एव गृह्यते। सर्व्वस्याश्च क्रियायाः परिसमाप्तिरस्ति। तस्माद् विशेषणोपादानसामर्थ्यात् फलप्राप्तौ सत्यां क्रियायाः परिसमाप्तिरिहापवर्गो विज्ञायत इत्यत आह फलप्राप्ताविल्यादि। कर्त्तृव्यापृत्ताविति। नहि मास मधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीत इत्युक्तेऽपवर्गो गम्यते। किं तर्हि? कर्त्तुरशक्तिमात्रम्। न च तत्रापवर्गव्यपदेशः।

## ७। सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये।

अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे भोक्ता द्व्यहाद् भोक्तेति। ननु चात्र देवदत्त एक एव कर्त्ता। कारकभेदे सति तन्निबन्धनो मध्यव्यपदेशो भवति। तत् कथमसति कारकभेदे कारकयो र्मध्ये कालो भवतीत्यत आह कर्त्तृशक्त्योरित्यादि। नहि द्रव्यं कारकम्। किं तर्हि? शक्तिः। सा चेह भिद्यते। तथाहि देवदत्ते द्वे शक्ती व्यवस्थिते। एकाद्य भुजेः साधनम्। अपरा द्व्यहेऽतीत इति कर्त्तृशक्तिभेदे सति युक्तो मध्यव्यपदेशः। कर्त्तृकर्मणोरित्यादि। इष्वासः कर्त्ता लक्ष्यं कर्म। कर्मापादानयोरिति। कर्म तदेव। अपादानं यतः परो निर्याति। कर्माधिकरणयोर्वेति। इहेत्यनेन यन्निर्दिश्यते तदधिकरणम्। कर्म च तदेव। तयोर्मध्ये क्रोश इति। क्रोशस्येहापादानाधिकरणत्वाभावात् सप्तमीपञ्चम्यौ न भवतः। नहि क्रोशाच्छरोऽपैति। किन्तर्हि? तदेकदेशात्। नापि क्रोशे व्यवस्थितं लक्ष्यम्। किं तर्हि? तदेकदेश एव। तस्मात् क्रोशस्य शेषत्वात् षष्ठ्यां प्राप्तायां सप्तमीपञ्चम्यौ विधीयेते। अथात्र संख्यातानुदेशः कस्मान्न भवति? यावता कालाध्वनौ हि द्वौ। सप्तमीपञ्चम्यावपि द्वे। अतएव साम्यात् संख्यातानुदेशेन भवितव्यम्। कालात् सप्तमी। अध्वनः पञ्चमीत्यत आह संख्यातानुदेश इत्यादि। स्वरितेनाधिकार (१।३।११) इत्यत्र स्वरितेनेति योगविभागः कृतः। तत् पूर्वेणापि सम्बध्यते। यत्र स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते तत्र यथासंख्यं यथा स्यात्। इह तु स्वरितत्वं नास्त्यतो न भवति संख्यातानुदेशः।

## ८। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।

शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षदिति । अनुर्लक्षण इति (१।४।८४) कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ।

## ९। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ।

उपखार्य्यां द्रोण इति । खार्य्या अधिको द्रोण इत्यर्थः। उपोधिके (१।४।८७) चेत्युपशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । यस्य चेश्वरवचनमिति । यस्येश्वरव्यपदेश इत्यर्थः । ईश्वरव्यपदेशस्तु स्वामिन एव सम्भवति । तत्रैव सप्तम्या भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यादतस्तान्निराकर्त्तुमाह यस्य चेश्वरवचनमित्यादि । यस्य-चेश्वरवचन मित्यनेन द्वयोरपि स्वस्वामिनोः पर्य्यायेण सप्तमी भवतीति । कथम् ? यावता ऽधिरीश्वर (१।४।९७) इत्यनेनाधिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता । ईश्वरस्तु स्वामी । स च स्वमपेक्ष्य भवति । स्वस्वामिसम्बन्धेऽधिशब्दः कर्मप्रचनीयसंज्ञो भवति । तत्र कदाचित् स्वामी कर्मप्रवचनीयविभक्त्या युज्यते । कदाचित् स्वमित्येतत् प्रतिपादितं प्रागेव । कथं पुनर्यस्य चेश्वरवचन-मित्युच्यमाने स्वमपि कर्मप्रवचनीयविभक्त्या युज्यते ? नहि तस्येश्वरव्यप-देशोऽस्ति ? एवं तर्ह्यनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः क्रियते । तेन यस्येश्वरव्यपदेशो नास्ति तत्रापि सप्तमी विज्ञायत इत्यदोषः ।

## १०। पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।

अपपरिशब्दयोरपपरी वर्जन (१।४।८८) इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता । आङ्भ्याङ्मर्य्यादावचन (१।४।८९) इत्यनेन । वृक्षं परि विद्योतत इति । परिर्लक्षणेत्थम्भूताख्यानेत्यादिना (१।४।९०) ।

## ११। प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।

मुख्यसदृशः प्रतिनिधिरिति । मुख्यो यः कश्चित् कार्य्ये रूढः समर्थः प्रसिद्धः प्रधानभूतस्तेन सदृशो य स्तदभावे तस्य कार्य्यस्य सिद्धयर्थमुपादीयते स प्रतिनिधिः । अभिमन्युरर्ज्जुनतः प्रतीति । यतो मुख्यादर्जुनादभिमन्युः प्रतिनिधि स्तत्रः पञ्चमीविभक्तिर्भवति । प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः । माषा-

नस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छतीति। ये तिलाः पूर्वं दत्तास्तेभ्यो माषाणां प्रतिदानम्। तिलेभ्य इति पञ्चमी भवति। तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः। ननु च प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोरिति (१।४।९२) प्रतेः प्रतिनिधिप्रतिदानयोरेवार्थयोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। तयोरेव प्रतिना योग उपपद्यते। न तु यतस्ते तस्येति मन्यमान आह ननु चेत्यादि। सम्बन्धसम्बन्धादिति। सम्बध्यत इति सम्बन्धः प्रतिनिधिः। प्रतिदानञ्च। तदुभयमपि कर्मप्रवचनीयेन प्रतिना युज्यते। तेन सम्बन्धेन यः सम्बन्धः स सम्बन्धसम्बन्धः। कस्य पुनस्तेन सम्बन्धः? यतः प्रतिनिधिः प्रतिदानञ्च तस्य। सम्बन्धिशब्दौ हि प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दौ। तौ च नासति पूर्वविज्ञाते मुख्ये पूर्वदत्ते च भवत इति प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्यां यस्य सम्बन्धस्तस्य ताभ्यां सम्बन्धोऽस्तीति ते अपि कर्मप्रवचनीयैर्युक्ते भवत इति। क्वचित् सम्बन्धिसम्बन्धादिति पाठः। तत्रापि प्रतिनिधिः प्रतिदानञ्च सम्बन्धिशब्देनोच्यते। तदुभयस्यापि कर्मप्रवचनीयेन सम्बन्धात्। तेन सम्बन्धिना यः सम्बन्धः स सम्बन्धिसम्बन्ध इति स एवार्थः।

## १२। गत्यर्थकर्म्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि।

यदि क्रियामात्रमिह चेष्टाशब्देनोच्यते तदा चेष्टाग्रहणमपार्थकम्। सर्वो हि धातुः क्रियावचनः। तस्माद् विशेषणोपादानसामर्थ्यात् परिस्पन्दवचनोऽयं चेष्टाशब्दो विज्ञायते इत्याह परिस्पन्दक्रियाणामिति। परिस्पन्दः शरीरव्यापारः। सा क्रिया येषां ते तथोक्ताः। अध्वनीत्यर्थग्रहणमिति। अर्थप्रधानत्वान्निर्देशस्य। सप्तमीनिर्देशाच्च। यदीह स्वरूपग्रहणं स्यादनध्वन इति कुर्य्यात्। आस्थितप्रतिषेधश्चायं विज्ञायते। येन देशविशेषेण प्राप्यं ग्रामादिकं प्राप्यते स देशविशेषो लोकेऽध्वेति रूढ़ः। केन च प्राप्यं प्राप्यते? यः पन्था आक्रान्त स्तेन। तस्मात् तस्यैवायं प्रतिषेधः। यदा तु स एवोत्पथेन प्राप्यते तदा तस्य पथोऽध्वव्यपदेशो न भवतीति भवत्येव तत्र चतुर्थी। द्वितीयाग्रहणं किमिति? कर्मणि कारके चतुर्थ्यां विकल्पितायां पक्षे न्यायप्राप्तैव द्वितीयेति भावः। तत् क्रियते बाधकबाधनार्थम्।

अपवादविषयेऽपि यथा स्यात् । अथार्थग्रहणं किमर्थम् ? न गतिकर्मणीत्येवोच्येत । यावता गतिरर्थं एव । नैतदस्ति । या गतिर्गमिनैव शब्दान्तरसन्निधानाद्यनपेक्षयोच्यते तत्र यथा स्यात् । पादविहरणात्मिका च या गतिः प्रधानभूता तस्या एव ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेनेह न भवति । स्त्रियं गच्छति । अजां ग्रामं नयति । अत्र हि गमेर्मैथुनमर्थः स्त्रीशब्दसन्निधानाद् गम्यते । न तु गमेः केवलात् । नयतेश्च प्रापणमेवार्थः प्रधानभूतः । तद्विशेषणन्तु पादविहरणमप्रधानम् । यद्येवं ग्रामं गमयति ग्रामाय गमयतीति ण्यन्ते गुणभूतत्वाद् गमेर्न सिद्ध्यति । गमे रत्र प्रेषणाध्येषणादिको ह्यर्थः प्राधान्यमनुगच्छति । नैष दोषः । नह्यत्र ग्रामो ण्यन्तस्य कर्म । किं तर्हि ? गमेरेव ।

## १३ । चतुर्थी संप्रदाने ।

देवदत्ताय रोचत इति । रुच्यर्थानां प्रीयमाण इति (१।४।३३) सम्प्रदानसंज्ञा । पुष्पेभ्यः स्पृहयतीति । अत्र स्पृहेरीप्सित (१।४।३६) इत्यनेन । तादर्थ्य उपसंख्यानमिति । तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तस्यार्थो निर्दिश्यते । तस्मा इदं तदर्थम् । तस्य भावस्तादर्थ्यम् । तत्र चतुर्थ्या उपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्य मित्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम् । चतुर्थीति योगविभागः क्रियते । तेन तादर्थ्येऽपि चतुर्थी भवतीति । अथवा चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैरिति (२।१।३६) तादर्थ्ये चतुर्थ्याः समासवचनं ज्ञापकं भवति तादर्थ्येऽपि चतुर्थीति । क्लृपि सम्पद्यमान इत्यादि । क्लृप्यर्थानां धातूनां प्रयोगे सम्पद्यमाने कर्त्तरि सम्पादनक्रियाविशिष्टे चतुर्थी वक्तव्या व्याख्येयेत्यर्थः । व्याख्यानन्तु तमेव योगविभागमाश्रित्य । तथोत्पातेन ज्ञाप्यमान इत्यादावपि । मूत्राय कल्पते यवागूरिति । यवागूर्मूत्रविकाररूपेण भवतीत्यर्थः । विकाररूपापत्तौ चतुर्थी विज्ञेया । तेनेह न भवति । देवदत्तस्य शालयः सम्पद्यन्त इति । यदा चाभेदविवक्षा तदा परत्वात् प्रथमैव भवति । न चतुर्थी । मूत्रमिदं सम्पद्यते यवागूरिति । उच्चारोऽयं संपद्यते यवौदन इति । यदा तु जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति (१।४।३०) प्रकृतेरपादानत्वं विवक्ष्यते तदा यवाग्वा इति

पञ्चम्येव स्यात्। मूलं सम्पद्यते यवाग्वा इति। वाताय कपिला विद्युदिति। अत्र कपिला विद्युदुत्पातो वातस्य लक्षणम्। तेन ज्ञाप्यमाने वाते चतुर्थी भवति। अरोचकिन इति। अत इनिठनावितीनि: (५।२।११५)।

## १४। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः।

क्रियार्था क्रियोपपदं यस्येत्यादि। कथं पुनरयमर्थो लभ्यते? यावता नेह सूत्रे द्वितीयं क्रियाग्रहणमुपात्त मस्तीत्याह तुमुन्ण्वुलावित्यादि। तत्रोपपदं सप्तमीस्थमिति (३।१।९२) पारिभाषिकमुपपदं गृह्यते। तच्च तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायामित्यस्मिन् (३।३।१०) विषये क्रियार्थोपपदं सम्भवतीति क्रियार्थोपपदग्रहणेनायं विषयो लभ्यते। तत्र विषये क्रियार्थैव क्रियोपपदं सम्भवतीत्यसत्यपि द्वितीये क्रियाग्रहणे यदत्र क्रियार्थोपपदं तत् क्रियैवेति गम्यते। स्थानिन इति। शब्दा स्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम्। तदस्यास्तीति स्थानी। एतदुक्तं भवति यस्यार्थः प्रतीयते नतु प्रयोगोऽस्ति स स्थानीत्युच्यत इति। एधेभ्यो व्रजतीति। आङ्पूर्वो हरतिरत्र स्थानी। तत्कर्म त्वेधाः। एधानाहर्त्तुं व्रजतीत्यर्थः। ननु चात्र तादर्थ्यमस्ति। अतस्तादर्थ्य इत्येवं सिद्धा चतुर्थी। तत् किमर्थमिदं वचनम्? नियमार्थम्। स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्यैव कर्मणि यथा स्यात्। प्रयुज्यमानस्य मा भूत्। भक्षिरत्र स्थानीति। प्रविश गृहं पिण्डीं भक्षयेति गम्यमानत्वात्। प्रविश तर्पण-मित्यत्रापि पिवतिः स्थानी (A)। नतु क्रियार्थोपपद इति। तुमुन्नादि-विशिष्टप्रत्ययान्तो हि क्रियार्थोपपदो भवति। अयन्तु लोड़न्तः। नच लोट् क्रियार्थोपपदे विधीयत इति न भवति भक्षिरत्र क्रियार्थोपपदः।

## १५। तुमर्थाच्च भाववचनात्।

तुमुना समानार्थ इति वृत्तौ गम्यमानत्वात् समानशब्दो न प्रयुक्तः। तुमर्थो भाववचनप्रत्ययोऽन्तो यस्य स तुमर्थभाववचनप्रत्ययान्तादिति। भाववचनाश्चेति (३।३।११) वक्ष्यति। तस्येदं ग्रहणमिति। स एव हि तथोक्तः। भाववचनाश्चेति (३।३।११) वक्ष्यति। तस्येदं ग्रहणमिति। स एव हि तथोक्तः।

(A) प्रविश जलम्। तर्पणं पिवेति वाक्यम्। करोतिः स्थानीति च केषुचित् पुस्तकेषु पाठः। तत्र प्रविश जलं तर्पणं कुर्विति वाक्यम्।

तुमर्थो भाववचनः सम्भवति । नान्यः । पाकाय व्रजतीति । यद्यप्यत्र तादर्थ्यं गम्यते तथापि चतुर्थी न भवति । तस्मिन्नेव तादर्थ्ये विहिते न भावप्रत्ययेन तस्योक्तत्वात् । यथा पाचको व्रजतीत्यत्र न भवति । तेन चतुर्थीविधानार्थमिदमारब्धम् । अथवा भाववचनादेव यथा स्यादिह मा भूत् पाचको व्रजतीति नियमार्थमेतत् । पाकस्त्यागो राग इति भावे घञ् । ननु च क्रियार्थोपपदग्रहणमनुवर्त्तिष्यते । तदर्थाद्विभक्तेर्विपरिणामं कृत्वै वमभिसम्बन्धः करिष्यते क्रियार्थोपपदाद्भाववचनादिति । यस्तु क्रियार्थोप-पदो भाववचनः स तुमर्थ एवेति किं तुमर्थग्रहणेन ? नैतदस्ति । नहि क्रियार्थोपपदग्रहणं भाववचनस्य विशेषणं सम्भवति । किं तर्हि ? धातोरेव । तस्मात् तुमर्थग्रहणं कर्त्तव्यमेव । कारको व्रजतीति । तुमुन्ण्वुलाविति (३।३।१०) ण्वुल् । भवत्ययं तुमर्थो नतु भाववचनः । किं तर्हि ? कर्त्तृवचनः । तेन तदन्तान्न भवति ।

## १६ । नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च ।

अलमिति पर्य्याप्त्यर्थस्य ग्रहणमिति । तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्य(५।१।१०) इत्यलंशब्दसमानार्थेन प्रभवतिशब्देन योगे चतुर्थीनिर्देशाल्लिङ्गात् । ननु चास्मा-ल्लिङ्गादर्थस्येदं ग्रहणं नतु शब्दस्येत्येषोऽर्थः प्रतीयते । न तु पर्य्याप्त्यस्येत्येषोऽर्थः । तथाच भूषणप्रतिषेधयोरपि ग्रहणं स्यात् । एवञ्च कन्यामलंकुरुते । अलं बाले रोदनेनेत्यादावधि चतुर्थी स्यात् । नैष दोषः । सामर्थ्यात् पर्य्याप्त्यर्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति । कथम् ? कन्यामलंकुरुत इत्यत्रोपपदविभक्तेः कारकविभक्ति-र्बलीयसीति (प,१०३) कर्मणि द्वितीयेति (२।३।२) द्वितीययैव भवितव्यम् । अलं बाले रोदनेनेत्यत्राप्यतएव हेतोः करणे तृतीययैव । अत्र हि रोदनं करणभावमापन्नमेव प्रतिषेधेन सम्बध्यत इति सामर्थ्यात् पर्य्याप्त्यर्थस्य ग्रहणं सम्पद्यते । चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थ इति । यदेतन्नमःप्रभृतियोगे चतुर्थी-विधानं तत्समुच्चयार्थश्चकारः । तेन पुनर्विधानाच्चतुर्थी (२।३।७३) चाशिष्यायुष्ये-त्यादिनाशीर्विवक्षायां पक्षे या षष्ठी विधीयते तामपि बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति । यद्येवं कारकविभक्तिमपि बाधित्वा कन्यामलंकुरुत इत्यादौ

चतुर्थ्येव स्यात्। ततश्च यदुक्तं सामर्थ्यात् पर्य्याप्त्यर्थस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति तन्नोपपद्यते। नैष दोषः। कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वात् पुनर्विधानस्य चान्यत्र चरितार्थत्वात्। अथवा वक्ष्यमाणा विभाषा सिंहावलोकितन्यायेनेहाप्युपतिष्ठते। तेन कन्यामलंकुरुत इत्यादौ चतुर्थी न भवति।

## १७। मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु।

अनादरस्तिरस्कार इति। अत्रैवानादरशब्दस्य रूढत्वात्। तिरस्कारः परिभवो ऽवज्ञानमित्यर्थः। न त्वा तृणाय मन्य इति। तृणादपि निकृष्टतरं त्वामहं मन्य इत्यर्थः। विकरणनिर्देशः किमर्थ इति। मनिकर्मणीति कस्मान्नोक्तम्। एवं हि लघु सूत्रं भवतीति। मन ज्ञान इत्यस्य दैवादिकस्य ग्रहणं यथा स्यात्। मनु बोधन इत्यस्य तानादिकस्य ग्रहणं मा भूदित्येवमर्थो विकरणनिर्देश इति दर्शयितुमाह न त्वां तृणं मन्व इति। अश्मानं दृषदं मन्य इत्यादौ यथाव्यवस्थितस्य वस्तुनः स्वरूपमाविष्क्रियत इत्यत्रानादरो न गम्यते। यदेतदप्राणिष्विति तदनावादिष्विति वक्तव्यमिति। अप्राणिग्रहणमपनीयानावादिग्रहणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। यथान्यासे हि न त्वा नावम्मन्य इत्यत्र चतुर्थी स्यात्। न त्वा शुने मन्य इत्यत्र चतुर्थी न स्यादित्यभिप्रायः।

## १८। कर्त्तृकरणयोस्तृतीया।

तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति। किं पुनः कारणं न सिध्यति ? कर्त्तृकरणयोरभावात्। तयोस्त्वभावः प्रकृत्याभिरूप इत्यादौ क्रियाया अविद्यमानत्वादित्यभिप्रायः। प्रातिपदिकेनात्र सम्बन्धमात्रं प्रतीयते। नतु काचन क्रिया। नच तया विना कर्त्तृकरणे सम्भवतः। तयोः क्रियापेक्षत्वात्। ततश्च सम्बन्धलक्षणा षष्ठी स्यात्। प्रकृतेरभिरूपः। प्रायस्य याज्ञिकः। गोत्रस्य गार्ग्य इति। समेन धावति विषमेण धावतीति। यद्यप्यत्र क्रियाप्यस्ति तथापि नात्र समविषमशब्दौ करणत्वेन विवक्षितौ। किन्तर्हि ? कर्मत्वेन। ततश्च द्वितीया स्यात्। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणातीत्यादावपि द्विद्रोणादीनां कर्मत्वेन विवक्षितत्वाद् द्वितीयैव स्यात्। द्विद्रोणेन

धान्यं क्रीणातीति द्वौ द्वौ द्रोणौ कृत्वा धान्यं क्रीणातीत्येषोऽर्थो विवक्षितः। पञ्चकेन पशून् क्रीणातीति। पञ्च परिमाणमस्य पशुसङ्घस्य पञ्चकः संघः। पञ्चकं संघं कृत्वा पशून् क्रीणातीत्यर्थः। एवं साहस्रेणाश्वान् क्रीणातीति साहस्रं संघं कृत्वा। सहस्रं सहस्रं कृत्वेत्यर्थः। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। प्रतीयमानापि क्रिया कारकाणां निमित्तं भवत्येव। इह च प्रकृत्याभिरूप इत्यत्र करोत्यर्थः प्रतीयते। प्रकृत्या कृतोऽभिरूप इति। एवं प्रायेण याज्ञिकः प्रायेण वैयाकरण इत्यत्रापि करोत्यर्थो भवत्यर्थो वा गम्यते। गार्ग्योऽस्मि गोत्रेणेत्यत्रापि ज्ञाने भवने वा गम्यमाने गोत्रस्य करणत्वं प्रतीयते। समेन धावतीत्यादौ समेन विषमेण वा पथा करणेनेति गम्यते। द्विद्रोणेनेत्यत्रापि तृतीया न कर्मत्वं बोधयति। किं तर्हि? करणत्वम्। अत्र हि द्विद्रोणाद्यर्थं हिरण्यादिकं मूल्यभूतं तादर्थ्याद् द्विद्रोणादिशब्देनोक्तम्। तस्यापि करणत्वमस्त्येवेति करण इत्येवं सर्वत्र तृतीया सिद्ध्यति।

## १९। सहयुक्तेऽप्रधाने।

क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे हि सति सहयोगो भवति। अतः पुत्रेण सहागत इत्यादीनि क्रियादिसम्बन्धे यथाक्रममुदाहरणानि वृत्तिकृतोपन्यस्तानि। सर्वत्र च पुत्रस्यात्राप्राधान्यमिति ततस्तृतीया भवति। ननु चोभयोरपि पितापुत्रयोः क्रियादिसम्बन्धः प्रतीयते। तत् कुतः पुत्रस्याप्राधान्यमितरस्य प्रधानभाव इत्याह पितुरत्रेत्यादि। यद्युभयगतः क्रियादि सम्बन्धः प्रतीयते तथाप्युपात्तशब्दव्यापारापेक्षया प्रधानाप्रधानव्यवस्था। शब्देन यस्य क्रियादिसम्बन्धः प्रत्याय्यते तत् प्रधानमितरदप्रधानमिति। इह तु पितुरेव क्रियादिसम्बन्धः प्रत्याय्यते शब्देन। न तु पुत्रस्य। कुत एतत्? शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्। तथाविधा हि शब्दशक्तिर्यतः पितुरेवात्र क्रियादिसम्बन्धं शक्नोति प्रतिपादयितुम्। न पुत्रस्येति। एवञ्चागत इत्यादावेकवचनमुपपद्यते। अन्यथा हि द्वित्वाद्द्विवचनं स्याद् यथा पितापुत्रावागताविति। पुत्रस्य तु प्रतीयमानत्वादप्राधान्यमिति। अर्थात् स

पुनरर्थः सहार्थयोगः। स च भेदाधिष्ठानत्वात् पुत्रस्य क्रियादिसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवतीति सम्बन्धस्य नान्तरीयकत्वात् पुत्रस्यापि क्रियादिसम्बन्धं प्रत्याययति। सहार्थेन योगे तृतीयाविधानादिति। कुतः पुनरेतदवगतं सहार्थेन योगे तृतीयाविधानमिति ? युक्तग्रहणात्। तस्य चैतदेव प्रयोजनम्। सहार्थेन योगे तृतीया यथा स्यात्। नान्यत्। शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौरिति। अत्र द्रव्यसम्बन्धः षष्ठ्यैवोपाध्यायस्योच्यत इत्यस्य प्राधान्यम्। तत्रासत्यप्रधानग्रहणे प्रधानेऽप्युपाध्याये स्यात्। ननु च परत्वात् षष्ठी भविष्यति। न भविष्यति। अशेषत्वात्। सति त्वप्रधानग्रहणे शेषोऽयं सम्पद्यत इति षष्ठी।

## २०। येनाङ्गविकारः।

अयमङ्गशब्दोऽवयवे प्रसिद्धः। स यदि तत्रैव वर्त्तमान इह गृह्यते तदा-त्वेवं स्यात्। अक्ष्णा काणमस्येति। अत्र ह्यक्ष्णः शरीरावयवस्य विकारः काणेन गुणेन द्योत्यत इति। इह तु न स्यादक्ष्णा काण इति। नह्यत्रावय-वस्याक्ष्णो विकारो लक्ष्यते। किन्तर्हि ? अङ्गिनः समुदायस्येत्यत आह अङ्गशब्दो-ऽत्रेत्यादि। अङ्गमस्यास्तीत्यङ्गः। अर्श (५।२।१२७) आदित्वादच्प्रत्ययान्तो-ऽङ्गशब्द उपात्त इति दर्शयति। अङ्गिनोऽङ्गापेक्षत्वात्। यदपेक्षयाऽङ्गिनो-ऽङ्गित्वं तदेव येनेत्यनेन निर्दिश्यत इति दर्शयितु माह येनेत्यादि। विकृतेनेति सामर्थ्याल्लब्धमर्थं दर्शयति। नह्यविकृतेनाङ्गिनोऽङ्गेन विकारो लक्ष्यते। लक्ष्यत इति। द्योत्यत इत्यर्थः। अक्ष्णा काण इति। अत्राक्ष्णावयवेन विकृतेनाङ्गिनो देवदत्तस्य विकारो लक्ष्यत इति ततस्तृतीया विभक्तिर्भवति। कथं पुनरवयवेन विकृतेन समुदायस्तथा व्यपदिश्यत इत्याह अवयवधर्मेणे-त्यादि। यथाढ्यमिदं नगरमित्यवयवधर्मेणाढ्यत्वेनात्र समुदायो व्यपदिश्यते तथेहाप्यवयवेन विकृतेन समुदायो व्यपदिश्यत इति। कथं पुनरत्रा-क्षिशब्दस्य प्रयोगः क्रियते ? यावता विनापि तेन काणत्वं गुणः समुदायस्य प्रतीयत एव। सत्यमेतत्। लौकिके शब्दप्रयोगे गुरुलाघवं प्रत्यनादरात्। यस्तु तदाद्रियते सोऽक्षिशब्दं न प्रयुङ्क्त एव। अक्ष्णि काणमस्येति। अत्रासत्यङ्ग-

ग्रहणे काणशब्दात् तृतीया स्यात् । लक्ष्यते हि काणत्वेन गुणेनाक्ष्णो विकारः समुदायस्यावयवस्य ।

## २१ । इत्थम्भूतलक्षणे ।

कञ्चित् प्रकारमित्यनेन इत्थमित्यस्यार्थमाचष्टे । तथाहि प्रकारवचन इदमस्थमुरिति (५।३।२४) थमुप्रत्यये विहित इत्थमित्येतद्रूपं भवति । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकार उच्यते । आपन्न इत्यनेन भूतशब्दस्यार्थमाचष्टे । तथाहि भू प्राप्तावात्मनेपदीत्यस्य चौरादिकस्याधृषाद्वेति (ग,२०२) यदा णिज् नास्ति तदा क्तप्रत्यये भूत इति रूपं भवति । तस्येतीत्थम्भूतस्य । लक्षणमिति । लक्ष्यते चिह्न्यतेऽनेनेति लक्षणं चिह्नम् । अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदिति । अत्र मनुष्यत्वं सामान्यम् । तस्य च्छात्रत्वं प्रकारः । तं प्राप्तस्य च्छात्रस्य कमण्डलुर्लक्षणम् । छात्रेणोपाध्यायमिति । मनुष्यत्वं सामान्यम् । तस्योपाध्यायत्वं प्रकारः । तं प्राप्तस्योपाध्यायस्य लक्षणं छात्रः । शिखया परिव्राजकमिति । मनुष्यत्वं सामान्यम् । परिव्राजकत्वं प्रकारः । तं प्राप्तस्य परिव्राजकस्य लक्षणं शिखा । लक्षणस्य समासेऽन्तर्भूतत्वादिति । एकार्थीभावाद् बहुव्रीह्यर्थेन लक्षणार्थस्यापृथग्भावादित्यर्थः । बहुव्रीहावेव वाच्यत्वेनान्तर्भावो लक्षणस्येति गतार्थत्वात् तृतीया न भवति । इत्थम्भूतलक्षण इति किं ? वृक्षं परि विद्योतते विद्युत् । नात्र विद्योतनत्वप्राप्तस्य कस्यचिद् वृक्षेण लक्षणम् । किं तर्हि ? विद्योतनस्यैव ।

## २२ । संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ।

मात्रा संज्ञानीत इति । ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) इति जादेशः । ई हल्यघोरितीत्वम् (६।४।११३) । संप्रतिभ्यामनाध्याने (१।३।४६) इत्यात्मनेपदम् । आध्याने त्वधीगर्थदयेशां (२।३।५२) कर्मणीति परत्वात् षष्ठी भवति । मातुः सञ्जानातीति । कृत्प्रयोगे चानाध्यानेऽपि कर्तृकर्मणोः (२।३।६५) कृतीति परत्वात् षष्ठ्येव भवति । मातुः संज्ञातेति ।

## २३ । हेतौ ।

हेतुर्द्विविधः शास्त्रीयो लौकिकश्च । तत्र शास्त्रीयस्तत्प्रयोजको (१।४।५५)

हेतुः। लौकिकः फलसाधनयोग्यः पदार्थः। तत्र शास्त्रीये हेतौ कर्त्तृकरणयो-(२।३।१८) स्तृतीयेत्येवं सिद्धा तृतीया। तस्माल्लौकिकस्य हेतोरिदं ग्रहणमित्यत आह फलसाधनयोग्य इत्यादि। अनिष्पादयन्नपि फलं तत्साधनयोग्यः पदार्थो लोके हेतुरित्युच्यत इति योग्यग्रहणम्। धनेन कुलमित्यादौ कुलादीन्य कुर्वन्त्यपि धनादीनि तत्करणयोग्यतया लोके हेतुव्यपदेशमासादयन्तीति तेभ्यस्तृतीया। इह यूपाय दार्विति सदपि दारुणो हेतुत्वं न विवक्षितम्। किं तर्हि? कारणस्यान्यथात्वम्। तेन तादर्थ्ये चतुर्थी भवति।

## २४। अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी।

शतेन बन्धित इति। बन्धेर्ण्यन्तस्य निष्ठायामेतद्रूपम्। शतमृणञ्च भवतीति। उत्तमर्णाय देयत्वात्। प्रयोजकत्वात् कर्त्तृसंज्ञेति। तत् प्रयोजको हेतुश्चेति (१।४।५५) चकारात् कर्त्तृसंज्ञाविधानात्। ननु लौकिको हेतुः पूर्वसूत्रे गृहीतः। स चेहानुवर्त्तत इति तत एव पञ्चमी विधीयते। न चात्र लौकिको हेतुः। किं तर्हि? पारिभाषिक इति प्राप्त्यभावादकर्त्तरीति प्रतिषेधोऽनर्थकः। नैतदस्ति। तत्र हि शास्त्रीये हेतौ तृतीया सिद्धैवेति लौकिकस्य हेतोर्ग्रहणम्। इह तु पञ्चमी विधीयते। न चात्रासौ शास्त्रीये हेतौ केनचित् सिध्यति। द्वावपीह हेतू गृह्येते। अथवा शास्त्रीयस्यापि हेतोर्लौकिकं हेतुत्वमविरुद्धमेव। यो हि बन्धने प्रयुङ्क्ते स तत्साधनयोग्यो भवत्येवेति।

## २५। विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्।

धनेन कुलमिति। धनं द्रव्यम्। न गुणः। द्रव्याश्रितो हि गुणो भवति। न द्रव्यमेव। गुणशब्देन चात्र सम्बन्धिमात्रं परार्थरूपापन्नमुच्यते। तेनाग्निरत्र धूमादित्याद्यपि सिद्धं भवति। ननु चास्त्रियामित्युच्यते। तेन नास्तीह घटोऽनुपलब्धेरित्यादि न सिद्ध्यति। नैतदस्ति। विभाषा गुण इति योगविभागः कर्त्तव्यः। तेन यत्नेष्यते तत्र योगविभागादिष्टसिद्धि-रिति स्त्रियामपि भवत्येव।

## २६ । षष्ठी हेतुप्रयोगे ।

प्रयोगस्य शब्दधर्म्मत्वाद् हेतुरित्यनेन हेतुशब्द एव विज्ञायत इत्यत आह हेतुशब्दप्रयोग इति। एवञ्च हेतुशब्दस्य स्वरूपग्रहणे सति तत्पर्य्यायाणां निमित्तकारणादीनां प्रयोगे षष्ठी न भवतीति किमर्थं पुनरिदमुच्यते? यावता शेषविवक्षयैवात्राध्ययनादिभ्यः षष्ठी भविष्यति। तत्सामानाधिकरण्याच्च हेतुशब्दादपि। एवं तर्हि सैव शेषविवक्षा ऽस्मिन् विषये वचनेनाख्यायते मन्दधियामनुग्रहाय।

## २७। सर्वनाम्नस्तृतीया च।

निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायदर्शनमिति। एतच्चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् लभ्यत इति वेदितव्यम्। यद्यर्थग्रहणमेतत् कस्मात् पर्य्यायोपादानं कृतमित्याह पर्य्यायोपादानमित्यादि। असति पर्य्यायग्रहणे एतत् स्वरूपग्रहणमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तान्निराकर्त्तुं पर्य्यायग्रहणम्।

## २८। अपादाने पञ्चमी।

वृकेभ्यो बिभेतीति। भीत्रार्थानां (१।४।२५) भयहेतुरित्यपादानत्वम्। अध्ययनात् पराजयत इत्यत्र पराजेरसोढ़ (१।४।२७) इत्यपादानत्वम्। विपराभ्याञ्जे (१।३।१९) रित्यात्मनेपदम्। पञ्चमीविधान इत्यादि। यदेतत् पञ्चमीविधानमत्र ल्यब्लोपे कर्म्मणि पञ्चमी स्यादित्युपसंख्यानं व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। इह पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्त्तते। स चानुक्तसमुच्चयार्थः। तेन ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी भविष्यति। अधिकरणे चोपसंख्यानमित्यादि। अत्राप्युपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। प्रतिपादनन्तु पूर्ववच्चकारानुक्तसमुच्चयार्थत्वमाश्रित्य कर्त्तव्यम्। प्रश्नाख्यानयोश्चेत्यादि। वक्तव्येति व्याख्यातव्येत्यर्थः। व्याख्यानन्तु तामेव चकारानुवृत्तिमाश्रित्य कर्त्तव्यम्। अथवात्रापादान इत्येवं सिद्धा पञ्चमी। तथाहि कुतो भवानित्यत्रागच्छतीति प्रतीयते। पाटलिपुत्रादित्यत्राप्यगच्छामीति। अतः स्फुटमेवापादान-

त्वम् । यतश्चाध्वकालेत्यादि । यतः प्रभृत्यध्वनः कालस्य निर्माण (B) मियत्तापरिच्छेदस्तत्र पञ्चमी वक्तव्या । एतदुक्तं भवति । अध्वनि काले च निर्मीयमाणे यदवधिभूतत्वेन विवक्ष्यते तत्र पञ्चमी वक्तव्या व्याख्येया । व्याख्यानन्तु पूर्ववच्चकारानुवृत्तिमाश्रित्य कर्त्तव्यम् । अथवाध्वनि निर्मीयमाणे ऽपादान इत्येवं सिद्धा पञ्चमी । तथाहि गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानीत्यत्र निःसृत्येति क्रिया गम्यते । अतो युक्तमेवापादानत्वम् । कार्त्तिक्या आग्रहायणी मास इत्यत्रापि परेणेति शब्दो गम्यते । तत्रोत्तर-सूत्रेण दिग्योगलक्षणा पञ्चमी भविष्यति । तद्युक्तात् काल इत्यादौ तदित्यनेन पञ्चमी सम्बध्यते । पञ्चमीयुक्तात् परो यः कालस्तत्र सप्तमी वक्तव्या व्याख्येया । व्याख्यानन्तु कार्त्तिक्या आग्रहायणी मास इत्यत्र यस्य च भावेन भावलक्षणमित्यनेन (२।३।३७) सप्तमी सिद्धा । कार्त्तिक्याः परो यो मासस्तत्सत्तया ऽग्रहायण्या भावो लक्ष्यते । अध्वनः प्रथमेत्यादि । तद्-युक्तादिति वर्त्तते । तत्र यदा साङ्काश्यस्य योजनादभेदो विवक्ष्यते तदा प्रथमा । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानीति । भेदविवक्षायान्तु यस्य च भावेन भावलक्षणमिति (२।३।७३) सप्तमी । तथाहि गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु सत्सु भवतीत्येषोऽर्थः प्रतीयते । तत्र योजनस्य सम्बन्धि गमनं साङ्काश्यभावस्य लक्षणम् भवति ।

## २९ । अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ।

अन्य इत्यर्थग्रहणमिति । अर्थद्वारक एव हि शब्दस्य शब्दान्तरेण योगो भवति । तस्मादर्थस्येदं ग्रहणं विज्ञायते । तेनेत्यादिना ऽर्थग्रहणस्य फलं दर्शयति । अथान्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्त इति यज्ञदत्तशब्दादपि पञ्चमी कस्मान्न भवति ? देवदत्तादुत्पन्नया पञ्चम्योभयगतस्याप्यन्यत्वस्य प्रति-पादितत्वात् तद्विशिष्टमन्यत्वमेकत एवोत्पाद्यमानया पञ्चम्या शक्यं प्रतिपाद-यितुमिति द्वितीयसम्बन्धिनः पञ्चमी न भवति । इतर इति निर्दिश्यमानस्य प्रतियोगी पदार्थ उच्यत इति । यथा क्वचित् प्रकरणे द्वौ प्रकृतौ देवदत्तो

(B) निमानमिति वङ्गीयपुस्तकेषु पाठः ।

ऽन्यश्च कश्चित् । तत्रैकस्तावन्निर्दिश्यते देवदत्तः शूर इति । तस्य निर्दिश्य-मानस्य योऽसौ द्वितीयः सम्बन्धी प्रतियोगी स इतरशब्देनोच्यते यथेतरः कातर इति । शब्दग्रहणमित्यादि । शब्दग्रहणे सति दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्द इत्येषोऽर्थो लभ्यते । तेन योऽपि संप्रति दिक्शब्दो देशे काले च वर्त्तते सोऽपि दिशि दृष्ट इति तद्योगे पञ्चमी भवति । तत्र देशवृत्तिना योगे पञ्चमी पूर्वो ग्रामात् पर्वत इति । कालवृत्तिनापि पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्त इति । इतरथा हि दिग्वृत्तिनैव योगे स्यादिति । तत्रैव दिक्छब्दस्य मुख्यत्वात् । प्राग् ग्रामादिति । प्रपूर्वादञ्चते ऋत्विगादिसूत्रेण (३।२।५९) क्विन्प्रत्ययः । तदन्ताद् यदा दिक्छब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्-देशकाल (५।३।२७) इत्यादिना विहितस्यास्तातेरञ्चे (५।३।३०) लुगिति लुग् लुकि कृते तदेदमुदाहरणम् । दक्षिणा ग्रामादुत्तरा ग्रामाद् । दक्षिणाहि ग्रामादुत्तराहि ग्रामादिति । दक्षिणादाच् (५।३।३६) । आहि च दूरे (५।३।३७) । उत्तराच्च (५।३।३८) त्वाजाही प्रत्ययौ ।

## ३० । षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।

अतसर्थाः प्रत्यया दिक्शब्देभ्यः स्वार्थएव भवन्तीति तदन्तस्य दिक्-छब्दत्वात् पूर्वेण पञ्चम्यां प्राप्तायां वचनमिदम् । पुरो ग्रामस्येति । पूर्वाधरावर-णामसि (५।३।३९) पुरधवश्चैषामित्यादिनाऽसिप्रत्ययः । पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च । पुरस्तादित्यत्रापि दिक्शब्देभ्यः (५।३।२७) सप्तमीत्यादिनाऽस्तातिप्रत्ययः । अस्ताति चेति पुरादेशः (५।३।४०) । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टाद् ग्रामस्येति । उपर्युपरिष्टा (५।३।३१) दित्यूर्द्ध्वशब्दस्योप इत्यादेशो रिलरिष्टातिलौ च प्रत्ययौ भवतः ।

## ३१ । एनपा द्वितीया ।

पूर्वेण षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनमिदमिति । एनपोऽतसर्थत्वात् । तदर्थो योगविभागः कर्त्तव्य इति । एनपेति पृथग्योगः कर्त्तव्य एनपायोगे षष्ठी यथा स्यात् । अन्यथा हि द्वितीययासौ बाध्येत । ततो द्वितीयेति द्वितीयो योगः । अत्रैनपेति वर्त्तते ।

## ३२ । पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।

पञ्चमीग्रहणमनुवर्त्तत इति। स्वरितत्वात्। इमे सर्वे पृथगादयोऽसहायेऽर्थे वर्त्तन्ते। भेदेनोपादानन्तु पर्य्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह तृतीयापञ्चम्यौ मा भूताम्। हिरुग् देवदत्तस्य। विष्वग् देवदत्तस्येति। तचासत्यां पञ्चमीग्रहणानुवृत्तौ यथा हिरुगित्यादिना पर्य्यायान्तरेण योगे षष्ठी भवति तथा पृथगादिभिर्योगे पक्षे षष्ठी स्यान्न पञ्चमी। तस्मात् पञ्चमीग्रहणमनुवर्त्तनीयम्। यद्येवमनुवृत्तेरेव पक्षे भविष्यति। तत् किमर्थमन्यतरस्यांग्रहणम्? सत्यम्। तत् कृतञ्च तस्या एवानुवृत्तेः सूचनार्थमुत्तरार्थञ्च।

## ३३ । करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ।

यदा तु धर्ममात्रमित्यादि। यद्योगाद् द्रव्यं स्तोकादिव्यपदेशमासादयति ते गुणा धर्मशब्देनोच्यन्ते। तन्मात्रं स्तोकादिभिः शब्दैरभिधीयमानं करणत्वेन यदा विवक्ष्यते नतु द्रव्यं तदा स्तोकादिशब्दानामसत्त्ववचनता। यदा तु सोऽयमित्यभेदात् तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते तदा तेषां सत्त्ववचनता भवति। क्रियाविशेषणे मा भूदिति। क्रियायाः साध्यत्वात् कर्मत्वम्। तद्विशेषणमपि कर्म भवति। तच्चासत्त्वं भवति। क्रियैव हि तावद् द्रव्यं न भवति। कुतः पुनस्तद्विशेषणं द्रव्यं भविष्यति? एकार्थत्वेऽपि स्तोकादीनां भेदेनोपादानं पर्य्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह मा भूत्। मात्रया मुक्त इति।

## ३४ । दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ।

विकल्पेन पञ्चम्यां विहितायां पक्षे शेषत्वादेव यद्यपि षष्ठी सिध्यति तथापि यदिह षष्ठीग्रहणं कृतं तच्चतुर्थी (२।३।७३) चाशिष्येत्यादिना ऽशिषि या चतुर्थी विधीयते तामपि बाधित्वा षष्ठ्येव यथा स्यादित्येवमर्थम्। दूरं हितं ग्रामस्य। अन्तिकं हितं ग्रामस्येति। ननु चान्यतरस्यांग्रहणे प्रकृते पुनरन्यतरस्यांग्रहणं किमर्थं मित्याह अन्यतरस्यांग्रहणमित्यादि। यदीहान्यतरस्यांग्रहणं न क्रियेत तदा पक्षे तृतीया स्यात्। तस्या एवानन्तरत्वेन श्रुतत्वात्। पुनरन्यतरस्यांग्रहणं क्रियमाणं पञ्चमीविधानार्थं विज्ञायते।

प्रयोजनान्तराभावात्। तथाहि तृतीयाविकल्पार्थं तावदेतन्न भवति। तृतीयाविकल्पो हि पूर्वकेणान्यतरस्यांग्रहणेन सिध्यति। न चान्या काचिद्विभक्तिः प्रकृता। किन्तर्हि? पञ्चमी। तस्मात् पञ्चमीविकल्पार्थमेतद् विज्ञायते।

### ३५। दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च।

पञ्चमी चेति। तदनुवृत्तिसामर्थ्यात् तृतीयापि समुच्चीयत इति चकारेण। यथायथमिति। यथास्वं यो यस्यात्मीयो विषयस्तत्रासौ भवति। न विभक्त्यन्तरमित्यर्थः।

### ३६। सप्तम्यधिकरणे च।

दूरान्तिकार्थेभ्यश्चतस्रो विभक्तयो भवन्तीति। पूर्वसूत्रेण द्वितीयादयस्तिस्रः। अनेन सप्तमी। सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्येत्यादि। इन्विषयो यः क्त स्तदीये कर्मणि सप्तमी विधेया। कश्चेन्विषयः क्तः? य स्तदन्तस्तेनैव सह प्रयुज्यत इत्यर्थः। अनन्यत्रभावार्थत्वादत्र विषयशब्दस्य। अधीती व्याकरण इति। अधीतं व्याकरणमनेनेति। श्राद्धमनेन (५।२।८५) भुक्तमित्यतोऽनेनेत्यनुवर्त्तमाने पूर्वादिनिरित्यत (५।२।८६) इनिरित्यनुवर्त्तमाने चेष्टादिभ्यश्चेतीनि (५।२।८८) प्रत्ययः। अत्र यद्यपि कर्मण्येव क्तो विहितस्तथापि तद्धित उत्पन्ने ऽधीतव्याकरणयोरभिसम्बन्धो निवर्त्तते। अस्ति च धात्वर्थस्य व्याकरणेन सम्बन्ध इति कर्मैव व्याकरणं भवतीत्यतो द्वितीया स्याद् यथा कृतपूर्वी कटमिति। तस्मात् सप्तम्या उपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। योऽसावधीती कर्त्ता तस्य व्याकरणं विषयत्वेन विवक्ष्यते। तस्मादधिकरण इत्येवं सिद्धा सप्तमी। साध्वसाधुप्रयोग इत्यादि। अनर्चार्थमिह साधुशब्दस्य ग्रहणम्। अर्चायां हि साधुनिपुणाभ्या मर्चायामित्यनेनैव (२।३।४३) सिद्धा सप्तमी। साधुर्देवदत्तो मातरीत्यादि। अत्राप्यधिकरण एव सप्तमी। तथाह्यत्र मातृस्थासु क्रियासु मातृशब्दो वर्त्तते। पितृस्थासु क्रियासु पितृशब्दः। तासाञ्च क्रियाणां साध्वसाधुतां प्रति विषयभावोऽस्तीति वैषयिकाधिकरण एव सप्तमी। वक्तव्यशब्दस्तु व्याख्येय इत्यर्थे वर्त्तते। एवमुत्तरत्रापि। कारकार्हाणाञ्चेत्यादि। भावप्रधानोऽत्र कारकशब्दः।

क्रियां प्रति येषां कारकत्वं साधनत्वं न्याय्यं ते कारकार्हास्तेषां कारकार्हत्वे सप्तमी वक्तव्या। ऋद्धेष्वित्यादि। ऋद्धा हि भुजिक्रियां प्रति साधनभावमर्हन्ति। तेषामेव चेह कारकत्वं विवक्षितम्। एतदनुसारेण कारकार्हाणाञ्चाकारकत्व इत्येवमादेरर्थो वेदितव्यः। अत्रापि सर्वत्र यस्य च भावेन (२।३।३७) भावलक्षणमित्यनेनैव सिद्धा सप्तमी। तथाहि ऋद्धादिसम्बन्धिना भुजिक्रियादिलक्षणेनात्र भावेन दरिद्रादिसम्बन्ध्यासनादिभावो लक्ष्यते। चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्र द्वीपिहननस्य निमित्तं चर्म। तस्य द्वीपिना कर्मणा सह संयोगः। अत्रापि चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सिद्धा सप्तमी। ननु च दूरान्तिकार्थानुकर्षणार्थश्चकारः। नार्थस्तदनुकर्षणार्थेन चकारेण। सप्तमीति योगविभागादेव दूरान्तिकार्थेभ्यः सप्तमी भविष्यति। अथवोत्तरसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सप्तमी वेदितव्या।

## ३७। यस्य च भावेन भावलक्षणम्।

कीदृशी पुनः क्रिया क्रियान्तरं लक्षयतीत्यत आह प्रसिद्धा चेत्यादि। चकारोऽवधारणार्थः। प्रसिद्धैवेत्यर्थः। नहि स्वयमप्रसिद्धं परस्य लक्षणमुपपद्यते। अथ कथं फलायमानेष्वाम्रेषु गतः पक्वेष्वागत इत्यत्र सप्तमी? नह्यीह भावः श्रूयते। यद्यपि न श्रूयते तथापि गम्यते। फलायमानेषु (C) जातेष्वित्यर्थः।

## ३८। षष्ठी चानादरे।

अनादरस्तिरस्कारः परिभव इत्यर्थः। रुदत इति। रुदिर् अश्रुविमोचने। शतृप्रत्ययः।

## ३९। स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च।

स्वामीश्वराधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह मा भूत्। ग्रामस्य राजेति। षष्ठ्यामेव प्राप्तायामिति। शेषलक्षणायां षष्ठ्यां प्राप्तायाम्।

---

(C) फलायमानेष्वित्यत्र कलिकामात्रेष्विति दाक्षिणात्यपुस्तके पाठः।

## ४० । आयुक्तकुशलाभ्याञ्चासेवायाम् ।

आयुक्तता निपुणता च कटादिकरणविषयैवेति सप्तम्यामिव प्राप्तायां पक्षे षष्ठीविधानार्थं वचनम् । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद् युक्त इत्यर्थः ।

## ४१ । यतश्च निर्धारणम् ।

किमर्थं पुनरिदम् ? यावता निर्धार्य्यमाणोऽवयवः समुदायान्तर्भूतः । तत्र यदा समुदायस्याधिकरणत्वं विवक्ष्यते तदा सप्तमी सिद्धैवेति यथा वृक्षे शाखेति । यदा त्ववयवावयविसम्बन्ध स्तदा षष्ठी यथा वृक्षस्य शाखेति । सत्यमेतत् । प्रपञ्चार्थं वचनम् ।

## ४२ । पञ्चमी विभक्ते ।

विभागो विभक्तमिति नपुंसके भावे (३।३।११४) क्तः । यस्मिन्निर्धारणाश्रय इति । यतो निर्धार्य्यते स इह निर्धारणाश्रय इति सर्वस्मिन्नेव निर्धारणाश्रये विभागोऽस्तीति विशेषणोपादानसामर्थ्याद् विभाग एव यत्र स निर्धारणाश्रयो विज्ञायते । तेन कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमेत्यत्र न भवति । तथाहि गोषु निर्धार्य्यमाण एकदेशो यस्माद् गोत्वेनान्तर्भूतः प्रतीयते तस्मान्नास्ति विभागः । यदा तु कृष्णेन गुणेन पृथग्भूतः प्रतीयते तदास्ति विभाग इति । नात्र निर्धारणाश्रयो विभाग एव । इह पुनर्माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति न केनचित् प्रकारेण माथुराणां पाटलिपुत्रकेष्वन्तर्भावः । अपि च विभाग एव । तथाहि न पाटलिपुत्रकेषु माथुरत्वेन नाप्याढ्यतरत्वेन माथुराणामन्तर्भावः । तस्मादत्र विभाग एवेत्ययमस्य योगस्य विषयः । अन्ये त्वाहुः । यत्र राशीकृतस्य पृथक्करणं स पूर्वस्य योगस्य विषयः । यत्र तु पृथग्भूतस्यैव गुणान्तराविष्करणं सोऽस्य तत्र द्वयोरप्यवस्थयोर्विभाग एवेति कृत्वा । अयमपि योगः प्रपञ्चार्थ एव । विभागो हि सम्बन्धात् प्रच्युतिः । पाटलिपुत्रकाश्च सम्बन्धात् प्रच्यवमानानां माथुराणां सम्बन्धे प्रच्युतेरवधिभावमुपयान्तीत्यपादान इत्येवं पञ्चमी सिद्धा ।

### ४३ । साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।

अप्रत्यादेरिति वक्तव्यमिति । के पुनः प्रत्यादयः ? येषां लक्षणेत्थम्भूताख्यानेत्यादिना ( १।४।९० ) कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता ते प्रतिपर्य्यनवः प्रत्यादयः ।

### ४४ । प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।

प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति । प्रकृष्टः सितः प्रसितः । क्रियाशब्दोऽप्यस्ति यः षिञ् बन्धन इत्यस्य प्रपूर्वस्य निष्ठायां व्युत्पाद्यते । तत्रेहोत्सुकशब्देन क्रियाशब्देन साहचर्य्यात् क्रियाशब्दो विज्ञायत इत्यत आह प्रसितः प्रसक्त इति । य स्तत्र नित्य मेवाबद्धः स प्रसित शब्देनोच्यत इति । आबद्ध इवाबद्धः । यो हि यत्र प्रसक्तः स तत्राबद्ध इव भवति । केशैः प्रसितः केशेषु प्रसित इत्यादि । प्रसितत्वमुत्सुकत्वञ्च केशविषयमिति सप्तम्यधिकरण (१।३।३६) इत्येव सिद्धा सप्तमी । पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम् ।

### ४५ । नक्षत्रे च लुपि ।

नक्षत्रे च लुपीति । सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमीविधानम् । अतएवाह लुबन्तान्नक्षत्रशब्दादित्यादि । पुष्येणेत्यादि । नक्षत्रेण युक्तः (४।२।३) काल इति विहितस्याणो लुबविशेष इति (४।२।४) लुप् । पञ्चालेषु वसतीत्यत्रापि तस्य निवास इति (४।२।६९) विहितस्याणो जनपदे (४।२।८१) लुबिति लुप् । मघासु ग्रह इति । सामीप्येऽधिकरण एव सप्तमी । अत्र नक्षत्रेण युक्तः (४।२।३) काल इत्यस्यार्थस्याविवक्षितत्वादण् न भवति । अद्य पुष्य इति । पूर्ववदण् । लुप् । अधिकरण इत्यनुवर्त्तते । न चेहाधिकरणत्वं विवक्षितमिति भावः ।

### ४६ । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।

प्रातिपदिकार्थः सत्तेति । यदि जातिस्तदा देवदत्तादौ न स्यात् । अथ सतो भावः सत्ता तदाकाशकुसुमादौ न स्यादित्याह प्रातिपदिकार्थः सत्तेति । यत्रार्थान्तरनिरपेक्षा शब्दस्य प्रवृत्तिः स सर्वः प्रातिपदिकार्थः । अत्रोच्चैःशब्दस्य स्वार्थे जात्याद्यसत्ताग्रहणं तूपलक्षणार्थम् । उच्चैर्नीचैरिति ।

र्थान्तरनिरपेक्षा वृत्तिः । अत्र च प्रथमायाः प्रयोजनं सपूर्वायाः प्रथमाया (८।१।२६) विभाषेति विकल्पेन तेमयादि विधिर्यथा स्यात् । ग्राम उच्चैस्ते स्वम् । ग्राम उच्चैस्तव स्वमिति । पदसंज्ञा तु षष्ठ्याऽपि स्यादेव । कुमारी वृक्षः कुण्डमिति । ननु चात्रापि प्रातिपदिकार्थ इत्येवंसिद्धा प्रथमा । लिङ्गमपि प्रातिपदिकार्थ एव भवति । तथाच वक्ष्यति (D) स्त्रियामित्यत्र (४।१।३) सिद्धास्तु स्त्रियाः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टाबादय इति । नैतदस्ति । इदमपि हि तत्र वक्ष्यति (E) । अथवा पुनरिदमस्तु । स्त्रियामभिधेयायामिति । किञ्च स्त्रीत्वे प्रत्येषा गतिः स्यात् । पुंनपुंसके तु नियोगतो विभक्तिवाच्ये एव । तथाहि विना विभक्त्या तटशब्दः प्रयुज्यमानः किं पुंस्त्वमाचष्ट उत नपुंसकत्वमिति सन्देहः स्यात् । तत्र यथा राज्ञः पुरुष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थेनानुपात्ते स्वस्वामिकसम्बन्धे तस्य चाभिधाने विभक्त्यपेक्षया षष्ठी भवति तथा पुंनपुंसकयोरपि षष्ठी स्यात् । तस्माल्लिङ्गग्रहणं कर्त्तव्यम् । द्रोणः । खारी । आढकमिति । ननु चात्रापि प्रातिपदिकार्थत्वादेव सिध्यति प्रथमा । तथाहि द्रोणादयः शब्दाः परिमाणे लौहे दारुमये वा ऽर्थान्तरनिरपेक्षा एव वर्त्तन्ते । सत्यम् । सिध्यति तदा यदा परिमाण एव वर्त्तन्ते । यदा तु पुनः परिमेये वर्त्तन्ते तदा न सिध्यति । तथाहि द्रोणादयः शब्दा द्रोणादिकं परिमाणमर्थान्तरं प्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय व्रीह्यादौ परिमेये वर्त्तन्ते । कथं पुनस्ते तत्र वर्त्तन्ते ? सोऽयमित्यभेदसम्बन्धात् । द्रोणपरिमितो व्रीहिर्द्रोण इति । यद्येवं निमित्तरूपेण निमित्तिनोऽभिधानादव्यतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थ इति प्रातिपदिकार्थ इत्येव सिद्धा प्रथमा । न सिध्यति । नहि मुख्ये सति गौणस्याश्रयणं युक्तम् । नन्वेवमपि लिङ्गग्रहणादेवात्र प्रथमा भविष्यति । तत् किं परिमाणग्रहणेन ? नैतदस्ति । तस्य हि यत्र परिमाणं नास्ति सोऽवकाश इति । अत्र परिमाणाधिक्ये षष्ठ्येव स्यात् । तस्मात् परिमाणग्रहणं कर्त्तव्यम् । परिमाणग्रहणञ्च यत्र निमित्तादर्थान्तरे सोऽयमित्यभेदसम्बन्धाच् शब्दः प्रवर्त्तते

(D) वार्त्तिककार इति शेषः ।

(E) भाष्यकार इति शेषः । काशिकायान्त्वेते वाक्ये स्त्रियामिति (४।१।३) सूत्रव्याख्यायां न स्तः ।

तदुपलक्षणार्थं वेदितव्यम्। तेन परिमाणवदर्थान्तरभूतेष्वप्युन्मानादिषु प्रथमा भवति। घृतम्। पलम्। दीर्घं काष्ठम्। शुक्लः पटः। हस्तो मुष्टिर्वितस्तिरित्येवमादि सिद्धं भवति। कुत एतत्? मात्रशब्दात्। स ह्यत्र व्याप्तिवचनो गृह्यते यथा कन्यामात्रं वरयति ब्राह्मणमात्रं भोजयतीति। तेन परिमाणग्रहणस्यैवोपलक्षणार्थता विज्ञायते। यदि तु यथा पयोमात्रं भुङ्क्ते इत्यत्र मात्रशब्दो नियमार्थ स्तथेहापि नियमार्थ एव स्यात् ततश्चोन्मानादिषु प्रथमा न स्यात्। तस्य परिमाणादन्यत्वात्। उक्तेष्वप्येकत्वादिषु प्रथमा यथा स्यादिति। वचनग्रहणे त्वसत्युक्तेष्वेकत्वादिषु प्रथमा न स्यात्। अनभिहित (२।३।१) इत्यधिकारात्। ननु च परिगणनं तत्र कृतम्। तत् कुतोऽयं प्रसङ्गः? नैतदस्ति। प्रत्याख्यातं हि तत्र परिगणनम्। तथाहि कटः कर्म। भीष्मादयोऽपि कर्माणि। तत्र कर्मणीत्येव द्वितीया सिद्धा। कटशब्दादुत्पद्यमानया द्वितीयया सामान्यकर्मोक्तम्। न विशेषकर्म्म। तत्रावश्यं विशेषो वक्तव्य इति भीष्मादिभ्योऽपि विशेषाभिधानार्थं द्वितीया भविष्यति। अथवा कट एव कर्म। तत्सामानाधिकरण्याद् भीष्मादिभ्योऽपि द्वितीया भविष्यति। नार्थः परिगणनेन। यत् पुनरिदं तिङ्कृत्तद्धितसमासैः (२।३।१,वा) परिसंख्यानमिति वृत्तावुपन्यस्तं तदेभिरेवाभिधानं सम्भवतीति सम्भवप्रदर्शनार्थपरं वेदितव्यम्। यद्यप्येकादिभिरपि संख्याशब्दैरेकत्वादीनामभिधानं सम्भवति तथाप्यभिहितेऽपि तैरेकत्वादावर्थे वचनग्रहणाद् यत्नाद् भवितव्यं विभक्तेरिति। तैरप्यभिधानस्य सम्भवप्रदर्शनार्थं यत्नः कृतः। निपातस्यानर्थकस्येत्यादि। अथार्थविशेषणार्थं प्रातिपदिकग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते? असति हि तस्मिन् न ज्ञायते कस्यार्थ इति। तथाचार्थमात्रे प्रथमा स्यात्। नैतदस्ति। प्रातिपदिकाद्धि प्रथमा विधीयते। तच्चासति प्रातिपदिकग्रहणे प्रातिपदिकार्थ एव भवतीति विज्ञायते। तस्माद् वृत्तिकारोक्तमेव प्रातिपदिकग्रहणस्य प्रयोजनं न्याय्यम्।

### ४७। सम्बोधने च।

सम्बोधनमभिमुखीकरणम्। तदधिके प्रातिपदिकार्थे इत्यभिमुखी

करणस्य क्रियापरत्वात् प्रातिपदिकार्थे तस्यान्तर्भावो नास्ति । तस्या-तदात्मकत्वात् । तस्मात् तेनाधिकः प्रातिपदिकार्थो भवति । अथ कथमिह प्रथमा ? हे पचन् हे पचमानेति ? कथञ्च न स्यात् ? शतृ-शानज्भ्यामुक्तत्वात् सम्बोधनस्य । एतावपि सम्बोधने चेति सम्बोधन एव वक्ष्यति । मा भूदनेन । पूर्वसूत्रेण भविष्यति । सम्बोधनार्थस्येह कृत्-तद्धितसमासाश्चेत्यनेन (१।२।४६) प्रातिपदिकार्थत्वात् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

## ४८ । साऽमन्त्रितम् ।

तदन्तं शब्दरूपमिति । ननु च संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्तीति ज्ञापितमेतत् सुप्तिङन्तं (१।४।१४) पदमित्यन्तग्रहणेन । इह च संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणम् । तत् कथं तदन्तस्य संज्ञा विधीयते ? नैतदस्ति । यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणमिह तथापि तदन्तस्यैवेयं संज्ञा विधीयते । यदीह प्रत्ययमात्रस्य संज्ञाग्रहणं स्यात् तदा प्रदेशेषु तस्यैव ग्रहणं स्यात् । तथाच संज्ञाकरणमनर्थकं स्यात् । प्रदेशेषु सम्बोधन इत्येवं ब्रूयात् । एवमपि प्रत्ययमात्रस्य ग्रहणं लभ्यत एव । तस्यैव सम्बोधने विहितत्वात् । तस्मात् संज्ञाकरणादेव तदन्तस्य संज्ञा लभ्यते । सेति वचनं पूर्वसूत्रेणापि सम्बोधने या विहिता तस्या अपीयं संज्ञा यथा स्यात् । हे पचन् हे पचमानेत्यत्र । असति तस्मिन्ननन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति पूर्वसूत्रेणैव या विहिता तस्या एव स्यात् सेत्येतदुच्यमानं सर्वनामपदं सामान्येन प्रवर्त्तत इति कृत्वा । अतः सम्बोधनमात्रे या प्रथमा तां प्रतिपादयति । तेन सर्वत्र संज्ञा सिद्धा भवति । आमन्त्रितसंज्ञायां सत्यां हे देवदत्त इत्यादावामन्त्रितस्येत्याद्युदात्तत्वं (६।१।१९८) भवति । आमन्त्रितमिति महत्याः संज्ञायाः करणं वैचित्र्यार्थम् ।

## ४९ । एकवचनं सम्बुद्धिः ।

हे पटो हे देवदत्त इति । अत्र सम्बुद्धिसंज्ञायां सत्यां सम्बुद्धौ (७।३।१०६) चेत्यधिकृत्य ह्रस्वस्य गुण (७।३।१०८) इति गुण एङ् ह्रस्वात् (६।१।६९) सम्बुद्धेरिति सो लोपो यथायोगं भवति । अथ सुग्रहणमेव कस्मान्न कृतम् ।

न च सप्तमीबहुवचनस्य प्रसङ्गः। सम्बोधनप्रथमाधिकारात्। सत्यम्। किन्तु नैतदस्ति। प्रत्ययमात्रस्य संज्ञाविधानार्थमेकवचनग्रहणं कृतम्। हे पचन् हे पचमानेति। अन्यथा हि पूर्व्वेण यथा तदन्तस्य संज्ञा विहिता तथेहापि स्यात्। नचेहासंज्ञिनः कश्चिद् विशेषोऽङ्गीक्रियत इति सुशब्देन तदन्तमेव लभ्यते। ततश्च तदन्तस्यैव संज्ञा स्यात्। तथाचैङ्ह्रस्वात् (६।१।६९) सम्बुद्धेरिति सोर्लोपो विधीयमान आदेः (१।१।५४) परस्येत्यादेरेव स्यात्। प्रत्ययमात्रस्य न स्यात्। तस्मात् प्रत्ययमात्रस्यैव संज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थमेकवचनग्रहणम्।

## ५०। षष्ठी शेषे।

कर्मादीनां प्रकृतत्वात् तदपेक्षया शेषत्वं विज्ञायत इत्याह कर्मादिभ्यो योऽन्य इति। कर्मादयः कारकविशेषा स्तस्य सम्बन्धस्य हेतुभूताः। स तु फलभूतः। हेतुफलयोश्च प्रसिद्धमन्यत्वमिति तेभ्योऽन्यो भवति। प्रातिपदिकार्थव्यतिरेक इति। व्यतिरेक आधिक्यम्। अथवा येन प्रातिपदिकार्थो व्यतिरिच्यते व्यतिरेकीक्रियते स व्यतिरेकः। प्रातिपदिकार्थस्य व्यतिरेकः प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकः। स शेषः। कः पुनरसावित्याह स्वस्वामिकसम्बन्धादिरिति। आदिशब्देनावयवावयविप्रभृतेः सम्बन्धस्य ग्रहणम्। सम्बन्धश्च यद्यपि द्विष्ठस्तथापि तस्यैकत्वादेकत एव सम्बन्धिन उत्पद्यमानया षष्ठ्या विभक्त्या ऽभिहितत्वाद् द्वितीयसम्बन्धिनः षष्ठी न भवति। एकस्मादुत्पद्यमानापि षष्ठी विशेषणादेव भवति। न विशेष्यात्। विशेष्यात्तु प्रथमैव भवति। यस्माच्छेषशब्दोऽयं यथा प्रकृतादन्यविशेषणमाचष्टे, तथा परार्थमपि। एवं ह्यभियुक्ताः पुरुषा उपदिशन्ति शेषः परार्थ इति। राज्ञः पुरुष इति स्वस्वामिकसम्बन्धस्योदाहरणम्। अत्र पुरुषस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्। राज्ञोऽप्राधान्यं विशेषणत्वात्। विशेषणस्य परार्थत्वाच्छेषभाव इति ततः षष्ठी भवति। यदा तु द्वावपि विशेषणभूतौ तृतीये सम्बन्धिन्यपेक्षितौ भवत स्तदा द्वाभ्यामपि षष्ठी भवति। राज्ञः पुरुषस्य गृहमिति। पशोः पाद इति। अत्रावयवावयविसम्बन्धे षष्ठी। पितुः

पुत्र इत्यत्र जन्यजनकसम्बन्धे षष्ठी । अथ शेषग्रहणं किमर्थम् ? यावता कर्मणि (२।३।२) द्वितीयेत्येवमादौ प्रत्ययनियमोऽर्थनियमश्चेति द्वावपि पक्षौ । तत्र प्रत्ययनियमपक्षे यदि शेषग्रहणं न क्रियेत तदा कर्मण्येव द्वितीयेति कर्मानियतम् । द्वितीया तु नियता । अतस्तत्रापि षष्ठी स्यादिति शेष-ग्रहणं कर्त्तव्यम् । शेष एव यथा स्यादन्यत्र मा भूदिति । अर्थनियम-पक्षे तु शेषग्रहणं शक्यमकर्त्तुम् । यावता कर्मणि द्वितीयैवेति कर्म नियतम् । द्वितीया त्वनियता । तस्यामन्यत्रापि प्राप्तायां षष्ठीत्युच्यमानं सूत्रमिदं नियमार्थं भविष्यति । यत्र षष्ठी चान्या च प्राप्नोति तत्र षष्ठेव भवति । एवमन्यत्रापि वेदितव्यम् ।

## ५१ । ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।

यद्यपि बहवो विदयः सन्ति तथापि यस्यार्थे जानातेर्वृत्तिः सम्भवति तस्यैव विदेः प्रतिषेधकरणं युक्तम् । विद ज्ञान इत्यस्यैवार्थे जानातेर्वृत्तिः सम्भवति । तस्मादविदर्थस्येत्यनेन ज्ञानार्थस्यैव प्रतिषेधो विज्ञायत इत्याह अज्ञानार्थस्येत्यादि । सर्पिषो जानीते मधुनो जानीत इति । अपह्नवे ज्ञ (१।३।४) इत्यनुवर्त्तमाने ऽकर्मकाच्चेत्यात्मनेपदम् (१।३।४५) । मधुन इति । इकोऽचि (७।१।७३) विभक्ताविति नुम् । सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्त्तत इत्यर्थः । यस्य प्रियतमं सर्पिस्तस्य प्रवृत्तिं प्रति सर्पिषः करणभूतत्वात् । धातूनामनेका-र्थत्वाज्जानातिरिह प्रवृत्त्यर्थः । सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वेति । सर्पिषि रक्तत्वं प्रतिहतत्वञ्च चित्तभ्रान्तेः कारणमाह । यदि सर्वमेव ग्राह्यं तदात्मना सर्पिःस्वभावतया प्रतिपद्यते । एवं सत्यविदर्थता नोपपद्यते । ज्ञानार्थ-त्वादित्यत आह । मिथ्याज्ञानमज्ञानमेवेति । ज्ञानकार्य्याकरणादिति भावः । अविपरीतविषयपरिच्छेदो हि ज्ञानकार्य्यं तच्च मिथ्याज्ञानेन न क्रियत इति मिथ्याज्ञानमज्ञानमुच्यते । यथा पुत्त्रकार्य्याकरणात् पुत्रोऽप्यपुत्त्र इति ।

## ५२ । अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।

अधीगिति । इक् स्मरणे इत्यस्याधिपूर्वस्य ग्रहणम् । अधीगित्यनेन समानार्था अधीगर्थाः । ककारानुबन्धकरणमस्य धातोरत्रैव सूत्रे विशेषणार्थम् ।

अध्ययनार्थानामित्युच्यमाने सन्देहः स्यात् कोऽयं धातुरिति। अधिपूर्वस्यो-च्चारणेनाधिपूर्वस्यैवास्य प्रयोग इति दर्शयति। कर्मणि कारक इत्यादि। यदा तदेव कर्म शेषकार्य्यत्वाच्छेषत्वेन विवक्ष्यते न कर्मत्वेन तदा तत्र षष्ठी भवति। अध्येतीति। अदादित्वाच्छपो लुक्। एवमीष्ट इति। व्रश्चादि-सूत्रेण (८।२।३६) षत्वम्। मातुर्गुणैः स्मरतीति। अत्र कर्मग्रहणाद् गुणानां करणभूतानां शेषविवक्षायामपि षष्ठी न भवति।

## ५३। कृञः प्रतियत्ने।

एधो दकस्योपस्कुरुत इति गन्धनादिसूत्रेणात्मनेपदम् (१।३।३२)। उपात् प्रतियत्नेत्यादिना (६।१।१३९) सुट्।

## ५४। रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः।

रुजेति केचिद्भिदादिषु पठन्ति। ये न पठन्ति तेऽपि चिन्तिपूजिक-थिकुम्बिचर्च्चश्चेति (३।३।१०५) चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादस्मादेव निपातनाद्वा रुजाशब्दस्य साधुत्वं वर्णयन्ति। रुजा ऽर्थो येषां ते रुजार्थाः। भाववचना-नामिति। यदि भावार्थाभिधायिनां रुजार्थानामित्येषोऽर्थो विवक्षितः स्यात् तदा ऽनर्थकमिदं वचनं स्यात्। सर्वएव हि रुजार्था भाववचनाः। तस्मा-न्नात्र धातुवाच्यो भावो विवक्षितः। किं तर्हि ? प्रत्ययवाच्यो यत्र भाव इति (३।३।१८) घञ् विधीयते। वचनशब्दोऽयं कर्त्तृसाधनः। वक्तीति वचनः। कृत्य-ल्युटो बहुलमिति (३।३।११३) कर्त्तरि ल्युट्। नच रुजार्थानां यो भावस्तस्य वचनक्रियां प्रति कर्त्तृत्वं सम्भवतीति सामर्थ्याद्वचनशब्देन प्रकृत्यर्थं परित्यज्य प्रत्ययार्थो विवक्षित इति प्रतीयते। स पुनः कर्त्तृशक्तिः। भाववचनानामिति बहुव्रीहिः। भावो वचनः कर्त्ता येषां ते भाववचनाः। भावकर्त्तृका इत्यर्थः। एतत् सर्वं चेतसि कृत्वाह भावकर्त्तृकाणामिति। भावकर्त्तृकाणामित्येवं नोक्तं वैचित्र्यार्थम्। चौरस्य रुजतीति। रुजो भङ्गे। तौदादिकः। अत्र रोगो भावः कर्त्ता। चौरस्यामयतीत्यत्राप्यामयः। अम रोगे। चौरादिकः। एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपीति। अस्यात्रानन्दो भावः कर्त्ता। नत्वेति धातू रुजार्थः। किं तर्हि ? गत्यर्थः। नदी कूलानि रुजतीति।

रुजिरत्र द्रव्यकर्तृको न भावकर्तृकः। नद्या द्रव्यत्वात्। नैतद् युक्तं प्रत्युदाहरणम्। रुजाशब्दो हि रूढ़िशब्दत्वाद् व्याधिमेवाचष्टे। नचात्र व्याधिवचनः। किं तर्हि? भङ्गवचनो रुजिः। एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता। इदन्त्वत्र प्रत्युदाहरणम्। श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति। व्याधिता ग्राहयतीत्यर्थः। ज्वरयतीति। ज्वर रोगे। हेतुमति णिच्। घटादित्वान्मित्त्वम्। मितां ह्रस्व (६।४।९२) इति ह्रस्वः। सन्तापयतीति। तप सन्तापे। हेतुमति णिच्। सन्तापोऽत्र भावः कर्त्ता।

### ५५। आशिषि नाथः।

सर्पिषो नाथत इति। सर्पिर्यस्य नास्त्यतोऽर्थित्वादाशास्ते स सर्पिर्मे भूयादिति। आशिषि नाथ (१।३।२१,वा) इत्युपसंख्यानादात्मनेपदम्। माणवकमुपनाथतीति। याचत इत्यर्थः।

### ५६। जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्।

न दैवादिकस्येति। हिंसायामिति वचनात्। अस्य च तत्राप्रवृत्तेः। अतएव हि ण्यन्तस्यैव ग्रहणम् भविष्यति। तत् किमर्थो ण्यन्तस्य निर्देश इति? कः पुनराह ण्यन्तस्य निर्देश इति? अत्र हीकारोऽयं धातुनिर्देशार्थं कृतः। इक्श्तिपौ धातुनिर्देश (३।३।१०४, वा) इति। यद्येवं जासीत्याकारः कथं श्रूयते? उच्यते। आकारमुच्चार्य विकृतनिर्देशः कृतः। विकृतनिर्देशस्तु यत्रास्यैतद्रूपं भवति तत्रैव यथा स्यादिह मा भूद् दसुमजीजसदिति। लुङ्। णिश्रीत्यादिना (३।१।४८) च्लेश्चङ्। णौ चङ्युपधाया (७।४।१) ह्रस्वः। चङीति (६।१।११) द्विर्वचनम्। सन्वल्लघुनीत्यादिना सन्वद्भावः (७।४।९३)। सन्यत (७।४।७९) इतीत्त्वम्। दीर्घो लघोरिति (७।४।९४) दीर्घः। नाटक्राथयोरपि विकृतनिर्देशस्यैतदेव प्रयोजनम्। इह मा भूत्। दसुमनीनटदिति। दसुरमचिक्रथदिति। क्रथेर्वृद्धिश्च प्रयोजनम्। एतच्च निपातनाद्वृद्धिरिति ब्रुवता वृत्तिकारेण दर्शितम्। निप्रहन्निति। धातूपसर्गनिर्देशमात्रमिह तन्त्रम्। नतूपसर्गयोः सङ्घातो नाप्यानुपूर्वी। तयोरविवक्षितत्वात्। तेन निप्रशब्दयोर्व्यस्तसमस्तयोर्विपरीतानुपूर्वीकयोश्च ग्रहणं

विज्ञायत इत्याह सञ्ज्ञातविगृहीतविपर्य्यस्तस्य ग्रहणमिति। चौरस्य प्रणिहन्तीति। नेर्गदनदेत्यादिना (८।४।१७) णत्वम्। चौरस्योन्नाटयतीति। नट अवस्कन्दने। चुरादि णिच्। चौरस्योत्क्राथयतीति पूर्ववण्णिच्। ननु च णिचि कृते ऽत उपधाया (७।२।११६) इति वृद्धिः सिद्धा। तत्किमर्थमुच्यते निपातनाद्वृद्धिरिति। अत आह अयं हीत्यादि। ह्रस्वत्वं स्यादिति। मितां ह्रस्व (६।४।९२) इत्यनेन। चौरस्य पिनष्टीति। पिष्लृ सञ्चूर्णने। रुधादित्वाच् श्नम्। धानाः पिनष्टीति। अत्र हिंसा नास्ति। तस्याः प्राणिधर्मत्वात्। इदञ्चाभावकर्तृकाणामपि यथा स्यादित्येवमर्थमारब्धम्। चौरस्योज्जासयति देवदत्तः।

## ५७। व्यवहृपणोः समर्थयोः।

शतस्य व्यवहरतीति। शतं क्रयविक्रयेण विनियुङ्क्ते दीव्यतीति वेत्यर्थः। शतस्य पणत इत्यत्रापि स एवार्थः। अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम्। आयप्रत्ययः कस्मान्न भवतीति? गुपूधूपेत्यादिना (३।१।२८) प्राप्नोतीति भावः। स्तुत्यर्थ-स्येत्यादि। यद्यपि पण व्यवहारे स्तुतौ चेति स्तुतिव्यवहारयोः पणिः पठ्यते तथापि स्तुत्यर्थस्यैव पणतेरायप्रत्यय इष्यते। न व्यवहारार्थस्य। तत्र वृत्तिकारः स्वयमेव युक्तिं वक्ष्यति। स्तुत्यर्थेन पणिना साहचर्य्यात् तदर्थ एव पणिराय-मुत्पादयति। न व्यवहारार्थं इति शलाकां व्यवहरतीति। परिगणयतीत्यर्थः। अत्र व्यवहारार्थे पणिर्न वर्त्तत इत्यसमानार्थत्वम्। ब्राह्मणान् पणायतीति। स्तौतीत्यर्थः। पणायतीत्यस्यार्थे व्यवहरते र्वृत्तिर्नास्तीत्यसमानार्थता।

## ५८। दिवस्तदर्थस्य।

ब्राह्मणान् दीव्यतीति। स्तौतीत्यर्थः। हलि चेति (८।२।७७) दीर्घः। यदि तदर्थस्यैव भविष्यति पूर्वयोग एव दिवो ग्रहणं कर्त्तुं युक्तं स्यात्। तत् किमर्थो योगविभाग इत्यत आह योगविभाग उत्तरार्थः।

## ५९। विभाषोपसर्गे।

शलाकां प्रति दीव्यतीति। अत्रार्थान्तरे क्रीडादौ दीव्यतिर्वर्त्तते।

## ६० । द्वितीया ब्राह्मणे ।

ब्राह्मण इति । ब्राह्मणशब्दः शतपथस्याख्या । गामस्येति शेषषष्ठी । सभायामित्येतदपेक्षया । तदहरित्येतदुदाहरणम् । स्वमोर्नपुंसकादित्यमो (७।१।२३) लुक् । अहन्नित्यनुवर्त्तमाने (८।२।६८) रोऽसुपीति (८।३।१६) नकारस्य रेफः । विसर्जनीयः । दीव्येयुरिति लिङ् । झेर्जुस् । अतो येय (७।२।८०) इतीयादेशः । लिङः (७।२।७९) सलोपोऽनन्त्यस्येति सलोपः । सोपसर्गस्य विभाषया षष्ठ्यां प्राप्तायां नित्यं द्वितीयाविधानार्थं वचनं कस्मान्न भवतीत्याह सोपसर्गस्येति । विभाषोपसर्गे (२।३।५९) इत्यनेन व्यवस्थितविभाषयापि च्छन्दसि नित्यं द्वितीया भविष्यतीति तदर्थकमिदं वचनं नोपपद्यते ।

## ६१ । प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने ।

इष्यतेर्दैवादिकस्येति । इष गतावित्यस्य श्यना निर्देश इष्यन्तराणां निवृत्त्यर्थः । लोण्मध्यमपुरुषैकवचनेन निर्देशस्तु लकारान्तरस्य पुरुषान्तरस्य वचनान्तरस्य च निवृत्त्यर्थः । तद्विषय एवेति । लोण्मध्यमपुरुषैकवचनविषय एव । अग्नये छागस्येत्यादि । छागस्य विकारश्छागः । तत्राग्निर्देवता सम्प्रदानम् । छागविकारो वपादि सम्प्रदेयं हविः कर्म । अनुप्रेष्येति । अतो (६।४।१०५) हेरिति हेर्लुक् । अनुब्रूहीति सेर्ह्यपिच्चेति (३।४।८७) हिरादेशः । अदादित्वाच्छपो लुक् । भाषाविषयेऽप्ययं योगः । उत्तरसूत्रे छन्दोग्रहणात् । जुहुधीति । हुझल्भ्यो (६।४।१०१) हेर्धिरिति धिभावः । अग्नये गोमयानि प्रेष्येति । ननु च गोमयानि हवींषि भवन्त्येव । तत् कथं प्रत्युदाहरणम्? नैवम् । देवतासम्प्रदानग्रहणादेव सम्बन्धिशब्दत्वाद्धविर्ग्रहणे सिद्धे पुनर्हविर्ग्रहणादभ्यवहार्यस्य हविषो ग्रहणं विज्ञायते । नच गोमयान्यभ्यवहार्याणि भवन्तीति युक्तं प्रत्युदाहरणम् । हविषः प्रस्थितस्येत्यादि । प्रस्थितशब्देन यद्विशिष्यते हविस्तत् प्रस्थितम् । तस्य षष्ठ्याः प्रतिषेधो वक्तव्यः । व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । विभाषोपसर्गे (२।३।५९) इत्यतो विभाषाग्रहणमनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन हविषः प्रस्थितस्य न भवति ।

## ६२। चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि।

बहुलग्रहणं किमिति। विभाषाग्रहणानुवृत्तेरेव सिध्यतीति मन्यमानस्य प्रश्नः। कृष्णो रात्र्यै हिमवतो हस्तीति। अत्र बहुलग्रहणात् सप्तम्यर्थेऽपि चतुर्थी भवति। वक्तव्येति व्याख्यातवेत्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। बहुलग्रहणमिह क्रियते। तेन क्वचित् षष्ठ्यर्थेऽपि चतुर्थी भवति। क्वचिदन्यदेवेत्येषोऽपि बहुलग्रहणस्यार्थोऽभिमत एव।

## ६३। यजेश्च करणे।

घृतस्य यजत इति। यजिरत्र देवपूजायां वर्त्तते। तत्र च घृतस्य करणभावः।

## ६४। कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे।

पञ्चकृत्व इति। संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने (५।४।१७) कृत्वसुच्। द्विरह्न इति। द्वित्रि (५।४।१८) चतुर्भ्यः सुच्। गम्यते हि द्विस्त्रिश्चतुर्वेति। प्रकरणादेरिति भावः। ननु च बहिरङ्गः प्रकरणाद्यर्थ इति पञ्चकृत्व इत्यन्यत्र च वचनस्य चरितार्थत्वादिह न भविष्यति। एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति प्रकरणाद्यर्थोऽपि विभक्तीनां निमित्तमिति। तेन वृद्धो (१।२।६५) यूनेति सहयुक्तेऽप्रधान (२।३।१९) इति सहार्थे गम्यमाने तृतीया भवतीति।

## ६५। कर्तृकर्मणोः कृति।

आसिकेति। भावे पर्य्यायार्हणोत्पत्तिषु (३।३।१११) ण्वुच्। स्रष्टेति। सृजेस्तृच्। सृजिदृशोर्झल्यमकितीत्यम् (६।१।५८)। व्रश्चादिना (८।२।३६) षत्वम्। तद्धितप्रयोगे मा भूदिति। अथ तिङ्प्रयोगे मा भूदित्येवमर्थमपि कृद्ग्रहणं कस्मान्न भवति? तत्र न लोकाव्ययनिष्ठेत्यनेन (२।३।६९) षष्ठीप्रतिषेधात्। कृतपूर्वी कटमिति। पूर्वादिनिरित्यत (५।२।८६) इनिरित्यनुवर्त्तमाने सपूर्वाच्चेतीनिप्रत्ययः (५।२।८७)। अत्र कर्त्ता तद्धितेनैवोक्त इत्यत्र षष्ठ्याः प्रसङ्गो नास्ति। कर्म तु तेनानभिहितमित्यसति कृद्ग्रहणे कटादेः कर्मणः षष्ठी स्यात्। ननु चात्र वाक्यमेवैतन्नोपपद्यते। तथाहि कर्मणो निष्ठयाभिहितत्वाद् द्वितीययात्र न भवितव्यम्। नापि

तद्धितेन । असामर्थ्यात् । तत् पुनरसामर्थ्यं सापेक्षत्वात् । तथाहि कृतः कटः पूर्वमनेनेति कृतशब्दः कटमपेक्षते । नैवम् । धातोरुत्पद्यमाना निष्ठा कथं कटशब्दस्य कर्मतामभिदध्यात् ? तस्या हि कर्मसामान्यमेवाभिधातुं सामर्थ्यं न कर्मविशेषम् । वाक्ये तर्हि कथं तया कटशब्दस्य कर्मत्वमभिधीयते । तत्र युक्तमभिधानम् । क्त इत्यनेन सामानाधिकरण्यात् । तद्धिते तूत्पन्न एकार्थीभावात् सामानाधिकरण्यं निवृत्तमिति केन कटादेः कर्मभावोऽभिधीयते ? क्रिया तु प्रकृत्यर्थत्वाद् यथा वाक्ये गुणीभूता साधनसम्बन्धमनुभवति तथा वृत्तावपीति करोत्यर्थापेक्षं कटशब्दस्य कर्मत्वमुपपद्यते । तस्माद् भवितव्यमेव द्वितीयया । किञ्च वृत्तिसमानार्थेन वाक्येन भवितव्यम् । नच वृत्तौ बाह्यं कटादिकं कर्म गम्यते येन प्रत्यय उत्पादयिष्यते । वाक्ये कटादिकर्मापेक्षा निष्प्रयोजनेति गम्यते । तस्मादेवं विग्रहः कर्त्तव्यः । कृतं पूर्वमनेनेति । ततश्च नास्ति सापेक्षत्वमिति भवत्येव तद्धितः । इतरथा हीति । यदि शेषग्रहणमनुवर्त्तेत इत्यर्थः । कर्त्तरि च कृतीत्येवं ब्रूयादिति । एवमपि ह्युच्यमाने शेष इत्यनुवृत्तौ चकारकरणात् कर्मणीत्येतल्लभ्यत एव । किं कर्मग्रहणेन ? तस्मात् पुनः कर्मग्रहणं शेषाधिकारनिवृत्त्यर्थम् । पुनः कर्मग्रहणेन हि पूर्वस्य कर्मग्रहणस्य निवृत्तिराख्यायते । तन्निवृत्तौ तत्सम्बद्धमनुवृत्तमपि शेषग्रहणं निवर्त्तते ।

## ६६ । उभयप्राप्तौ कर्मणि ।

उभयप्राप्ताविति बहुव्रीहिरिति । तेन तत्पुरुषशङ्कां निरस्यति । बहुव्रीहेराश्रयणस्य प्रयोजनं वक्ष्यति । उभयग्रहणेन प्रकृतत्वात् कर्त्तृकर्मणी सम्बध्येते । उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीत्यनेनैकस्मिन्नेवेत्यभिप्रायः । कर्मण्येवेति नियमस्य स्वरूपं दर्शयति । उभयप्राप्तावेव कर्मणीत्येष तु विपरीतनियमो न भवति । मा भूत् पूर्वसूत्रेण कर्मणि षष्ठीविधानस्य वैयर्थ्यमिति । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेनेति । दुहेर्भावे घञ् । तत्रोभयप्राप्तौ कर्मण्येव गोषु षष्ठी भवति । नाऽगोपालके कर्त्तरि । अत्र च क्त्वोऽर्थप्रयोग (२।३।६४) इत्यतः प्रयोगग्रहणं नानुवर्त्तते । तेन गम्यमानेऽपि कर्मणि षष्ठी

भवति यथा ऽन्तर्द्धौ ( १।४।२८ ) येनादर्शनमिच्छतीत्यत्र ह्यप्रयुज्यमानस्यात्मनः कर्मत्वं गम्यते। पानमिति। ल्युट् चेति (३।३।११५) भावे ल्युट्। इह तु न भवति। आश्चर्यमिद मोदनस्य च पाको ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इति। नह्यत्रैकस्मिन् कृत्युभयोः प्राप्तिः। तथा ह्योदनस्य पाक इत्यत्र कर्मण्येवौदने प्राप्तिः। नतु ब्राह्मणेषु कर्त्तृषु। नहि पाकस्य कर्त्तृत्वेन विवक्षिता ब्राह्मणाः। किन्तर्हि ? प्रादुर्भावस्य कर्त्तृत्वेन। ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इत्यत्रापि प्रादुर्भाव इत्येतस्मिन् कृति कर्त्तृष्वेव ब्राह्मणेषु प्राप्तिः। न कर्मण्योदने। नहि प्रादुर्भावस्योदनः कर्म। भवतेरकर्मकत्वात्। पाकस्यैव त्वोदनः कर्मत्वेन विवक्षितः। अकाकारयोरित्यादि। नियमस्यायं प्रतिषेधः। अकाकारयोः प्रयोगे नियमो न भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यतो (२।३।६२) बहुलग्रहणमनुवर्त्तते। तेनाकाकारयोः प्रयोगे नियमो न भविष्यतीति। शेषे विभाषेत्यस्याप्यर्थो बहुलग्रहणसमाश्रयणेन व्याख्यातव्यः। भेदिकेति। पूर्ववद्भावे ण्वुच्। चिकीर्षेति। अ प्रत्ययादित्यकारप्रत्ययः (३।३।१०२)।

## ६७। क्तस्य च वर्त्तमाने।

राज्ञां मत इति। मतिबुद्धीत्यादिना (३।२।१८८) क्तः। राज्ञामिति कर्त्तरि षष्ठी। कर्म तु निष्ठयाभिहितम्। अथेह कस्मान भवति ? शीलितो देवदत्तेन। रक्षितो देवदत्तेनेत्यादि ? शीलितादिष्वपि मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेति (३।२।१८८) चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् वर्त्तमान एव क्तो विधीयते। यद्यप्येवं तथापि बहुलग्रहणानुवृत्तेरिह न भविष्यतीत्यदोषः। अथवा प्रकरणादेवात्र वर्त्तमानकालता गम्यते। पदार्थस्तु भूतत्वमेव प्रतिपादयति। न वर्त्तमानताम्। यस्य तु पदार्थो वर्त्तमान स्तत्प्रयोगे भवत्येव षष्ठी यथा कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानामिति। शेषविज्ञानात् सिद्धमिति। उपसंख्यानं प्रत्याचष्टे तथाचेत्यादिना। यस्तूपसंख्यान मारभते तस्य कर्त्तृत्वविवक्षायामपि षष्ठ्येव भवति न तृतीयेति दर्शयति।

## ६८ । अधिकरणवाचिनश्च ।

तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्ति र्भवतीति । यथासम्भवं यत्र कर्त्तैव सम्भवति तत्र कर्त्तरि भवति यथेदमेषामासितमिति । अत्रासेरकर्मकत्वात् कर्त्तैव सम्भवति । न कर्म्म । यत्र तु कर्म्म कर्त्तापि सम्भवति तत्रोभयत्रापि यथेद-मेषां भुक्तमोदनस्येति । भुजेः सकर्म्मकत्वात् कर्माप्यस्त्येवौदनः । उभयप्राप्तौ कर्म्मणीति (२।३।६६) नियमः कस्मान्न भवति ? कर्त्तृकर्मणोः कृतीत्यस्याः (२।३।६५) षष्ठ्याः प्राप्तेरेव नियमो विज्ञायते । अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति (प,६२) । मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति वा (प,६१) । अधिकरणे 'चेति वक्तव्ये वाचिग्रहणमधिकरणक्तोपलक्षणं मा विज्ञायी-त्येवमर्थम् । उपलक्षणार्थत्वे हि तस्यार्थान्तरवृत्तेरपि ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य उत्पन्नस्य क्तस्य प्रयोगे षष्ठी स्यात् । वाचिग्रहणे तु यदा भावे क्तप्रत्ययो भवति तदा षष्ठी न भवति । तदा कर्त्तरि तृतीयैव भवति । इहानेनासित मिति । नह्यत्राधिकरणवाची क्तः । क्तोऽधिकरणे ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थे-भ्यश्चेति (३।४।७६) चकाराद् यथाप्राप्तञ्चेति भावे कर्त्तरि च विधानात् । यदा तु कर्त्तरि क्तो भवति तदा तेनैवाभिहितत्वात् तत्र षष्ठी न भवति । इहेम आसिता इति चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः ।

## ६९ । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।

किकिनौ च ग्टह्येते इति । यद्यपि किकिनोरलादेशत्वात् स्थानिवद्भावेन लग्रहणेन तयो र्ग्रहणं नास्ति तथापि लिट् (३।२।१७१) चेत्यतिदेशेन भवित-व्यम् । विशेषातिदेशे हि नान्तरीयकः सामान्यातिदेश इति । विशेषस्य सामान्येनाविनाभावादिति । तेन सामान्यनिबन्धनः प्रतिषेधः किकिनोरपि सिध्यतीति युक्तं तयोरपि ग्रहणम् । पचमान इति शानच् । स्वरितेत्त्वादात्मने-पदम् । पेचान इति । लिटः कानज् वेति (३।२।१०६) वचनात् कानच् । द्विर्वचनम् । अत (६।४।१२०) एकेत्यादिनैत्त्वाभ्यासलोपौ । पेचिवानिति । क्वसुश्चेति (३।२।१०७) क्वसुः । एत्वाभ्यासलोपयोः कृतयो र्वस्वेकाजाद्घसामि-तीट् (७।२।६७) । उगिदचामिति (७।१।७०) नुम् । सान्तमहत्यादिना

(६।४।१०) दीर्घः। ददिः। पपिरिति। आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति (३।२।१७१) किकिनोरन्यतरः। लिट् चेत्यतिदेशाद्द्विर्वचनम्। आतो लोप इटि (६।४।६३) चेत्याकारलोपः। चिकीर्षुरिति। सनाशंसभिच्च उः (३।२।१६८)। अलंकरिष्णुरिति। अलं कृञित्यादिने ष्णुच् (३।२।१०६)। आगामुक इति। लषपतेत्यादिनोकञ् (३।२।१५४)। उक प्रतिषेध इत्यादि। प्रतिपाद्यत इति शेषः। प्रतिपादनन्तु बहुलग्रहणानुवृत्तिमाश्रित्य कर्त्तव्यम्। कृत्वेति। समानकर्त्तृकयोरिति (३।४।२१) क्त्वा। अव्ययप्रतिषेधइत्यादि। अत्रापि पूर्व्ववद्वाक्यशेषो वेदितव्यः। प्रतिपादनञ्च पूर्व्ववदेव। अथवा ऽव्ययीभावश्चेत्यत्र (१।१।४१) सर्वमिदं काण्डं स्वरादिषु पठ्यत इत्यादिना वृत्तिकारेण प्रतिपादनं कृतम्। संज्ञापूर्वको विधि रनित्य इति (प,९४) वा। उदेतोरिति। उत्-पूर्वादिणो भावलक्षणे स्थेण् कृञ्वदिचरीत्यादिना (३।४।२६) तोसुन्। विसृप इति। सृपितृदोःकसुन् (३।४।१७)। ईषत्कर इति। ईषदित्यादिना (१।३।१२६) खल्। ईषत्पान इति। आतो (३।३।१२८) युच्। आत्मनो नकारादिति। ताच्छीलिकस्य तृणः सम्बन्धिनो नकारादित्यर्थः। पवमान इति। पूङ् पवने। पूङ्यजोः (३।२।१२८) शानन्। नडमाघ्नान इति। ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु (३।२।१२९) चानश्। गमहनेत्यादिनोपधालोपः (६।४।९८)। हो हन्तेरित्यादिना (७।३।५४) कुत्वम्। अधीयन्निति। इङ्धार्य्योः (३।२।१३०) शत्रकृच्छ्रिणीति शत्रादेशः। इयङादेशः। उपसर्गेण सह दीर्घः। कर्त्तेति। आ क्वे (३।२।१३४) स्ताच्छील्येत्यादिना तृन्। द्विषः शतुर्वा वचनमिति। द्विषः परो यः शतृप्रत्यय स्तस्य प्रयोगे वावचनं कर्त्तव्यम्। अभिधानाभिधेययोरभेदोपचारात्। वेत्यनेन तदर्थ उक्तः। वार्थोऽपि विकल्पः। विकल्प उच्यते प्रत्याय्यते येन तद्वावचनम्। तस्य व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। बहुलग्रहणमिहानुवर्त्तते। तेन द्विषः शतुर्विकल्पेन प्रतिषेधो भविष्यति। द्विषन्निति। द्विषोऽमित्र इति (३।२।१३१) शतृप्रत्ययः।

## ७०। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः।

अकस्य भविष्यत्काल इति। नाधमर्ण्ये। तस्य तत्रासम्भवात्। इनस्तु

भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति । तस्योभयोरपि सम्भवात् । ननु च साम्यादिह संख्यातानुदेशेन भवितव्यम् । नैतदस्ति । स्वरितेन हि संख्यातानुदेशो भवति । नचेह तदर्थं स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते । कटं कारको व्रजतीति । तुमुण् (३।३।१०) ण्वुलावित्यादिना ण्वुल् । ग्रामं गमीति । गमेरिनिः । स च भविष्यति गम्यादय इति (३।३।३) वचनाद् भविष्यत्कालविषयः । शतं दायीति । आवश्यकाधमर्ण्ययो (३।३।१७०) र्णिनिः । यवानां लावक इति । ण्वुल् (३।१।१३३) तृचाविति ण्वुल् । अवश्यंकारीति । आवश्यके णिनिः । वर्षशतस्य पूरक इति । पूरी आप्यायने । चौरादिकः । तस्माण्ण्वुल्तृचाविति (३।१।१३३) भविष्यत्काले ण्वुल् । सद्धि त्रिषु कालेषु भवति । भविष्यदधिकारविहितस्याकस्येदं ग्रहणमिति । इह हि भविष्यदिति स्वर्यते । स्वरितेनाधिकारावगतिर्भवति । तेन भविष्यदधिकारविहितस्येदमकस्य ग्रहणम् । न सर्वस्य ।

## ७१ । कृत्यानां कर्त्तरि वा ।

गेयो माणवकः साम्नामिति । भव्यगेयेत्यादिना (३।४।६८) कर्त्तरि गेयशब्दो व्युत्पादितः । गायतीति गेयः । साम्नामिति कर्मणि षष्ठी नित्यमेव भवति । वक्तव्य इति व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम् । न लोकाव्ययनिष्ठेत्यत्र (२।३।६९) नेति योगविभागः कर्त्तव्यः । तेनोभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठ्याः प्रतिषेधो भविष्यति । अथवा कृत्यानामिति योगविभागाश्रयणात् । अत्र च नेत्यनुवृत्तेः । वेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद्वा । उभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठीप्रतिषेधो भविष्यति । तेन क्रष्टव्या शाखा ग्रामं देवदत्तेनेति । कृषेरनुदात्तस्य (६।१।५९) चर्दुपधस्यान्यतरस्यामित्यमागमो भवति । अत्र देवदत्ते कर्त्तरि षष्ठी मा भूदिति । एवमुभयप्राप्तौ कृत्ये षष्ठ्याः प्रतिषेधो वक्तव्य इत्युक्तम् । कर्मणि तु शाखायां कृतेरनाभिहितत्वादेव षष्ठी न भविष्यति । ग्रामस्याप्रधानत्वादेव यथैव हि कृत्याः प्रधाने कर्मणि भवन्ति नाप्रधाने तथा षष्ठ्यपि । नचेह ग्रामः प्रधानं कर्म । किं तर्हि ? शाखेति ।

## ७२। तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्।

तुल्यार्थैः सदृशार्थैरित्यर्थः। अर्थग्रहणं पदान्तरनिरपेक्षया ये तुल्यार्थतामाहुस्तत्परिग्रहार्थम्। तेन पदान्तरसान्निध्येन द्योतका इवादयो निवर्त्तिता भवन्ति गौरिव गवय इति। यथा गौ स्तथा गवय इति। स्वरूपनिवृत्त्यर्थन्त्वर्थग्रहणं न भवति। बहुवचननिर्देशादेव स्वरूपविधेर्निरस्तत्वात्। इहापि पितुस्तुल्यः प्रज्ञयेति प्रज्ञाशब्दात् षष्ठी न भवति। हेतुत्वेन करणत्वेन वा प्रज्ञाया विवक्षितत्वात्। इतरथाहि तृतीयानुकृष्येतेति, तस्या अनन्तरसूत्रे श्रुतत्वात्। अन्यतरस्यांग्रहणस्य त्वेतदेव प्रयोजनमिति। तदेव चकारेणानुकृष्यत इति।

## ७३। चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः।

तृतीयानिर्देशादेवार्थग्रहणे सिद्धेऽर्थग्रहणादर्थशब्दः पृथगेव निमित्तं विज्ञायते। कथं पुनस्तृतीयाग्रहणादर्थग्रहणं सिध्यति? अपरिसमाप्तत्वादस्य वाक्यस्य योग इत्यध्याह्रियते। स चार्थैरेव सम्भवति। न शब्दैरिति सामर्थ्यादर्थग्रहणं सिध्यति।

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥२।३॥



अथ

# काशिकाविवरणपञ्जिका।

## द्वितीयोऽध्यायः।

## चतुर्थः पादः।

### १। द्विगुरेकवचनम्।

अत्र यदि पारिभाषिकमेकवचनं गृह्येत तदानुप्रयोग एकवचनं न स्यात् पञ्चपूलीयं शोभनेति। अनुप्रयोगस्याद्विगुत्वात्। यदि पारिभाषिकमेकवचनमिहाभिप्रेतं स्यात् तदा द्विगोरेकवचनमित्येवं ब्रूयात्। तस्मादन्वर्थस्यैकवचनस्येदं ग्रहणं न पारिभाषिकस्येति मनसि कृत्वाह एकस्य वचनमेकवचनमिति। एतेनैकवचनशब्दस्य षष्ठीसमासतां दर्शयन्नन्वर्थतां दर्शयति। एकस्य वचनं वाचकमेकवचनमिति। वक्तीति वचनम्। कृत्यल्युटो बहुलमिति कर्त्तरि (३।३।११३) ल्युट्। एकवचनस्यैवार्थं पर्यायान्तरेण स्पष्टीकर्त्तुमाह एकार्थस्येत्यादि। ननु चैकवचनमिति पुंलिङ्गेन भवितव्यम्? कथम्। द्विगोः पुंलिङ्गत्वात्। न। लिङ्गसामान्यस्य विवक्षितत्वान्नपुंसकलिङ्गेनैव सामान्येन निर्देशः कृत इत्यदोषः। तदनेन प्रकारेणेति। अन्वर्थस्यैकवचनशब्दग्रहणात्मकेनेत्यर्थः। न चानेकार्थाभिधायिनः शब्दस्य वचनशतैरप्येकार्थाभिधायित्वं शक्यते कर्त्तुम्। शब्दानामर्थाभिधायित्वस्य स्वाभाविकत्वात्। उच्यते चेदं वचनम्। ततः सामर्थ्यादतिदेशोऽयं विज्ञायत इत्यत आह द्विग्वर्थस्यैकवद्भावो विधीयत इति। अस्यैवार्थं स्पष्टीकर्त्तुमाह द्विग्वर्थ एकवद्भवतीति। यद्येवं तद्धितार्थे यो द्विगुस्तस्याप्येकवद्भावः प्राप्नोति। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतौ संस्कृता वा पञ्चकपाली पञ्चकपाला इत्यत आह समाहारे द्विगोश्चेत्यादि। चकारोऽवधारणे। समाहारद्विगोरेवेति यावत्। कथं पुनः समाहारद्विगोरेव ग्रहणं लभ्यते?

एवं मन्यते। द्वन्द्वश्चेत्यत्र (२।४।२) चकारेण द्विगुरनुकृष्यते। यस्मिन्नर्थे द्वन्द्व एकार्थी भवति तस्मिन्नेवार्थे द्विगोरप्येकवद्भावो यथा स्यादिति। द्वन्द्वश्च समाहार एवैकार्थी भवति। नान्यत्र। तस्माद् द्विगोरप्येकवद्भावस्तत्रैव भवति। अतः समाहारे द्विगोरेवेदं ग्रहणं युक्तम्भवति। यदि तर्हि समाहारद्विगोरेवेदं ग्रहणं तदा निष्प्रयोजनोऽतिदेशः। तथाहि समाहारो द्विगोरर्थः। समाहारश्च भावसाधनः। समाहरणं समाहारः समुदायः। स चैक एव। तत्र न्यायप्राप्तमेवैकवचनमिति निष्फलः सूत्रारम्भः। नैतदस्ति। यतः समुदायिभ्योऽनन्यः समुदाय इत्यस्मिन् दर्शने ऽनेकद्रव्यात्मकत्वात् समुदायस्यैकवचनं न सिध्यतीतीदमारब्धम्। तथाचोक्तं भाष्ये प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्तेः संख्यासामानाधिकरण्याच्च द्विगोरेकवचनविधानमिति। प्रत्यधिकरणं प्रतिद्रव्यम्। वचनस्योत्पत्तौ प्रत्यभिधेयद्रव्यसमवायिनी संख्या विभक्तेः प्रयोजिकोत्पद्यते। द्विगोश्च योऽर्थः सोऽनेकद्रव्यात्मकः। तथाहि पञ्चपूलाः समाहृताः। समाह्रियमाणानां पूलानां पञ्चसंख्यावच्छिन्नत्वात् संख्यासामानाधिकरण्याच्च पञ्चैतानि द्रव्याणीति कृत्वा समुदायस्यैकवचनं न सिद्ध्यति। तत्रासत्यस्मिन् वचने बहुत्वाद् बहुवचनं स्यात्। अत एकवद्भावो विधीयत इति वाक्यार्थः। समुदायिभ्योऽन्यः समुदाय इत्यस्मिन् दर्शने सूत्रमिदं प्रत्याख्यातव्यमेव। तथाचोक्तम् भाष्ये नवा समाहारैकत्वादिति। नवा योगारम्भेणेवार्थः। यस्मादेकोऽयमर्थः समाहारो नाम। तत्रैकत्वादेकवचनं भविष्यतीति वाक्यार्थः। पञ्चपूलीति। अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इति (२।४।३०,वा) स्त्रीत्वे सति द्विगोरिति (४।१।२१) ङीप्। अर्थस्यैकत्वादित्यादिना ऽर्थातिदेशस्य फलं दर्शयति।

## २। द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानाम्।

अत्राङ्गशब्दः समुदाये परिसमाप्यते प्रत्येकं परिसमाप्यते वा? तत्र यदि समुदाये परिसमाप्येत तदेकमिवेदं वाक्यं स्यात्। तथाच व्यतिकरः प्रसज्येत। प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानां परस्परसंहितानां यो द्वन्द्वो व्यतिकीर्णावयवस्तस्यैकवद्भावः स्यात्। प्रत्येकं परिसमाप्तौ त्वेष दोषो न भवति।

तत्र हि प्राण्यङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवतीत्येवमादीनि त्रीणि वाक्यानि सम्पद्यन्ते । स्वविषये यत्र बहुवचनान्तं वाक्यं क्रियते तत्र प्रथमेन वाक्येन प्राण्यङ्गानां प्राण्यङ्गैरेव यः समासस्तस्यैकवद्भावो विधीयते । द्वितीयेन वाक्येन तूर्य्याङ्गानां तूर्य्याङ्गैः । तृतीयेन सेनाङ्गानां सेनाङ्गैरिति न भवति सङ्करप्रसङ्गः । नहि चतुर्थं वाक्यमस्ति येन व्यतिकीर्णावयवस्य द्वन्द्वस्यैकार्थता स्यादिति मन्यमानः प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिपक्षमाश्रित्याह अङ्गशब्दस्येत्यादि । तथा तूर्य्याङ्गानामिति द्वन्द्व एकवद्भवतीत्यपेक्ष्यते । एवं सेनाङ्गानाञ्चेत्यत्रापि । पाणिपाद मिति । अत्र यदि प्राण्यङ्गमपि प्राणिग्रहणेन गृह्यते तदा जातिर (२।४।६) प्राणिनामिति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनमिदम् । अथ न गृह्यते तदा जातित्वादेव सिद्धे व्यतिक-रनिरासार्थम् । मार्दङ्गिकपाणविकमिति । द्रव्याप्राणिना (२।४।६) मिति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनमिदम् । अप्राणिनान्तु जातिर (२।४।६) प्राणिनामित्येवं सिद्धं यथा पणवस्तदङ्ग मिति । रथिकाश्वारोहमिति । रथिकाश्वाश्वारोहाश्चेति वृत्तिपदार्थस्य बहुत्वं दर्शयितव्यम् । यस्माद् बहुत्वमेव सेनाङ्गत्वे कारणम् । बहुत्वाभावे सेनाङ्गत्वन्नास्तीति रथिकाश्वारोहाविति भवितव्यम् । हस्त्यश्वादिषु परत्वात् पशुद्वन्द्वविभाषयैव भवितव्य मिति । विभाषा ( २।४।१२ ) वृक्षमृगेत्यादिना । इतरेतरयोग इत्यादिना द्वन्द्वप्रकरणस्य प्रयोजनं दर्शयति । प्राण्यङ्गादीनां समाहार एवेत्यादिना विषयविभागार्थतां स्पष्टीकरोति ।

## ३ । अनुवादे चरणानाम् ।

चरणशब्द इत्यादिना सूत्रस्य विषयं दर्शयति । तथाहि यो हि कठादि-प्रोक्ताध्ययनविशेषः शाखा तत्र यदा चरणशब्दो वर्त्तते तदा जातिरप्राणिना-मित्येव (२।४।६) सिद्धम् । यदा तु शाखानिमित्तकः पुरुषेषु वर्त्तते तदाऽप्राणि-नामिति प्रतिषेधान्न सिद्ध्यतीतीदमारभ्यते । शाखानिमित्तक इति । शाखा निमित्तमस्येति बहुव्रीहिः । प्रमाणान्तरावगतस्येति । शब्दात् प्रमाणाद् यदन्यत् प्रमाणं तत् प्रमाणान्तरम् । तत् पुनः प्रत्यक्षादि । तेनावगतस्य परि-च्छिन्नस्य शब्देन संकीर्त्तनमात्रमिति मात्रशब्दोऽर्थावगतिव्युदासार्थः । उदगात् प्रत्यष्ठादिति । उत्पूर्वादिणः प्रतिपूर्वात् तिष्ठते र्लुङ् । इणो गा (२।४।४५)

लुङीति गादेशः। गातिस्थेति सिचो (२।४।७७) लुक्। कठकालापमिति। कठेन प्रोक्तमधीयत इति कठाः। कठशब्दात् प्रोक्तार्थे कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्य-श्चेति (४।३।१०४) णिनिः। तस्य कठचरकाल्लुक् (४।३।१०७)। तत स्तदधीते (४।२।५९) तद्वेदेतयण्। तस्य प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६४)। छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति (४।२।६६) तद्विषयता। कलापिना प्रोक्तमधीयत इति कालापाः। प्रोक्तार्थे कलापिनोऽण्। इनण्यनपत्य इति (६।४।१६४) प्रकृति-भावे प्राप्ते सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकुथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलिशिलालि शिखण्डिशूकरसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानमिति (६।४।१४४,वा) टिलोपः। ततस्त-दधीते (४।२।५९) वद्वेदेतयण्। तस्य प्रोक्ताल्लुगिति (४।२।६४) लुक्। पूर्ववत् तद्विषयता च। कठाश्च कालापाश्च कठकालापम्। यदा तु प्रथमत एव उपदेश इति। अनवगतस्यैव प्राक् प्रमाणान्तरेण शब्देनाद्यं प्रतयायन मर्थस्य प्रश्ने प्रतिवचने वोपदेशः स यदा भवति तदात्र प्रत्युदाहरणम्। उदगुरिति। आत इति (३।४।११०) झेर्जुस्। उस्यपदन्तादिति (६।१।९६) पररूपत्वम्। स्थेणोरद्यतन्याञ्चेति वक्तव्य मिति व्याख्येयमितयर्थः। तत्रेदं व्याख्यानं। तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यामितयतः (२।३।७२) सूत्रादन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन स्थेणोरद्यतन्यामनुवादे चरणानामे-कवद्भावो भविष्यति। नान्यत्रेति। अद्यतनीति। लुङः पूर्वाचार्य्यप्रणीतैषा संज्ञा। अनन्दिषुरिति। टुनदि समृद्धौ। सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चेति (३।४।१०९) झेर्जुस्। उदयन्तीति। इणो यण्विति (६।४।८१) यणादेशः।

## ४। अध्वर्य्युक्रतुरनपुंसकम्।

अध्वर्य्युवेद इति। एतेनाध्वर्य्युशब्देनात्र यजुर्वेदो लक्ष्यत इति दर्शयति। अथाध्वर्य्यो ऋत्विग्विशेषस्य यः क्रतुरिति क्रतुविशेषणमेवाध्वर्य्युग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते? असम्भवात्। को हि तस्य क्रतुर्भवति? अपितु धनव्ययशीलस्य। यदपि तस्य क्रतौ कर्त्तृत्वमस्ति तदपि ऋत्विगन्तरेण साधारणमित्यध्वर्य्युणै-केन तस्य विशेषणमयुक्तम्। ननु चाथर्ववेदविहितो यः क्रतु स्तन्नि-वृत्त्यर्थमध्वर्य्युणैकेन कथं विशेषणं न स्यात्? नहि तत्राध्वर्य्यवः सन्ति।

नैतदस्ति। यदि ह्येतावत् प्रयोजनमभिमतं स्यात् तदाऽनथर्वण इति प्रतिषेधमेव कुर्यात्। लघीयसी हि साक्षात् प्रतिषेधे प्रतीतिर्भवति। त्रयीग्रहणं वा कुर्यात्। यदि चाध्वर्य्युणा क्रतुर्विशिष्येत तदेषुवज्रावित्यत्रापि स्यात्। इषुवज्रावपि ह्यध्वर्य्योः क्रतू भवतः। तयोरपि तत्-कर्त्तृकत्वात्। तस्मादध्वर्य्यूणां यजुर्वेदविदां यो वेदः सोऽध्वर्य्युशब्देनोपलक्ष्यते। स पुनर्यजुर्वेदः। तत्राध्वर्य्युवेदे यस्य क्रतोर्विधानं सोऽध्वर्य्य-क्रतुरिति। इतिकर्त्तव्यतोपदेशः प्रयोगश्चानुष्ठानात्मको विधानशब्देनोक्तः। यदि तर्ह्यध्वर्य्यक्रतुवाचिना मनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवतीति सूत्रार्थ-स्तदा सूत्रेऽध्वर्य्युक्रतुशब्दस्यानपुंसकमित्यस्य च द्वन्द्व इत्यनेन प्रकृतेन सामानाधिकरण्येन निर्देशो नोपपद्यते। अतोऽध्वर्य्युक्रतुवाचिनामनपुंसक-लिङ्गानामिति वक्तव्यं स्यादित्यत आह अध्वर्य्युक्रतुरनपुंसकमिति। गौणोऽयं निर्देश इति। गौण इत्यमुख्य औपचारिक इत्यर्थः। अध्वर्य्युक्रत्व-वयवो द्वन्द्व उपचारेणाध्वर्य्यक्रतुरित्युक्तः। स एवानपुंसकलिङ्गावयवोऽनपुंसक-मिति। गौणनिर्देशस्तु लाघवार्थो वेदितव्यः। यदि पुनरनपुंसकमित्यनेन मुख्यया वृत्त्या द्वन्द्व एवोच्येत तदा स नपुंसकमित्यस्यापवादोऽयं विज्ञायेत। अर्काश्वमेधमित्यादि। अर्कश्चाश्वमेधश्चेत्यर्काश्वमेधम्। सायाह्नश्चातिरात्र-श्चेति सायाह्नातिरात्रम्। इषुवज्रावित्यादि। इषुवज्रप्रभृतयोऽध्वर्य्युक्रतवो न सम्भवन्ति। नहि तेषामध्वर्य्युवेदे विधानम्। किन्तर्हि? सामवेदे। राजसूयवाजपेये इति। एतौ राजसूयवाजपेयशब्दौ पुंलिङ्गावपि स्तः। तत्र यदा नपुंसकलिङ्गौ प्रयुज्येते तत्रेदं प्रत्युदाहरणम्। सोमयागेष्विति। यत्र यत्र सोमपानं विहितं ते सोमयागाः। तेष्वेव क्रतुशब्दो रूढः। न च दर्शपौर्ण-मासौ सोमयागौ। अनपुंसकमित्युपादानात् स्वरूपग्रहणमिह न भवति। नहि क्रतुसामान्यो नपुंसकलिङ्गो भवति।

## ५। अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्।

अधीतिरध्ययनमिति भावसाधनोऽध्ययनशब्दः। कर्मसाधनो वा। अधीयत इत्यध्ययनमिति। अध्ययनत इति। आद्यादिभ्यस्तसुपसंख्यान-

मिति (५।४।४४,वा) हेतुतृतीयान्तात् तसिः। अत्र आह अध्ययनेन निमित्ते-नेति। अविप्रकृष्टेति। अविप्रकृष्टाऽऽख्या येषां ते ऽविप्रकृष्टाख्याः। निमित्तस्य साधारणत्वादविप्रकृष्टता। तत् पुनर्निमित्तं सूत्रोपात्तमेवाध्ययनमाख्यानाम-धेयम्। पदकक्रमकमिति। पदमधीते क्रममधीत इति क्रमादिभ्यो वुन् (४।२।६१)। क्रमकवार्त्तिकमिति। वृत्तिमधीत इति वार्त्तिकः। क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट् (४।२।६०) ठक्। कथं पुनः पदस्याध्येतुः क्रमस्य चाध्ययनेन निमित्तेनाविप्रकृष्टता भवतीत्याह सम्पाठ इत्यादि। यस्मात् पदानां क्रमस्य च यः पाठः स नातिभिन्नः। अन्योऽपि तादृश एव। अतः प्रत्यासन्नः। यतश्च पदान्यधीत्य क्रमोऽध्येतव्यस्ततोऽपि संपाठस्तयोः प्रत्यासन्नः। ततश्च तेन सम्पाठेनाध्ययनेन निमित्तेन पदक इति क्रमक इति च या ऽध्येतुराख्या सापि प्रत्यासन्ना भवतीत्यभिप्रायः। पितापुत्राविति। आनङ् ऋतो (६।३।२५) द्वन्द्व इत्यानङादेशः। तत्र हि पुत्रेऽन्यतरस्यामित्यतः (६।३।२२) पुत्रे इत्यनुवर्त्तते। अत्रापि पितेति पुत्र इति चाख्ये प्रत्यासन्ने। साधारणत्वान्निमित्तस्य। तथाहि जन्यजनकभावो द्वयोरपि तयोर्निमित्तम्। याज्ञिकवैयाकरणमिति। यज्ञमधीते याज्ञिकः। क्रतूक्थादिना (४।२।६०) ठक्। व्याकरणमधीते वैयाकरणः। तदधीते (४।२।५९) तद्वेदेत्यण्। नह्यस्त्यत्राध्ययननिमित्तत्वमनयोराख्ययोः। न तु प्रत्यासत्तिः। नहि यज्ञाध्ययनेन व्याकरणाध्ययनेन वा तयोःक्रियाप्रत्यासत्तिर्नापि ग्रन्थ-प्रत्यासत्तिः।

## ६। जातिरप्राणिनाम्॥

अर्थमपि गौण्या वृत्त्या जातिर्द्वन्द्व इति सामानाधिकरण्येन निर्देशः कृतः। जातिवाच्यवयवो द्वन्द्वो जातिरित्युक्तः। जातेश्च स्वरूपग्रहणं न भवति। अप्राणिनामिति प्रतिषेधात्। आराशस्त्रीति। ह्रस्वो नपुंसके (१।२।४७) प्रातिपदिकस्येति ह्रस्वः। नन्दकपाञ्चजन्याविति। संज्ञाशब्दयोरेव द्वन्द्वोऽयम्। न जातिशब्दयोः। अनेनाप्राणिनामित्यस्य पर्युदासतां दर्शयति। तेनायमर्थो भवतीत्याह नञिवयुक्तेत्यादि। रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यादि गुणजातिः। गमना-

कुञ्चनप्रसारणानीति क्रियाजातिः। जातिपरत्वे चेति। यदा जातिः प्राधान्येन विवक्षा तदा जातिः परत्वे प्रधानत्वे सति जातिशब्दानामयमेकवद्भावो भवति। न नियतद्रव्यविवक्षायामिति। यदा क्वचिद् देशादौ नियतानां द्रव्यविशेषाणां विवक्षा भवति तदा जातिशब्दस्य प्रयोगेऽप्येकवद्भावो न भवति। कुत एतत्? जातिरित्यभिधानान् मुख्या जातिराश्रीयते। न गौणी। एतच्च प्रधाने कार्य्यसंप्रत्ययाल्लभ्यते। एतदुक्तम्भवति। यदा जाति-रेव व्यक्तिविशेषमनाश्रित्य प्रयुज्यते तदा नैकवद्भावः। यदा तु व्यक्तिविशेष-मनाश्रित्य प्रयुज्यते तदैवैकवद्भाव इति। बदरामलकानीति। अत्र बदरामलकानाञ्च व्यक्तिप्रयुक्तानां प्रतीतिः। न जातिशब्दानाम्। अतएव व्यक्त्याश्रयं बहुवचनम्। अन्यथा जातेर्द्वित्वाद्द्विवचनमेव स्यात्। न बहु-वचनम्। अप्राणिनामिति पर्य्युदासोऽयम्। तेनायमर्थो लभ्यते। नञिव-युक्तन्यायेन रूपरसस्पर्शादीनान्नैकवद्भाव इति। अप्राणिनामिति प्रतिषेधे बहुत्वं श्रूयमाणं विधावपि बहुत्वं गमयति। तेन बहुप्रकृतेरेव द्वन्द्व एकवद्-भवति। न द्विप्रकृतेः। आराशस्त्र्याविति।

## ७। विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः।

विशिष्टशब्दोऽयं भेदवचनः। योऽपि क्तेन (२।१।६०) नञ्विशिष्टेनानञ् इत्यत्र सावधारणाधिक्ये विशिष्टशब्दो व्याख्यातः सोऽपि भेदद्वारेणैव प्रति-पत्तव्यः। तेनेह वृत्तिकारोऽपि भिन्नलिङ्गानामपीत्याह। अग्रामा इति प्रतिषेधादनयोः स्वरूपग्रहणन्न भवतीत्याह नदीवाचिनामित्यादि। यदि नदीवाचिनां द्वन्द्वो देशवाचिनाञ्चैकवद् भवतीत्ययमत्र सूत्रार्थो-ऽभिमत स्तत् कथं नदीदेश इत्ययं द्वन्द्व इत्यनेन प्रकृतेन सामानाधिकरण्येन निर्देश इत्याह नद्यवयवो द्वन्द्वो नदीत्युच्यत इत्यादि। एतेन गौणः सूत्रे निर्देश इति दर्शयति। नदीदेश इत्ययं यदि द्वन्द्वसमास स्तदा व्यतिकीर्णा-वयवो द्वन्द्वो यस्य कश्चिदवयवो नदी कश्चिद्देशस्तस्यैकवद्भावः स्यात्। किञ्च द्वन्द्वो भवन्नेष समाहारे वा स्यादितरेतरयोगे वा? तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे स नपुंसकमिति (२।४।१७) नपुंसकत्वं स्यात्। इतरत्र तु द्विवचनमितीमं दोषं

इष्टाह नदीदेश इति। असमास एवायं निर्देश इति। मद्रकेकया इति। मद्राश्च केकयाश्च मद्रकेकयाः। अथ नदीग्रहणं कस्मात् क्रियते? न देशग्रहणादेव नदीग्रहणं सिद्धमित्यत आह नदीग्रहणमदेशत्वादिति। कस्मात् पुनर्नदी देशो न भवतीत्याह जनपदो हि देश इति। तत्रैव देशशब्दस्य रूढ़त्वात्। यत् पुनर्नदीदेश इत्युच्यते तत् तात्स्थ्यात्। भवति हि तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यं यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति। तथाचेत्यादि। तस्माज्जनपद एव देशो नान्यः पर्वतादिः। एवञ्च कृत्वा देशग्रहणेन पर्वतादीनां ग्रहणं न भवति। अग्रामा इत्यत्रेत्यादि। लोके हि ग्रामग्रहणेन नगरग्रहणं भवति। तथाह्यभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युक्ते नागरोऽपि न भक्ष्यते। ततश्चेहाग्रामा इति प्रतिषेधः क्रियमाणो नगराणामपि प्राप्नोति। तस्मादग्रामा इति प्रतिषेधे नगरप्रतिषेधो वक्तव्यः। अग्रामा इत्यनेन नगराणां यः प्रतिषेधः प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्यो व्याख्येय इत्यर्थः। तेन नगराणां विधिरेव भवति। तत्रेदं व्याख्यानम्। यदयं प्राचां (७।३।१८) ग्रामनगराणामित्यत्र ग्रामनगरयो र्भेदेनोपादानं करोति तज् ज्ञापयतीह शास्त्रे ग्रामग्रहणेन नगराणां ग्रहणं न भवतीति। तेनाग्रामा इति प्रतिषेधो नगराणां न भवति। उभयतश्चेत्यादि। उभयस्मिन्नित्यर्थ उभयतः। यत्र कश्चिदवयवो ग्रामः कश्चिन्नगरं तत्र ग्रामाणां य प्रतिषेध उच्यते स एव वक्तव्यो व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। अग्रामा इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं विज्ञेयः। तेन यत्र ग्रामगन्धोऽप्यस्ति तत्राप्येकवद्भावो न भवतीति। न चेद् द्वन्द्वे ग्रामा विद्यन्त इति।

## ८। क्षुद्रजन्तवः।

क्षुद्रशब्दोऽयमस्त्येव यः कार्पण्यवति पुरुषे वर्त्तते यथा क्षुद्रो देवदत्त इति। कृपण इति गम्यते। अस्ति च शीलहीने ऽङ्गहीने च यथा क्षुद्राभ्यो वेति (४।१।१३१)। अत्र ह्यनियतपुंस्का विकलाङ्गाश्च स्त्रियः क्षुद्राग्रहणेन गृह्यन्ते। अस्ति च परिमाणापचये यथा क्षुद्रास्तण्डुला इति। इह तु जन्तुशब्दसन्निधानात् प्राणिशरीरस्याल्पतामाचष्टे। तेन परिमाणापचये

वर्त्तमानस्य क्षुद्रशब्दस्य ग्रहणं विज्ञायत इत्याह अपचितपरिमाणः क्षुद्र इति । अल्पशरीर इत्यर्थः । अपचितपरिमाणता चापेक्षाभेदादनवस्थितेति । अस्थिरेत्यर्थः । क्षुद्रजन्तुशब्दस्याभिधेयं प्रति स्मृतीरुपन्यस्यति क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्यादिति । क्षुदिर् संपेषणे । क्षुद्यत इति क्षुद्रः । औणादिकः स्फायीतञ्चीत्यादिना (उण्, २।१७० ) रक् । क्षुद्रश्चासौ जन्तुश्चेति क्षुद्रजन्तुः । अनस्थिरिति । यस्यास्थीनि न विद्यन्ते । केवलं यस्य चर्मशोणितमांसमस्ति स क्षुद्रजन्तुः । अथवा क्षुद्र एव य इति । स्मृत्यन्तरमाह चोदयितुं यः शक्यते स क्षुद्रजन्तुः । शब्दार्थवशात् प्रसिद्ध एव लोके क्षुद्रजन्तुर्ग्राह्यः । स पुनर्मशकादिरङ्गे यस्यात्मीयं शोणितं नास्ति । येषां वा गोचर्ममात्रं राशिं हत्वापि नरः पतितो न भवति ते प्रसिद्धाः क्षुद्रजन्तव उच्यन्ते । शतं वा प्रसृतौ येषामिति । अपरा स्मृतिः । प्रसृतौऽञ्जलौ बद्धं येषां प्राणिनां शतं प्रसृतिर्भवति शतेन वा प्रसृतिः पूर्य्यते ते क्षुद्रजन्तवः । केचिदा नकुलादपीति । केचिद् वर्णयन्ति नकुलपर्य्यन्ताः क्षुद्रजन्तव इति । इयमेव स्मृतिः प्रमाणमिति । अस्याः सर्वस्मृत्यनुग्राहिणीत्वात् । तथा ह्येतदुपलक्षितेषु क्षुद्रजन्तुषु स्मृत्यन्तरदर्शिता अपि क्षुद्रजन्तवोऽन्तर्भवन्ति । इतरा अपि स्मृतयः प्रमाणं कस्मान्न भवन्तीत्याह इतरासामित्यादि । अनस्थ्यादीनां स्मृतीनामा नकुलादपीति स्मृत्या विरोधः । तस्मान् नैताः प्रामाण्येनाभ्युपगम्यन्ते । तेन सर्वत्रेदं सिद्धं भवति । क्षुद्रजन्तव इति बहुवचननिर्देशाद्बहुप्रकृतेरेवैकवद्भावो यथा स्यात् । तेनेह न भवति यूकालिक्षे दंशमशकाविति । अयञ्च प्राणिजात्यर्थ आरम्भः । क्षुद्रजन्तव इति किमिति ? ननु च सूत्रस्याभावे किं प्रत्युदाहरणं स्यात् ? एवं मन्यते । अन्यथा हि जन्तव इति सूत्रं कर्त्तव्यम् । ततश्चातिप्रसङ्गः स्यादिति ।

## ९ । येषां च विरोधः शाश्वतिकः ।

प्रतिपक्षभावमात्रं लोके विरोधशब्देनोच्यते । तस्येह ग्रहणे सति छायातपावग्निजले इत्यत्रापि स्यादिति मत्वा वैरमिह विरोधोऽभिमत इति दर्शयितुमाह विरोधो वैरमिति । एवं मन्यते । क्षुद्रजन्तव इत्यतो जन्तु-

ग्रहणमनुवर्त्तते। तेन जन्तूनां यो विरोधस्तस्येह ग्रहणं विज्ञायते। स च वैरस्वभाव एवेति। शाश्वतिको नित्य इति। शश्वदिति त्रैकाल्यमुच्यते। तत्र भवः शाश्वतिकः। कालाट् (४।३।११) ठञ्। अस्मादेव निपातनात् तान्तादपि को न भवति। यश्च त्रैकाल्ये भवति स नित्यः। गोपालिशालङ्कायना इति। गोपालयश्च शालङ्कायनाश्च गोपालिशालङ्कायनाः। नात्र शाश्वतिको विरोध इत्येकवद्भावो न भवति। चकारः पुनरस्यैव समुच्चयार्थ इति। प्रकृतस्यान्यस्य समुच्चेतव्यस्याभावादस्यैकवद्भावस्य समुच्चयार्थश्चकारो विज्ञायते। तेन किम्भवतीत्याह तेन पशुशकुनीत्यादि। पशुशकुनिविभाषाया ( २।४।१२ ) अवकाशो महाजोरभ्रम् महाजोरभ्राः। हंसचक्रवाकं हंसचक्रवाका इति। नित्यविरोधिनामेकवद्भावस्यावकाशो ब्राह्मणनास्तिकमिति (A)। श्वसृगालम्। अश्वमहिषम्। काकोलूकमित्यत्रोभयप्राप्तौ परत्वात् पशुशकुनिविभाषा ( २।४।१२ ) स्यात्। चकारस्य पुनरस्यैव समुच्चयार्थत्वादनेन नित्यमेकवद् भवति।

## १०। शूद्राणामनिरवसितानाम्।

यद्यपि षिञ् बन्धन इति सिनोतिर्बन्धने वर्त्तते तथापि निरवपूर्वो वहिष्करणे वर्त्तत इत्याह निरवसानं वहिष्करणम्। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुद्ध्यति तस्मात् ते ततो वहिष्कृताः पृथक् कृताः। न लभन्ते तत्र भोक्तुमित्यर्थः।

## ११। गवाश्वप्रभृतीनि च।

गवाश्वादीनि कृतैकवद्भावानि गणे पठ्यन्ते। तेषामनेन साधुत्वमात्रं विधीयते। नत्वेकवद्भाव इति दर्शयन्नाह गवाश्वादीनीति। गवाश्वमित्येवमादीनामजैडकपर्य्यन्तानां पशुद्वन्द्वविकल्पे वचनमिदम्। कुब्जवामनप्रभृतीनां त्रयाणामप्राप्ते। श्वचाण्डालमित्यविरोधार्थम्। विरोधे हि येषाञ्च विरोध (२।४।९) इत्येवं सिद्धम्। कदा च श्वचाण्डालस्याविरोधः? यदा विरोधं द्वन्द्वो

(A) श्रमणब्राह्मणमिति—is the reading in my 3rd. & in the Deccan MSS.

नाचष्टे केवलश्चार्थमात्रे वर्त्तते तदा श्वचाण्डालमिहास्तीति। स्त्रीकुमारं दासो-साणवकमितप्रप्राप्ते वचनम्। शाटीपिच्छकमिति जातिरप्राणिनामिति (२।४६) सिद्धे ऽबहुप्रकृतप्रर्थ: पाठः। उष्ट्रखरमुष्ट्रशशमिति। पशुद्वन्द्वविभाषाप्राप्तौ नित्यार्थम्। मूत्रशकृदादीनां मांसशोणितपर्य्यन्तानामप्राणिजातीनामबहु-प्रकृत्यर्थ: पाठः। दर्भशरप्रभृतीनां तृणोलपपर्य्यन्तानां तृणद्वन्द्वविभाषायां प्राप्तायां वचनम्। दासोदासादीनां त्रयाणामप्राप्तें। पुमान् (१।२।६७) स्त्रिये-त्येकशेषो न भवत्यस्मादेव निपातनात्। गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्त-मिति। कथम्? तथा रूपस्याश्रयणात्। गणपाठे हि यदेषां शब्दानां रूपं तदाश्रितम्। तेन यथोच्चारितानामेकवद्भावलक्षणं द्वन्द्ववृत्तं भवति। रूपान्तरे तु नायं विधिरिति। यदा ऽवङ् (६।१।१२३) स्फोटायनस्येत्यवङ् नास्ति तदा रूपान्तरे जाते ऽनेन सूत्रेण यो विधिः क्रियते स न भवति। पशुद्वन्द्व-विभाषैव प्रवर्त्तते।

## १२। विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडव-पूर्वापराधरोत्तराणाम्।

वृक्षादिग्रहणेनेह वृक्षादिविशेषवाचिनां ग्रहणम्। कथम्? यस्मादत्र हि वृक्षादिभिर्द्वन्द्वः प्रत्येकं विशिष्यते। तेनैषा विभाषा तुल्यजातीयेष्वेवा-वतिष्ठते। विरूपेषु तुल्यजातीयेष्वपि। न स्वरूपेषु। तेषां द्वन्द्वो नास्ति। एकशेषविधानात्। विरूपेष्वपि न पर्य्यायेषु। तेषां द्वन्द्वाभावात्। द्वन्द्वा भावश्च युगपत्प्रयोगाभावात्। युक्तार्थाभावाच्च। चार्थाभावस्त्वर्थभेदाभावात्। भिन्नाधिष्ठाना हि चार्थता। न च पर्य्यायाणां भिन्नार्थता सम्भवति। तस्माद् विरूपेष्वेव वृक्षादिविशेषवाचिष्वस्या विभाषाया उपस्थानम्। तेन विशेष-ग्रहणं वृक्षादिषु विज्ञायते। न स्वरूपग्रहणम्। नापि पर्य्यायग्रहणम्। अथ सामान्यविशेषवाचिनां ग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते। सम्भवति हि सामान्य विशेषवाचिनां द्वन्द्वो यथा गोबलीवर्द्दमिति। न। अनभिधानात्। नहि वृक्षधवमित्येवं लोके ऽभिधानमस्ति। धवशब्दादेव तदर्थाभिधायिनो वृक्षशब्द-स्यार्थस्यावगतत्वात्। धवादिशब्दप्रयोगे वृक्षादिशब्दस्य प्रयोगानर्हत्वात्।

गोवलीवर्द्दमित्यत्र तु वलीवर्द्दसन्निधाने गोशब्दस्य स्त्रीगवीष्वेव वृत्तेर्द्वावपि विशेषवाचिनाविति युक्तो द्वन्द्वः। येऽत्राप्राणिवाचिनस्तेषां जातिरप्राणिना-मित्येकवद्भावे (२।४।६) नित्ये प्राप्ते वचनमिदं विभाषार्थम्। परिशिष्टानामप्राप्ते। पशुग्रहणेनैव मृगादिग्रहणे सिद्धे पुनर्मृगादिग्रहणं किमर्थम्? तुल्यजातीयानां द्वन्द्वोऽयमेकवद्भवतीत्युक्तम्। अत्र पशुग्रहणेनैव सिद्धे मृगादिग्रहणे सत्यपि पश्वन्तरेणैषां परस्परेण वा द्वन्द्वो मा भूदित्येवमर्थम्। पशुद्वन्द्व इत्येवं सिद्धे ऽश्ववडवग्रहणं नियमार्थम्। योऽन्य एतयोः पर्य्यायस्तत्र मा भूद् हयवडवे इति। बहुप्रकृतिरिति। बह्वर्था बहुवचनान्ता वा प्रकृतिर्यस्य स बहुप्रकृतिः। बह्वर्थानां फलादीना मेषां बहुवचनान्तानां वा द्वन्द्व एकवद् भवतीत्यर्थः।

## १३। विप्रतिषिद्धञ्चानधिकरणवाचि।

अद्रव्यवाचिनामिति। एतेनाधिकरणशब्दोऽत्र द्रव्ये वर्त्तते नाधार इति दर्शयति। नहि विप्रतिषिद्धवाचिनां शब्दानामाधारे वृत्तिरस्ति। विभक्त्यर्थत्वादाधारशक्तेः। शीतोष्णे इति। शीतोष्णयोः सहानवस्थान-लक्षणेनैव विरोधेन विरुद्धत्वाद्विप्रतिषिद्धवाचित्वम्। तथा सुखदुःखयोरपि। कामक्रोधाविति। क्रुद्धोऽपि काममाचरतीति नानयोर्विप्रतिषिद्धत्वम्।

## १४। न दधिपयआदीनि।

यथायथमिति। यथास्वं यस्य यदात्मीयं लक्षणं तेनेत्यर्थः तत्र दधि-पयसी इत्यादीनां त्रयाणां व्यञ्जनवाचित्वाद् विभाषैकवद्भावप्राप्तिः। ननु च सर्पिर्म्मधुनी मधुसर्पिषी इति राजदन्तादिष्वनयोर्निपातनादेवैकवद्भावो न भविष्यति। नैतदस्ति। पाक्षिको हि व्यञ्जनैकवद्भावः। तत्र यस्मिन् पक्षे स नास्ति तस्मिन्निपातनं पूर्वनिपातव्यभिचारार्थं स्यात्। इतरस्मिन्नपि पक्ष एकवद्भावनिषेधार्थोऽत्र पाठः। यद्येवमनेनैव सिद्धत्वाद्राजदन्तादिषु पाठोऽनर्थकः स्यात्। नानर्थकः। बहुवचनार्थत्वात्। सर्पिर्म्मधूनि। मधुसर्पींषीति। ननु तत्रापि द्विवचनान्तावेव पठ्येते? यद्यप्येवं तथापि शब्दाश्रयत्वात् परनिपातस्यार्थधर्म्मत्वाद् द्वित्वं नापेक्ष्यते। अर्थाश्रयस्त्वेकवद्भाव इति तत्प्रतिषेधे युज्यते संख्या विवक्षितुम्। ब्रह्मप्रजापती इत्यादीनां

पञ्चानां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः । शुक्लकृष्णाविति । विप्रतिषिद्धमित्यादिना (२।४।१३)। इध्माबर्हिषी इत्यादीनां समाहारैकत्वात् प्राप्तिः ।

## १५ । अधिकरणैतावत्त्वे च ।

अधिकरणं वर्त्तिपदार्थ इति । वर्त्तनं वर्त्तः समासः । भावे घञ् । वर्त्तोऽस्यास्तीति वर्त्ति समासावयवभूतम् । वर्त्ति च तत् पदञ्चेति वर्त्तिपदं तस्य पदस्यार्थोऽधिकरणमित्युच्यते । कथं पुनस्तस्याधिकरणत्वमित्यत आह सहीत्यादि । आधारो ह्यधिकरणम् । वर्त्तिपदार्थश्च समासार्थस्याधारो भवति । तत्र तस्य समवायात् । वर्त्तिपदार्थैर्ह्यवयवैरवयवी समासार्थ आरभ्यते । अवयवी चावयवेषु समवैति । तस्येति । वर्त्तिपदार्थस्य । दश इमे दन्तौष्ठा इति । द्वन्द्वस्येत्यादिना (२।४।२) प्राप्तिः ।

## १६ । विभाषा समीपे ।

अधिकरणैतावत्त्वस्य प्रकृतत्वात् तदपेक्षयैव समीपत्वं विज्ञायत इत्यत आह अधिकरणैतावत्त्वस्य समीप इति । उपदशं दन्तौष्ठमिति । अत्राधिकरणैतावत्त्वं दशसंख्या । तत्समीपं नवैकादश वा । तत्र दशशब्द एतावत्त्वमाचष्टे । उपशब्दः सामीप्यम् । कथं पुनर्द्वन्द्वैकवद्भावो विकल्प्यमानोऽनुप्रयोगस्य लभ्यत इत्यत आह अव्ययस्येत्यादि । यद्यप्यर्थातिदेशादनुप्रयोगस्यापि विकल्पो लभ्यते तथापि परीहारान्तरमप्यस्तीति दर्शनार्थमस्योपन्यासः । तत्राव्ययस्य संख्याया अव्ययीभावो विहितोऽव्ययं (२।१।६) विभक्तीत्यादिना । बहुव्रीहिरपि विहितः संख्याव्ययासन्ने (२।२।२५) त्यादिना । अत्रैकवद्भावपक्ष एकार्थस्य द्वन्द्वस्यैकार्थ एवाव्ययीभावोऽनुप्रयुज्यते । एकार्थत्वं पुनस्तस्य सामीप्यप्रधानत्वात् । यद्यप्यव्ययीभावोऽव्ययं तथाप्यभेदैकत्वं भेदाभावलक्षणं तस्यास्त्येव सामानाधिकरण्यम् । इतरत्र तु बह्वर्थस्य द्वन्द्वस्य बह्वर्थ एव बहुव्रीहिरनुप्रयुज्यते । बह्वर्थं पुनर्बहुव्रीहेः समीपिनः प्राधान्यात् । बहुव्रीहि हि समीपी प्रधानत्वाद् भेदसंख्यामुपादत्त इति बह्वर्थो भवति । उपदशमिति । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य (५।४।१०७) इत्यनुवर्त्तमाने

ऽनश्चेति (५।४।१०८) टच् समासान्तः। नस्तद्धित (६।४।१४४) इति टिलोपः। उपदशा इति बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणादिति (५।४।७३) डच्।

## ९७। स नपुंसकम्।

पञ्चगवमिति। गोरतद्धितलुकीति (५।४।९२) टच्। सग्रहणं द्विगोरपि यथा स्यादित्येवमर्थम्। इतरथा ह्यनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो (प, ६२) वेत्यनन्तरस्यैव द्वन्द्वस्य स्यान्न व्यवहितस्य द्विगोः। नैतदस्ति। एकवचनमित्यनुवर्त्तते। तस्य नपुंसकमित्यनेन सम्बन्धे सति कुतो व्यवधानम्? नह्यत्रैकवचनेन विशेषो द्वन्द्वोऽनेनापेक्ष्यते। किं तर्हि? एकवचनमात्रम्। प्रसिद्ध्युपसंग्रहार्थं तर्हि सग्रहणम्। स इत्येतदनुवादो भविष्यति। अनुवादश्च प्रसिद्धस्यैव भवति। तथाच यथादर्शनमियं लिङ्गव्यवस्था ऽख्यायत इति। तेन द्वन्द्वैकवद्भावे नित्यं नपुंसकत्वं विज्ञायते। द्विगोश्चानियता। तेनाकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यत इत्येतदुपपन्नं भवति। पञ्चपूलीति। द्विगोरिति (४।१।२१) ङीप्। एतदेव द्विगोः स्त्रीप्रकरणे ङीब्विधानं ज्ञापकं क्वचित् स्त्रियां द्विगुर्भाष्यत इति। पञ्चखट्वं पञ्चखट्वीति। उपसर्जनह्रस्वत्वे कृते पक्षे ङीप्। पञ्चतक्षं पञ्चतक्षीति। नलोपे कृते पक्षे ङीप्।

## ९८। अव्ययीभावश्च।

अधिस्त्रीति। अव्ययं (२।१।६) विभक्तीत्यादिनाव्ययीभावः। ह्रस्वो (१।२।४७) नपुंसके प्रातिपदिकस्येति ह्रस्वत्वम्। उन्मत्तगङ्गं लोहितगङ्गमिति। अन्यपदार्थे च संज्ञायामिति (२।१।२१) समासः। पूर्ववद्ध्रस्वत्वम्। पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वेन्न प्राप्नोति। अधिस्त्रीत्यादौ पूर्वपदस्यालिङ्गत्वात्। अन्यपदार्थप्रधानस्याभिधेयलिङ्गतेति। उन्मत्तगङ्गमित्यादौ देशोऽभिधेयः। स च पुंलिङ्ग इति पुंलिङ्गत्वं प्राप्तम्। पुण्याहमिति। कर्मधारयः। राजाहः सखिभ्यष्टजिति (५।४।९१) टच्समासान्तः। रात्राह्नाहाः (२।४।२९) पुंसीति पुंलिङ्गतायां वचनम्। विपथमिति। पथः संख्याव्ययादेरिति (२।४।३०,वा) परवल्लिङ्गतायां वचनम्। कुगतिप्रादय इति (२।२।१८) समासः। चतुष्पथमिति प्राप्तायां वचनम्।

षष्ठीसमासः । समाहारद्विगौ तु पूर्वेणैव सिद्धम् । ऋक् पूरब्धूःपथामानक्ष इत्यकारः (५।४।७४) समासान्तः ।

## १९ । तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः ।

नञ्मात्रस्य तत्पुरुषस्याभावान्नञात्र नञ्समासो लक्ष्यत इत्याह नञ्समासमिति । वक्ष्यति विभाषासेनासुराच्छायेति (२।४।२५) । अनन्तरयोगेष्वस्याधिकारस्य प्रयोजनं नास्तीत्यतस्तानुल्लङ्घ्य व्यवहितस्य विभाषासेनासुरेत्यादि (२।४।२५) योगस्योपन्यासः । इत उत्तरेष्वनन्तरेषु योगेष्वस्य प्रयोजनाभावः । नहि संज्ञायां कन्थोशीनरेषु (२।४।२०) तत्पुरुषो नञ्समासः । कर्मधारयो वाऽस्तीत्यादिना भाष्ये प्रतिपादितः । दृढ़सेन इति बहुव्रीहिः । अथानञ्कर्मधारय इति कोऽयन्निर्देशः ? यदि ह्यत्र नञ्कर्मधारययोर्द्वन्द्व स्तदा समाहारे वा स्यादितरेतरयोगे वा ? तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे नपुंसकत्वं प्रसज्येत । इतरत्र तु द्विवचनम् । निर्देशस्य सौत्रत्वादुभयथाप्यदोषः । तथाहि च्छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति । छन्दसि च लिङ्गवचनव्यत्ययं तृतीयेऽध्याये वक्ष्यति ।

## २० । संज्ञायां कन्थोशीनरेषु ।

प्रकृते न तदन्तविधिरिति प्रकृतस्य तत्पुरुषस्य कन्थया तदन्तविधिर्विज्ञायत इत्याह कन्थान्तस्तत्पुरुष इति । सौशमिकन्थमिति । सौशमीनां कन्था इति षष्ठीसमासः । दाक्षिकन्थेति । अस्तीयं ग्रामस्य संज्ञा । नतूशीनरेषु । किं तर्हि ? ततोऽन्यत्रेति ।

## २१ । उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् ।

उपज्ञायत इत्युपज्ञेति । आतश्चोपसर्ग इति (३।३।१०६) कर्मण्यङ् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । अत्राकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति (३।३।१९) कर्मणि घञ् । नोदात्तोपदेशस्येत्यादिना (७।३।३४) वृद्धिनिषेधः । यद्यप्युपज्ञेयस्योपक्रम्यस्य चेत्यादि । उपज्ञेयः परिज्ञेयः । उपक्रम्य उपक्रमितव्यः । आदिः प्राथम्यम् । पाणिन्युपज्ञमिति षष्ठीसमासः । तेन तत् प्रथमतः प्रणीतम् । अकालकमिति । स त्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारं न कृतवान् ।

व्याड्युपज्ञं दशदुष्करणमिति। व्याड़िरप्यत्र युगपत्कालभाविनां विधीनां मध्ये दश दुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति (B)। वाल्मीकेः श्लोका वाल्मीकिश्लोका इति षष्ठीसमासः।

## २२। छाया बाहुल्ये।

पूर्वपदार्थधर्म्मो बाहुल्यमिति।' अत्र हेतुमाह शलभादीनामित्यादि। शलभादीनां बहुत्वं शलभच्छायमित्यादौ हि गम्यते। नहि तेन विना छाया सम्भवति। अतः पूर्वपदार्थस्य शलभादेर्बाहुल्यं धर्म्मः।

## २३। सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा।

इह कस्मान्न भवति राजसभेतीति। स्वं रूपं (१।१।६८) शब्दस्याशब्दसंज्ञेति वचनादिहैव युक्तम् भवितु मित्यभिप्रायः। तदुक्तमित्यादि। एतेन पर्य्याय-वचनस्यैवेष्यत इत्येतदाप्तवचनेन द्रढ़यति। यतः पर्य्यायवचनस्यैवेष्यते तस्मा-देव हेतोरिदमुक्तम्। जित्पर्य्यायवचनस्यैवेत्यादि। कथं पुनः पर्य्याय-वचनस्यैव भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यते ? यावता नेह सूत्रे तथाविधं वचनमस्ति। एवं मन्यते। ननु च पूर्वग्रहणमस्ति। अतः पूर्वग्रहणादेषोऽर्थो लभ्यते। कथम् ? यदि स्वरूपग्रहणं स्याद् राजाऽमनुष्यादित्येवं ब्रूयात्। पञ्चम्येव हि दिक्छब्दमध्याहारयिष्यति। न च सभान्तस्य तत्पुरुषस्य पूर्वशब्दादन्यो दिक्छब्दोऽध्याहर्त्तुं शक्यत इति किं पूर्वग्रहणेन ? तत् क्रियते ऽर्थग्रहणं यथा स्यात्। अर्थग्रहणे च सत्यराजा ऽमनुष्यपूर्वा इति द्विप्रतिषेधो वर्ण्यते

---

(B) In the printed edition of the काशिका, it is व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्। On this the पदमञ्जरी says दुषिति सङ्केतशब्दो यथात्र हत्करणम्। The वृत्तिकार again cites this example in शालीपत्नीपक्रमच्छाये नपुंसके (६।२।१४)। But दशदुष्करण occurs in my 1st, 3rd, & 13th. MSS. as well as in the Poona one. The explanation supplied by the न्यासकार is perhaps not clear enough for those who are not acquainted with व्याड़ि's work. मैत्रेयरचित Explaining the Rule (2. 4. 21) in his तन्त्रप्रदीप, says :—"पूर्वं पूर्वं कालमिति। पूर्वं प्रथमं पूर्वं भूताख्यं कालं परिभाषितवान्। पश्चाद् वर्त्तमानादिकमित्यर्थः। अथवा पूर्वं पूर्वमिति। प्रथमतरमित्यर्थः। पूर्वप्रथमयोरर्थातिशयविवक्षायां द्विर्वचनमिति (८।१।१२, वार्त्तिक) द्विर्वचनम्। अस्य दश दुष्करणानीत्यनेन सम्बन्धः। तदयमर्थः। प्रथमतरं दश दुष्करणानि कृत्वा कालमध्यत-नादिकं परिभाषितवान्।"

ऽराजपूर्वा ऽमनुष्यपूर्वेति । तदनेन नञिवयुक्तन्यायेन तत्सदृशा राजपर्य्याया गृह्यन्ते । नतु तद्विशेषाश्चन्द्रगुप्तादयः । नहि ते राजार्थस्य वाचका इति । अथवार्थग्रहणेऽस्मिन् विभाषा समीप (२।४।१६) इत्यतो विभाषाग्रहण-मनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतिन्यायेन । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते । तेनेह पर्य्यायवचनस्यैवेश्वरादेर्ग्रहणम् भविष्यति । नान्यस्य । अमनुष्यशब्दो हि रूढ़िरूपेण रक्षःपिशाचादिषु वर्त्तत इति । यद्येवममनुष्यकर्त्तृके (३।२।५३) चेत्यत्र यदुदाहरिष्यति जायाघ्नस्तिलकालकः पतिघ्नी पाणिरेखा श्लेष्मघ्नं मधु पित्तघ्नं घृतमिति तद्व्याहन्यते । नैष दोषः । अत्र हि चकारः क्रियते । तस्यैव विधेः समुच्चयार्थः । तेन पुनर्विधानात् कृत्यल्युटो (३।३।११३) बहुलमिति वचनाद्वा रक्षःपिशाचादिभ्योऽन्यत्रापि भविष्यति । अथवा ऽमनुष्यशब्दोऽयं द्विविधः । अस्त्येवायमव्युत्पन्नो रूढ़िशब्दो यो रक्षःपिशाचादिषु वर्त्तते । अस्ति च व्युत्पन्नो नञ्समासः । तत्रेहाव्युत्पन्नस्य रूढ़िशब्दस्य ग्रहणम् । अमनुष्यकर्त्तृके चेत्यत्र (३।२।५३) व्युत्पन्नस्यारूढ़िशब्दस्य ग्रहणमित्यविरोधः । देवदत्तसभेति । देवदत्तशब्दो न राजपर्य्यायः । नाप्यमनुष्यवचनः ।

## २४ । अशाला च ।

सभाशब्दोऽयमस्त्येव कुटीवचनः । दीर्घा सभा ह्रस्वा सभेति । अस्ति च सङ्घातवचनो यथा ब्राह्मणानां सभा स्त्रीणां सभेति । इह चाशालेति कुटीवचनप्रतिषेधादितरो गृह्यत इत्यत आह सङ्घातवचन इत्यादि ।

## २५ । विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् ।

श्वनिशमिति । यस्यां निशायां श्वानो मत्ता विहरन्ति (C) सा श्वनिशं श्वनिशेति चोच्यत इति ।

## २६ । परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ।

किमर्थमिदम् ? इहायं द्वन्द्वः सर्वपदार्थप्रधानः । स यदा भिन्नलिङ्गा-

(C) स्वरन्तीति पाठान्तरम् । स्वरन्ति शब्दायन्ते भषन्तीत्यर्थः । स्वृ शब्दोपतापयोः । हरदत्तस्त्वाह यस्यां निशायां श्वान उपवसन्ति सा श्वनिश मित्युच्यते । सा पुनः कृष्णचतुर्द्दशी । तस्यां हि श्वान उपवसन्तीति प्रसिद्धिरिति । श्वनिशा कृष्णचतुर्द्दशीत्याहुरिति च भट्टोजिः । शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्याम इति शावरभाष्ये ।

वयवो भवति तदा पूर्वोत्तरयोः पदयोर्भिन्नलिङ्गयोरनुग्राहकमेकं लिङ्गं नास्ति येन समुदायो व्यपदिश्यते। उभाभ्याञ्च युगपदसम्भवादशक्यो व्यपदेशः कर्त्तुम्। अतः पर्य्यायः स्यादिति द्वन्द्वे नियमार्थं वचनम्। तत्पुरुषोऽपि द्विविधः। पूर्वपदार्थप्रधान उत्तरपदार्थप्रधानश्चेति। ततो य उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुष स्तस्य प्रधानत्वादेव परस्य यल्लिङ्गं तत्समुदायस्य भविष्यतीति तं प्रत्यनर्थकं वचनम्। यस्तु पूर्वपदार्थप्रधानस्तस्य पूर्वपदस्य यल्लिङ्गं तस्मिन् प्रसक्त उत्तरपदस्य यल्लिङ्गं तद्विधीयत इति तत्र विध्यर्थमेतद् भवति। द्वन्द्वस्य तत्पुरुषस्य चेति। एतेन द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति षष्ठीयमिति दर्शयति। न सप्तमी। यदीयं सप्तमी स्यात् तदा द्वन्द्वे तत्पुरुषे च यत् परं तदीयं लिङ्गं पूर्वपदस्यापद्येत। परशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात्। तथाच मयूरीकुक्कुटावित्यत्र पूर्वपदस्य स्त्रीप्रत्ययो निवर्त्तेत। तत्पुरुषेऽप्यर्द्धपिप्पलीत्यत्र पूर्वपदस्यापि स्त्रीप्रत्ययः स्यात्। तस्मात् षष्ठीयम्। तथाच सति समासार्थस्यायमतिदेशो विज्ञायते। पूर्वपदस्य न प्रतिषिध्यते। नापि विधीयत इति न भवति पूर्वोक्तदोषावसरप्रसङ्गः। समासार्थस्य लिङ्गातिदेशादनुप्रयोगोऽपि समासार्थस्यैव विशेषणमिति तल्लिङ्गमेव भवति। कुक्कुटमयूर्य्याविमे इति। उपसर्जनह्रस्वत्वं न भवति। उपसर्जनसंज्ञाया अभावात्। उक्तं ह्येतत् प्राक्। उपसर्जनमिति महत्याः संज्ञायाः प्रयोजन मन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। अप्रधानमुपसर्जनमिति। द्वन्द्वश्च सर्वपदार्थप्रधान इति नास्त्युपसर्जनसंज्ञा। अर्द्धपिप्पलीत्यादावपि सत्येकविभक्तियोगे यथा पिप्पल्यादेरुपसर्जनसंज्ञा न भवति तथोपसर्जनसंज्ञाविधावेव तत्प्रतिपादितम्। वक्तव्य इति। व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। तत्पुरुष इत्यनुवर्त्तमाने पुनस्तत्पुरुषग्रहणस्यैतत् प्रयोजनं तत्पुरुषविशेषस्य परवल्लिङ्गता यथा स्यादिति। तेन द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गता न भवति। अन्यथा यदि सर्वस्यैवं तत्पुरुषस्य परवल्लिङ्गता स्यात् तदा परवल्लिङ्गं द्वन्द्वस्य चेत्येवं ब्रूयात्। चकाराद्धि प्रकृतस्य तत्पुरुषस्येति विज्ञास्यत एवेति। पञ्चकपाल इति तद्धितार्थे द्विगुः। संस्कृतार्थे उत्पन्नस्याणो द्विगोर्लुगनपत्य (४।१।८८) इति लुक्। प्राप्तजीविक इति। प्राप्तापन्ने च द्वितीययेति (२।२।४) समासः।

अलञ्जीविक इति । पर्य्यादयो ग्लानाद्यर्थे (२।२।१८, वा) चतुर्थ्येति समासः । निष्कौशाम्बिरिति । निरादयःक्रान्ताद्यर्थे (२।२।१८, वा) पञ्चम्येति ।

## २७ । पूर्ववदश्ववडवौ ।

अश्ववडवयोर्विभाषैकवद्भावो विहित इति । विभाषा (२।४।१२) वृच-मृगेत्यादिना । अर्थातिदेशश्चायम् । न निपातनमिति । निपातने हि पूर्ववदिति वचनमनर्थकं स्यात् । अश्ववडवावित्येवं ब्रूयात् । तेन द्विवचन-मतन्त्रमित्यादिना ऽर्थातिदेशस्य फलं दर्शयति । निपातने हि वचनान्तरे पूर्ववल्लिङ्गता न स्यात् ।

## २८ । हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि ।

परवल्लिङ्गतापवादोऽयं योग इति हेमन्तशिशिरावित्यत्र नपुंसकत्वापवादः । परस्य शिशिरशब्दस्य नपुंसकत्वात् । अहोरात्रे इति । पुंलिङ्गत्वापवादोऽयम् । रात्राह्नाहाः पुंसीति (२।४।२९) पुंल्लिङ्गत्वे प्राप्ते छन्दसि लिङ्गव्यत्यय उक्त इति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन (३।१।८५) ।

## २९ । रात्राह्नाहाः पुंसि ।

परवल्लिङ्गतया स्त्रीनपुंसकयोः प्राप्तयोरिति । रात्रिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वा-दहःशब्दस्य च नपुंसकत्वात् । द्विरात्र इति । द्वयो रात्र्योः समाहारः । तद्धितार्थेत्यादिना (२।१।५१) समाहारे द्विगुः । अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च (५।४।८७) रात्रेरित्यच् समासान्तः । अत्र ह्यच् प्रत्यनुपूर्वात् सामलोम्न (५।४।७५) इत्यतोऽजित्यनुवर्त्तते । पूर्वाह्न इति । अह्नः पूर्वमिति विगृह्य पूर्वापरेत्यादिना (२।२।१) समासः । राजाहःसखिभ्यष्टजिति (५।४।९१) टच् । अह्नोऽह्न एतेभ्य (५।४।८८) इत्यह्नादेशः । अह्नोऽदन्तादिति (८।४।७) णत्वम् । द्व्यह इति । पूर्ववत् समाहारे द्विगुः । पूर्ववट् टच् । न संख्यादेः समाहार इति (५।४।८९) प्रतिषेधादह्नादेशो न भवति । अह्नष्टखोरेवे-ति (६।४।१४५) टिलोपः । अनुवाकादय इति । केचिदाहुर्बहुव्रीहिरयम् । अनुक्रान्तो वाकोऽनयाऽनेन वा ऽनुवाकः । स्त्रीलिङ्गे नपुंसकलिङ्गे च प्राप्ते

वचनम्। अन्ये च मन्यन्ते योऽयं भावे घञ् स सामर्थ्यात् पुंलिङ्गः। तस्य हि नपुंसके भावे क्तोऽपवादः। स्त्रियाञ्च क्तिन्। तेनासौ सामर्थ्यात् पुंस्येवावतिष्ठते। यस्त्वकर्त्तरि कारके विधीयते स पुंसि नपुंसके च वर्त्तते। बाधकाभावात्। स्त्रियान्तु न भवति। यतः स्त्रियां क्तिन्नप्यकर्त्तरि च कारके विधीयते। स विशेषविहितो घञं बाधते। इह च वचेरकर्त्तरि च कारके (३।३।१९) संज्ञायामिति घञ् विहितः। अनूच्यते यत् पदं तदनुवाकः। कुगतिप्रादय इति (२।२।१८) समासः। अस्मिन् पक्षे नपुंसके प्राप्ते वचनम्।

## ३०। अपथं नपुंसकम्।

अपथमिति। पथो (५।४।७२) विभाषेति यदा समासान्तप्रतिषेधो नास्ति तदर्क्पूरब्धूः (५।४।७४) पथामानक्ष इत्यकारः समासान्तः। समासान्तनिर्देशाद् यदा समासान्तो नास्ति तदा पुंलिङ्गतैव भवति। अपन्था इति।

## ३१। अर्द्धर्चाः पुंसि च।

अर्द्धर्चा इति। बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यत इत्याह अर्द्धर्चादय इत्यादि। शब्दरूपाश्रया चेयमिति। शब्दरूप माश्रयो यस्याः सा तथोक्ता। शब्दरूपमाश्रित्यार्थमनपेक्ष्य द्विलिङ्गतेयं विधीयत इत्यर्थः। क्रियाशब्दस्याभिधेयवल्लिङ्गमिति भूतं कुण्डम्। भूता शाटी। भूतो घट इति। यौगिकस्याभिधेयवल्लिङ्गमिति लवणं शाकम्। लवणा यवागूः। लवणः सूप इति। लवणेन संसृष्टमिति संसृष्ट इति ठक् (४।४।२२)। तस्य लवणाल्लुगिति (४।४।२४) लुक्। अतएव तद्धितार्थयोगी भूतत्वाद् यौगिकोऽत्र लवणशब्दः। सारशब्द उत्कर्षे पुंलिङ्ग इति। यथा चन्दनसार इति। अपूर्व इति। अपूर्वशब्दोऽयं धर्माधर्मयोर्वर्त्तते तत्साधन इति। अदृष्टोपार्जनं प्रति यस्याङ्गभावः स तत्साधनमित्यर्थः। स पुनर्यागादिः। कर्मशब्दो नकारान्त एवोभयलिङ्ग इति कर्म कर्मा चेति। (D)

(D) धर्मशब्दो नकारान्त एवोभयलिङ्गः। धर्म धर्मा चेति क्वचित् पाठान्तरम्। ०

## ३२ । इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ।

आदेशः कथनमिति । प्रथमतः प्रतिपादनम् । शब्देनान्वादेशोऽनुकथनमिति । पश्चात् प्रतिपादनम् । तच्च यादृशमिहाभिप्रेतं तादृशं पश्चाद् वक्ष्यति । आभ्यां छात्राभ्यामित्यादि । आदेश एषः । अथो आभ्यामित्याद्यन्वादेश एषः । अथोशब्देनात्रान्वादेश उच्यते । ननु च त्यदाद्यत्वे कृते हलि लोपे (७।२।११०) चाथो आभ्यामित्यादिरूपं सिध्यत्येव । तस्मादनुदात्तमेव केवलं विधेयम् । आदेशवचनन्त्वनर्थकमित्यत आह आदेशवचनमित्यादि । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेरित्यकच् (५।३।७१) प्रत्यये कृते सत्यप्यनाप्यक (७।२।११२) इत्यधिकारादिद्रूपस्य लोपे नास्तीत्यसत्यादेशवचने रूपं न सिध्यति । ननु च हलि लोप (७।२।११३) इत्यनेन हलादाविद्रूपस्य लोपेऽनेनाजादौ यथा स्यादित्येवमर्थं कस्मान्न भवति ? नैतदस्ति । सामर्थ्याद्धि हलादावेव भवितव्यम् । तत्र स्मैभावादिषु कृतेषु । तस्मात् साकच्कार्थमादेशवचनम् । साकच्कार्थे चास्मिन्नारब्धे शित्करणं सर्वादेशार्थम् । अन्यथा ह्यलोऽन्त्यस्य स्यात् । प्रयोजनाभावान्न भविष्यतीति चेत् ? न । अकारस्य त्वकारवचनं दीर्घादेशनिवृत्त्यर्थं विज्ञायते । अथानुदात्तवचनं किमर्थम् ? ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्य इति (६।१।१७१) विभक्तेरुदात्तत्वे कृतेऽनुदात्तं पदमेकवर्जमिति (६।१।१५८) प्रकृतेरनुदात्तत्वं भविष्यति । नैतदस्ति । सविभक्त्यर्थमनुदात्तवचनम् । सविभक्तिकस्यानुदात्तत्वं यथा स्यात् । तेन सर्वानुदात्तमेवाभ्यामिति पदमन्वादेशे भवति । यदि पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशस्तदेह कस्मान्न भवति ? देवदत्तं भोजयेमञ्च यज्ञदत्तमिति । अस्ति ह्यत्राप्यन्वादेशः । ततश्च द्वितीयाटौस्स्वेन (२।४।३४) इत्येनादेशः प्राप्नोतीत्यत आह नेह पश्चादुच्चारणमात्रमित्यादि । तेनेह न भवतीति । नह्यत्रैकस्याभिधेयस्य पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनम् । किं तर्हि ? अभिधेयान्तरस्य । तथाहि पूर्वं देवदत्तस्य प्रतिपादनम् । उत्तरकालं यज्ञदत्तस्य । कथं पुनरयं विशेषो लभ्यते ? यावता पश्चादुच्चारणमात्रे ऽन्वादेशशब्दः प्रसिद्धः । न च सामान्यशब्दः शब्दान्तरसन्निधानादिकमन्तरेण विशेषेऽवतिष्ठते । नैष दोषः । यस्माद्विभाषा सेनेत्यतो (२।४।२५) विभाषाग्रहणमनु-

वर्त्तते। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेनैवंविधविषय एवान्वादेशोऽत्र ग्रहीतव्यो नान्वादेशमात्रम्। तस्माद्विशिष्टस्यान्वादेशस्य ग्रहणं युक्तमिति भावः। यदपि च वक्ष्यति तत्र (२।४।३४) यत्र किञ्चिद्विधायेत्यादि तदपीममेव न्यायं हृदि कृत्वेति बोद्धव्यम्।

## ३३। एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ।

अथो अत्रेति। सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०)। अथो अत इति। पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७)। पुनर्वचनमनुदात्तार्थमिति। एतदोऽशिति (५।३।५) यः पाञ्चमिकोऽशादेशः स उदात्तः स्यात्। अनुदात्तश्चेष्यत इत्यनुदात्तार्थं वचनम्। अथ त्रतसोरिति किमर्थम्? यावता त्रतसौ चानुदात्ताविति वचनात् तयोरेव निमित्तभावो विज्ञास्यते? नैतदस्ति। अन्वाचयोऽपि विज्ञायेत यथा कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति (३।१।११)। अत्राविशेषेण क्यङ् भवति। तथात्राविशेषेण तावदशादेशो भवति। यत्र तु त्रतसौ स्तश्चेति तत्र तावनुदात्तौ भवतः। तस्मात् तावन्निमित्तभावार्थं त्रतसोरिति वक्तव्यम्। अथ त्रतसोरनुदात्तत्वं किमर्थम्? यावता लित्स्वर एव तयोरनुदात्तत्वं करिष्यति। नैतदस्ति। न ह्यत्र लित्स्वरोऽस्ति। अनुदात्तस्यादेशस्य विधानात्। ननु च लित्स्वरे कृत आदेशस्वरः क्रियते। यद्येवं लित्स्वरापवाद आदेशस्वरो विज्ञायेत। न चापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते। तस्माद् यथा गोष्पदप्रमित्यत्र लिति पूर्वमनुदात्तभावी नास्तीति प्रत्ययस्वर एव भवति तथेहापि स्यादिति त्रतसोरनुदात्तार्थं वचनम्। ततश्चैतदपि सर्वमनुदात्तं पदं भवति। ताविति वक्तव्ये त्रतसोरिति वचनं स्पष्टार्थम्। गोष्पदप्रमिति। यावति विन्दजीवोः (३।४।३०)। चर्मोदरयोः पूरेः (३।४।३१)। वर्षप्रमाण ऊलोपश्चान्यतरस्यामिति (३।४।३२) णमुल्। ऊलोपश्च।

## ३४। द्वितीयाटौस्स्वेनः।

इदमेतदोरित्यादि। ननु चानन्तरत्वादेतद एवात्रानुवृत्तिः प्राप्नोति। नेदमो व्यवहितत्वादित्यत आह मण्डूकप्लुतिन्यायेनेत्यादि। एकमेवेदं विधानमिति। अयं दण्ड इत्यनेन दण्डस्य सत्तोपलक्षणमात्रं कृत्वा हरानेनेत्यने-

नैव हरणक्रियां प्रति दण्डस्य करणभावो निर्दिश्यत इत्येकं विधानम्। एतमातं ङितं विद्यादित्यत्रापीषदर्थे क्रियायोगे मर्य्यादाभिविधौ च य इती- (E) षदाद्यर्थस्याकारस्य निर्देशमात्रं कृत्वैतमातं ङितं विद्यादित्यनेन वेदन- क्रियां प्रत्याकारमात्रस्य कर्मभाव एव विधीयत इत्येकमेव विधानम्।

## ३५। आर्द्धधातुके।

वध्यादिति। आशिषि लिङ्। लिङाशिषीत्यार्द्धधातुक (३।४।११६) संज्ञा। हन्यादिति विधिनिमन्त्रणेत्यादिना (३।२।१६१) लिङ्। विषयसप्तमी चेयमिति। यदि परसप्तमी स्यात् तदा भव्यमित्यादि न सिध्यति। तथाहि हलन्तत्वादस्त्यादीनामृहलोर्ण्यदिति (३।१।१२४) ण्यति कृते तस्मिन् परतोऽस्तेर्भूः (२।४।५२) स्जेर्व्यघञपो (२।४।५६) चक्षिङः (२।४।५४) ख्याञित्येत आदेशाः स्युः। तत्र द्वयोर्वृद्धौ कृतायां तृतीयस्य युकि कृते भाव्यं प्रवेयमा- ख्याय्य मित्यनिष्टं रूपं स्यात्। विषयसप्तम्यां त्वस्यामार्द्धधातुकत्वे विवक्षिते प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरादेशाः स्युः। ततोऽजन्तत्वादचो यदिति (३।१।९७) यतीद् यतीतीत्वे (६।४।६५) कृते सर्व्वेषां गुणेऽस्त्यादेशस्य धातोस्तन्निमित्तस्यैवेत्यवादेशे (६।१।८०) च भव्यं प्रवेयमाख्येयमिति सिध्यति। तस्माद् विषयसप्तमीयम्। न परसप्तमी। कथं पुनर्विषयसप्तमीयं लभ्यते। यावता तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति (१।१।६६) परिभाषोपस्थानात् परसप्तम्येव न्याय्या। न विषयसप्तमी। नैतदस्ति। आर्धधातुक इति सामान्यनिर्देशात्। न च सामान्ये पौर्व्वापर्य्य- मस्ति। बुद्ध्या पौर्वापर्य्यमस्तीति चेत्? नैवम्। एवं हि गौरवं स्यात्। अथवाचो यदित्यज्ग्रहणं (३।१।९७) ज्ञापकं विषयसप्तमीयमिति। पश्चाद् यथा प्राप्तमित्यादि। आदेशेषु कृतेषूत्तरकालं यो यतः प्राप्नोति स ततो भवतीत्यर्थः।

## ३६। अदो जग्धि ल्यप् ति किति।

प्रजग्ध्येति। समानकर्तृकयोः पूर्व्वकाल (३।४।२१) इति क्त्वा। कुगति- प्रादय इति (२।२।१८) समासः। समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (३।१।३७)।

(E) अयं भाष्यकारीयः श्लोकांशः। निपात (१।१।१४) एकाजनाङित्यत्र भाष्ये च स श्लोकः पठितः।

जग्ध इति । झषस्तथोर्धोऽध इति (८।२।४०) तकारस्य धकारः । झलां जश् झशीति ( ८।४।५३ ) जश्त्वम् । धकारस्य दकारः । झरो झरि सवर्णे इति (८।४।६५) लोपः । अथेह्रेदितो नुम् धातोरिति (७।१।५८) नुम् कस्मान्न भवतीत्यत आह इकार उच्चारणार्थ इति । यथा ऽद भक्षण इत्यत्राकार उच्चारणार्थं स्तथेहापीकारो वेदितव्यः । अथ ल्यब्ग्रहणं किमर्थम् ? ति कितीत्येव सिद्धम् । न सिध्यति । यस्मात् क्त्वाप्रत्ययस्य परत्वाल्लयबादेशः प्राप्नोति । नैतदस्ति । अन्तरङ्गत्वाज्जग्धयादेशेन भवितव्यम् । अन्तरङ्गत्वन्तु तस्यैकपदाश्रयत्वात् । ल्यबादेशस्य तु वहिरङ्गत्वं समासाश्रयत्वात् । समासस्य चानेकपदाश्रयत्वात् । एवं तर्हि

जग्धौ सिद्धेऽन्तरङ्गत्वात् ति किति यल्लयबुच्यते ।

तज्—ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥ इति

तेन दधाते र्जहातेश्च संपूर्वाद्विपूर्वाच्च क्त्वाप्रत्यये कृते द्यतिस्यतिमास्थामित्ति कितीत्यत (७।४।४०) इत्ति कितीत्यनुवर्त्तमाने दधातेर्हिः(७।४।४२)र्जहातेश्च क्त्वीति ( ७।४।४३ ) हिरादेशो ल्यबादेशं बाधित्वा प्राप्तः । अस्मादेव ज्ञापकाल्ल्यपा बाधितत्वान्न भवति संधाय विहायेति । एवं निर्दाय दुर्दायेति दो दद् घोरिति ( ७।४।४४ ) ददादेशो न भवति । प्रस्थायेत्यत्र द्यतिस्यतिमास्थामित्ति कितीतीत्वं (७।४।४०) न भवति । प्रखन्य प्रखायेति । जनसनखनां सञ्झलोरिति (६।४।४२) नित्यमात्त्वं न भवति । ये विभाषेति (६।४।४३) विभाषैव भवति । तत्र हि विड्वनोरनुनासिकस्यादित्यत (६।४।४१) आद्ग्रहणमनुवर्त्तते । प्रक्रम्य इति । क्रमश्च क्त्वीति (६।४।१८) दीर्घत्वं न भवति । तत्र हि ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण इत्यतो (६।३।१११) दीर्घग्रहणमनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङितीत्यतो ( ६।४।१५ ) झल्ग्रहणं क्ङिति चानुवर्त्तते । आपृच्छ्येति । च्छ्वोः शूडनुनासिके चेति ( ६।४।१९ ) शकारो न भवति । प्रदीव्येत्यत्रानेनैव सूत्रेणोड् न भवति । हलि (८।२।७७) चेति दीर्घत्वम् । प्रपठेत्यत्रार्द्धधातुकस्येतीड् (७।१।३५) न भवति ।

३७ । लुङ्सनो घस्लृ ।

अघसदिति । लृदित्त्वात् पुषादिसूत्रेण (३।४।५५) च्लेरङादेशः । जिघत्-

सतीति। सः स्यार्द्धधातुके (७।४।४९) इति सकारस्य तकारः। घस्लृभावेऽच्युपसंख्यानमिति। घस्लृभावे कर्त्तव्ये ऽचि तस्योपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्। उत्तरसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः स्तेन घस्लृभावोऽच्यपि भवति। प्रघस इति। पचाद्यच् (३।१।१३४)।

## ३८। घञपोश्च।

घास इति भावे घञ्। प्रघस इति। उपसर्गेऽद (३।३।५९) इत्यप्। लुङ्सन्घञप्सु घस्लृ इत्येकयोगे कर्त्तव्ये योगविभागो वैचित्र्यार्थः।

## ३९। बहुलं छन्दसि।

घस्तामिति। लङ्। तसस्ताम्। आदादिकत्वाच्छपो लुक्। बहुलच्छन्दस्यमाङ्योगे (६।४।७५) ऽपीत्यडागमाभावः। अथवा लुङुदाहरणमेतत्। मन्त्रे घसह्वरेत्यादिना (२।४।८०) च्लेर्लुक्। सग्धिरिति। स्त्रियां क्तिन्। घसिभसोर्हलि चेत्युपधालोपः (६।४।१००)। झलो (८.२'२६) झलीति सकारलोपः। अथ तु सिचोऽनेन लोपो विधीयते तदा च्छान्दसो वर्णलोपो द्रष्टव्यो यथेष्कर्त्तारमध्वर इति। पूर्ववत् तकारस्य धकारः। घकारस्य जश्त्वम्। समाना ग्धिरिति (F) पूर्वापरप्रथमेत्यादिना (२।१।५८) समासः। समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केष्विति (८।३।८४) सभावः. अत्तामिति। झलो झलीति (८।२।२६) सिचो लोपः। तसस्ताम्। खरि चेति (८।४।५५) दकारस्य तकारः। अथवा लङुदाहरणमेतत्। अथ बहुलग्रहणं किमर्थम्? अन्यतरस्यांग्रहणमेव कस्मान्न क्रियत इत्युक्ते कः पुनरेवं सति गुणो भवतीति पर्य्यनुयोगमाशङ्क्याह तदेवोत्तरार्थमपि भविष्यतीति। एतेनेहान्यतरस्यांग्रहणे सत्युत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणं न कर्त्तव्यं भवतीतीमं गुणं दर्शयति। तर्हीहैवान्यतरस्यांग्रहणमुत्तरसूत्रेऽनुवर्त्तिष्यते। यदि पुनरुत्तरसूत्रे बहुलग्रहणमनुवर्त्तेत तदा किं स्यात्? अन्यदपि किञ्चित् कार्य्यं भवतीत्याशङ्क्येत। क्वचिदन्यदेवेत्येषोऽप्यर्थो हि बहुलग्रहणस्याभीष्ट एव। घस्तामित्यत्रोपधालोपो न भवतीति। घसिभसोर्हलि चेति (६।४।१००) प्राप्तः। स बहुलग्रहणान्न भवति।

(F) सग्धिः स्त्री सहभोजन मित्यमरः।

४० लिट्यन्यतरस्याम् ।

लिटि पर इति । ननु चार्द्धधातुक (२ ३।३५) इति वर्त्तते । आर्धधातुक इति च विषयसप्तमीयमित्युक्तम् । तदयुक्तं लिटि परत इति वचनम् । नेदमयुक्तम् । आर्धधातुकशब्दस्यार्द्धधातुकत्वमनेकप्रत्ययसाधारणं सामान्यमर्थः । तेन च पौर्वापर्य्यं न सम्भवति । तद्धि देशतो वा भवति कालतो वा । सामान्यस्य चादेशत्वात् कालत्वान्नित्यत्वाच्च तेन सह देशकृतं कालकृतञ्च पौर्वापर्य्यं नोपपद्यते । अतो युक्ता ऽर्धधातुक इति (२।४।३५) विषयसप्तमी । इह तु लिटीत्यार्धधातुक उपात्तः । सम्भवति चानेन पौर्वापर्य्यम् । किञ्च लिटि परभूते घस्लृआदेशे विधीयमाने न किञ्चिदनिष्टमापद्यते । तस्मात् परसप्तम्येवैषा युक्ता । जक्षतुरिति । गमहनेत्यादिनोपधालोपः (६।४।९८) । शासिवसिघसीनाञ्चेति (८।३।६०) षत्वम् । खरि चेति (८।४।५५) चर्त्वम् । आद । आदतुरादुरिति । अत आदेरित्यभ्यासस्य (७।४।७०) दीर्घः । ननु च घस्लृ अदन इत्येतस्य जघास जक्षतु र्जक्षुरिति भविष्यति । अद भक्षण इत्यस्यादादतुरादुरिति । अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम् । सृघस्यदः क्मरजिति ( ३।२।१६० ) क्मरज्विधानात् । तत् कथमिह लिटि विकल्पविधानम् । घसेः प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थम् । तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनञ्च तत्र प्रयोगो न भवति ।

४१ । वेञो वयिः ।

इकार उच्चारणार्थ इति । नानुबन्धः । तेन नुम् न भवतीति भावः । उवायेति । लिट्यभ्यासस्योभयेषामिति (६।१।१७) संप्रसारणम् । ऊयतुरूयुरित्यत्रापि ग्रह्यादिसूत्रेण ( ६।१।१६ ) संप्रसारणम् । अथ यकारस्य संप्रसारणं कस्मान्न भवतीत्याह लिटि वयो य इत्यादि । वेञ इति संप्रसारणं न भवतीति । वच्यादिसूत्रेण ( ६।१।१५ ) प्राप्तम् । वेञ इति ( ६।१।४० ) प्रतिषेधान्न भवति । तत्र हि न संप्रसारणे संप्रसारणमित्यतो (६।१।३७) नेति वर्त्तते । उवायेत्यादि रूपं वये रात्मनेपदित्वान्न सिध्यतीति सूत्रारम्भः ।

### ४२। हनो वध लिङि ।

अकारान्तश्चायमादेश इति। कुत एतत्। शैलीयमाचार्य्यस्य यत्वेह प्रकरणे व्यञ्जनान्त आदेश स्वत्वोच्चारणार्थमिकारं करोति यथा जग्धिरित्यादौ। तस्मादिकारान्ताकरणादकारान्तोऽयमादेश इति विज्ञायते। हलन्तलक्षणेति। वदव्रजहलन्तस्याच (७।२।३) इत्यनेन या वृद्धिर्विधीयते सा हलन्तलक्षणा।

### ४३। लुङि च ।

आत्मनेपदेषु लुङि विकल्पो यथा स्याल्लिङि मा भूदिति। अनेन योगविभागस्योत्तरार्थतां दर्शयति। एकयोगे हि सति लिङोऽप्युत्तरत्रानुवृत्तेस्तत्राप्यात्मनेपदेषु विकल्पः स्यात्।

### ४४। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।

आवधिष्टेति। आङो यमहन (१।३।२८) इत्यात्मनेपदम्। आवधिषतेति। आत्मनेपदेष्वनत (७।१।५) इत्यदादेशः। आहतेति। हनः सिजिति (१।२।१४) कित्त्वम्। अनुदात्तोपदेशेत्यादिना (६।४।३७) ऽनुनासिकलोपः। झलादङ्गादिति (८।२।२७) सिचो लोपः।

### ४५। इणो गा लुङि ।

अगादिति। गातिस्थेत्यादिना (२।४।७७) सिचो लुक्। अगुरिति। आत इति (३।४।११०) झेर्जुस्। उस्यपदान्तादिति (६।१।९६) पररूपत्वम्। लुङीति वर्त्तमान इत्यादि। लुङि चेत्यतो (२।४।४३) लुङ्ग्रहणेऽनुवर्त्तमाने यत् पुनर्लुङ्ग्रहणं कृतं तस्यैतत् प्रयोजनम् परस्मैपदेष्वपि यथा स्यात्। नित्यञ्चात्मनेपदेषु। एतेनैतद् दर्शयति। पूर्वकं हि लुङ्ग्रहण मात्मनेपदग्रहणेनान्यतरस्यांग्रहणेन च सम्बद्धम्। अतस्तदनुवृत्तौ तयोरप्यनुवृत्तिः स्यात्। तथाचात्मनेपदेष्वेव विकल्पेनादेशः स्यात्। तस्मादविशेषेण नित्यञ्च यथा स्यादित्येवमर्थं पुन र्लुङ्ग्रहणं क्रियते। अगायीति। चिण् भावकर्म्मणोरिति (३।१।६६) चिण्। आतो युक् चिण्कृतोरिति (७।३।३३) युक्। चिणो (६।४।१०४) लुगिति तकारस्य लुक्। इणवदिक इति वक्तव्यमिति। यथेणो

गादेशो लुङि भवति तथेक् स्मरण इत्यस्यापि भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्। बहुलञ्छन्दसीत्यतो (२।४।३९) बहुलग्रहण मनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतिन्यायेन। तेनेकोऽपि लुङि गादेशो भविष्यतीति।

४६। णौ गमिरबोधने।

गमयतीति। जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्चेति (ग,सू,१८८) मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम्।

४७। सनि च।

जिगमिषतीति। गमेरिट् परस्मैपदेष्विती़ट् (७।२।५८)। प्रतीषिषतीति। अजादे र्द्वितीयस्येति (६।१।२) सन्यङोरित्यनेन (६।१।९) स इत्यस्य द्विर्वचनम्। सन्यत (७।४।७९) इतीत्त्वम्। उपसर्गेकारस्य धातोरिकारेण सहाकः सवर्णे (६।१।१०१) दीर्घः। इङश्चेत्यादिना (२।४।४८) योगविभागस्योत्तरार्थतां दर्शयति। एकयोगे हि णेरप्युत्तरत्रानुवृत्तिः स्यात्। ततश्च तत्राप्यय मादेशः प्रसज्येत।

४८। इङश्च।

अधिजिगांसत इति। पूर्ववत् सन (१।३।६२) इत्यात्मनेपदम्। अज्झनगमां (६।४।१६) सनीति दीर्घः।

४९। गाङ् लिटि।

अधिजग इति। लिट स्तझयोरेशिरेजित्येश् (३।४।८१)। आतो लोप इटि (६।४।६४) चेत्याकारलोपः। गा इत्येतस्य द्विर्वचनम्। ननु लिटि परभूते तशब्दस्य परत्वात् प्रागेवेशादेशेन भवितव्यम्। पश्चाद् गाङादेशेन। ततश्च द्विर्वचने निमित्तेऽच्ययं गाङादेश इति द्विर्वचनेऽचीति (१।१।५९) स्थानिवद्भावादिवर्णस्य द्विर्वचनं प्राप्नोति। तत् कथं गा इत्येतस्य द्विर्वचनम्? नैतदस्ति। यस्माल् लिण्मात्रापेक्षत्वाद् गाङादेशोऽन्तरङ्गः। लिङादेशविशेषाश्रयत्वादेशादेशो बहिरङ्गः। तस्मादन्तरङ्गत्वादेशादेशात् प्रागेव गाङादेशेन भवितव्यम्। ततश्च द्विर्वचननिमित्तेनायमच्यजादेश इति स्थानिवद्भावो न भवति। तत् कुत इवर्णस्य द्विर्वचनप्रसङ्गः? गाङोऽनुबन्ध-

करणं विशेषणार्थमिति। गाङ्कुटादिसूत्रे (१।२।१) गाकुटादिभ्य इत्युच्यमाने कै गै शब्द इत्यस्यापि ग्रहणं स्यात्। ततश्चागासीन्नट इत्यत्र घुमादि (६।४।६६) सूत्रेणेत्वं प्रसज्येत। अथ क्रियमाणेऽपि ङकारे गाङ् गताविंत्यस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति? येन हेतुना न भवति स हेतु गाङ् कुटादिसूत्रे (१।२।१) एव दर्शितः। ननु चेङो ङित स्तत्र स्थानिवद्भावेनैव ग्रहणं भविष्यति। तत् किं ङकारेणेत्यत आह नहीत्यादि। तत्र हि गाङित्येतस्य स्वरूपस्य ग्रहणम्। न च तत् स्थानिवद्भावेन लभ्यते। किं तर्हि? कार्य्यम्। यस्मात् स्थानिवदादेश इति कार्य्यातिदेशोऽयम्। न रूपातिदेशः।

## ५०। विभाषा लुङ्लृङोः।

अध्यैष्टेति। आड़जादीना (६।४।७२) मित्याट्। आटश्चेति (६।१।९०) वृद्धिः।

## ५१। णौ च संश्चङोः।

णावितीङपेक्षयेत्यादि। णावितीयं या परसप्तमीङपेक्षया सा। संश्चङोरितीयं या परसप्तमी सा णपेक्षयेत्यर्थः। अधिजिगापयिषतीति। णिच्। अर्त्तिह्रीत्यादिना (७।३।३६) पुक्। सन्। इट्। गुणायादेशौ। अध्यापिपयिषतीति। क्रीङ्जीनाणावित्यात्त्वम् (६।१।४८)। पुक्। अजादेर्द्वितीयस्येति (६।१।२)'पा इत्यस्य द्विर्वचनम्। अध्यजीगपदिति। णिश्रीत्यादिना (३।१।४८) चङ्। णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१)। सन्वल्लघुनीति (७।४।९३) सन्वद्भावात् सन्यत (७।४।७९) इतीत्त्वम्। दीर्घो लघो-(७।४।९४) रिति दीर्घः।

## ५२। अस्तेर्भूः।

ईहामासेति। ईहतेरिजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ (३।१।३६) इत्याम्। आम (२।४।८१) इति लेर्लुक्। कृञ्चानुप्रयुज्यते (३।१।४०) लिटीत्यस्तेर्लिट्परस्यानुप्रयोगः। प्रत्याहारग्रहणेनास्तेर्ग्रहणसामर्थ्यादिति। कृञ्चानु-

प्रयुज्यते लिटीत्यत्र ( ३।१।४० ) कृञिति प्रत्याहारग्रहणम्। अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरीति ( ५।४।५० ) कृशब्दादारभ्य कृञो द्वितीय-तृतीयशम्बबीजात् कृषा (५।४।५८) वित्या कृञो ञकारात्। तेन च प्रत्याहार-ग्रहणेनास्तेरपि ग्रहणम्। तस्यैतदेव प्रयोजनम्। आसेत्येतदनुप्रयोगे रूपं यथा स्यादिति। यदि चास्तेरनुप्रयोगेऽपि भूभावः स्यात् तदासेत्येतदनुप्रयोगे रूपं न स्यादिति प्रत्याहारग्रहणमनर्थकम्। ततश्च कृभ्वनुप्रयुज्यते लिटीत्येवं ब्रूयात्। तत्राप्ययमर्थः। किमिदं प्रत्याहारग्रहणमुत करोतेरित्येव सन्देहः परिहृतो भवति। कृतश्च प्रत्याहारग्रहणम्। तस्मात् प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्यादनुप्रयोगेऽपि भूभावोऽस्तेर्न भवति। तथाचोच्यत इत्यादिना ऽनन्तरोक्तमेवार्थमाप्तवचनेन (G) द्रढयति। भूरिति दीर्घोच्चारणं निष्ठायां ह्रस्वश्रवणं मा भूद् भूतो भूतवानिति। अस्तेरिति श्तिपा निर्देशोऽस्यतेर्मा भूत्। नैतदस्ति। निरनुबन्धकपरिभाषयैवास्यतेर्न भविष्यति। तस्य ह्युकारोऽनुबन्धं उदितो वेति (७।२।५६) विशेषणार्थः कृतः। अस्तेस्त्वकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः। एवं तर्हि श्तिपा निर्देशो वैचित्र्यार्थ इत्येके। निरनुबन्धकपरिभाषायाः प्रत्ययविधिविषयत्वादित्यपरे।

## ५३। ब्रुवो वचिः।

वक्तेति। चोः कुरिति (८।२।३०) कुत्वम्। ऊच इति। वच्यादिसूत्रेण (६।१।१५) संप्रसारणम्।

## ५४। चक्षिङः ख्याञ्।

नित्यमात्मनेपदं न भवतीति। यदि हि स्यान् ञकारानुबन्धकरण-

(G)० आप्तवचनेनेति। श्लोकवार्त्तिककारवचनेनेत्यर्थः। तथाचात्र श्लोकः—

अस्ती विहायाभ्यधितेव कृञ्पदं ग्रहीतुकामस्तितयं तदेव हि।
अनुप्रयोगे तु भुवास्त्यबाधनं स्मरन्ति कर्त्तुर्वचनान् मनीषिणः ॥१॥ इति।

अनुप्रयोगविषये भुवा भूभावेनास्तेरबाधनमनिष्ठत्तिं मनीषिणः स्मरन्ति। कर्त्तुः सूत्रकारस्य वचनात्। मनीषिणः कर्त्तुरिति वेति पदार्थस्यार्थः। मुद्रितकाशिकायां कर्त्तुर्वचनमिति पाठः।

Though the latter half of this Stanza is undoubtedly by कात्यायन or the श्लोकवार्त्तिककार, as it is read as a वार्त्तिक in 6. 4. 110, the first half is considered by some, as अनार्ष and recently composed to make up the Stanza.

मनर्थकं स्यात् । तस्मात् कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विवक्षित आत्मनेपदं स्यान्नान्यत्र । क्शादिरपीति (H) । ककारशकारयोरकार उच्चारणार्थः । क्श् ख्याञित्येवंरूप आदेशो वक्तव्यः । कथं पुनरिष्यमाणोऽप्येवंविध आदेशो लभ्यते । पूर्वोक्तस्य बहुलग्रहणस्यानुवृत्तेः । अतएव बहुलग्रहणस्यानुवृत्तेर्वर्जनेऽसनयोश्चादेशप्रतिषेधो भवतीति व्याख्यानं कर्त्तव्यम् । संचक्ष्या इति । ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) । नृचक्षा इति । सर्वधातुभ्योऽसुन् (उण्, ४।६२८) । अत्वसन्तस्य चाधातोरिति ( ६।४।१४ ) दीर्घः । विचक्षण इति । कृत्यल्युटो बहुलमिति ( ३।३।११ ) कर्त्तरि ल्युट् । बहुलमित्यादि । संज्ञायां छन्दसि च जग्ध्यादेशादिकार्य्यं बहुलं न भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । किमर्थम् ? अन्नाद्यर्थम् । अन्नादयः शब्दाः साधवो यथा स्युः । व्याख्यानन्तु तदेव बहुलग्रहणमाश्रित्य कर्त्तव्यम् । अन्नमिति । अदो जग्धिरादेशो न भवति । बहुलग्रहणस्य सिंहावलोकितन्यायेनानुवृत्तेः । वधक इति । हनो वध इत्यादिना ( २।४।४२ ) वधादेशो लिङ्युच्यमानो हन्तेर्ण्वुल्प्रत्यये कृतेऽपि भवति । गात्रमिति । औणादिकष्ट्रन् । इणो गा लुङीति ( २।४।४२ ) लुङ्युच्यमानो गादेशोऽत्रापि भवति । विचक्षण इति । चक्षिङः ख्याञादेशो न भवति ल्युटि । अजिरशब्दस्त्वजिरशिशिरशिथिरेति किरच्प्रत्ययान्त ( उण्, १।५३ ) औणादिको निपातितः । तस्मातएव निपातनादजेर्व्यघञपोरिति (२।४।५६) विधीयमानो वीभावो न भवति । आदिशब्देन प्रवस इत्यादेर्ग्रहणम् ।

## ५५ । वा लिटि ।

## ५६ । अजेर्व्यघञपोः ।

प्रवायक इति । ण्वुल् । प्रवयणीयमिति । अनीयर् । कृत्यच इति (८।४।२९) णत्वम् । घञपोः प्रतिषेधे क्यप उपसंख्यानं कर्त्तव्य मिति । घञपोः प्रतिषेधे कर्त्तव्ये क्यपः प्रतिषेधस्योपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

---

(H) There are some वार्त्तिकs, in the Rule 2. 4. 54, about this ख्याञादेश viz : चक्षिङः क्शाञ्ख्याञौ, ख्शादिर्वा &c... ।

क्यपः प्रतिषेधनिमित्तत्वेन प्रतिषेधं प्रति सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वात् क्यप इति षष्ठी। तत्रेदं प्रतिपादनम्। संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदेत्यादिना (३।३।९९) संज्ञायां गम्यमानायामजेः क्यप् विधास्यते। नियतवर्णानुपूर्वीका च संज्ञा भवति। न चादेशे कृते संज्ञा गम्यते। तस्मात् संज्ञायां विधानात् क्यपि वीभावो न भवति। वलादावार्द्धधातुके विकल्प इष्यत इति। कथं पुनरिष्यमाणोऽपि लभ्यते? अजेरुदात्तत्वात्। स ह्यौदर्थो धातुषूदात्तः पठ्यते। यदि चास्य नित्यं वीभावः स्यात् तदा तस्योदात्तपाठोऽनर्थकः स्यात्। नहि वीभावे विहित इट् प्राप्नोति। तस्यानुदात्तत्वात्।

## ५७। वा यौ।

यु इति ल्युटो ग्रहणमिति। अन्यस्यासम्भवात्। प्रवयणो दण्ड इति। प्राज्यतेऽनेनेति करणे ल्युट्। पूर्ववत्सत्वम्।

## ५८। ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः।

ण्यादयो गोत्रप्रत्यया इति। गोत्राद् यून्यस्त्रियामिति (४।१।९४) गोत्रप्रत्ययान्तादेव युवप्रत्ययविधानात्। तस्माद् यूनीञिति। अत (४।१।९५) इञित्यनेन। कौरव्यशब्दस्तिकादिषु पठ्यत इति। औरसशब्दादनन्तरम्। क्षत्रियगोत्रस्य तत्र ग्रहणमिति। औरसशब्देन क्षत्रियगोत्रप्रत्ययान्तेन साहचर्यात्। औरसशब्दो हि जनपदशब्दात् क्षत्रियादञिति (४।१।१६८) क्षत्रियगोत्रप्रत्ययान्तः। ऋष्यण इति। ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्य (४।१।११४) श्चेत्यनेन। कुर्वादिभ्यो ण्य इति। वामरथ्यशब्दं व्युत्पादयति। तस्मात् कण्वादिभ्यो गोत्र (४।२।१११) इति शैषिकोऽणिति। ननु च वामरथ्यशब्दः कुर्वादिषु पठ्यते। न कण्वादिषु। तत् कथमेवमुक्तम्? यद्यपि न पठ्यते तथापि कुर्वादिषु वामरथ्यस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जमिति पाठात् कण्वादिवद्भावोऽस्ति। अत एवमुक्तमित्यदोषः। दाक्षायण इति। यञिञोश्चेति (४।१।१०१) फक्। अब्राह्मणगोत्रमात्रादिति। इह केचिदुक्तमणिञो लुकि क्षत्रियगोत्रमात्राद् युवप्रत्ययस्योपसंख्यानमिति। तेषां वैश्यगोत्रान्न प्राप्नोति। तस्माद्

वर्त्तमान

वैश्यगोत्रादपि यथा स्यादित्येवमर्थं मात्रग्रहणम् । अथ चत्रियै हि गोत्राणि सम्भवन्ति । तत्र ब्राह्मणगोत्रं वर्जयित्वा ऽन्यतः स वति । पूर्वक्ते तु वाक्ये ऽतद्राजादपि चत्रियगोत्राद् यथा स्यादि मात्रग्रहणम् । तथाह्यणिञो र्लुकि तद्राजाद् युवप्रत्ययस्योपसंख्य कैश्चिदुक्तम् । तन्मतनिरासार्थमेतद्वाक्यमुपन्यस्तम् । बौधिः पितेत्येव चत्रियगोत्रोदाहरणानि दर्शयति । भाण्डीजङ्घिरित्येवमादिना वै दाहरणम् । ब्राह्मणगोत्रप्रतिषेधादिह न भवति दाचायण इति वि वयवलचण इति । चत्रियगोत्रमधिकृत्येदमुक्तम् । भाण्डीज वैश्यगोत्रेऽत (४।१।९५) इञित्यनेनैव भवतीति वेदितव्यम् । पैल नात् सिद्धमिति । पैलादेराकृतिगणत्वात् तत्रैते द्रष्टव्या इति द

## ५९ । पैलादिभ्यश्च ।

पीलाया (४।१।११८) वेत्यणिति । तत्र हि शिवादिभ्यो (४।१।१ तोऽण्ग्रहणानुवृत्तेः । अन्ये पैलादय इञन्ता इति । अत्रौदञ्चिशब्दो त्वादिवन्तः । बाह्वादिषु ह्युदञ्चुशब्दः पठ्यते । उकारोच्चारण धातुप्रदर्शनार्थत्वात् । उदञ्चतीति ऋत्विगित्यादिना (३।२।५९) सूत्रे उदचोऽपत्यमौदञ्चिः । निपातनादनिदितामित्यादिना (६।४।२४) न भवति । अच (६।४।१३८) इत्यकारलोपश्च । भौलिङ्गिशब्दः इत्य इञन्तः । शेषास्त्वत ( ४।१।९५ ) इञितीञन्ता वेदितव्याः । शा म् ? पठ्यते । स कथम् ? यावता नड़ादिषु शलङ्कु शलङ्कञ्चेति तद्धि शालङ्कायन इति भवितव्यम् ? प्रकृत्यन्तरं शलङ्कुशब्दोऽस्ति । त विहित इत्येके । अस्मादेव निपातनाच्छलङ्कुशब्दादिञिति दास्तत्स तत्सन्नियोगे च शलङ्कादेश इत्यपरे । तद्राजाच्चाण इति । तद्राजसमानसे उत्तरस्य युवप्रत्ययस्य लुग् भवति । अङ्गस्यापत्यमिति द्व्यञ्मगधे जस्य । (४।१।१७०) । आङ्गः । तस्यापत्यं युवा । आङ्ग एव । अणो द्व्यचः अङ्गस्या इति फिञ् । तस्यानेन लुक् ।

६० । ...

न्यत्र प्राग्ग्रहणं विकल्पार्थं दृष्टम् । अत इहापि विक-
गोत्रविशेषणमित्यादि ।

६१ । न तौल्वलिभ्यः ।

तौल्वल्यादिष्वान्तरह्णातिशब्दः पौष्करसादिशब्दश्च बाह्वादी इवन्तौ।
दिषु ह्यन्तरह्णच्छब्दः पुष्करसच्छब्दश्च पठ्येते । अतोभयपदवृद्धिश्चानु
-दित्वात् । शेषास्त्वत (४।१।९५) इञितीजन्ताः ।

६२ । तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।

बहुषु वर्त्तमानस्येति । बहुष्वर्थेषु वर्त्तमानस्येत्यर्थः । अथ बहुवच
: इत्येवं कस्मान्न व्याख्यायते ? अशक्यमेवं वक्तुम् । यतः संख्यावाच
शब्दो न बहुवचनवाची । यदि तु बहुवचने परत इत्ययमर्थोऽत्राभिमतः
दस्त्रियामिति प्रतिषेधं न कुर्यात् । प्राप्त्यभावात् । न हि तद्राजान्ता-
पन्नेन स्त्रीप्रत्ययेन व्यवहिते बहुवचने परतो लुकः प्राप्तिरस्ति । किञ्चा-
इत्यत्र बहुवचने परतो लुकि विधीयमान उदात्तनिवृत्तिस्वरः प्रसज्येत
म् ? अत्रेरपत्यानि बह्वनीतीतश्चानिञ (४।१।१२२) इति ढ
यो तद्धितस्य कित (६।१।१६१) इत्यन्तोदात्तत्वे कृते बहुवचने जसि
धोऽत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठेत्यादिना (२।४।६५) लुकि कृते ऽनुदात्तस्य च
दात्तलोप (३।१।१६१) इति विभक्तेरुदात्तत्वं प्राप्नोति । तस्माद् बहु
मानस्येत्ययमेवार्थः । बहुष्विति च तद्राजान्तस्य विशेषणम् ।
जस्य । अन्यथा हि द्वन्द्वे दोषः प्रसज्येत । आङ्गस्य वाङ्गस्य सौह्मस्या
ङ्गसुह्मा इत्यत्र लुङ् न स्यात् । नह्यत्र तद्राजो बहुषु वर्त्तते । तदन्तस्
दधिकरणवचनो हि द्वन्द्व इति कृत्वा । तस्मात् तद्राजान्तस्यैवे
। न तद्राजस्य । तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य बहुषु वर्त्तमान

...न्यत्र प्राग्ग्रहणं विकल्पार्थं दृष्टम् । अत इहापि विक...
गोत्रविशेषणमित्यादि ।

## ६१ । न तौल्वलिभ्यः ।

तौल्वल्यादिष्वान्तरहातिशब्दः पौष्करसादिशब्दस्य बाह्वादी इञन्तं... दिषु ह्यन्तरहच्छब्दः पुष्करसच्छब्दस्य पठ्येते । अतोभयपदवृद्धिश्चानु...दित्वात् । शेषास्त्वत (४।१।९५) इञितीञन्ताः ।

## ६२ । तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।

...बहुषु वर्त्तमानस्येति । बह्वर्थेषु वर्त्तमानस्येत्यर्थः । अथ बहुवच... इत्येवं कस्मान्न व्याख्यायते ? अशक्यमेवं वक्तुम् । यतः संख्यावाच... शब्दो न बहुवचनवाची । यदि तु बहुवचने परत इत्ययमर्थोऽत्राभिमतः... दस्त्रियामिति प्रतिषेधं न कुर्य्यात् । प्राप्त्यभावात् । न हि तद्राजान्ता... पन्नेन स्त्रीप्रत्ययेन व्यवहिते बहुवचने परतो लुकः प्राप्तिरस्ति । किञ्चा... इत्यत्र बहुवचने परतो लुकि विधीयमान उदात्तनिवृत्तिस्वरः प्रसज्येत ... म् ? अत्रेरपत्यानि बह्वनीतीतश्चानिञ (४।१।१२२) इति ढ... तद्धितस्य कित (६।१।१६१) इत्यन्तोदात्तत्वे कृते बहुवचने जसि परतोऽत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठेत्यादिना (२।४।६५) लुकि कृते ऽनुदात्तस्य च... त्रोदात्तलोप (६।१।१६१) इति विभक्तेरुदात्तत्वं प्राप्नोति । तस्माद् बहु... र्त्तमानस्येत्ययमेवार्थः । बहुष्विति च तद्राजान्तस्य विशेषणम् । ... द्राजस्य । अन्यथा हि द्वन्द्वे दोषः प्रसज्येत । आङ्गस्य वाङ्गस्य सौह्मस्या... ङ्गसुह्मा इत्यत्र लुङ् न स्यात् । नह्यत्र तद्राजो बहुषु वर्त्तते । तदन्तस्य... दधिकरणवचनो हि द्वन्द्व इति कृत्वा । तस्मात् तद्राजान्तस्यैवे... । न तद्राजस्य । तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य बहुषु वर्त्तमान...

मि कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्। अतस्तां निराकर्त्तुमाह प्रत्यय-
दे। एतच्चोभयगतिरिह शास्त्रे सम्भवतीति लभ्यते। लौकिके
शास्त्रीयमपि तत्रान्तर्भवति। प्रत्ययविधौ तु लौकिकगोत्रस्य
ति ज्ञापकात्। यदयं गोत्रोचोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्स-
ञित्यत्र ( ४।२।३९ ) गोत्रग्रहणं कृत्वा राजन्यग्रहणं करोति
प्रत्ययविधौ लौकिकगोत्रग्रहणन भवतीति। यस्काद्यस्त्वान्ता
मित्यण् (४।३।१२०)। पुष्करसच्छब्दोऽप्यत्र पठ्यते। स किमर्थः ?
इञ् प्राच्यभरतेष्विल्येवं ( २।४।६६ ) सिध्यति। न सिध्यति। न
इति (२ ४।६७) प्रतिषेधः प्राप्नोति। गोपवनादिषु हि
ादयश्चेति ( २।४।६१ ) पठ्यते। तौल्वल्यादिषु पुष्करसच्छब्दः
ल्व्यादीनाञ्च गोपवनादिषु पाठोऽस्तीत्ययमेव यस्कादिषु
ब्दपाठो ज्ञापयति।

। यञञोश्च।

इति। यञश्चेति ( ४।१।१६ ) ङीप्। यस्येति चेत्यकारलोपः
)। हलस्तद्धितस्येति यकारस्य ( ६।४।१५० ) च। तत्र हि
ानां य उपधाया ( ६।४।१४९ ) इत्यतो य इत्यनुवर्त्तते
४ ) इत्यतो लोप इति च। वैद्य इति। शार्ङ्गरवाद
) ङीन्। द्वैप्या औत्सा इति। जातादौ शैषिकेऽर्थे यञ्
दि। यञादीनां बहुषु लुगुच्यमान एकत्वे द्वित्वे च प्राप्नोति
योरिति च संख्याप्रधानोऽयं निर्देशो यथा द्वेयकयोर्हि
इति। एकत्वद्वित्वयोरिति यावत्। अन्यथा हि बहु
शब्देनाञादीनां बहुषु लोपिनां ग्रहणम्। व्यवस्था
शब्दस्य प्रतिपादन मर्थः। कर्त्तव्यमित्यध्याहार्यम्
ावित्यतो (२।४।५६) मण्डूकप्लुतिन्यायेन वाग्रहण म
मुच्चयार्थः क्रियते। तेन यञादीनामेकद्वयो र्व
यदि वेत्यनुवर्त्तते तदा बहुष्वपि विक

व्यवस्थितविभाषाविज्ञानान्न भविष्यतीत्यदोषः। आङ्गकुल...
शब्दात् तद्राजसंज्ञकोऽण्। स च यञादिर्न भवति। तस्येह प्रज्ञा...
प्राङ् निर्देशात्। उपगार्ग्यमिति। अव्ययं विभक्तीत्यादिनाव्ययी...
परमगार्ग्य इति। सन्महदित्यादिना (२।१।६१) प्रथमान्तयोर्स...

६५। अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च।

आत्रेय्य इति। टिड्ढाणञिति ङीप् (४।१।१५)।

६६। बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु।

भरता इति। येषां भरत आद्यः संज्ञाकारी ते भरताः।
इत्यादिषूदाहरणेष्वत इञ् (४।१।९५)। तस्य लुक्। बालाकय...
लादिञ्। हास्तिदासय इति। अत इञ् (४।१।९५)। आ...
यञिञोश्चेति (४।१।१०१) फक्।

६७। न गोपवनादिभ्यः।

विदाद्यन्तर्गणोऽयमिति लुक्प्राप्तिं दर्शयति। शैग्रवा इति।
(६।४।१४६)। ननु चान्येऽपि हरितादयोऽत्र पठ्यन्ते। तत् किमि...
...तावन्त एव इत्यत आह परिशिष्टानामित्यादि। प्रमादपाठ इति
...ठ इत्यर्थः। यदि तेषां प्रमादपाठ एवं तर्ह्यविदादित्वादञ्प्रये...
...ल्यत आह ते हीत्यादि। ते हि चतुर्थेऽध्याये विदादिषु...
...न्त इति न भवत्येष दोषप्रसङ्गः। यस्त्विह गोपवनादिभ्योऽष्ट...
...स प्रमादपाठ इत्युच्यते।

...८। तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे।

...सैं पुनस्तिककितवाभ्यां ताभ्यां गण उपल...
...? नैतत्। कार्यिणा हि गण उपलक्षयितुं युक्तः।
...क्षयितुं युक्तः।

...। उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे।

...न्द्वे चाद्वन्द्वे च भवत्यद्वन्द्वग्रहणं तर्हि किमा...
...। द्वन्द्वग्रहणे ना... द्वन्द्वाधिकारः ...

कार इति । तस्य नञा सम्बन्धे च द्वन्द्वाधिकारनिवृत्तिः प्रतीयते । विषयोपग्रहणार्थमद्वन्द्वग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते ? अद्वन्द्वे ऽद्वन्द्वविषय इति यद्ययमर्थोऽभीष्टः स्यादद्वन्द्वग्रहणं न कुर्य्यात् । विनापि तेनार्थस्य प्रतीते. कथम् ? तिककितवादयोऽपीह त्रयः पठ्यन्ते । उपकलमका भ्र कपिष्ठलाः कृष्णाजिनकृष्णसुन्दरा इति । तेषाञ्चाद्वन्द्व एव ग्रहणं जयति न द्वन्द्वः । पूर्वेणैव सिद्धत्वादिति । तेषां तावन्नियमेनाद्वन्द्वार्थं तत् साहचर्य्यादितरेषामप्यद्वन्द्वार्थं ग्रहणं युक्तमिति निष्फलमेवाद्व स्यात् । तस्माद्द्वन्द्वाधिकारनिवृत्त्यर्थमेतद् युक्तमिति । तेषां पूर्वेण लुग् भवतीति । अन्यथा हि तिककितवादिषु तेषां पाठोऽनर्थकः स्य अद्वन्द्वे त्वनेन विकल्प इति । प्रकृतत्वाल्लुको विज्ञेयः । तत्रोपकलमकश नड़ादिफग्विधानात् तस्य लुग्विकल्पः । ततः परेभ्यः प्राक् कपिष्ठलश इञः । कपिष्ठलमयूरकर्ण इत्येतेभ्यः शिवादिभ्योऽणः । खारीजङ्घादिभ्यः कठेरणिशब्दादत इञः । कठेरणिशब्दादौत्सर्गिकस्याणः । कुषीतकादि कृष्णपिङ्गलपर्य्यन्तेभ्योऽतइञः । अनुलोमशब्दाद् बाह्वादीञः । बा हि लोमशब्दः पठ्यते । स च तदन्तविधिं प्रयोजयति । अनुगतानि स्येत्यनुलोमा । तस्यापत्यान्यानुलोमयो (1) ऽनुलोमान इति । इञः ।

७० । आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् ।

यद्यपि प्रत्ययान्तात् षष्ठ्युच्चारिता तथापि प्रत्ययस्यैव लुग् न तदन्तस्य । यस्मात् प्रत्ययादर्शनस्य लुगित्येषा संज्ञा विहिता स्येत्यालोच्याह आगस्त्यकौण्डिन्ययोर्गोत्रप्रत्यययोरिति । व्यधि गस्त्यकौण्डिन्ययोर्याववयवौ गोत्रप्रत्ययौ तयोरित्यर्थः । रूपेण दर्शयन्नाह अणो यञश्चेति । यञो यद्यपि कुण्डिनजादेशेन तस्य बाधा मा विज्ञाय

कुण्डिनीशब्द इति । कुण्डमस्यास्तीत्यत (५।२।११५) इनिठनावितीनि
प्रये कृते प्रत्ययस्वरेण । तदादेशोऽपि तथा स्यादिति । स्थानिवद्भावेन मध्यो-
त्तः स्यात् । चित्करणान्मध्योदात्तत्वं भवति । किमर्थं पुनः प्रत्ययान्तयो-
मादेशो न क्रियत इत्याह तयोरित्यादि । यदि प्रत्ययान्तयोरेवाय-
स्याद् गोत्रेऽलुगचीति (४।१।८९) प्रतिषेधो न स्यात् । यस्माल्लुको-
तिषेधो नादेशस्येति स्यादेवादेशः । ततस्तद्बहुत्वादणेव स्यात् ।
ण्डा इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । यद्यपि बहुस्यादेशः स्थानिवद्भावाद्बहुग्रहणेन
तथाप्यगस्तीया इति स्यात् । आगस्तीया इति न सिध्यति । नच
वद्भावो लभ्यते । बहुसंज्ञाया अल्विधित्वात् । इह प्रत्ययस्य तु लुकि
प्टस्यादेशे विहिते गोत्रेऽलुगचीति (४।१।८९) लुकि च प्रतिषिद्धे
ञः (४.२।११४) सिद्धो भवति । तत्र विशेषो नास्तीति । सत्यामपि
प्त्यां कण्वादिभ्यो गोत्र इति (४।२।१११) च्छापवादेनाणैव भवितव्यम् । त्वे
दिह यदि प्रत्ययान्तस्यादेशोऽथापि प्रकृतिमात्रस्योभयथापि कौण्डिना
वितव्यमिति नास्ति कौण्डिन्ये विशेषः ।

। सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ।

ातिपदिकयोरिति । यदीयं सप्तमी स्यात् तदा ऽयमर्थो विज्ञायेत
ातिपदिके च या सन्निकृष्टा विभक्तिस्तस्या लुग् भवतीति ।
पश्लेषमन्तरेण न सम्भवतीतीहापि स्याद् वृचः प्लच इति ।
स्य प्रातिपदिकेन विभक्तेरुपश्लेषः । तस्मात् षष्ठीयं युक्तेति मत्वाह
तुसंज्ञाया इत्यादि । कथं पुनर्विभक्तेर्धातुसंज्ञा प्रातिपदिक-
ीत्यत आह तदन्तर्गता इत्यादि । नन्वेवमपि धातुप्राति-
भूता विभक्तयः स्युर्न धातुसंज्ञका नापि प्रातिपदिकसंज्ञकाः ।
ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्त इत्यदोषः । ... यतीति ।

भवति । काष्टश्रित इति । काष्टं श्रितं इति द्वितीया श्रितेत्यादिना (२।१। समासः । कृत्तद्धितसमासाश्चेति (१।२।४६) प्रातिपदिकसंज्ञा । स सुबन्तानां समासो भवतीति ससुप्कस्यैव भवति । तेनात्रापि विभ प्रातिपदिकान्तर्गता भवति । ह्वचः ह्वच इत्यत्राप्यप्रत्यय इति ( १।२।४५ प्रातिपदिकसंज्ञा प्रतिषेधात् सविभक्तिकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा नास्तीति नाि विभक्तेः प्रातिपदिकान्तर्भावः ।

७२ । अदिप्रभृतिभ्यः शपः ।

७३ । बहुलं छन्दसि ।

त्राध्वमिति । त्रैङ् पालने । भौवादिकः । लोट् । ध्वमादेशः । टे म् । सवाभ्यां (३।४।९१) वामावित्यमादेशः ।

७४ । यङोऽचि च ।

चि प्रत्यये परत इति । प्रत्ययग्रहण मचीति न प्रत्याहारग्रहणमिति नार्थम् । यदि हि प्रत्याहारग्रहणमभिमतं स्यात् तदाऽणीति णकारेणैव र्थात् । नहि यङन्तादणोऽन्योऽचः परे सम्भवन्तीत्यभिप्रायः । इदमेवाज्ग्रह पकं सर्वे धातवः पचाद्यन्तःपातिन इति । लोलुव इति । धातोरेकाचं ादेः क्रियासमभिहार इति (३।१।२२) यङ् । द्विर्वचनं सन्यङोरित्यने ।१।९),। गुणो यङ्लुकोरिति (७।४।८२) गुणः । लोलू य इति स्थिते पचा र् । यङो लुक् । न धातुलोप इत्यादिना (१।१।४) गुणप्रतिषेधः । अचि श्नु त्वित्यादिनोवङ् (६।४।७७) । सनीस्रंसः । दनीध्वंस इति । स्रंसु ध्वंसु अ सने । पूर्ववद् यङादिकार्यम् । न लुमताङ्गस्येति (१।१।६३) प्रतिषेधः अयलचणेनानिदितामित्यादिना (६।४।२४) ऽनुनासिकलोपो न भवति वञ्चीत्यादिनाभ्यासस्य (७।४।८४) नी मः । लालपीति वावदीतीति देश्च दीर्घोऽकित (७।४।८३) इत्यभ्यास र्थः । यङो वेतीट (७।३।९

ऽन्वादिभ्यः श्नः

ते (६।१।१०) द्विर्वचनम् । बिभर्तीति । उरदित्यत्वम् (७।४।६६) । ह
त्वम् । भृञामिदितीत्त्वम् (७।४।७६) । नेनेक्तीति । णिजिर् शौचपो-
ः । निजां त्रयाणां गुणः (७।४।७५) । श्लाविति (६।१।१०) द्विर्वचनम् ।

७६ । बहुलं छन्दसि ।

दाति धातीति । ददातिदधात्योः पूर्वसूत्रेण श्लौ प्राप्ते बहुलं प्रतिषिध्यते ।
पो लुक् । विवष्टीति । वश कान्तौ । अदादित्वाच्छपो लुकि प्राप्ते श्लुः ।
विति (६।१।१०) द्विर्वचनम् । भृञामिदित्यनुवर्त्तमाने (७।४।७६) बहुलं पूर्वे
दसीतीत्त्वम् (७।४।७८) । व्रश्चादिसूत्रेण (८।२।३६) षत्वम् । ष्टुना ष्टुरिति
।४।४१) ष्टुत्वम् । बिभक्तीति । भज सेवायाम् । भौवादिकः । शपः श्लुः
वदित्त्वम् । चोः कुरिति (८।२।३०) कुत्वम् । विवक्तीति क्वचित् पाठः ।
च वच भाषणे इत्येतस्यादादिकस्य वेदितव्यः ।

७७ । गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।

अगादिति । इणो गा लुङीति (२।४।४५) गादेशः । अपादिति ।
ने । अभूदिति । भूसुवोस्तिङीति (७।३।८८) गुणप्रतिषेधः । गापाग्र
णपिबत्योर्ग्रहणमिति । इणादेशस्य ग्रहणं तावद् गातीत्यत एव श्तिप्
र्देशाद् विज्ञायते । श्तिपा हि विकरणशून्य एवमर्थो निर्देशः क्रि
लुग्विकरणस्यैव ग्रहणं यथा स्यादिति । अन्यथा हि यदि गायतेर्ग्रहणमि
स्यात् तदा गा इत्येवं ब्रूयात् । एवं तर्हि गामादाग्रहणेष्वविशेष (प, १
उभयोरपि ग्रहणं भविष्यति । किं श्तिपा निर्देशेन ? तस्मादयमेव श्तिप्
र्देशो ज्ञापयतीणादेशस्यैवेदं ग्रहणं न गायतेरिति । पाग्रहणे पिबतेस्या
ग्रहणमित्येतदपि लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव (प,
ग्रहणमित्यनया परिभाषया विज्ञायते । अगासीदिति । कै गै
रमनमातां (७।२।७३) सक् नेति सगागमः । सिच् । इट् च ।
पूत ( ७।३।९६ ) इतीट् ... र ( ८।२।२८ ) ईटीति सिचो

...त्राप्ययमर्थः सम्पाद्यते । उत्तरसूत्रे लिग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति । नैतदस्ति । ...। व लेर्हि लुकि विज्ञायमाने मा हि गातामित्यादिः (६।१।१८७) सिचो- ...ऽन्यतरस्यामित्यादिः स्वरो (६।१।१८७) न सिद्ध्येत् । स पुनरुदात्तः । ...।...रित्यत्राप्यात इति (३।४।११०) सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चेति (३।४।१०९) झेर्जुस् ...शो न सिध्यति । तस्मात् सिच एव लुग् वक्तव्यः ।

...। ७८ । **विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः ।**

...: । घ्रा गन्धोपादाने । धेट् पाने । शो तनूकरणे । छो छेदने । षोऽन्तकर्मणि । ...हुलं पूर्वेण नित्ये प्राप्त इति । घुसंज्ञकत्वात् । अलुक्पक्षे पूर्ववत् सगादि- ...र्तिम् । धेटः सानुबन्धकस्य निर्देशो धाञ्परीहारार्थः । यदि कृतात्वो ...ः स्येत तदा धाञोऽपि ग्रहणं स्यात् । अघ्रासातामिति । कर्मण्यात्मने- ...ः ॥

...७९ । **तनादिभ्य स्तथासोः ।**

...ततेति । स्वरितञित (१।३।७२) इत्यात्मनेपदम् । अनुदात्तोपदेश ... ...त्यादिनाऽनुनासिकलोपः । अतनिष्ट यूयमिति । मध्यमपुरुषबहु- ...मेतत् ।

...८० । **मन्त्रे घस-ह्वर-णश-वृ-दहाद्-वृच्-कृगमिजनिभ्यो...**

...

...मि इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्लिग्रहणमादिः (६।१।१८७) सिचोऽन्यतरस्या- ...सिच्कार्य्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरार्थञ्च । अक्षन्निति । अद भक्षणे । ...ङि सनोर्घस्लृ इति (२।४।३७) घस्लादेशः । ततस्मिं लुङीति (३।१।४३) ...तस्यानेन लुक् । झेरन्तादेशः । इतश्चेतीकारलोपः (३।४।१००) । ...शेति (८।२।२३) तकारलोपः । गमहन(६।४।९८) त्यादिनोपधालो ...सीनाञ्चेति (८।३।६०) षत्वम् । झलाञ्जश् (८।२।५३) ... ...रि चेति (८।४।५५) चर्त्वम् । ह्वरित्यागन्तुकेनाकारेण ... । तिङ्गुणरपरत्वानि । ...

पूर्ववत्तुडादिकार्य्यम्। व्रश्चादिसूत्रेण (८।२।३६) षत्वम्। झलाञ्जशो (८।२।३९) इति जश्त्वम्। षकारस्य डकारः। तस्य वावसान इति (८।४।) षत्वम्। (J) णत्वम्। चर्त्वं टकारः। उपसर्गादसमासेऽपीति (८।४।१४) क्वि प्राणगिति पाठः। तत्र क्विन्प्रत्ययस्य कुरित्यतः (८।२।६२) कुरित्यनुवर्त्तमे नशेर्वेति (८।२।६३) कुत्वम्। आवरिति। वृञस्तिप्। गुणो. रपरत्व हल्ङ्यादिना (६।१।६८) सिपो लोपः। धगिति। दह भस्मीकरणे। सि हल्ङ्यादिना (६।१।६८) सिपो लोपः। दादेर्धातोर्घ इति (८।२।३२)। घः। एकाचो बशो (८।२।३७) भषित्यादिना दकारस्य धकारः। घक जश्त्वं गकारः। तस्य चर्त्वं ककारः। अड़ागमस्य बहुलं छन्दस्य योगेऽपीति (६।४।७५) निषेधः। आप्रादिति। प्रा पूरण इत्यस्मात् परावर्गिति। वृजेस्तिप्। लघूपधगुणः। हल्ङ्यादिना (६।१।६८) रात् सस्येति (८।२।२४) नियमात् संयोगान्तलोपाभावः। जकारस्य कुत्वं गकारः। तस्य चर्त्वं ककारः। अक्रन्निति। कृञो झेरन्ता संयोगान्तलोपः। यणादेशः (६।१।७७)। अग्मन्निति। गमेर्झेः पूर्ववदन्त गमहनेत्युपधालोपः (६।४।९८)। अज्ञतेति। जनेर्झस्यात्मनेपदेष्वनत इत्यदादेशः। पूर्ववदुपधालोपः। स्तोः श्चुना श्चुरिति (८।४।४०) श्चु चेदजन्निति पाठः। तत्र झिः। ततः परस्मैपदं विधेयम्। योगेऽयमिति। योऽयमनन्तरं मन्त्रे जनेरुक्तः स ब्राह्मणो मन्त्रव ग्रन्थः। मन्त्रे जनेर्लुग् न दृश्यत इति तद्विषयमुदाहरणं नोपन्यस्तम् तर्ह्यमन्त्रे लुग् भवति मन्त्रग्रहणं किमर्थ मित्याह मन्त्रग्रहणमित्यादि

## ८१। आमः।

आञ्चक्र इति। ईह चेष्टायाम्। लिट्। इजादेश्चेत्यादिना (३।१। त्वे मकारान्तस्य अदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा। सुः।

द्व्ययत्वम् । अव्ययादाप्सुप इति (२।४।८२) सुलोपः । क्त्वेत्या-
२।१।४० ) लिट्परस्य कृञोऽनुप्रयोगः । आम्प्रत्ययवदित्यादिना
२) ऽत्मनेपदम् । तत एशादेशः । द्विर्वचनम् । अभ्यासकार्यम्
मकारस्यानुस्वारः । अनुस्वारस्य ययि (८।४।५८) परसवर्णः । अथे-
भवति जगाम ग्रामामेति ? अर्थवदामो ग्रहणाद् । अस्य चानर्थकत्वात् ।
अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीत्यर्थवान् । इह तर्हि कस्मान्न
योग इति ? आमेति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव (प,११४)
। अस्य तु लाक्षणिकत्वात् ।

२ । अव्ययादाप्सुपः ।

शालायामिति । तच्छब्दात् सप्तम्यास्त्रल् । तस्य प्राग् दिशो
इति (५।३।१) विभक्तिसंज्ञा । तदाद्यत्वम् । टाप् । तसिलादिष्वाकृत्वसुच
३।३५) पुंवद्भावः । तद्धितश्चासर्वविभक्तिरिति (१।१।३८) त्रलोऽव्यय-
न उत्पन्नस्य टापो लुक् । केन पुनरव्ययाट्टाबुत्पद्यते ? अजाद्यत-
(४।१।४) चेत् । न । स्त्रियां टापो विधानात् । अव्ययस्य चालिङ्ग
स्मादव्ययाट्टापः सम्भव एव नास्तीत्यव्ययादपार्थकं टापो लुग्-
पार्थकम् । स्त्रियामिति (४।१।३) गुणिप्रधाननिर्देशः । स्त्रीत्व
दय इति । स्त्रीत्ववति च तस्यां शालायामित्येतस्मिन् पद
यं वर्त्तते । यद्यपि वाक्यार्थोऽत्र स्त्रीत्वं तथापि वाक्यार्थतये
त्ययो द्योत्यते । सति च स्त्रीप्रत्यये पदार्थ एव स्त्रीत्वं भवति ।
ग् वक्तव्यः । कृत्वा हृत्वेति । क्त्वातोसुन्कसुन इति (१।१।४०) क्त्वा-
त्वम् । तत उत्पन्नस्य सुपो लुक् । केन पुनरव्ययात् सुबुत्पत्तिः ।
ति (४।१।२) चेत्? न । तत्र बहुषु बहुवचनमित्यादिना (१।४।२१)
संख्याविशेषेषु स्वादीनां नियतत्वाद् । अव्ययानाञ्चा[illegible]त्वात् ।
त्र संख्यास्ति तत्र बहुषु [illegible]नादिना (१।४।२१)
अव्यये[illegible]नः संख्येयः सामान्यविहिताः स्वादयो
इतत स्वादिसूत्रेण (४।१।२) हि बहु[illegible]

बहुवचनमित्यादिना (१।१।२) शास्त्रान्तरेणैकवाक्यतायां विधानात्। तथाहि तत्रोक्तं संख्याकर्मादयश्च स्वादीनामर्था.. न्तरेण विहिताः। तेन सहास्यैकवाक्यतेति। एकवाक्यताया... स्वादीनां सामान्येन विधानम्। न ह्यपरं लक्षणमस्ति येन ... सामान्येन विहिताः। एवं तर्ह्येतदेवाव्ययादुत्पन्नस्य सुपो लु... ज्ञापकं भवन्त्यव्ययात् स्वादय इति। नह्यनुत्पन्नस्य लुगुपपद्यते। ए... ज्ञापकं हृदि कृत्वोक्तमव्ययेभ्यस्तु निःसंख्येभ्यः सामान्यविहिताः स्वा... विद्यन्त एवेति।

## ८३ नाव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः ।

एतस्मिन् प्रतिषिद्धे पञ्चम्याः श्रवणमेव भवतीति। कथम्? इह द्वयो-रर्थयोर्विधानात्। विधायके च वाक्ये द्वे एव। तत्र नाव्ययीभावादत इत्येतत् प्रतिषेधस्य विधायकमेकं वाक्यम्। अम् त्वपञ्चम्या इत्येतदमो विधायकं द्वितीयं वाक्यम्। तत्र चात इत्येतदपेक्षते। अतएव वृत्तौ ... द्वयमुपन्यस्तम्। अदन्तादव्ययीभावादुत्तरस्य सुपो न लुग् भवतीत्येकं ...क्यम्। अमादेशस्तु तस्य भवत्यपञ्चम्या इति द्वितीयम्। तत्रापञ्चम्या ...नेनानन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति (प,६२) पञ्चम्या अमादेश ए... षिध्यते। नत्वलुक् पूर्ववाक्येन विहितः। अतएवालुकि सति पञ्चम्याः ...णमेव भवति। एकवाक्यतायां हि सत्यां कार्यद्वयस्यैकया प्राठप्रवृत्त्या विधीयमानत्वात् कार्यद्वयस्यापञ्चम्या इति प्रतिषेधः स्यात्। पञ्चमीं वर्जयित्वेतत् कार्य्यद्वयं वेदितव्यम्। वाक्यभेदे त्वपञ्चम्या इत्येतत् प्रत्य... ममादेशमपेक्षते। नतु वाक्यान्तरविहितमलुकम्। तेनापञ्चम्या ... तं सम्बध्यमानः सामान्येन विधीयमानः सन्नलुक् पञ्चमीमप्यवगाहते। तस्राण... पञ्चम्याः श्रवणमेव युक्तम्। तुशब्देनाप्ययमर्थो लभ्यते। ननु च ...ऽऽ कारकाणि भवा... पूर्वपद...प्रधानस्याव्ययीभाव उक्तः। ... चासत्त्वभूतत्वात् क्रियामन्त...ण सम्ब... ...स्रादपादा... ...सुः। न कुतोऽव्ययीभावात् पञ्चम्यादयो विभक्त...

ले रहा

कि उक्त महिलाके घर गत
पये मूलयकी चोरी हुई थी।
रिपोर्ट पुलिसमें दर्ज करायी
सम्बन्धमें पुलिसने कोई
। इससे अपराधियोंका
और उन लोगोंने रिपोर्ट
पीड़ित परिवारपर जोर
इस दौरान तरह-तरहकी
रिपोर्ट वापस न होने
घरसे बाहर खींचकर
गयी। हमलावरोंके
से लगाया जा सकता
काफी भीड़-भाड़ जुट
नाकी पिटाई जारी रखी

ईसे घायल महिलाकी
पुलिसने दर्ज कर ली
असमर्थ ऊबलाकी
करायी गयी। इस
गया है कि सुरियांवां
आधारपर अपने
का पक्ष ले रहा है।
रवैयेसे क्षेत्रमें गहरा
रिकोंने थानाध्यक्षके
की है।

# गिरनेका खतरा

बघुवा स्थित सहिजनी कलांकी प्राथमिक पाठशालाका भवन जर्जर हो गया है। कब गिर जायेगा कहा नहीं जा सकता। क्षेत्रीय नागरिकोंमें चिन्ता व्याप्त है।

उक्त पाठशालोके जर्जर होनेके चलते छात्रोंका पठन-पाठन खुले आसमानके नीचे चल रहा है। अभिभावक बच्चोंको स्कूल भेजनेसे डरते है। क्षेत्रीय अभिभावकोंने शिक्षा विभागके उच्च अधिकारियोंसे छात्रोंके हितमें उक्त जर्जर भवनके जीर्णोद्धारकी मांग की है।

# चोरीकी कालीनें बरामद

मिर्जामुराद पुलिसने गत शनिवारकों कछवा चौराहेके पास एक मकानपर छापा मारकर चोरीकी कई कालीनें बरामद कीं। उकत कालीनें गत दिनों कल्लीपुर स्थित एक कालीन निर्यातक फर्मसे चुरायी गयी थीं।

# खेतमें खुदाई ... अज्ञात व्यक्ति ...

बड़ागांव थानान्तर्गत मांग ... शुक्रवारको खेतमें खुदाई कर रहे ... उस समय भागखड़ी हुआ जब ... अचानक एक व्यक्तिका सिर ... सूचना मिलनेपर पुलिसने उक्त ... लेकर पोस्ट मार्टम हेतु भेज दिया ...

बताया जाता है कि उक्त किसान ... मनई गाड़नेके लिए मिट्टीकी खुदाई ... तभी अचानक एक मृत व्यक्तिका ... बाहर आ गया। इस घटनासे भयभीत ... अविलम्ब इसकी सूचना गांवके चौ... जिसने बादमें पुलिसको सूचित किया

वर्षाके पानी ... गल उक्त सिर ... ऐसा लग रहा था कि मृतककी अवस्था ... ३५ वर्ष थी। पुलिसके अनुसार उक्त ... कहीं अन्यत्र हत्या कर इसके ...

# रस्सी जल गयी ऐंठन नहीं, गयी

जंसा थाना क्षेत्रके सोनबरसा गांवके नागरिकोंको एक अवकाश प्राप्त सिपाही ने न केवल परेशानीमें डाल दिया है बल्कि सम्भावित खतरेके प्रति भी नागरिकोंको सशंकित होनेके लिए बाध्यकर दिया है।

बताया जाता है उक्त सिपाही जबसे रिटायर होकर गांवमें आया है पुलिसिया रोबमें बेगारी खटाना, बिना कीमत दिए सामानकी लेना और विभिन्न मुकदमोंमें फंसाने अपराधियोंसे मरवानेकी धमकी देता रहता है। पुलिस एवं प्रशासनमें झूठा आरोप लगाकर लोगोंके उपर दख्वास्त देकर परेशान करता रहता है।

उक्त सिपाहीको स्थानीय पुलिसका संरक्षण प्राप्त होने तथा गिरफ्तार एक अपराधीको थानेसे छुड़ा लेनेसे उसका मनोबल और बढ़ गया है।

क्षेत्रके शातिर अपराधियों एवं असामाजिक तत्वोंको बुलाकर ... नागरिकोंको पहचनवाता है तथा लुटवाने ... जानसे मरवानेकी धमकी भी देता है।

विगत दिनों स्थानीय पुलिसको मिल... गांवके तीस लोगोंके विरूद्ध १०७/११६ ... आर पी.सी.का रिपोर्ट लगवानेमें सफल ... गया वास्तविकता की जानकारी होने ... परगनाधिकारी (दक्षिणी) श्री शम्भू ... शुक्ल ने पुलिस की काररवाई को ... कराया।

नागरिकोंने सिपाही एवं उसके साथ र... वाले असामाजिक तत्वोंके विरूद्ध कारर... करनेकी प्रशासन से मांग की है।

# प्रस्तुत

-बम्पर' लाटरी
क के पुरस्कार
मू. रु. १००
७.१०.८७ को

# प्रगति

का परिणाम
रु. १९ लाख
डेन अंतरिम
एम.टी. से
ति तेल की

# वाराणसी सराफा

वाराणसी, २९ सितम्बर। स्थानीय बाजारमें आज भाव इस प्रकार रहे—
चांदी सिल (प्र. कि.) ५४९० चांदी ... (प्र.कि.) ५३२० चांदी सिक्का (प्र. सैकड़ा) ...

# जनसमस्याओंकी जानकारी मुख्यमंत्रीको दी गयी

# ...यमें राम-कथाकी परम्पर...

–डाक्टर एम. ...

भावके माध्यमसे प्रकट है।

तमिलके वैष्णव आलूवारोंमें पेरिय... विशेष महत्व है। आपने लीला नायक... विभिन्न बाल-सुलभ लीलाओंमें अप... मनको सराबोर कर दिया, तो भी... रामावतारके प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई। उन... "पेरियालूवार तिरूमोलि"में दो ... राम-कथाके कतिपय प्रसंगोंका वर्णन है... दशकमें दो सखियोंके वर्तालापके मा... रामावतार तथा कृष्णावतारकी विशिष्टत... गायन कराया गया है। रामाव... विशिष्टताओंका वर्णन करती हुई सखि... कथाके प्रसंगोंमें परशुराम गर्व-... ताड़का-वध, कैकेयीके कथनपर रामका ... सहित वन-गमन, भरतकी प्रार्थनापर पादुका प्र... करना, शूर्पणखा-वध, रामेश्वरम्में पुल बांध... लंका-प्रवेश आदि प्रसंगोंकी ओर संकेत ... मिलता है। एक अन्य प्रसंगमें अशोक-वाटि... प्रसंग भी चित्रित है। कविने उक्त दशकमें हनुम... द्वारा सीताजीको अपना परिचय, अपने रामके द... और दूत रूपका निरूपण करनेके निमित्त कु... संकेत और रामजी द्वारा दी हुई अंगूठीको प्रदा... करनेका वर्णन है। हनुमानके मुखसे रामके पर... कल्याणकारी गुणोंकी स्तुति हुई है।

## 'तमिल वेद: सहस्त्र गीत

नम्मालूवार (शठकोप)ने उपर्युक्त तीन... आलूवारोंकी भांति राम-कथा वर्णनमें कोई दशक... नहीं लिखा है। फिर भी उनके पदोंमें यत्र-तत्र... रामावतारके कुछ प्रसंगोंकी ओर संकेत है। द्वादश... आलूवारोंमें नम्मालूवारका स्थन् सर्वोपरि है।

...कांश ...यात्म ...ये इन ...ग्रन्थ ...योंकी

अभिव्यक्ति की गयी है। फिर भी महर्षि वाल्मिकीके आदि काव्यके बाद भारतमें दो ही रामायणोंको सर्वाधिक गौरव प्राप्त हुआ – उत्तर में तुलसी कृत 'रामचरित मानस' को और दक्षिणमें 'कम्ब रामायण' को ... है ...

रूपमें प्रस्तुत किया
मिल जाती है।
श्री पेरियवाच्चान
यत्र-तत्र उपलब्ध
को व्यवस्थित रूढमें
रामायण' के नामसे
र्मित ''रामायण'को
'' की संज्ञा दें तो

नौवीं शताब्दीमें
प्रौढ़ावस्थामें थी।
तका समुचित एवं
कम्बनने दस हजार
म-कथाको विस्तार
ना की। वाल्मीकीने
मके रूपमें चित्रित
गवानके अवतारके
ल्मीकी रामायणका
नी कुछ मौलिक
तमिल संस्कृति
वु' (पूर्व राग)के
जीवन) का प्रसंग
र्थात् विवाहसे पूर्व
ट आवश्यक है।
प्रवेशके समय
मित्रका, सीताके
राजमार्गसे होकर
भी संयोगवश
खड़ी थीं। अतः
हो जाता है और
होने लगता है।
क प्रसंग है, जिसे
सुन्दर बनाया है।

का प्रसंग भी
के अनुसार रावण
उठाकर रथपर

